253) लोभक्रोधाद्यैः प्राणनाशे ऽप्यसत्यं
ये नो भाषन्ते ऽशेषभाषाविधिज्ञाः[1] ।
लोकातिक्रान्तैः क्रान्त[illegible]न्तारुसत्त्वाः
सत्त्वा[2]स्ते वाचा ऽप्येनसो[3] दूरयन्ति ॥ ७१

254) निप[illegible]तमपि किंचित् [illegible]न्यदीयं[1]
विषविषधरकल्पं [illegible]ल्पयन्[2] [illegible]प्यनल्पम् ।
विजितविषमलोभा ये जगज्जात[3]शोभा
गृहमतिशुभभाजां[4] ते भजन्ते[5] यतीन्द्राः ॥ ७२

255) रामाणां नयने[1] [illegible][2] लोले[3] पयोबुद्बुदौ[4]
[illegible] कलशोपमौ घनकुचौ पीनौ च मांसा[illegible]दौ[5] ।
वक्त्रं पूर्णशशाङ्ककान्ति [illegible]ल्ये[6]च्चर्मापनद्धास्थिकं
यः सद्भावनया सतां स भवनं पुण्यात् पुनीते[7] मुनिः ॥ ७३

स्थावर जन्तुओं से यह त्रैलोक्य व्याप्त हो रहा है। परन्तु जो शरीर के त्याग करने का प्रसंग आनेपर भी किसी प्रकार से भी अन्य प्राणी का घात नहीं किया करता है ऐसा अहिंसा महाव्रत का धारक मुनि, भला दूसरे देव के समान, कैसे मान्य – आराधनीय नहीं होता है? ॥७०॥

समस्त भाषाओं के विधान को जाननेवाले जो मुनि प्राणोंके नष्ट होनेपर कभी क्रोध व लोभ आदिके वशीभूत हो कर असत्य नहीं बोलते हैं तथा लोक का उल्लंघन करनेवाले अपने लौकिक गुणों से जो उच्च मान्य पुरुषों को उल्लंघनेवाले हैं, ऐसे वे सत्य महाव्रत के धारक मुनि अपनी वाणीसे भी प्राणियों को पाप से दूर किया करते हैं ॥ ७१ ॥

जो मुनिजन मार्ग आदि में गिरे हुए दूसरे के सुवर्ण आदि किसीपदार्थ को थोडीसी भी मात्रा में ग्रहण न कर के उसे विष अथवा सर्प के समान घातक समझते हैं और इसीलिये भयानक लोभ के जीत लेने से जो लोक में शोभाको प्राप्त हुए हैं ऐसे वे अचौर्य महाव्रत के धारक मुनिराज अतिशय भाग्यशाली महापुरुषों के घर को जाते हैं ॥ ७२॥

जो साधु कमल को जीतनेवाले स्त्रियों के चंचल नेत्रोंको अस्थिर जल बुद्बुदों के समान, घट के समान मनोहर, सघन व स्थूल स्तनों को मांसकी कीलों के सदृश और पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्तिवाले मुखको चमडे से ढकी हुई हड्डियों से व्याप्त देखता है, वह ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारक साधु सद्भावना से सत्पुरुषों के घरको उनके पुण्योदय से ही पवित्र किया करता है ॥ ७३ ॥

७१) ज्ञातारः. 2 जीवान्. 3 पापानि । ७२) 1 परकीयम्. 2 विचारयन्ति. 3 प्राप्त. 4 अतिपुण्यवताम्. 5 आप्नुवन्ति । ७३) 1 द्वे नयने. 2 कमलजयिनी. 3 चञ्चले नेत्रे द्वे. 4 जलबुद्बुदौ गणयति 5 मांसपिण्डौ रूपौ वा सदृशौ पश्यति. 6 यः मन्येत. 7 पवित्रीकरोति ।

256) हरिहरप्रमुखं सुरासुरं जितवतः स्वशरैर्भुवनत्रयम् ।
विजयिनं[1] मदनस्य[3] मदच्छिदं[4] नमति कः सुमतिर्न मुनीश्वरम् ॥ ७४

257) न वीतरागादपरो ऽस्ति देवो न ब्रह्मचर्यादपरं तपो ऽस्ति ।
नाभीतिदानात्[1] परमस्ति दानं चरित्रिणो नापरमस्ति पूतम्[2] ॥ ७५

258) विश्वं येन[1] वशीकृतं कृतधियो ऽकृत्ये[2] कृताः सोद्यमा
भाण्डाद्या विकृतां गता नटभटाश्चित्राकृती[3] कारिताः ।
तं निर्जित्य परिग्रहग्रहमहो ये ऽध्यात्मचिन्तां गता
धन्यस्यैव[4] तपोधना गुणधना धामानि ते ऽध्यासते[5] ॥ ७६

259) निमग्नलोकं गुरुलोभसागरं तरन्ति संतोषतरण्डकेन ।
न पादपद्मैरिह सद्म[1] निःस्पृहाः स्पृशन्ति ते पातकिनां तपोधनाः ॥ ७७

जिसने विष्णु और महादेव को आदि ले कर देव व दानवों सहित तीनों ही लोकों को अपने पुष्पमय बाणों के द्वारा जीत लिया ऐसे उस जगद्विजयी कामदेवके भी मान को मर्दित करने वाले काम विजेता मुनिराज को कौनसा निर्मल बुद्धिधारक मनुष्य नमस्कार नहीं करता है ? अर्थात् उस की सब ही विवेकी जन आराधना किया करते हैं ॥ ७४ ॥

लोक में वीतरागको छोडकर दूसरा कोई देव, ब्रह्मचर्य को छोडकर दूसरा कोई तप, अभयदान को छोडकर दूसरा कोई दान और चारित्र के परिपालक मुनिराज को छोडकर दूसरा कोई पवित्र प्राणी नहीं है ॥ ७५ ॥

जिस परिग्रह रूप ग्रहने विश्वको अपने अधीन कर लिया, बुद्धिमानों को प्रयत्नपूर्वक अकृत्य में नियुक्त किया, भांड (बहुरूपिया) आदिकों को विकारयुक्त किया और श्रेष्ठ नटों (अथवा नट एवं सुभटों) को अनेक आकृति के धारक बना दिया, ऐसे उस परिग्रहरूप पिशाच को जीतकर जो आत्मध्यान में लीन हुए हैं ऐसे वे समीचीन गुणरूप धन के धारक तपोधन परिग्रह महाव्रती मुनिराज किसी पुण्यवान के ही घर में प्रवेश करते हैं । सामान्य जनों के लिये वे दुर्लभ हैं ॥ ७६ ॥

जिस लोभ रूप महासमुद्र में समस्त लोक ही निमग्न हो रहा है उस अपार लोभरूप समुद्र को जो संतोष रूप नौका के द्वारा पार कर चुके हैं, ऐसे वे निःस्पृह तपोधन मुनिराज पापियों के घर को अपने चरण कमलों से स्पर्श नहीं करते हैं ॥ ७७ ॥

७४) 1 जेता. 2 स्वबाणैः. 3 कामस्य. 4 मदविनाशकम् । ७५) 1 न अभयदानात्. 2 पवित्रम् । ७६) 1 परिग्रहग्रहेण. 2 अकार्ये. 3 नानाप्रकाराः. 4 पुण्यवतः मन्दिरे. 5 आश्रयन्ति तिष्ठन्ति ।७७) 1 गृहम् ।

प्रकाशक :
लालचन्द हिराचन्द
जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापूर

मुद्रक :
मु. शं. बाते
यशवंत मुद्रणालय,
१८३५ सदाशिव पेठ, देशमुख वाडी,
पुणे ३०

Jīvarāja Jaina Granthamālā, No. 24

General Editors:

Dr. A. N. Upadhye & late Dr. H. L. Jain

Jayasenācārya's

DHARMARATNĀKARA

(Critically Edited with Critical Introduction, Appendices etc.)

By

Dr. A. N. Upadhye, M.A., D.Litt.

Professor of Jainology & Prakrits,
University of Mysore, Mysore

Along with the Hindi Translation

By

Pt. Jinadas Parshvanath Phadakule,

Sholapur

Published by

LALCHAND HIRACHAND

Jaina Saṃskriti Saṃrakṣaka Sangha

Sholapur

1974

Price Rs. 20-00

First Edition: 1000 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Saṃskṛiti Saṃrakṣaka Saṅgha, Santoṣha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price *Rs. 20-00* **per copy, exclusive of postage.**

जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर-निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्दजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्य में अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायार्जित संपत्ति का उपयोग विशेष रूप से धर्म और समाज की उन्नति के कार्य में करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देश का परिभ्रमण कर जैन विद्वानों से साक्षात् और लिखित सम्मतियाँ इस बात की संग्रह कीं कि कौनसे कार्य में संपत्ति का उपयोग किया जाये। स्फुट मतसंचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकाल में ब्रह्मचारीजी ने तीर्थक्षेत्र गजपन्था (नासिक) के शीतल वातावरण में विद्वानों की समाज एकत्र की और ऊहापोहपूर्वक निर्णय के लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलन के फलस्वरूप ब्रह्मचारीजी ने जैन संस्कृति तथा साहित्य के समस्त अंगों के संरक्षण, उद्धार और प्रचार के हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिये ३०००० तीस हजारके दान की घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढती गयी, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,००० दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघ को ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्व का त्याग कर दिनांक १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधान से समाधिमरण की आराधना की। इसी संघ के अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका [illegible] पुष्प है।



स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी
स्व. रो. ता. १६-१-५७ (पौष शु. १५)

Table of Contents

EDITORIAL

The Dharmaratnākara is quite an extensive text containing more than 1500 verses in Sanskrit, and a few in Prākrit too, in different metres. It is indeed, as the title indicates, a veritable ocean or a mine of jewels in the form of choice verses, both composed and quoted by the author, for the exposition of religious topics like *dāna, śīla, sallekhanā* and *pratimā*. It presents a significant discussion of the duties of a pious householder. In a way, it is an anthology of verses dealing with a number of topics connected with the Jaina way of life prescribed for a householder. A student of sociology might find here some light on certain aspects of the Jaina Sangha in the 10th century A. D.

Jayasena is the author. He has a good mastery over Sanskrit expression. He has studied earlier works in Sanskrit and Prākrit. He quotes from them in plenty to make his exposition of the subject both authoritative and exhaustive. He is an effective teacher and a successful preacher as seen from the way he presents his ideas. He composed this work in A. D. 998; and he is to be distinguished from other Jayasenas known to us, as discussed in the Introduction.

The Dharmaratnākara is being published for the first time; and the Editor has done his best to present the text critically based on the MSS. used by him. The footnotes give synonyms in plenty, and they would be helpful to an intelligent reader.

The Hindi translation was prepared by Pt. Jinadas P. Phadakule and retouched by Pt. Balachandra Shastri while they were working in the Office of the Jaina S. S Sangha, Sholapur, some years back. Pt. Jinadasaji is a mature Shastri with wide reading and fund of information. So his translation often contained *viśeṣārtha*; but it had to be curtailed now and then by the editor within a reasonable limit of the translation. My thanks are due to both of them.

I sincerely thank Shri V. G. Desai, B.A., Kolhapur. He helped me in preparing the press copy and the Indices etc. and also in checking the proofs at one stage.

My thanks are due to Pt. Kailash Chandra Shastri who kindly prepared a Hindi summary of the Introduction in English.

This edition was planned under the advice of my senior colleague, the late lamented Dr. Hiralal Jain. But due to his indifferent health during the last few years I had to carry out the work by myself; and, to my sorrow, he did not live to see it published in the present form.

For a number of years both Dr. Hiralal and myself received guidance and encouragement from the late Shri Gulabchandaji and the late Shri Manikchandaji. The former was an embodiment of pious benevolence and enlightened liberalism, and the latter, a vigorous personality with unbounded zeal. It is just a token of love and admiration that I have dedicated this volume to them both.

I record my sincere gratitude to the Members of the Trust Committee of the Sangha, especially to its enlightened President, Shriman Lalchand Hirachandaji whose clearcut decisions are a guide to us. Words are inadequate to express my sincere thanks to Shriman Valchand Deochandaji, the Secretary of the Sangha. Despite heavy burden of manifold public responsibilities, he is serving the cause of the Sangha with remar kable dedication. His devotion to Jinavāṇī is exemplary. But for their cooperation and help, it would have been difficult for the General Editor, who has become identical with the Editor in the present publication, to pilot the various publications of the Granthamālā especially when he is required to stay in Mysore for some time past.

For reasons beyond the Editor's control this work lingered in the Press for a long time; and the collection of the MSS. material and the collqtion etc. were done much earlier while I was enjoying the U.G.C. Grant. So I would be failing in my duty, if I did not record my sincere gratitude to the University Grants Commission for having so graciously made the grant intended for Retired Teachers. It is this timely aid that enabled me, even after my retirement, to pursue my researches in my specialised branches of Indology with the peace of mind all such work needs.

Though this work was on my hands much earlier, it was finalised on the quiet and inspiring campus, Manasa Gangotri, while I worked as Professor of Jainology and Prakrits in the University of Mysore. My special thanks are due to Professor D. Javare Gowda, Vice Chancellor, and other University authorities for having kindly allowed me to continue my earlier scholastic commitments to their completion here.

Our thanks are due to the Manager, Yashavant Press Poona, for all his cooperation in carrying this work through the Press.

karmaṇyevādhikāras te

Manasa Gangotri
University of Mysore
Mysore : 25-10-1974

A. N. Upadhye

Dedicated to

The Late

Shriman Gulabchand Hirachand

and

Shriman Manikchand Virachand

INTRODUCTION

1. MS. Material and Text Constitution

The Jinaratnakośa[1] gives the following details : "Dharmaratnākara in 20 chapters composed by a Digambara author called Jayasena, pupil of Bhāvasena, pupil of Gopasena, pupil of Śāntiṣeṇa, pupil of Dharmasena of Jhāḍavāgaḍa Sangha. It is in Sanskrit and is published by Hiralal Haṁsaraj, Jamnagar." In view of this information, I inquired from different scholars and from the Publishers. But the publication of the Dharmaratnākara (DR) was not confirmed; and hence it was taken up for publication. It is not mentioned either in the Jaina Sāhityano Itihāsa (in Gujarati) by M. D. Desai, Ahmedabad 1933 or in the Prakāśita Jaina Sāhitya by J. P. Jain, Jaina Mitra Mandala, Dharmapura, Delhi 1958. The Jinaratnakośa has noted further the following Mss. : (1) Arrah, No. 157; (2) Report of Prof. A. B. Kathavate, Collection of 1895–1902, No. 1095 (dated Saṁ. 1485) and kept at the Bhandarkar O.R. Institute, Poona; (3–4) Lalitakīrti Bhaṇḍāra of Ajmer; (5) A Fourth Report by Peterson, Collection of 1886–1892, No. 1432, in which some quotations are given; (6–7) Terā Panthi Baḍā Bhaṇḍāra, Jaipur, Nos. 15–6. Besides these, some Mss. of DR are known to exist in Byavar, Delhi and other places.

The present edition is based on the following MS.–material :

P : This is a paper MS. belonging to the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona; and it bears the No. 1095 of 1891–95. It has 99 folios, the folio Nos. being written in three places on the b-side of the folio. The office has numbered the pages in pencil, 1/88 to 198/88. The folios are written on both the sides excepting the first which is written on only one side. There is a new and additional folio (1/88) which gives a sort of table of Saṃdhis indicating the contents with an opening title *Pustaka-ṭippaṇaṃ prathamaṃ*. The MS. measures 27.6 by 11.5 cms. Each page has ten lines, and each line about forty letters. It is all written in black ink. However, red powder or paste is used for round spots in the blank squares at the centre and on the two margins (as a back-ground for the folio numbers) on b-side of the folio. There is a squarish white space in the centre of the page often with some decorative lines and numbers on the b-side of the folio. The first folio is new and obviously copied (using black ink for the verses and red ink for the opening few words, marginal line and numbers) by a different person at a later time perhaps finding that the first folio of the original Ms. was either lost or very much damaged.

Almost on every page there are marginal explanatory notes most of them written by the same person who copied the MS. They are indicated with necessary references in the body of the text. A few of them, here and there, could not be read; so they are skipped over. The writing is good and the style of writing quite uniform. Some letters like *ś* and *s*, *v* and *b*, *t* and *n* and *tu* and *ru* are mutually confused. Sometime the copyist writes *i* in its older form. As a rule, he uses *anusvāra* and not *para-savarṇa*. The other consonant with *r* as the first member of the conjunct group is doubled. The spacing between words is indicated by short *daṇḍas* on the head of the

1. H. D. Velankar, Poona 1944.

line. The marginal glosses are mostly in Sanskrit, often without grammatical terminations; but now and then they are in new Indo-Aryan.

The MS. opens thus after the symbol of *bhale.*

||| Go || ॐ नम: सिद्धेभ्य: || || लक्ष्मीं निरस्त...etc. It ends thus : इति धर्मरत्नाकरं समाप्तं || θ || संवत् १४८५ वर्षे फाल्गुने सुदि गुरुदिने । श्रीढिल्लीपत्तने । ममारषषानराज्ये || श्री काष्ठासंघे । माथुरान्वये । पुष्करगणे । आचार्य श्रीअनंतकीर्त्तिदेव: । तत्पट्टे भट्टारक । श्रीक्षेमकीर्त्तिदेव: । तत्पट्टे प्रतिष्ठाचार्य श्रीहेमकीर्त्तिदेव: । तच्छिष्यो मुनिश्रीमहेंद्रकीर्त्तिदेव: । तथा महाकर्म्मारिमदमथनमहामुनिश्रीकुमारसेनदेव: । ब्रह्मचारि हींगादेव: । ब्रह्मचारी हरसीह: । ज्ञानावरणकर्म्मसातनार्थं श्रीहरसीहब्रह्मचारिणा .... धर्म्मरत्नाकर ... लिखापितं || θ ||

न .... पूरित ....
नालिकेरकलितं .... चंदनं ।
यावन्मेरुकराग्रकंकणधरा धत्ते
तावन्नंदतु..... श्रीजैन || १
यावच्चंद्रश्च सूर्यश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी: ।
याव...लोके तावन्नंदतु पुस्तकं || २
.......................चालीसा
अडयाला पुंवेदा एक्के इति || ३
लिखितं पं रासयं

(In a different hand) इदं सास्त्रं ब्र. नरसिंघका ज्ञानावर्णी कर्म्मक्षय निमित्तं

(In a different hand) संवत् १८३२ वर्षे अश्विन सुदि ४ गुरुवारे श्रीमूलसंघे नंदयाम्नाये सरस्वतीगछे बलात्कारगणे पंडितवषतरामाय खंडेलवालान्वये बैनाडागोत्रे साह अमरचंद्रजित्कस्य पुत्रौ द्वौ प्रथमचैनराम: द्वितीयनिहालचंद्रस्तस्य तुक् विजय रामस्तयाम्मंध्ये श्रीनिहालचंद्रेण धनार्थिनं द्रव्यं दत्वा ज्ञानावरणीकर्म्मक्षयार्थं दत्तं ||

P(2) : This paper MS. belongs to the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, bearing the No. 1434 of 1886-92. It measures 29.5 by 15 cms. It has 129 folios, written on both the sides, excepting the first which is written on one side only. The folios have become too much brownish and are rather brittle. It is written in black ink, but the marginal lines, numbers of verses, Daṇḍas, etc. are in red ink. There is no white square blank in the centre of the page. Each page has generally eleven lines, sometimes even nine or ten. Each line has about thirty letters. On some folios, at the beginning, there are explanatory notes on the margin. It opens thus after the symbol of *bhale* :

|| Go || ॐ नम: सिद्धेभ्य: || लक्ष्मीं...etc. It ends thus: || ८ || इति धर्म्मरत्नाकरं समाप्तं || || छ || श्री: || छ || श्री: || अथ शुभसंबछरेस्मिन् श्रीमन्नृपतिविक्रमादित्यराज्यात् संवत् १८२७ का मिति पौष शुक्ल चतुर्दश्यां चंद्रबारे कालाडहरानगरमध्ये महाराजाधिराजमहाराजा श्रीसवाई पृथ्वीसिंहजिद्राज्यप्रवर्त्तमाने श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगछे कुंदकुंदचार्यान्वये मंडलाचार्य्यभट्टारकजिछ्री श्री अनंतकीर्त्तीजी तत्पट्टे मं. भट्टारकश्रीभुवनभूषणजी तत्पट्टे मं० भट्टारकजिछ्री श्री श्री १०८ श्री श्री विजयकीर्त्तिजित्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये बडजात्यां गोत्रे साहश्रीदुलीचंद्रजी तत्पुत्री द्वौ प्रथमपुत्रसाहजी श्री ताराचंद्रजी द्वितीयपुत्र साहजी

श्री रूपचंद्रजी ताराचंद्रकस्य पुत्रौं द्वौ प्रथमपुत्र चिरंजीवी जीवराज द्वि. पुत्र सूरतिराम रूपचंद्रकस्यापि पुत्रौ द्वौ प्रथमपुत्र चिरंजीवि सहजराम दु. बृद्धीचंद्र सहजरामकस्य पुत्रैकः चि. मोतीराम एतेषां मध्ये श्रीजिनधर्मप्रभावनाकारक सम्यक्त्वधारक देवगुरुशास्त्रभक्तितत्पर साहजी रूपचंद्रजी तद्भार्या रूपकदे ताभ्यामिदं धर्म्मरत्नाकराभिधानग्रंथं भट्टारकजिच्छ्री श्री श्री श्री १०८ श्री श्री अनंतकीर्त्तिजित्तच्छिष्य पंडित उदयचंद्राय सत्पात्राय घटापितं [illegible] निमित्तं ।। श्रीरस्तु ।।

On close comparison of this P (2) with P, it is found that the text of the former is more or less identical with that of the latter. May be that P (2) is copied from P. Some readings of P (2), which differ from those in D, are the same as in P. The colophons at the end of chapters are identical. There are a few marginal glosses in P (2); and all of them are covered by those in P. The *praśasti* (beginning with *atha śubha-saṁvachare* etc.) on folio 129b is written in a different hand, and belongs only to this MS. This MS. is not collated for this edition.

D : This is a paper MS. belonging to Śrī Di. Jaina Sarasvatī Bhavana, Paṃcāyati Mandira, Masajid Khajūra, Delhi, Masajid Khajūra, Delhi No. i 10. It was so kindly lent to us by Shriman Pannalalaji Agrawal who is proverbially helpful to others in securing Mss. from Delhi. It measures 26 by 12 cms. The concluding folio is numbered 146. Some folios show signs of dampness. The make-up of this MS. shows not only different varieties of paper but also different hand-writings. The folio No. 2 is repeated, and some matter also is found twice in that portion. The folio Nos. 27, 28 and 29 are repeated, being found both in the older and later layers ; and the continuity of the matter also is dislocated.

The first 29 folios are a later addition in which the text ends with *tapodhanāh 17 ev ḥ* [see the verse 4.77 and the two opening letters of 4. 78.]. Then come four folios of the older portion of the MS., Nos. 27-30, beginning with *diyaṁ viṣaviṣadhara* etc. [See 4.72]. Thus the continuity is not maintained in the older and the additional folios. Then again folios 31-33 are newly added; their handwriting is different from that found in the first 29 folios (first variety). Then 34 onwards we have again the older folios, and the matter is not properly connected. Further, the following folios are additional : 49, 56, 65–67, 134-5, 143, 145-6 (hand-writing 2nd variety), 101-104-104 (hand writing of the 1st variety).

Considering the older corpus of this MS., each page contains nine lines with 32 to 35 letters in each line. Throughout, black ink is used. The hand-writing is good and uniform. There is a white spot, usually square, in the middle of a page. Some folios are repaired here and there with slips pasted on them. Though no red ink is used, red chalk is seen for spotting the numbers. Coming to the new portion (1–29 & 101–4), each page has nine lines with bold letters in black ink. The red ink is used for the opening title, for marginal lines, for the Daṇḍas, for marking the squarish space left in the middle of a few pages etc. The hand-writing in the remaining additional folios is not so good, though it shows some uniformity of style. Each page has eight to nine lines. Throughout black ink is used.

The MS. opens thus (in red ink) :

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ उँ नमो जिनचंद्राय नमः ॥ लक्ष्मीं निरस्त etc.

It ends thus (on the additional folio):

इति श्रीसूरिश्रीजयसेनविरचित धर्मरत्नाकरनाम शास्त्रं संपूर्णम् ॥ समाप्तम् संवत् १२१० का भाद्रवा वदि २ वार शनिवार युतं ।

The older portion is definitely superior in every respect, in hand-writing, accuracy and uniformity. The use of *paḍimātrā* is absent here. Separation of words is indicated in the older portion in many places with a short stroke on the line. Some pairs of letters are often confused mutually, for instance; *t* & *n*, *tu* & *ru*, *v* and *b*, *ṣ*. and *kh*. It is *anusvāra* and not *parasavarṇa* that is used in the nasal conjunct groupst When *r* is the first member of the conjunct group, the other consonant is written double. The ink is rubbed on folios 38b and 39a, and the faded portion is rewritten on the margin. There are explanatory glosses, written on the margin, in the older portion with folio No. 40 onwards, with necessary referential indication in the body of the text. In the folios added later, there are no marginal notes excepting only two which are found on folios 32ab and 145b. These glosses are mostly synonyms in Sanskrit, sometime without termination; but now and then even in New Indo-Aryan. In the older portion the colophons of chapters are shorter, but those in the newer portion are longer specifying the author's name.

The MSS. P and D have some close similarity, so far as the older portion of the latter is concerned. Though the hand-writing is different, there is some close resemblance in the style. The paper and general appearance of P look older. P bears the date, Saṁvat 1485 (– 57 = 1428 A. D.) while D has Saṁvat 1210 (– 57 = 1153 A.D.). The date of D comes on an additional folio, later in time, and hence one cannot be definite about its authenticity. May be that the copyist of the new sheets in D is making the necessary additions in D, finding that there were some gaps in it, with the help of some still older Ms. as his *ādarśa*. If at all the date is correctly written, it must belong to the earlier *ādarśa* from which the necessary portions were copied by two persons and added to it. The colophons at the end of chapters in P and older portion of D are almost identical. P has abundance of marginal glosses. The first 39 folios of D have no marginal glosses, excepting on two pages. On folios 131b and 132a, there are plenty of marginal notes written in inferior hand-writing. Thereafter, it has got a few here and there; and only some of them are identical with those in P. There are a few different readings between P and D.

The text of the Dharmaratnakara presented here is based on the two MSS. P and D. The various readings are duly noted in the foot-notes. In a few cases, where the editor has offered his emendations, apparently with some justification, the readings of both P and D are noted : such cases, however, are very few. The marginal glosses found in P are all copied (excepting a few which could not be read) and given in the foot-notes without any specification of P, because their number is very large. Those glosses which are found in D only are noted in the foot-notes against the siglum D. When a gloss is found in both the MSS., it is noted against PD. Glosses and various readings are all noted together in the foot-notes; the latter, however, can be

distinguished by the zero which is prefixed to them, for instance : 27) 2 P °damayanti. The Editor has tried to be as faithful to the MSS. as possible : Apparent scribal errors are eliminated. The text is presented with a standardised orthography generally accepted in critically edited standard works in Sanskrit. The MSS. number the verses, including the quotations, chapter to chapter, but there is good deal of irregularity in their numbering. In this edition the verses are continuously numbered (at the beginning) in English numerals upto the end of the work. Each verse, at its end, is also numbered in Nāgarī afresh from chapter to chapter. The verses which are, or seem to be (as sometime hinted by the Translator), quoted are marked with asterisk on the earlier number. There are certain doubtful cases, whether they are quotations or not.

2. Dharmaratnākara

The Dharmaratnākara (DR), as its title indicates, is an ocean or a source of jewels of religious sayings. It is divided into twenty chapters and in all contains 1661 verses in different metres (see the Appendix No. 2). Its author is Jayasena. He refers to earlier dignitaries like Samantabhadra and Akalaṅka (554 also 1291). He is highly indebted to his predecessors for his ideas, expressions, similes, illustrations etc. All this testifies to his vast reading, saturated learning and deep study of earlier works. Further, he has bodily incorporated a large number of verses from earlier authors, at times with the phrase *uktaṃ ca,* but very often without any such indication. The editor has experienced great difficulty in starring these verses. It is very rarely names of authors or works are mentioned. For instances, there is a reference to Umāsvāti by his title Vācakamukhya (433); to Kalikāla-sarvajña (295) whereby he designates not Hemacandra but Somadeva, the author of the Yaśastilaka-campū; to Ārādhanā (1548), a Sanskrit text; to Guṇabhadra (224); to Śivadharma (588); to Samayāntara (134 f.) etc. That he is including the stanzas composed by himself as well as others is perhaps indicated by him in his observation (1647) :

सद्गन्धाय समुल्लसन्तु सुधियामाह्ल[illegible]वसन्
तत्सूत्राणि वचांसि भूवचसुधामामेषु पुष्पाणि यः (?)।
इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि
भूतोदद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः ॥

It has not been possible for the editor to spot the sources of all the verses starred as quotations (may be that some of them are composed by the author himself). As indicated in the Index of verses, it will be seen that Jayasena has availed himself of a large number of verses from the Ratnakaraṇḍaka of Samantabhadra, Ātmānuśāsana of Guṇabhadra (c. 890 A. D), Puruṣārtha-siddhyupāya of Amṛtacandra, Yaśastilaka-campū of Somadeva (A. D. 959).[2]

In addition to the Sanskrit verses composed by himself or taken over from others, there are in this work, some twenty seven Prākrit-Apabhraṃśa verses : 142–3, 290, 710, 717, 719, 740, 774, 867, 1204, 1223, 1231–42, 1268, 1282, 1359 and 1379. It is quite possible that some of them are composed by the author himself.

2. Paramanand Jain : Anekānta. VIII, pp. 173–75: Kailashchandra Shastri : Jaina Saṃdeśa, Śodhāṅka 5, 26 and 28. It is claimed that Jayasena is indebted to the Tattvānuśāsana, see J. Mukthar's ed., Delhi 1963, Intro. p. 30.

3. Analysis of the Contents

I Consequences of Puṇya and Pāpa :

After offering salutations to Vardhamāna and Sudharma, blessings of Sarasvatī and of Munis are sought. Dharma is unique, and it is Dharma that bestows all that is great and worthy of respect. Dharma, or the adoption of virtuous life, brings many a benefit; while Adharma, or the adoption of sinful ways, brings manifold misery here and elsewhere. Dharma brings coveted pleasures (Īśvara getting Pārvatī, Viṣṇu getting Lakṣmī and Rati getting Kāmadeva); but one who is without Puṇya or Dharma is subject to misery. One with Puṇya is free from physical ailments, while for the other (who is devoid of Puṇya) the very living is unbearable. It is due to Puṇya, one has a happy family life; but without it, the family itself is a torture. It is Puṇya that brings greatness, glory and fame. Bāhubali, Rāvaṇa and Viṣṇu accomplished brave feats only on the strength of their Puṇya, or religious merit, incurred by them. It is by Puṇya that one secures excellent residence, dainty food, relishes and precious stones, costly clothes, scented bath and physical comforts in winter; but in the absence of it, and on account of Pāpa, one lives in a wretched place, eating bad food, plunged in poverty and suffering physical discomforts. A man without merits is like Śaṃkara (44). Dharma is a powerful planet (*graha*). It is on account of it that Indra lives in luxury, that gods in Sarvārthasiddhi are happy, and that one, after destroying all the Karmas, attains Liberation. One should, therefore, lead a life of virtue.

II Fruits of Abhaya-dāna :

Dharma leads to *abhyudaya* and *niḥśreyasa*. Dāna is fourfold and a cause of Liberation. Life is dear to all, so security of life is the highest benefit that can be besto wed. Thus kindness, or non-violence, to living being is acceptable to all. One should help other beings with whatever one possesses. That Dharma, or any religious act, which does not grant safety and security of life is not worth the name. Dayā or Abhayadāna is the essence of Dharma; and without that the latter is just a pretence. Life is dear to all; and for its safety the practice of Twelve Vratas etc. is prescribed (20). If life is lost everything else ceases to exist : *ahiṃsā* or *abhaya* is thus the supreme principle to guide one. Various kinds of living beings need to be protected, after duly understanding them (26 f.). Cruelty, or violence, to living beings bring misery to one here and elsewhere. So any activity which causes harm to living beings should be avoided. The gift of *abhaya* brings many unique benefits which surpass the outstanding qualities of Maruta, Māndhātṛ and Dharmarāja. The practice of Ahiṃsā brings many a glory; and there are illustrations to this effect (Vide the tales of Yaśodhara and his mother, Ghaṇṭā and Viśvasena and his minister Kṣema). It gives happy benefits elsewhere and social security here.

III Fruits of Āhāra-dāna etc. :

Gift of food is ever praised: without it, creeds crumble and penances perish. Without food the body cannot be sustained; austerities cannot be practised; knowledge is not cultivated; and Liberation cannot be attained. The first Tīrthakara received sugar-cane juice and others cow's milk and broke their fasts. In the absence

of food, duties cannot be performed, human ends are not achieved, and the structure of the society cannot be sustained. Food is essential to every one in some form or the other (its varieties noted). Gift of food is most praiseworthy, and the worthy donor achieves great benefits. There are various types of donors, and some are like birds which give food only to their kids. Kings like Śreyāṃsa, Madhu, Vajrajaṅgha etc. are exemplary donors (23). Donation of food etc. should be given without expecting anything in return and thereby an atmosphere of satisfaction is created. Dāna earns merits which are a beneficial provision for journey to the next world. Temples of Jina, images of Jina, the fourfold Saṃgha and Jinaśāstra are worthy fields for sowing the seeds of Dāna. Constructing new temples and repairing the old ones are beneficial and bear great fruits. Likewise are fruitful the erection of Jinabimba and giving *śāstras* to others. All these are meritorious acts which yield rich dividends. Those who put these into practice are few and far between. By consecrating various types of Jinapratimās (49–50) one earns great Puṇya (57). Likewise devotion to Jina is highly beneficial.

IV Sādhu-pūjā and its Fruits ;

Cultivation of Virtues is quite necessary; and one should always see who is worthy (*pātra*) or otherwise (*apātra*) : the example of king Bali should be noted. The congregation of Jaina monks deserves highest respect and patronage; the Jaina monks are a great support for the practice of Dharma; and it is through Puṇya that one comes across them (30). Jaina monks are an outstanding *pātra* in view of some great quality or the other; and they all deserve respect. Really worthy monks are scarce : some are outstanding in their knowledge, while others in their conduct. The study of scriptures is a great qualification, and a learned monk is worthy of praise. Equally praiseworthy is that monk who has Samyag-darśana which goes with Jñāna. Samyagdarśana has its varieties and characteristics; and it has to be free from certain blemishes. It is a prerequisite of Liberation; and Right Knowledge follows it, but Right Conduct may or may not. A monk with Right Faith, though deficient in conduct as a result of bad times, deserves to be honoured : if one monk is faulty in conduct, one should not treat all the monks like that (–50). Reverence unto monks, ignoring their minor defects, brings purity of mind and religious merit. A monk should be looked upon as *sat-pātra*, worthy of gift of food etc. by a householder whereby his faith in religion gets confirmed. A man of faith has *vātsalya* for his coreligionists and is further endowed with religious and social virtues (–62). Great monks are free from attachment and aversion; and they visit the houses of worthy householders (–69). Monks endowed with five Mahāvratas are welcome as merited Śrāvakas (–77). A *sat-pātra* like a Nirgrantha monk is rare : a good *pātra*, intention to give and a worthy gift are all the results of Puṇya. When a worthy receipient is available, there should be no delay in bestowing *dāna* whereby one's wealth is worthily used : wealth undonated or unused is doomed to destruction (–84). *Moha* or attachment for wealth is ever powerful, so one should overpower it and give *dāna* at every opportunity, without yearning for anything in return (–91). There should be no hypocrasy in religious practices; and monks who are the support of the church must be given food etc. whereby one earns religious merit. Generous Śrāvakas always bestow *kāruṇya*, kindness or

security, on all the living beings without any discrimination so that the latter are ever happy.

V Dāna or Charity and its Fruits ;

Selfish people who discourage all charity deserve to be ignored. Dāna may involve some preliminary (*ārambha*) Himsā, but to discourage it is a positive obstacle in a healthy act. Some pervert monks mislead people who are charitably disposed. Some great persons save lives of others even at the cost of their own. Fanatics relish no instruction; still it is given for the benefit of the balanced so that their attachment or the world is eliminated. Even Tīrthakaras have given *dāna* on the occasion of their *dīkṣā* or renunciation : charity never breeds any *aśubha karman*. Giving Dāna is as important as practising austerities (*tapas*) and observing vows (*śīla*); and it involves no preliminary sin, because great men like Bharata, Dhana and others have adopted it. Dāna is the most important of the four religious duties; and those who put forth five excuses (27) are greedy vultures. A little *hiṁsā* is inevitable in the wordly routine, but that is no justification to avoid religious duties altogether. At any cost, as a religious duty, the house-holder should offer (*dravya-*) *pūjā* to Deva and Guru : it is a universal practice, and there are examples of Bharata and others. If *ārambha* is tolerated elsewhere, why not in religious observances ? Some *ārambha* involves sin, but that in one's devotion to Jina leads to Puṇya. Dravya-pujā of Jina is praiseworthly; it makes human birth fruitful, and leads one, in due course, to Liberation All worldly activities like agriculture etc. involve a little sin; but when they are directed to religious life, it is negligible(– 65). Gift of food etc, to monks involves no flaw; Vṛṣabha gave medicine, so also a merchant from Ujjainī; Kṛṣṇa had medicine in every house for monks; Rukmiṇī, Nandiṣeṇa and Revatī rendered help to monks; Celanā's service to monks is well-known. Rāma and Lakṣmaṇa as well as Sita rendered help to Gupta and Sugupta and the first two risked themselves to help Deśabhūṣaṇa and Kulabhūṣaṇa. Instances of *āhāra-dāna* like this are many (– 80). It is out of what is earned by just means that food etc. worthy of being received by monks should be offered to them. There are special circumstances which might decide what is *jaghanya*– and *madhyama-dāna* and what is allowed and what is not (*kalpyākalpya*). Any way, food etc. must be offered to Sādhu : it is a proof of the devoted nature of a house-holder. Respect (*vandanā*) towards Sādhus, like Dāna, is a religious duty, attended with many good qualities (107 f.). Too much scrutiny of *pātra* and *apātra* is not advisable in this age (when *cāritra* is being often violated); some general traits are to be looked into; and *dāna* should be given to Sādhus liberally (111 f.). Scriptural injunctions are to be duly construed; Dāna should be looked upon as the highest duty of a householder; and it should be given without expecting anything in return.

VI Jñāna-dāna and its Fruits ;

Jñāna–dāna, or giving knowledge (and its means), is most important of all the gifts, because knowledge gives a clear understanding of correct behaviour and human objectives. This *dāna* helps the observance of Dharma or religious practice (of Ahiṁsā) whereby is attained all that is worthy here and elsewhere, culminating into Liberation consequent on the destruction of Karmas (–12). One who imparts knowledge or Jñāna is the greatest philanthropist, because knowledge is something unique

n every respect. Scriptures which contain the words of Jina should be studied and heard; and thereby one gets a correct perspective and proves himself more worthy than animals : there are illustrations of Abhavyasena, Dhanaśrī etc. Study of scriptures leads to spiritual heights, and the knowledge thereof should be received from worthy teachers in a proper manner and procedure (39 f.). The obligations of a Guru can never be redeemed. Scriptures should be studied and taught; it is their knowledge that is conducive to Right Faith and Conduct; its importance is great; and he who gives it is worthy of high respect.

VII Jñāna-dāna and its Fruits (continued) :

The words of Jina constitute the true Āgama, because he is free from *rāga* and *dveṣa*, attachment and aversion, which are the source of untruth. The claim that Veda is *apauruṣeya* is invalid. Veda does not interpret itself; and the interpreter of it has to be free from *rāga* and *devṣa*. There is no Creator of the universe, nor is the Vedic scripture of valid authority. The omniscient Jina is the true Teacher. He has preached the inviolable doctrine of Anekānta, principles like Jīva and Ajīva and a code of conduct based on Ahiṁsā. Every substance has a threefold nature : origination, destruction (with reference to their *paryāyas* or modes) and permanence (with reference to substance). The Kṣaṇikavāda of Buddha cannot explain various phenomena; and likewise that the Ātman is ever *nitya* is also not tenable. It is the Anekānta that can explain everything in a consistent manner. Where human reasoning fails, the words of Jina are true (–38). One may not understand subtle categories like Dharmāstikāya, principle of motion; but one has to see his spiritual benefit by discriminating *puṇya* and *pāpa*. One's own Karman is supreme in giving the fruits, and one has to be aware of this. One must rise above all conflicts and destroy one's own Karman through Jñāna (53). The words of omniscient Jina are true, and his existence cannot be denied. He is a true Guru who propounds the truth, has faith in it and puts the same into practice. Scriptures are the foundation of religious practices, and therefore they must be preserved. Gifted persons like Naravahana had the scriptures committed to writing. King Śreyān had shown great devotion to scriptures in an earlier birth (Anāmika). The learned should be fed, scriptures should be got copied and preserved, and their study should be encouraged in the Sangha by those who have affluent means. That indeed is the path of merit. Of the four Anuyogas, Drvyānuyoga is the most important. It has been expounded and explained by Samantabhadra, Akalaṅka and others. Logic and other branches of knowledge become worthy when they are studied by men of faith for spiritual enlightenment. Worthy are those who get copied books on various branches of knowledge, especially Jaina scriptures, have them distributed and maintain great collections of them.

VIII Auṣadha-dāna and its fruits :

Offering of *auṣadha* or medicine is as important as other *dānas*; and it helps one to cultivate kindness or Ahiṁsā towards other beings. The Sangha must be healthy, and a healthy body alone is an effective instrument of observing religious practices. Medicine is food for the ailing body; and it is the duty of a Śrāvaka to offer it to a monk. Any doubt in this context is not justified. The instance of Maheraka may be noted for guidance. When monks accept food etc., they really oblige their

donors : one should pay attention to the resulting merits. Even Candraprabha, in his birth of Padmanābha, rendered service to monks by giving medicine. A healthy Sangha is the basis of religious organisation. Therefore one earns great merit by giving the gift of medicine.

IX Rise of Samyaktva :

One attains Liberation by continuous practice of *śīla*, i. e., observing twofold (*aṇu*– and *mahā* –) *vratas* which are the means to all human objectives. The words of an Āpta, i. e., Tīrthakara (about *ātman*, *āgama* etc.) are infalliable because, unlike other gods (6*5 f), he is free from *rāga* and *dveṣa*, attachment and aversion; and by his very birth he has pure spiritual knowledge. If a Teacher is pure, his instructions are pure; and being endowed with a number of great qualities, he propounds the Truth, keeping in view both Niścaya and Vyavahāra stand-points (–20). The scripture sheds light on the fourfold human objectives with reference to the basic principles, namely, Jīva etc. endowed with *guṇas* and *paryāyas* and subjected to origination, permanence and destruction. Jīva and Karman are associated with each other from beginningless time. Though independent of each other by their nature, they are interacting in their association; other substances have their specific functions (–26). Likewise nine Padārthas are explained showing the relation between Jīva and Karman (–37*1). The life of a monk, consisting of the practice of Five Mahāvratas, is unique and has to be adopted for achieving the religious objective, so it should be preached to everyone. Some may stay in the house and follow only Aṇuvratas to the best of their abilities. Samyaktva or Right Faith is the foundation of this twofold religious life, one of a monk and other of a householder. Samyaktva means clear and firm faith in the principles preached by Jina; and it must be free from blemishes like *mūḍhatā* (with reference to *deva*, *samaya* and *loka* –52) etc. which are misleading the people. If any one does not leave them altogether, one must have mixed feeling of connivance at him. One should keep oneself in firm faith and constantly help others to come on the right track. There should be no pride about one's alleged qualities of form, family, head and heart. One should relinquish *mithyā–darśana* etc. and six *anāyatanas* and also remove eight flaws *śaṅkana* etc. of Right Faith (–69*1). It is *mithyātva* which is the source of all blemishes, and it has five or seven kinds which are duly explained (71–80). Candramati, Yaśodhara, Śambhu, Hari, Subhauma etc. are instances of different forms of *mithyātva* the varieties of which are many, even infinite. Mithyātva brings many births full of misery as can be seen from the career of Sanghaśrī and Marīci.

X Limbs (Aṅga) of Samyaktva :

Samyag–darśana, or Right Faith, is the basis of Right Knowledge and Right Conduct : it is either *nisargaja* (natural or inherited) or *adhigamaja* (acquired or cultivated) under certain circumstances. It shows different types depending on the subsidence of Karmas etc. There are internal and external causes for its rise. It is characterised by *praśama*, *saṁvega*, *anukampā* and *āstikya* (duly defined here). Further it is of ten kinds, *ajñā* etc., and even of many varieties (–23). King Śreṇika, queen Revatī and sons of Ādirāja attained liberation quickly through Right Faith which, therefore, needs devoted cultivation (–25). Then are described the qualities of Samya-

ktva : 1) *niḥśaṅkita* of which Vajrāyudha and Añjanacora are the illustrations. 2) *niḥkāṁkṣita* of which Anantamati, Śrīvijaya and Amitateja are the examples. 3) *nirvicikitsā*, often found fault with by others in four respects; inner qualities are to be appreciated and not outward appearance; nudity is the highest non-attachment; pulling out hair is Vīravrata. King Audāyana, Śrīdatta etc. are the instances. 4) *amūḍhadṛṣṭitva*, freedom from credulity in false scriptures; and Revatī is an illustration. 5) *nigūhana*, religious virtues to be encouraged ignoring minor faults. 6) *sthitikaraṇa*, for the stability of the Sangha pious people should be encouraged in their religious practices; there are examples of Celanā–Jyeṣṭhā, Sambhinnamati, Mahābala, Puṣpadanta, Vāriṣeṇa and Vaiśākha. 7) *vātsalya* : there should be fellow–feeling towards all coreligionists and dedication to Ahiṁsā–dharma. This *vātsalya* assumes various forms (like *vinīti*, *vyāvṛti*, *bhakti*, *cāṭukti*, *prārcanā* and *vaiyāvṛtya*) in different contexts. The episode of Bali–Viṣṇukumāra is well-known. 8) *prabhāvanā* : the qualities of spirit should be made effulgent and the doctrines of Jina should be glorified suitably, as was done by Bharata, Sanatkumāra, Rāvaṇa, Vajra-kumāra. By stabilising Samyaktva in one's Ātman, one attains liberation like Śrīṣeṇa.

XI On the first Pratimā :

Though Right Faith and Right Knowledge (*samyag-darśana* and *-jñāna*) go together, they are differently defined; and the former precedes the latter and is cultivated in its eight limbs. Knowledge can be direct (*pratyakṣa*) or indirect (*parokṣa*); the former is of three kinds : Kevala, Manaḥparyāya and Avadhi, and the latter of two kinds : Mati and Śruta. These have many subdivisions. Right knowledge enables one to distinguish between *heya* and *ādeya* in all the contexts of time, space and reality (11). Right Conduct is necessarily preceded by Right Faith and Right Knowledge. It is the very nature of the Ātman wherefrom all sins are eliminated : there is equipoise free from attachment and aversion, and there is all purity. It is of five kinds : *yathākhyāta* etc. which are duly explained (19 f.). The monk observes five Mahāvratas, complete abstention from *hiṁsā* etc., which are the essence of his spiritual progress : the same a householder observes in a partial way. A householder must abstain from wine, flesh, honey, butter, *udumbara* fruits, eating-at-night, *bhāṅga* etc. which involve harm unto living beings. Each one of them has obvious blemishes as elaborated here. The instance of Māṇḍavya deserves to be noted (35). Offering of flesh in the Śrāddha ceremony is not justified. A wine–addict is wanting in truthfulness, and there is no kindness in those who eat flesh, honey and *udumbara* fruits (38*1). Honey is secured by harming the bees which collect it. Honey, wine, butter and flesh contain living organisms of the same colour. Honey or certain intoxicating juices of flowers should not be taken. Māṇḍavya is notorious for eating the flesh of an elephant killed by others (–47). Subtle beings get destroyed in the use of *udumbara* fruits. The pious, therefore, should not take wine etc., nor should they keep company with those who are addicted to them (53). A Śrāvaka observing vows should avoid many *abhakṣya* items, after due discrimination (–58*1). A Śrāvaka of the first stage (*pratimā*) has Right Faith; and if he has eight Mūlaguṇas and avoids some of the *vyasanas*, he adds to his superiority (–62).

XII On the Second Pratimā :

The Second Pratimā has manifold aspects, but is primarily for those who observe the five Aṇu-vratas. One should be free from *pramāda* and abstain at least from injuring *trasa–jīvas*, i. e., those which have more than one sense (–3). Hiṁsā (injury to *dravya*–and *bhāva-prāṇas*) has various aspects and kinds; and it should not be committed under any pretext or circumstance. Really speaking, absence of *rāga* and *dveṣa*, attachment and aversion, is Ahiṁsā in spirit; and if they are let loose there is Hiṁsā (–3*23). Having understood Hiṁsā, its source, its fruit etc., one should avoid it without sparing any effort on one's own part. Hiṁsā primarily ruins the *ātma–pariṇāma*; and violation of other vows is only explanatory (–4*10). The practice of Ahiṁsā has various aspects. It is to be observed with controlled temper avoiding injury to living beings in one's activities, in items of food and drink and in human relations. One should cultivate the four virtues : *maitrī*, *pramoda*, *karuṇā* and *samavṛtti* (14 f.); and Ahiṁsā should be observed with a sense of responsibility. Often *prāyaścitta* is necessary as demanded by the public and for shedding the Karmas. What is *śubha* is to be preferred to *aśubha*; and outward formalities should be preceded by inner purity for eliminating all sin (–23*1). There are five *aticāras* of Ahiṁsā (26). Injury to living beings even in the name of religious practice leads to rebirths. Ahiṁsā is like the jewel Cintāmaṇi, and all other vows are subordinate to it (–31). Untruth arises from *pramāda*: and it is of four kinds (32*1 f). The fourth variety covers objectionable (*garhita*), sinful (*avadya–saṁyuta*) and unpleasant (*apriya*) statements which harm others (–32*8). The four varieties are stated in a different way as well (32*9, 35). The *satya* variety of these four is again of ten kinds depending on the country or territory (*deśa*) etc. (38). One should always speak what is *priya* etc. Any statement which results in distrust, punishment and mental torture to others should be avoided. Scandalising Kevalin etc. is to be eschewed. Statements made out of jealousy and vanity lead to Karmic influx. There are five *aticāras* of the Satya–vrata(43*1). Then statements which lead to *ucca* and *nīca* Gotra are indicated. A good man sticks to truthful speech. Vasu went to hell by his untrue statements; and on the other hand, Devakīrti attained liberation by his devotion to truth. One who speaks truth creates a happy atmosphere all round.

XIII On Asteya etc. :

Theft or stealing consists in depriving others through *pramāda*, of their belongings without their being offered. Belongings or possessions are as good as external *prāṇa;* so theft amounts to Hiṁsā. Excepting articles of general need like water grass, etc., one should not pick up the belongings of others which are dropped, kept or forgotten. Theft is punished by the king, and it involves harm to oneself and to others. Even the wealth of relatives should not be taken, if it is not duly given. A *śrāvaka* can accept only such wealth as is justly earned (and duly given). The treasure-trove belongs only to the king. Those who observe this vow of *acaurya* earn great benefits. There are five *aticāras* of this vow (6). The instances of king Suyodhana, of priest Satyabhūti etc. deserve to be noted (–10).

Sexual enjoyment is *abrahma*, and it involves Hiṁsā. A Śrāvaka should treat other women (than his wife) as mother, sister etc.; but one with perfect celibacy

(*mahājana*) observes complete abstention. Self-restraint is ever commended, though sex-satisfaction is allowed in a limited area (13*4). Such items of food and drink as incite sex should be avoided; it is by the preservation of *brahma*, i. e., celibacy, that all other vows get strengthened. Intense sex instinct is injurious to all pious tendencies (18). There are five *aticāras* of the vow of celibacy (18*1). There are ten items which arise out of sexy feelings. Celibacy is to be observed in nine ways (–19). The voluptuous son (Kaḍārapiṅga) of the minister suffered great miseries; Bhārata and other wars have been fought for women; two merchant brothers fell in love with their sister; so these instances should induce us for sex-abstention whereby one earns great benefits (–24).

It is the feeling of mineness that is attachment which leads to greed for possessions. Naturally, one who has attachment is *sagrantha*, irrespective of actual possessions which need not mean only external belongings. Parigraha (i e., belongings or possessions) is internal (of fourteen kinds) and external (of two kinds). The Varieties are enumerated. To avoid *parigraha* is to strengthen the vow of Ahiṁsā (–25*1). There are degrees and types of *mūrcchā*, attachment or infatuation. The internal types can be overcome by conquering morbid varieties of passions and by cultivating qualities like *mārdava*, tenderness etc. One should go on putting limits to one's belongings; one should earn justly what is suitable to one's living; and the excess, without any further greed, should be given to those who are deserving(–27*1). Among the belongings even one's body is not a permanent companion, then what to say of others. Wealth has to be the means of *virtuous* living: if it is not expended fruitfully, it resembles the water from the ocean from which not a sip of it could be drunk. One who is free from attachment (=greed) is worthy of honour. There are instances of Spaṭhahasta, Piṇyāka, Bharata and king Daṇḍaka. who suffered here and elsewhere on account of their greed. On the other hand, Jinadāsa, Bāhubali and Maṇimālin became happy everywhere. Greed is the source of many evils (–35). Vrata is a vow to avoid Hiṁsā etc.; it may be *sthūla* – (=*aṇu*–) or *mahā–vrata*; and the observance of it leads one, in due course, to liberation. It has manifold aspects and varieties (–38). One in the second Pratimā observes these Vratas and thereby achieves spiritual purification (41).

XIV On the Second Pratimā (Continued) :

Eating after sunset involves Hiṁsā, so one who wants to observe Ahiṁsā has to abandon it. There are some opinions to modify this concept (2 f.). Scriptures have prescribed time for eating, and any violation of it leads to certain evils. There are eight stories narrated in this regard, and it is not human to eat at night (–8).

For strengthening the five vows, there are prescribed seven Śīlas consisting of three Guṇa–and four Śikṣā-Vratas. (i) Putting restriction on one's movements in certain directions is the first Guṇavrata : it can be occasionally transgressed for religious purposes only and not for any others. It has five *aticāras* (–13*1).(ii) Restricting one's movements with respect to certain areas or localities etc. for a fixed period of time is the second Guṇavrata (Here it may be noted that Deśāvakāśika is included in the Guṇavratas), which in a way, strengthens the vow of Ahiṃsā. There are five

aticāras of it (15*1). There are illustrations of the benefit of this Vrata (–19). (iii) To abstain from wanton injury to living beings is the third Guṇavrata. This injury is of five kinds : (1) Thinking ill of others; (2) offering sinful instruction; (3) inconsiderate or thoughtless behaviour; (4) supplying instruments of injury; and (5) reading or hearing such tales and so on as incite passions etc. There are five *aticāras* of this vow (–25*2). Some persons like Soma have achieved happy ends by observing this vow, and indeed it is an important one.

XV On the Third Pratimā : Sāmāyika :

Though not seen by the eye, the existence of Āpta or Arhat is a fact, and worshipping his image has its value. Though Droṇācārya was not before the eyes, that Kirāta (Ekalavya) achieved the object by worshipping his image (8). Both internal (absence of *rāga* etc.) and external (bathing etc.) purity or cleanliness are a precondition for worshipping Jina; and the latter has various aspects (–13*4). The householder has twofold duties (*dharma*), *laukika* and *pāralaukika* (13*5). The worldly propensities are self-evident, but the means to liberation from Saṁsāra are rare (13*8). The articles of worship have a symbolic objective (–20); and the routine of the rituals has to be duly followed in the manner of the details prescribed here (21 ff.). The fivefold divinity is to be welcomed with due salutations (49*3–ff.); and the presence of other deities is also solicited (50). The *japa* of the great Mantra is to be offered at certain hours and in certain numbers by way of meditation to visualise spiritual effulgence, in the prescribed manner (–56). Prayers should be offered to Jinendra; and with the *puṣpañjali* one should take leave of the deities earlier invited (61). Then blessings are solicited from great saints whose qualities and gifts are listed in details in ten verses, after reciting each, *puṣpāñjali* is to be offered (62). Though the Arhat is Vītarāga, meditation on him is of great benefit as established in the Vidyānuvāda (64*1).

Sāmāyika consists in avoiding all that is *kalmaṣa* or *aśubha* and in adopting *śubha* all along. The Ātman endowed with right Faith-knowledge–conduct is *samaya* and to realize that is *sāmāyika*. While practising Sāmāyika (being engrossed in self-meditation), equanimity of the highest type is developed. Sāmāyika is of two types, and it is practised in various ways with a view to reaching spiritual equanimity free from *rāga* and *dveṣa*. It is practised in the morning and evening, but can be adopted at other times as well. It is also called *vandanā*, of two types, as mentioned in the Kriyākalāpa (73). There are five *aticāras* of Sāmāyika (75*1). Sāmāyika leads to great benefits; and we have the instances of Subhauma (who violated it), of Padmaratha (who innocently observed it) and of Samantabhadra (82). The practice of Sāmāyika is of great importance in the third Pratimā, and thereby one earns great benefits leading to liberation (–85).

XVI Exposition of the Proṣadha-pratimā :

Tapas, or penance (here fasting), bears great fruit and has to be practised without indifference or negligence. Upavāsa consists in withdrawing the senses from their subjects and in giving up fourfold nourishment (*āhāra*); and it is observed on the 8th and 14th day of each fortnight (–4) for stabilising the practice of Sāmāyika. Putting a stop to all activities (*ārambha*), fasting should be accepted from the noon

of the earlier day. It is got prescribed in the presence of Jina or Sūri or by onesel at the command of the Teacher. One should retire to a lonely place, subdue one' activities and senses, and spend one's time in study and meditation. Next morning one should perform Pūjā etc. Half of the third day should be spent likewise. Such a fast is a veritable vow of Ahiṁsā; and it should be free from five *aticāras* (– 5*6). Fasting has its varieties known as *anāhāra*, *upavāsa*, *mahopavāsa*, *prācīna* and *sakala*; and it could be *nitya* and *naimittika*. On the Parva days worship of Jina etc. is to be performed. Those who cannot observe complete fasting may observe it partially by taking one meal a day (11). Penance is external as well as internal, each one having six varieties. Many dignitaries including Tīrthakaras (in their earlier lives) have practised various penances of fasting. Ananta, Dhanaśrī, Rājagupta, Śaṅkhika, Anāmika, Śrīdatta, Kamalaśrī, Rohiṇī etc. have practised different penances of fasting named Kalyāṇa, Cāndrāyaṇa, Ācāmlavardhana, Śrutasāgara, Dharmacakravāla, Pañcamī, Rohiṇī etc. Spiritual purification is not possible without the practice of penances of which the six External (*anaśana* etc.) and six Internal (*vinaya* etc.) varieties are duly explained (20–31). The Proṣadha–pratimā, when observed along with the earlier practices, leads to worthy positions.

XVII Exposition of Sacittādi-pratimā :

Items of enjoyment (both *bhoga* and *upabhoga*) should have a limit, at stated times, and should not violate Ahiṁsā–dharma. Day to day the limits should be renewed and abided by according to one's ability whereby the vow of Ahiṁsā is observed (– 1*3). Eatable like onion etc. as well as butter are abodes of subtle lives and as such must be ever avoided. One should be satisfied by *acitta* items and relinquish the *sacitta* ones either as *yama* (all along) or as *niyama* (for a limited period of time) (-3). Similarly using skin etc. or food etc. contaminated by the former should be avoided, because they are secured by killing Trasa beings. Sacitta–tyāga, fully or occasionally, is necessary for a householder where he becomes the best or mediocre Śrāvaka observing this Pratimā. Vāriṣeṇa is an instance in this context (– 11).

Woman has a mesmeric attraction, but the wise should not enjoy her by day (13); and that should be a worthy rule to be observed by a Śrāvaka of this Pratimā.

Sex enjoyment brings in a number of disabilities (19), and hence any excess in that context has to be checked. Celibacy is a triumph in itself (26), and there are different aspects of its observance (27).

Ārambha, or preliminery sin involving injury to living beings, results from enjoying consumable and non-consumable items (*bhoga* and *upabhoga*). One should avoid injuring Trasa beings and also Sthāvara beings as far as possible (29). Putting all family responsibilities and activities on sons etc., whom one has brought up, one should remain detached (*udāsīna*) to the world, and thus alone Ārambha is avoided. One becomes as good as a Muni, though there could be grades for one (– 36).

Worldly possessions create an attachment which must be abandoned, and one should have attachment only for one's Ātman. Even the highest positions and possessions deserve to be given up otherwise one has to face a number of troubles. By conquering worldly attachment one develops Saṁyama or self-control and peace of mind. It is by abandoning items of *bhoga* and *upabhoga* one can observe the Five Pratimās (5, 6, 7, 8 and 9).

XVIII Exposition of Pratimās ending with Uddiṣṭa-tyāga (i.e., Anumati and Uddiṣṭa–tyāga) :

A worthy Śrāvaka understands time, place and scriptural sanction and offers *dāna* to *Pātra* in the manner prescribed for the benefit of both. The *upacāra* is nine fold, *pratigraha* etc., which are duly defined (3–11). While giving Dāna (of food), the donor should have a worthy attitude (11*1), and the gift should go to strengthen the monk's study and meditation (12). The Pātra is of three kinds. Greed is a form of injury to beings, and it is eliminated by giving Dāna. The food prepared for oneself is given to a monk (for whom it is not intended) who comes without any invitation Dāna is given with various ends in view. It is fourfold, and it should be given respectfully and to the best of one's ability (–16*1). Nature and fruits of *dāna* are described earlier. The Donor has seven virtues *Śraddhā* etc. which are noted in details (19–24). It is the worthy food (described) that is to be given to a monk who should be duly attended to during his illness etc. (–27*4). The householder should be above vanity etc. while offering food which the monk accepts from worthy persons who offer it as a duty (30*1). One's Right Faith should not be allowed to be soiled. There are various kinds of Pātras (33) which deserve respect and help. It is the purity of intention that earns religious benefit. Rare are ideal monks, still even those who are seen now deserve respect (38). Knowledge and penance when they go together deserve the highest respect (40). There are different formalities of offering respect (40*1). All monks deserve respect; and their varieties are described (43*1 ff.) : *dāna* is of four types (*sāttvika* etc. 44f*). Monks should be duly nouri. shed with food and means of knowledge, because learned monks are rare (–55). There are five *aticāras* of *atithi–dāna* (59*1). [The above discussion perhaps covers *atithisaṁvibhāga*].

One who wants to lead a pious life will not give consent to sinful activities (–67).

A Śrāvaka who receives food etc. which is not specially prepared for him is Uddiṣṭa–tyāgin By eating food which is specially prepared for him he faces spiritual disaster. These Pratimās are observed in different grades according to ons's ability.

XIX Sallekhanā : its Exposition :

On the eve of one's life, the body will drop down; but one has to maintain Right conduct by observing Sallekhanā. One should follow the routine prescribed in the (Bhagavatī) Ārādhanā (*arha* etc.); and fully cultivate the three jewels (–9). Sallekhanā alone enables the Ātman to carry with it the gains of religious practices. When death is certain, when one dies (voluntarily) without any attachment and aversion, and after eliminating the passions, this cannot be called suicide (11*6). In suicide, however, one kills oneself in some way or the other under the stress of passions and emotions (11*7). If the mind is ruffled on the eve of one's career, the earlier observances become fruitless. Sallekhanā should be adopted after having severed all attachment for the family, mineness for possessions and ill-will towards the enemical and with due report of one's flaws to the Teacher. Step by step, food etc. should be given up with one's mind engrossed in meditation on the Five Parameṣṭhins (11*12). This may not be possible when one dies accidentally; otherwise Sallekhanā proves a great

Tirtha (12). Fasting on the eve of life is indeed a blessing : the mind should be plunged in religious meditation (12*4). There are five *aticāras* of Sallekhanā (12*5). Blessed is he who is devoted to the three jewels, has dedicated himself to the Teacher and ends his career in *samādhi*. One has to conquer the *parīṣahas* (15–37) and meditate on twelve *anuprekṣās* indicated here. Worldly career and pleasures and possessions are all temporary and fickle; and there is no escape from Death. One has to realize oneself as an embodiment of Right Faith, Knowledge and Conduct. One has to understand Influx, Stoppage and Destruction of Karmas. Religious enlightenment is something rare. After getting it, one should practise Dharmya-dhyāna which, in due course, takes one to Liberation.

XX Miscellaneous Topics :

This concluding chapter is really miscellaneous in its contents. The meaning of Aṅga-praviṣṭa and Prakīrṇaka is explained. The five good qualities of a religious Teacher as well as the bad ones which hinder correct understanding are noted (-2*2). Religious organisation depends on the truly religious Śrāvakas who observe six-fold duties (4*2) in which Svādhyāya covers four Anuyogas (4*3 ff.) Tapas and Saṁyama are explained with reference to Guptis and Kaṣāya-jaya etc. (-17). The vows should be observed on the ladder of Pratimās (-21). The *bhikṣā* is fourfold, and the Śrāvaka must offer it. The householder should cultivate three jewels which gradually lead him to liberation. Victory is wished to the Anekānta-Dharma preached by Jina. Then the author gives some personal details which are summarised elsewhere.

4. Critical Estimate of the Form, Contents, Poetic merits etc. of the Dharmaratnākara

The entire text of the Dharmaratnākara is divided into 20 Avasaras with suitable titles The total number of verses, in different metres, is 1653, and the author's Praśasti has eight verses more. Some are composed by the author and many others are quoted often anonymously, as already noted above. From the review of the contents given above, chapter to chapter, it is clear that Jayasena has presented in this work a vast range of ideas, topics and subjects, both moral and religious, primarily in the set-up of Jainism. He starts with the ideas like Dāna, Śīla, Tapas and Bhāvanā and goes on expounding his themes as a gifted poet and an earnest teacher. The work has become more an anthology, moral and religious, than a systematic treatise with clear-cut subjectwise divisions. Now and then sections dealing with certain topics can be marked out, but they are often mixed up with and distracted by repetitions quite common with earnest teachers who are out to give religious discourses. After fully discoursing on Dāna in details (I–VIII), the author takes up the topic of Śīla under which Samyaktva (IX–X) is discussed in all the aspects. Then he passes on to the exposition of Pratimās (P. 1 : XI; P. 2 : XII–XIV; P. 3 : XV; P. 4 : XVI; Ps. 5–9 : XVII; Ps. 10–11 : XVIII); but the quantity of discussion about various Pratimās is uneven, and sometime the subject matter is not fully covered: then one Avasara is devoted to Sallekhanā (XIX); and the concluding Avasara is really miscellaneous including even such topics as were discussed in earlier sections. The discussion of Śikṣāvratas should have been continued in Avasara XV; but the author takes up Sāmāyika

in the Pratimā pattern. The two patterns of discussion kept apart in the Ratnakaraṇḍaka seem to have been mixed up here. The Tattvārthasūtra and the Yaśastilaka have possibly some influence here. For the relative position of the Rātrībhojana-viramaṇa and for different understanding of the contents of Pratimās one might consult the excellent discussion in this context in the Jaina Yoga by R. Williams, Oxford University Press, London 1963, pp. 107 ff. 172 ff. and also Ethical Doctrines in Jainism by K. C. Sogani, Sholapur 1967, pp. 108 f., also p. 92. The treatment of these topics by Jayasena needs a more detailed investigation as to the sources he is following. Some of the observations of the author may even have reference to contemporary conditions of the Jaina Sangha, and as such would be useful to a student of sociology and social psychology. For the present it is beyond the purview of the editor.

Jayasena's range of studies is quite vast as is clear from the quotations, both in Sanskrit and Prākrit, he incorporates in his work. Some of the quotations are repeated (for instance 540 and 639). Whenever necessary sections from works like the Vidyānuvāda (1268), Kriyākalāpa (1280), and (Bhagavatī) Ārādhanā (see 1521 f.) are enumerated. The subjects discussed by him cover the entire range of the Caraṇānuyoga as it were, though he is primarily interested in the Sāgāradharma without ignoring the duties which a householder owes to the ascetic congregation. He is inclined more towards ethical exhortation than towards cold and classificatory discussions. His exposition is full of illustrations and some of them are strikingly drawn from day-to-day life (see for instance, 321, 322, 333, 747, 776, 842 etc.). He has great mastery over Prathamānuyoga works, and by way of illustration he refers to a number of tales many of which can be traced to Purāṇas and Kathākośas : an exhaustive study of them would be an interesting topic. May be that he has before him texts like the Bṛhat-kathākośa and Puṇyāsrava. He has sufficient knowledge of Indian mythology in general too (see for instance 23, 32, 134 etc.). He has some acquaintance even with pragmatic branches of learning like *mantra* (4), *tāmbūla* (41), *rasāyaṇa* (71), *jalaśuddhi* (574) etc. Thus Jayasena impresses us as a well-read Teacher with striking abilities of an effective preacher. More than once (VII) he shows fair knowledge of other religions and systems of thought (than Jainism).

Jayasena possesses poetic gifts as well Though his style cannot be called lucid, he has a good command over Sanskrit expression; and may be that some of the Prākrit verses are also composed by him. Though essentially he is a teacher and a preacher, he often embellishes his verses with poetic niceties. He uses some striking similes (see for instance 215, 283, 339, 353, 641, 682, 906, 980 etc.), some of them being even of amorous tinge (see 29, 49, 51, 156 etc.). Now and then he introduces *anuprāsa* quite casually (see 155, 165, 185, 261, 449, 529, 539 etc.). Some verses are good illustrations of *śabda-lālitya*, for instance, 1369. 1373, 1378, 1517, 1529, 1558, 1574 etc. Some verses have their specialities : 28 (name of the metre), 44 (*śleṣa*) 97–8 (passive usage) etc. There are wise sayings in verses like 265, 297, 446, 512, 583, 626 etc. Some verses remind us of the well-known Sanskrit works, not necessarily Jaina (of course earlier Jaina works are profusely used) for instance 431 (Gītā 4.37), 570–71 (Kumāra-sambhava V. 4, 33) etc. The author seems to have some acquaintance with some of the texts of the Ardhamāgadhī canon, (cf. 459 with the Uttarādhyayana I.18 ff.)

5. JAYASENA : The Author

In the concluding colophon the author mentions his name as Jayasena qualified by Śrī, Sūri, Muni. His name can be taken as Jayasena rather than Śrī-Jayasena. He traces his ancestry to Medārya (also written Metārya) who was the tenth Gaṇadhara of Mahāvīra.[1] Medārya practised severe penance. He was a concrete embodiment of Daśadharma. He brought prosperity by his supernatural powers to the people in the town of Śri-khaṇḍilla. It is from him that the Sangha L(Jh)āḍa Bāgaḍa arose (*tenājāyata*). In that Sangha, in the line of great Saints, was born Dharmasena who used to preach the religion. After him comes Śāntiṣeṇa a great disputant and well known for his learning. After him there was Gopasena, followed by Bhāvasena an embodiment of many virtues. His pupil was Jayasena. He was famous among the saints and gave pleasure to all the people. He composed this Śāstra, i. e. Dharmaratnākara (DR), full of the essential doctrines of Jina-Samaya for the benefit of living beings. Thus Jayasena belongs to the Lāḍa Bāgaḍa Sangha and his predecessors, in back succession were Bhāvasena, Gopasena, Śāntiṣeṇa and Dharmasena, going back to Medārya of antiquity

It has been pointed out by Pt. Paramanand[2] that a Ms. from Byavar contains an additional verse which specifies the date as well as place of composition :

बाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे ।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सव(क)लीकरहाटके ॥

That means, this work was composed in Saṁ. 1055, i e., 998 A. D. Some read Sakalī- and some Sabalī – which is an elusive term; and the identification of the locality needs further inquiry.

Narendrasena gives a detailed Praśasti at the end of his Siddhāntasāra-sangraha.[3] It closely resembles the concluding section of DR both in contents and succession of teachers, and has in addition, some common verses. The inauguration of the Lāḍa Bāgaḍa Sangha is attributed to Medārya, the tenth Gaṇadhara of Mahāvīra. The name of the locality with which he is associated is differently mentioned (Śrī-khaṇḍillaka-pattana or Śrī-pūrṇatalla). Then there is Dharmasena, a Digambara, who covered his body as it were with the garment of the lustre of his teeth in course of his discourses. What are the adjectives of Dharmasena in one get transferred to Śāntiṣeṇa in the other. The Editor has arranged the lines into verses without taking into

1) In some of the lists, the eleven Gaṇadharas are mentioned thus : (1) Indrabhūti, (2) Agnibhūti, (3) Vāyubhūti, (4) Akampana, (5) Maurya, (6) Sudharman, (7) Putra, (8) Mitra (Maitreya), (9) Maṇḍya (Mauḍya), (10) Andhavela and (11) Prabhāsa (with some variation in the order). Medārya is not included here; but his name occurs in the list given in the Kalpasūtra (S. B. E. Vol. 22, p. 286).

2) Jaina-Grantha-praśasti-saṃgraha, Part I, J. Mukthar and Paramananda, Virasevamandira, Delhi 1954, pp. 5 (Intro.) 3–4.

3) Ed. by Pandit Jinadas P. Phadkule, Sholapur 1957.

account their metrical forms. Then come Śāntiṣeṇa, Gopasena and Bhāvasena (described in identical verses), and then Jayasena (obviously the author of DR). On his Paṭṭa comes Brahmasena, then Vīrasena, then Guṇasena and then Narendrasena, the author. Again are mentioned Guṇasena, Udayasena and Jayasena of whom Guṇasena was possessed of many Kalās.

Lately, a good deal of information has been made available about this Lāḍa-Bāgaḍa (Lāṭa-vargaṭa, also Lāṭa-Bāgaṭa, in Sanskrit) Sangha or Gaccha.[4] In due course it seems to have connected itself with the Punnāṭa-gaṇa, -gaccha or -sangha of which the earlier known authors are Jinasena who composed his Harivaṁśa in A D. 783 and Hariṣeṇa who composed his Kathākośa in A. D. 932-33. Mahāsena, the author of the Pradyumnacarita, was also a Lāṭa-vargaṭa. He was a contemporary of Muñjarāja and Sindhurāja, and was honoured by Parpaṭa, the minister of the latter (c. 974-1009 A. D.). This Lāḍa Bāgada Sangha is also linked with the Kāṣṭhā Sangha; but its connection with the Yāpanīya Sangha is not proved, because Punnāṭa and Punnāga cannot be taken to mean the same. The Paṭṭāvalis of the Ācāryas belonging to this Sangha give interesting details about their contemporary rulers.[5] One of the earliest Ācarya of this Sangha, namely Dharmasena is said to have been a *digambara*, a naked monk, but some of the later teachers were possibly Bhaṭṭārakas in succession.[6]

Jayasena, the author of DR, belonged to the Lāḍa-Bāgaḍa Sangha and composed his work in 998 A. D. Thus he will have to be distinguished from other Jayasenas so far known to us[7] : i) Jayasena, the teacher of Dharmaghoṣa, mentioned in the Mathura inscription of the first century A. D. ii) Jinasena, the author of the Mahāpurāṇa (c. 838 A. D.) mentions one Jayasena as his Guru (Ādipurāṇa 1-59).[8] iii) Jinasena, the author of the Harivaṁśa (A. D 783)[9] belonged to the Punnāṭa Sangha; and he gives a long list of his predecessors. In that one Jayasena figures as his grand teacher It is very difficult to ascertain whether both the Jinasenas have the same Jayasena in view. iv) Jayasena has written Sanskrit commentaries on the three main works (Pañcāstikāya, Pravacanasāra and Samayasāra) of Kundakunda. Some details about him are discussed in the Introduction to my edition of the Pravacanasāra. He has been assigned to later than c 1150. v) Mahāsena (or Mahasena), the author of Pradyumnacarita,[10] belonged to Lāḍa Bāgaḍa Sangha, and he mentions his grand teacher by name Jayasena. It is not unlikely that one is tempted to identify him with

4) V. P. Johrapurkar : Bhaṭṭāraka Sampradāya, pp. 248-295, Sholapur 1958.

5) Giving reference to the Dubkund Inscription of A. D. 1088, Indian Antiquary XIX, p. 36 and Epi. I. II, pp. 232-40, A. Guerinot includes the Lālavāgaṭagaṇa under Śvetāmbara sects. Epigraphie Jaina, Paris 1908, Intro. p. 60.

6) See Siddhāntasārasaṃgraha, Praśasti, verse, No. 3.

7) A. N. Upadhye : Pravacanasāra, Intro., section on Jayasena, the commentator : Paramananda Jain : Anekānta, VIII, 201-5.

8) Bharatīya Jñānapīṭha, ed., Varanasi, 1951.

9) Bharatīya Jñānapīṭha, ed., Varanasi, 1962.

10) N. Premi : Jaina Sāhitya aura Itihāsa, 1st ed., pp. 183-84.

the author of DR. vi) Then there is the author of the Pratiṣṭhāpāṭha, Jayasena, alias Vasubindu, by name.[11] He calls himself *agra-śiṣya* of Kundakunda. King Lālaṭṭa had a big (*dīrgha*) Caitya constructed on the Ratnagiri (*Sahyādriṇā saṃgata-sīmni*) in the territory of Kuṅkuṇa (Konkan), in the South. To mark that function, at the behest of the Teacher and to the joy of the residents of Kolhapur (Kolāpura), Jayasena alias Vasubindu wrote (*saṃlikhitaḥ*) this within a couple of days. Thus the Praśasti indicates that the author Jayasena is associated with Kolhapur. The late Pt. Bahubali Sharma told me once that this Ratnagiri stands for the present-day Jotiba hill near Kolhapur.

11) Pratiṣṭhāpāṭha, Sholapur, 1925.

अंग्रेजी प्रस्तावना का हिन्दी सार

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

१. हस्तलिखित प्रतियाँ तथा मूलसंघटन

प्रो. एच्. डी. वेलणकर ने अपने जिनरत्नकोश में (पूना १९४४) धर्मरत्नाकर का परिचय देते हुए कहा है– "धर्मरत्नाकर दिगम्बर ग्रन्थकार जयसेन के द्वारा बीस अध्यायों में रचा गया है। जयसेन झाडबागड संघ के धर्मसेन के शिष्य शान्तिसेन, उनके शिष्य गोपसेन, उन के शिष्य भावसेन के शिष्य हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत में है और जामनगर के हीरालाल हंसराज ने इसे प्रकाशित किया है।" इस सूचना के अनुसार मैंने विभिन्न विद्वानों तथा प्रकाशकों से पूछताछ की। किन्तु धर्मरत्नाकर के प्रकाशन की पुष्टि कहीं से नहीं हुई। अतः इसका प्रकाशन हाथ में लिया। जिनरत्नकोश में इसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों का भी निर्देश है। उसके अतिरिक्त भी इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ ब्यावर, देहली, आदि में वर्तमान हैं यह संस्करण जिन प्रतियों के आधारपर तैयार किया गया है उनका विवरण इस प्रकार है।

P1– कागजपर लिखित यह प्रति पूना के भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिटयूट की है। इसका नंबर १०९५ (१८९१–९५) है। इसमें ९९ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में दस पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में लगभग चालीस अक्षर हैं। प्रत्येक पृष्ठ के किनारों पर विवरणात्मक टिप्पण हैं, जिसका अधिकांश प्रति-लेखक के द्वारा लिखा गया है। लेखन सुन्दर है और उसमें एकरूपता है। अन्त में लेखकप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि संवत् १४८५ में दिल्ली नगर में काष्ठासंघ, माथुरान्वय, पुष्करगण के आचार्य अनन्तकीर्ति देव की परम्परा के हरसिंह ब्रह्मचारी ने प्रति लिखाई थी।

P2– यह प्रति भी भण्डारकर रि. इ. पूना की है। इसका नं. १४३४ (१८८६–९२) है। इसमें १२९ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में साधारणतया ग्यारह पंक्तियाँ, किसी किसी में नौ या दस भी हैं। प्रत्येक पंक्ति में लगभग तीस अक्षर हैं। प्रारम्भ के कुछ पत्रों के किनारों पर विवरणात्मक टिप्पण हैं। अन्तिम लेखक-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि संवत् १८२७ में कालाडहरा नगर में सवाई पृथ्वीसिंह के राज्य में मूलसंघ, नंदिआम्नाय, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, कुन्दकुन्दाचार्यान्वय में भट्टारक अनन्तकीर्ति के शिष्य पं. उदयचन्द्र के लिये खण्डेलवाल वडजात्या गोत्र के रूपचन्द और उसकी पत्नी रूपकदे ने यह प्रति लिखाई थी।

D–यह प्रति दि. जैन पंचायती मन्दिर, मस्जिद खजूर, देहली की है। इसका नं. ११० है। अन्तिम पत्र का नम्बर १४६ है। इस प्रति के कागजों में ही विभिन्नता नहीं है किन्तु लेखन में भी भिन्नता है। प्राचीन पत्रों में बत्तीस से पैंतीस तक अक्षर लिये नौ नौ पंक्तियाँ हैं। लेखन

सुन्दर तथा एकरूप है। नवीन भाग (१–२९ तथा १०१–१०४) के प्रत्येक पत्र में नौ पंक्तियाँ हैं। अक्षर बडे बडे हैं। यद्यपि एकरूपता है किन्तु लेखन वैसा सुंदर नहीं है। इसका लेखनकाल संवत् १२१७ है।

डी–प्रति-के प्राचीन भाग तथा कागज तथा पी–प्रति में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है। यद्यपि हस्तलेखन में भेद है किन्तु लेखनशैली में साम्य है। 'पी' प्रति का कागज तथा साधारण आकृति 'डी' से प्राचीन प्रतीत होते हैं। पी-का लेखनकाल संवत् १४८५ (१४२८ इ.) है जब कि डी-का लेखनकाल संवत् १२१० (११५३ इ.) है। यह काल एक अतिरिक्त पत्र पर अंकित है जो बाद का है और इसलिये इसकी प्रामाणिकता के विषय में निःसंदेह होना शक्य नहीं है। यदि यह समय यथार्थ है तो यह अवश्य ही उस प्राचीन आदर्श प्रति का होना चाहिये जिस पर से दो व्यक्तियों ने आवश्यक भाग की प्रतिलिपि करके इसमें जोडा है।

पी–प्रति तथा डी-प्रति के प्राचीन भाग में अध्यायों के अन्त में जो सन्धिवाक्य हैं, वे समान हैं। दोनों प्रतियों में कुछ पाठान्तर भी हैं।

इस संस्करण में धर्मरत्नाकर का जो मूल दिया गया है, उसका आधार पी और डी प्रति हैं। पादटिप्पण में दोनों के पाठान्तर दिये हैं। पी-प्रति के पत्रों के कोनोंपर जो टीकारूप टिप्पण है वे सब–जो पढे नहीं जा सके उन्हें छोडकर – पी के उल्लेख विना पादटिप्पण में दे दिये गये हैं। जो टिप्पण डी प्रति में ही पाये गये उन्हें डी–के निर्देश के साथ दिया है। जो दोनों में पाये गये उन्हें पी–डी–के–निर्देश के साथ दिया है। संपादक ने मूल प्रति के पाठों की सुरक्षा का यथासंभव पूर्ण ध्यान रखा है। लेखनसंबन्धी अशुद्धियों को छोड दिया गया है।

२. धर्मरत्नाकर

जैसा कि नाम से प्रकट है 'धर्मरत्नाकर' धार्मिक सूक्तिरूपी रत्नों का समुद्र है। इसमें बीस अध्याय हैं और विभिन्न छन्दों में निबद्ध कुल १६६१ पद्य हैं। इसके रचयिता आचार्य जयसेन हैं। उन्होंने समन्तभद्र और अकलङ्क जैसे प्राचीन आचार्यों का निर्देश किया है। ग्रन्थ में प्रतिपादित विचारों, विवरणों और उपमाओं के लिये वह अपने पूर्वजों के विशेष ऋणी हैं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत और गम्भीर है। उन्हों ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों की रचनाओं से बहुत से पद्य लिये हैं। क्वचित् ही 'उक्तं च' का प्रयोग किया है। अन्यथा विना किसी निर्देश के ही लिया है। इससे संपादक को उनके चुनने में बडी कठिनाई महसूस हुई है। ग्रन्थ या ग्रन्थ-कारों के नाम का निर्देश बहुत ही विरल है। उदाहरण के लिये उमास्वाति का निर्देश वाचकमुख्य उपाधि से और यशस्तिलक चम्पू के रचयिता सोमदेव का कलिकालसर्वज्ञ उपाधि से किया है। ग्रन्थ में समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार, गुणभद्र के आत्मानुशासन, अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू से अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं।

३. विषयविवेचन

१. पुण्य और पाप का फल

ग्रन्थ के आदि में धर्म का महत्त्व बतलाते हुए ग्रन्थकारने कहा है- धर्म से वह सब प्राप्त होता है, जो महान् और परम आदरणीय है किन्तु जो धर्म अथवा पुण्य से हीन होता है, वह दुःखका भागी होता है। सुखी गृहस्थाश्रम पुण्य से प्राप्त होता है किन्तु उसके अभाव में गृहस्थजीवन दुःखदायी बन जाता है। उत्तम घर, उत्तम भोजन, बहुमूल्य वस्त्राभरण, सुगंधित जल से स्नान आदि पुण्य से प्राप्त होते हैं। किन्तु उसके अभाव में गन्दी झोपडी, रूखा–सूखा भोजन, दरिद्रता आदि मिलते हैं। धर्म के ही प्रभाव से इन्द्र तथा सर्वार्थसिद्धि के देव सुख भोगते हैं किन्तु अन्त में सभी कर्मों के विनाश से मोक्ष प्राप्त होता है।

२. अभयदान का फल

अभयदान का फल बतलाते हुए कहा है – सब जीवों पर दयाभाव सभी को करना चाहिये। दुसरों की सहायता करना सब का कर्तव्य है। जो दूसरे प्राणियों के जीवन की सुरक्षा प्रदान नहीं करता वह धर्म नाम से कहे जाने योग्य नहीं है। दया या अभयदान धर्म का सार है। जीवन सब को प्रिय है और उसीकी सुरक्षा के लिये बारह व्रतादि कहे हैं। यदि जीवन ही चला गया तो रहा क्या ? अतः अहिंसा अथवा अभय सब में प्रमुख है। उस के अभ्यास से सर्वोच्च पद प्राप्त होता है।

३. आहारदान आदि का फल

आहार के विना शरीर नहीं रह सकता और शरीर के विना धर्मसाधन नहीं हो सकता। भगवान् ऋषभदेव ने गन्ने के रस से उपवास की समाप्ति की थी। आहार किसी न किसी रूप में सभी प्राणधारियों के लिये आवश्यक है। इसी से आहारदान प्रशंसनीय है। अतः आहारदाता बहुत पुण्यलाभ करता है। राजा श्रेयांस, मधु, वज्रजङ्घ आदि दाताओं में उदाहरणीय हैं। आहारदान किसी फल की इच्छा के विना देना चाहिये। परलोक के लिये दान पाथेय के समान है। जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, चतुर्विध संघ, जिनवाणी ये दान के योग्य स्थान हैं। विभिन्न प्रकार की जिनप्रतिमाओं के निर्माण कराने से बहुत पुण्य का संचय होता है।

४. साधुपूजा और उसका फल

जैन साधुओं का समुदाय परम आदरणीय है। क्योंकि वह धर्म का साधक है। उनकी प्राप्ति बडे पुण्य से होती है। यद्यपि सच्चे साधु विरल हैं, जो साधु शास्त्राभ्यास में तत्पर होते हैं, चारित्र में हीन होनेपर भी सम्यग्दृष्टि हैं वे सब आदरणीय हैं। यदि कोई एक साधु आचार में दोषी है तो सभी को उसके समान नहीं मानना चाहिये। महान् साधु रागादि से रहित होते हैं। जब कभी कोई सत्पात्र प्राप्त हो तो उसे दान देने में विलम्ब नहीं करना चाहिये। यद्यपि धन का मोह होता है, किन्तु उसपर विजय प्राप्त कर के विना फल की इच्छा के दान देना चाहिये। धार्मिक कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

५. न और उसका फल

यदि कोई स्वार्थी दान देने में रुकावट डालता हो तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। दान से आरंभी हिंसा का परिहार होता है। दीक्षा लेते समय तीर्थंकरों ने भी दान दिया था। श्रावक के चार कर्तव्यों में दान प्रमुख है। श्रावक को देव और गुरु की द्रव्यपूजा भी करनी चाहिये। यद्यपि इसमें किंचित् आरम्भ होता है, किन्तु यह आरम्भ पाप को दूर करता है, और पुण्य का संचय करता है। साधुओं को आहारदान देने से दोषों की विशुद्धि होती है। कृष्ण, रुक्मिणी, नन्दिसेन और रेवती ने साधुओं की सहायता की थी। चेलना की साधुसेवा तो प्रसिद्ध है। राम, लक्ष्मण और सीता ने गुप्त और सुगुप्त मुनि की तथा देशभूषण, कुलभूषण की सहायता की थी। किसी भी तरह साधु को आहार आदि अवश्य देना चाहिये। यह उसकी उदारता का प्रमाण है। आज के समय में पात्र और अपात्र की परीक्षापर विशेष जोर नहीं देना चाहिये। दान देना गृहस्थ का सर्वोच्च कर्तव्य है और वह विना किसी इच्छा के देना चाहिये।

६–७. ज्ञानदान और उसका फल

ज्ञानदान सब दानों में श्रेष्ठ है। जो ज्ञानदान देता है वह सबसे महान् विश्वप्रेमी है क्यों कि ज्ञान प्रत्येक दृष्टि से अनुपम है। जिन शास्त्रों में जिनवाणी निबद्ध है, उन्हें पढना या सुनना चाहिये। उससे मनुष्य को यथार्थ दृष्टि की प्राप्ति होती है और वह अपने को पशुसे उत्तम सिद्ध कर सकता है। अतः उत्तम गुरुओं से उचित रीति से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। गुरु का उपकार भुलाया नहीं जा सकता, न उसका कोई प्रतिदान ही हो सकता है। जिनदेव के वचन ही परमागम है, क्योंकि वह राग, द्वेष, मोह से रहित है। वेदों की प्रामाणिकता की बात मिथ्या है। सर्वज्ञ जिन ही सच्चे गुरु हैं। उन्होंने अनेकान्त दर्शन और अहिंसा का उपदेश दिया है। अनेकान्त के द्वाराही प्रत्येक वस्तु को यथार्थ रूप में कहा जा सकता है तथा जाना जा सकता है। अपने कर्मानुसार ही फलप्राप्ति होती है। और ज्ञान के द्वारा ही कर्मों को नष्ट किया जा सकता है।

८. औषधदान और उसका फल

औषधदान भी अन्य दानों के समान आवश्यक है। संघ को स्वस्थ होना चाहिये। स्वस्थ संघही धर्माचरण सम्यक् रीतिसे कर सकता है। रोगी शरीर के लिये औषधी आवश्यक है। अतः श्रावक को औषधदान भी करना चाहिये।

९. सम्यक्त्व की उत्पत्ति

धर्म के दो भेद हैं। मुनिधर्म और श्रावकधर्म। मुनि पञ्च महाव्रतों का पालन करते हैं और श्रावक पांच अणुव्रतों का पालन करते हुए गृहस्थाश्रम में रहते हैं। इन दोनों ही धर्मों का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व से मतलब है जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थों में मूढता आदि दोषों से रहित श्रद्धा। तीन मूढता, छह अनायतन, आठ मद, आठ शंकादि दोषों से

रहित सम्यक्त्व होना चाहिये। मिथ्यात्व ही सब अनर्थों की जड है और वह पाँच या सात प्रकारकी कही है। चन्द्रमती, यशोधर, सुभौम आदि विभिन्न मिथ्यात्व के उदाहरण हैं।

१०. सम्यक्त्व के अंग

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आधार सम्यक् दर्शन है, इस के दो भेद हैं। निसर्गज और अधिगमज। इसकी उत्पत्ति के अन्तरंग और बहिरंग अनेक कारण हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य से सम्यक्त्व की पहचान होती है। राजा श्रेणिक, रेवती रानी, भरत आदि सम्यग्दृष्टियों के उदाहरण हैं। निःशङ्कित अंग का पालन करनेवाले अंजनचोर और वज्रायुध थे। निःकांक्षित अंग के उदाहरण अनन्तमती, श्रीविजय और अमिततेज थे। इसी तरह आठों अंगों में प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन है। सम्यक्त्व का धारी श्रीषेण की तरह मुक्ति प्राप्त करता है।

११. पहली प्रतिमा

यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं तथापि सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान भिन्न है। उस के दो भेद हैं। परोक्ष और प्रत्यक्ष। मति, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होनेपर ही सम्यक्चारित्र होता है। उसके लिये गृहस्थ को मद्य, मांस, मधु, मक्खन, उदुम्बर फल, रात्रिभोजन, भांग आदि का त्याग करना चाहिये। श्राद्ध में मांस का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जो मद्यादिक का सेवन करते हैं उनमें दया नहीं होती। इनमें उसी रंग के सूक्ष्म जन्तु होते हैं। जो उनका सेवन करते ही मर जाते हैं। जो इनका सेवन करते हैं उनकी संगति भी नहीं करना चाहिये। पहली प्रतिमा का धारी श्रावक सम्यक्त्व के साथ आठ मूल गुणों का धारी होता है और व्यसनों का सेवन नहीं करता।

१२–१४. दूसरी प्रतिमा

इस प्रतिमा में पाँच अणुव्रतों की प्रधानता है। अहिंसाणुव्रती त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है। वास्तव में तो रागादि की उत्पत्ति ही हिंसा है और उनका न होना ही अहिंसा है। अहिंसा के अनेक प्रकार हैं। अहिंसक को मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिये। अशुभ से शुभ श्रेष्ठ है। अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार है। सब व्रतों में अहिंसा ही प्रधान है, अन्य व्रत इसी की पुष्टि के लिये हैं। असत्य के चार भेद हैं। गर्हित, अवद्य, अप्रिय, आदि। सत्यवचन के दस प्रकार हैं। जिस सत्यवचन से दूसरों को कष्ट पहुंचे वह भी नहीं बोलना चाहिये। सत्यव्रत के भी पाँच अतिचार हैं।

सर्वसाधारण के लिये ग्राह्य जल, मिट्टी आदि को छोडकर पराई वस्तु को चुराने के भाव से ग्रहण करना चोरी है, उसका त्याग तीसरा अणुव्रत है। पराई वस्तु गिरी पडी हो तब भी उसे नहीं उठाना चाहिये। और न उठाकर दूसरे को देना चाहिये। चोर को राजा भी दण्ड देता है। अपने सम्बन्धियों का धन भी विना दिये नहीं लेना चाहिये। इसके भी पाँच अतिचार हैं।

विषय भोग भी अधर्म है और हिंसा का जनक है। श्रावक को अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को माता और बहन के समान मानना चाहिये। ऐसा खान-पान नहीं करना चाहिये जो इन्द्रियमदकारक हो। स्वस्त्री में भी अधिक विषयभोग नहीं करना चाहिये। ब्रह्माणुव्रत के भी पाँच अतिचार हैं। कडारपिंग ने परस्त्री के कारण बहुत अपमान सहा। महाभारत और रामायण के युद्ध स्त्री के ही कारण हुए। दो भाई अपनी ही बहनपर आसक्त हो गये थे ये उदाहरण हमें शिक्षा देते हैं कि विषयभोगसे बचना चाहिये। चौदह प्रकार की अन्तरंग और दस प्रकार की बहिरंग परिग्रह से बचना चाहिये। परिग्रह का त्याग अहिंसा का पोषक है। मूर्छा के अनेक प्रकार हैं। गृहस्थ को परिग्रह का परिमाण करना चाहिये। और उतना ही न्यायपूर्वक कमाना चाहिये, जितना जीवननिर्वाह के लिये आवश्यक हो। अपनी अधिक सम्पत्ति उनको दे देना चाहिये जो उसके पात्र हों। जब शरीर ही अपना साथ छोड देता है, तब अन्य सम्पदा की तो बात ही क्या है ? जो लालच से दूर है वह परमादरणीय है। लालच बुराई की जड है। द्वितीय प्रतिमा में इन पाँच अणुव्रतों का पालन किया जाता है। इनके सिवाय तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी पालनीय हैं। प्रत्येक के पाँच पाँच अतिचार हैं।

१५. तीसरी प्रतिमा–सामायिक

देवपूजा, स्तुति, जप आदि सामायिक के अंग हैं। गृहस्थ के दो धर्म हैं। लौकिक और पारलौकिक। इन सब का वर्णन इस अध्याय में किया है। पूजा के पश्चात् महामन्त्र का जप करना चाहिये। पूजन के अन्त में पुष्पाञ्जलि के पश्चात् विसर्जन करना चाहिये। यद्यपि अर्हन्त वीतराग है, तथापि उनके ध्यान से बहुत लाभ होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त आत्मा समय है और समय ही सामायिक है। प्रातः और सायं सामायिक अवश्य करना चाहिये। किन्तु अन्य समय में भी करना चाहे तो कर सकते हैं। सामायिक के भी पाँच अतिचार हैं। इस प्रतिमा में सामायिक का बहुत महत्त्व है।

१६. चतुर्थ प्रोषधप्रतिमा

इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से निवृत्त करने के लिये चारों प्रकार के आहार के त्याग को उपवास कहते हैं। यह प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को करना चाहिये। इसकी विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि, आरम्भ का त्याग कर के एकान्तवास करना चाहिये। जो उपवास करने में असमर्थ हैं वे एकवार भोजन करते हैं। धनश्री, कमलश्री, रोहिणी आदि ने कल्याण, चान्द्रायण, आचाम्लवर्धन, श्रुतसागर, चक्रवाल, पञ्चमी आदि उपवास किये थे। छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के आभ्यन्तर तप का भी वर्णन है।

१७. सचित्तादि प्रतिमा का वर्णन

श्रावक को नियम या यम रूप से सचित्त का त्यागी होना चाहिये। छठी प्रतिमावाले को दिन में स्त्री सेवन से विरत रहना चाहिये। सातवीं प्रतिमावाले को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। आरम्भत्यागी को अपने पुत्रों पर घर का भार सौंपकर उदासीनतापूर्वक घर में रहना

चाहिये। ऐसा करने से आरम्भ से बचाव होता है। फिर परिग्रह का भी त्याग कर देना चाहिये। वही दुःख का कारण है।

१८. अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग

अपने उद्देश से बनाये गये भोजन के त्याग को उद्दिष्टत्याग कहते हैं। इस अवसर में ग्रन्थकार ने मुनिदान का वर्णन विस्तार से किया है।

१९. सल्लेखना

भगवती आराधना में कहे अनुसार श्रावक को सल्लेखना धारण करनी चाहिये। सल्लेखना आत्मघात नहीं है, क्योंकि जब मरण निश्चित हो जाता है, तभी सल्लेखना धारण की जाती है। आत्मघात तो मनुष्य क्रोधादि के वशीभूत होकर करता है। अपने परिवार से सब प्रकार का रागादिभाव हटाकर ही सल्लेखना धारण करनी चाहिये। अचानक मृत्यु होने पर सल्लेखना धारण करना सम्भव नहीं होता। सल्लेखना के भी पाँच अतिचार हैं। इस प्रकरण में बारह भावनाओं का भी वर्णन है।

२०. विविध विषय

इस अन्तिम अध्याय में विभिन्न विषयों का वर्णन है। यथा—अंगप्रविष्ट और प्रकीर्णक का वर्णन है। धर्मात्मा श्रावकों पर ही धर्मसंस्था निर्भर होती है। अतः श्रावक के षट्कर्मों के वर्णन में स्वाध्याय, तप, संयम आदि का वर्णन करते हुए गुप्ति और कषायजय का कथन है। श्रावक को चार प्रकार की भिक्षा देना चाहिये। तथा रत्नत्रय का पालन करना चाहिये जो उसे मोक्ष की ओर ले जाता है। अन्त में ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है।

४. धर्मरत्नाकर के स्वरूप विषय और कवित्व का विवेचन

धर्मरत्नाकर बीस अवसरों में विभाजित है। प्रत्येक अवसर को उचित शीर्षक दिया गया है। समस्त ग्रन्थ में विभिन्न छन्दों में १६५३ पद्य हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकारप्रशस्ति के आठ श्लोक हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थकारद्वारा रचित हैं और बहुत से अन्य ग्रन्थों से उद्धृत हैं। इसके अवलोकन से स्पष्ट होता है की, जयसेन ने धार्मिक और नैतिक विविध विषयों का अच्छा संकलन इस ग्रन्थ में किया है। दान, शील, तप और भावना के विवेचन से ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने एक उत्साही धर्मगुरु और मेधावी कवि के रूप में अपने मन्तव्यों की व्याख्या की है। उनकी यह रचना एक क्रमबद्ध विषयवार विभाग के रूप में न होकर एक धार्मिक और नैतिक पद्यों का संकलन जैसी है। यद्यपि अवसरों में यहाँ वहाँ सुनिश्चित विषय मिलते हैं किन्तु बीच बीच में पुनरुक्तियों की भी कमी नहीं है। प्रथम आठ अवसरों में दान का वर्णन कर के ग्रन्थकार ने शील का वर्णन किया है। उसीके अन्तर्गत ९-१० में सम्यक्त्व का वर्णन है। उसके बाद प्रतिमाओं का वर्णन है। किन्तु विभिन्न प्रतिमाओं का वर्णन समान नहीं हैं। कभी कभी तो प्रमुख विषय गौण हो गया है। प्रतिमाओं के वर्णन के पश्चात् १९ वाँ

अवसर सल्लेखना से संबद्ध है और अन्तिम अवसर में विविध विषय हैं जिन में ऐसे भी विषय हैं जो पूर्व में चर्चित हो चुके हैं। १५ वें अवसर में शिक्षाव्रतों का कथन चालू रहना चाहिये था किन्तु उसमें सामायिक प्रतिमा को ले लिया गया है।

किन्तु ग्रन्थ में दिये संस्कृत प्राकृत उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का अध्ययन विस्तृत है। कुछ उद्धरणा में पुनरुक्ति भी की गयी है। ग्रन्थकार का विशेष झुकाव चरणानुयोग की ओर है। प्रथमानुयोग पर भी उनका विशेष अधिकार है। उन्होंने उदाहरण के रूप में अनेक कथाओं का निर्देश किया है, जो पुराणों और कथाकोशों में मिल सकती हैं। उनका विवेचनात्मक अध्ययन एक सुखद विषय हो सकता है। उन्हें भारतीय पुराणों का भी पर्याप्त ज्ञान है। मंत्र, रसायन, वेदान्त आदि से भी वह परिचित हैं।

कवित्व की दृष्टि से भी जयसेन उल्लेखनीय हैं। उनका संस्कृत पर तो अधिकार है ही, कुछ प्राकृत पद्यों की भी रचना उन्होंने की है। यद्यपि वह प्रधान रूप से एक धर्मोपदेष्टा और धर्मशिक्षक है तथापि उनकी रचना में काव्यसौन्दर्य है। उनको कुछ उपमाएं हृदय को छूती हैं। (देखो पद्य–२१५, २८३, ३३९, ३५३, ६४१, ६८२, ९०२, ९८० आदि।) यत्र-तत्र अनुप्रास की छटा भी दृष्टिगोचर होती है। (१५५, १६५, १८५ आदि।) कुछ पद्य संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का स्मरण कराते हैं। कुछ पद्य शब्दलालित्य की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार अर्धमागधी में रचित कुछ आगमों से भी परिचित थे।

५. ग्रन्थकार जयसेन

अन्तिम संधियों में ग्रन्थकारने श्री, सूरि, मुनि के विशेषण के साथ अपना नाम जयसेन दिया है। वह अपनी गुरुपरम्परा मेदार्य या मेतार्य से जोडते हैं जो भगवान् महावीर के गणधर थे। वे उत्कृष्ट तपस्वी थे। उन्होंने अपनी आत्मिक शक्ति से श्रीखण्डिल्ल ग्राम की जनता को प्रभावित किया था। उनसे लाडवागड संघ उत्पन्न हुआ। इसी संघ में धर्मसेन हुए। उनके पश्चात् शान्तिषेण हुए। उनके पश्चात् गोपसेन और उनके पश्चात् भावसेन हुए। भावसेन के शिष्य जयसेन थे। उन्होंने धर्मरत्नाकर रचा। इस प्रकार जयसेन लाडवागड संघ के थे और उनके पूर्वज क्रमसे भावसेन, गोपसेन, शान्तिषेण और धर्मसेन थे। पं. परमानन्द शास्त्री ने लिखा है कि ब्यावर की प्रति में एक अतिरिक्त पद्य है जिसमें रचना का समय और स्थान दिया है।

पद्य इस प्रकार है --

बाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे ।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सब (क) लीकरहाटके ॥

इसका अर्थ है कि यह ग्रन्थ संवत् १०५५ (९९८ इ.) में रचा गया। कुछ सकली पढते हैं और कुछ सबली। यह कौन स्थान था यह अन्वेषणीय है।

इस लाडवागड संघ के संबन्ध में काफी जानकारी प्राप्त होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने अपने को पुन्नाट गण या गच्छ या संघ में मिला लिया था। इस संघ के प्रसिद्ध प्राचीन आचार्य थे जिनसेन, जिन्होंने ७८३ इ. में हरिवंश पुराण रचा। दूसरे थे हरिषेण, जिन्होंने ९३२–९३३ में बृहत्कथाकोश रचा। तीसरे थे महासेन, जिन्होंने प्रद्युम्नचरित रचा। महासेन, मुंजराज और सिन्धुराज के समकालीन थे। और सिन्धुराज के मन्त्री परपट से समादृत हुए थे।

यह लाडवागड संघ काष्ठासंघ से भी संबद्ध है किन्तु यापनीय संघ के साथ इसका संबन्ध प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि पुन्नाट और पुन्नाग का एक अर्थ नहीं है। इस संघ के आचार्यों की पट्टावलि में उनके समकालीन शासकों का विवरण मिलता है। इस संघ के एक अति प्राचीन आचार्य दिगम्बर कहे जाते हैं। किन्तु बाद के कुछ संभवतया भट्टारक थे।

जयसेन नाम के कुछ अन्य भी आचार्य हुए हैं।

१. एक जयसेन धर्मघोष के गुरु थे। प्रथम शताब्दी इ. के मथुरा के शिलालेख में इनका उल्लेख है।

२. जिनसेन ने अपने महापुराण (ल. ८३८ इ.) में अपने गुरु जयसेन का निर्देश किया है।

३. जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण में अपने पुन्नाट संघ के पूर्वजों की एक लम्बी सूची दी है उनमें एक जयसेन उनके प्रगुरु हैं।

४. एक जयसेन ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर टीका रची है। मैंने प्रवचनसार की प्रस्तावना में उनपर विचार किया है। उनका समय ११५० इ. के बाद है।

५. प्रद्युम्नचरित के कर्ता महासेन लाडवागड संघ के थे, उन्होंने अपने प्रगुरु का नाम जयसेन लिखा है। यदि इनको धर्मरत्नाकर का रचयिता मानने का भाव हो, तो वह कोई अनुचित नहीं है।

६. एक प्रतिष्ठापाठ के रचयिता भी जयसेन हैं जिनका उपनाम वसुबिन्दु है। वे अपने को कुन्दकुन्द का अग्रशिष्य कहते हैं।

नरेन्द्रसेन ने अपने सिद्धान्तसार संग्रह के अन्त में एक विस्तृत प्रशस्ति दी है। यह प्रशस्ति धर्मरत्नाकर की प्रशस्ति से बहुत मेल खाती है। दोनों में कुछ पद्य भी समान हैं। इसमें भी लाडवागड संघ का मूल भगवान् महावीर के गणधर मेतार्य को बतलाया है। फिर दिगम्बर धर्मसेन का नाम आता है। धर्मसेन के शिष्य शान्तिषेण, उनके गोपसेन, उनके भावसेन और उनके जयसेन हुए। यही जयसेन धर्मरत्नाकर के कर्ता हैं। जयसेन के पट्टपर क्रम से ब्रह्मसेन वीरसेन और गुणसेन हुए। गुणसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन थे।

विषयसूची

विषय	श्लोकाङ्क
१. पुण्यपापफलवर्णन	
श्रीजिन धर्म, सरस्वती और मुनियोंकी स्तुति	१–३
धर्म की प्रशंसा	४–५, ७
जैनधर्म की ग्राह्यता	६
धर्म से श्रीतीर्थंकर आदि की श्रेष्ठता	८
अधर्म का परिणाम	९, २२, ३६,
धर्म और अधर्म का भला–बुरा परिणाम	१०–१२, १६–१८, २०, ३३,
धर्म का फल	१३–१५, १९, २१, ३४, ३५
धर्म से सुन्दर स्त्रीप्राप्ति	२३, २७–२९
पाप से मत्सर की उत्पत्ति	२४
धर्म से दीर्घायुष्य और नीरोगता	२५
अधर्म से दुष्टस्त्रीप्राप्ति	३०
धर्म से कीर्ति	३१
बाहुबली आदिओं का धर्म से जय	३२
धर्म से उत्तम निवास	३७
अधर्म से कुत्सित झोंपडी	३८
धर्म से उत्तम अन्न	३९
अधर्म से कदन्न	४०
धर्म से ताम्बूलप्राप्ति	४१
अधर्म से ताम्बूल का अभाव	४२
धर्म से रत्नप्राप्ति	४३
धर्महीन मनुष्य शंकर के समान	४४
पुण्यवान् लोगों को वस्त्रभूषादिप्राप्ति	४५
पापी लोगों को मलिन वस्त्र	४६
पुण्यात्मा को तैलयुक्त स्नानादि की प्राप्ति	४७
पुण्यहीन लोगों को अभ्यंग के लिये अश्रुपातादि	४८
शीतकालादि के द्वारा पुण्यवान् की पूजा	४९–५१
पापी जन सब ऋतुओं में दुःखभागी	५२
सब ग्रह धर्म से प्रभावशाली	५३
इन्द्र धर्म के प्रभाव से सुखी	५४
सर्वार्थसिद्धि के देव धर्म से सुखी	५५
धर्म से मोक्षप्राप्ति	५६

१२. दूसरी प्रतिमा का विस्तार

विषय	श्लोकाङ्क

१९. सल्लेखना का वर्णन

ॐ

— श्रीवीतरागाय नमः —

श्री-जयसेनाचार्य-विरचितः

धर्मरत्नाकरः

[१. प्रथमो ऽवसरः]

[पुण्यपापफलवर्णनम्]

1) लक्ष्मीं निरस्तनिखिलापदमाप्नुवन्तो
लोकप्रकाशरवयः प्रभवन्ति भव्याः ।
यत्कीर्तिकीर्तनपरा जिनवर्धमानं
तं नौमि कोविदनुतं सुधिया सुधर्मम् ॥ १

2) अन्योन्यदूरसुविरुद्धमतैः समग्रै-
र्मूकत्वराक्षसभयादिव वादिसंघैः ।
या स्तूयते कृतसमानमतैः सदैव
सा क्षालयत्विह रजांसि सरस्वती वः ॥ २

(हिन्दी अनुवाद)

जिसके अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुणों का यशोगान करने में तत्पर रहनेवाले भव्य-भविष्य में रत्नत्रय स्वरूप से परिणत होनेवाले-संपूर्ण आपदाओं को नष्ट करनेवाली लक्ष्मी को (अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी तथा समवसरणादि बाह्यलक्ष्मी को) प्राप्त करते हुये लोकप्रकाशक सूर्य अर्थात् सर्वज्ञ होते हैं। विद्वज्जनों के द्वारा-गणधरादिकों के द्वारा-स्तुतियोग्य उन वर्धमान जिन की तथा सुधर्मकी-उत्तम जिनधर्म की-शुभबुद्धि से मैं स्तुति करता हूँ॥१॥

गूंगापनरूपी राक्षसके भय से मानो एक दूसरेसे दूर तथा अत्यन्त विरुद्ध मत को प्रतिपादन करनेवाले समस्त वादीसमूह जिसकी समानमत होकर अर्थात् एकमत से सदा प्रशंसा करते हैं ऐसी वह मान्य सरस्वती-जिनवाणी-आपके ज्ञानावरणादि कर्मोंरूप धूलि:को धो दें॥२॥

---

१) 1 P ओंनमः सिद्धेभ्यः, D श्रीगणेशायनमः.

3) भवाटवीभीतभ व्यव्रजस्य
विमुक्तिपुर्याप्तिसमु त्सुकस्य ।
सुनिर्भया विश्रमहेतवो[1] ये
हरन्तु ते मे मुनयस्तमांसि ॥ ३

4) मार्गापरित्यागगुणेन पुंसा
स्वल्पश्रुतेनाप्युपगीयमानः[1] ।
सर्वज्ञधर्मः प्रणिहन्ति पापं
सौपर्णमुद्रेव विषं विचित्रम् ॥ ४

5) चिन्तामणिप्रभृतयो ऽपि हिता भवन्तो
धर्मेण तैः कथमसावुपमां प्रयातु ।
किं भानुमान् भुवनमध्यगतार्थभासी
खद्योतकप्रभृतिभिर्भवतूपमेयः ॥ ५

6) अन्यैरनुक्तमिति जैनमतं न हेयं
नान्योक्तमात्रमिति सत्पुरुषैरुपेयम् ।
युक्तं शिशूक्तमपि किं न बुधो ऽभ्युपैति
चिन्तामणिं त्यजतु बालसमर्पितं किम् ॥ ६

जो मुक्तिरूप नगरी की प्राप्ति में अतिशय उत्कंठा रखनेवाले तथा संसाररूप वनसे डरनेवाले भव्यसमूह को अतिशय निर्भय होकर विश्राम देते हैं, वे मुनिजन मेरे अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करें ॥३॥

जिस प्रकार मन्त्रशास्त्र को अल्प मात्रा में भी जाननेवाले मान्त्रिक के द्वारा दी जाने-वाली सर्पविषनाशक मुद्रिका विचित्र–विविध प्रकारके--विष को नष्ट किया करती है, उसी प्रकार मुक्तिमार्ग का–रत्नत्रय का – त्याग न करनेवाले अतिशय अल्प शास्त्रज्ञ के द्वारा भी वर्णित सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्म–जिनधर्म–प्राणियोंके पाप को नष्ट किया करता है ॥४॥

चिन्तामणि आदि (कामधेनु और कल्पवृक्ष) भी धर्म के आश्रय से ही हित किया करते हैं। अत: यह जिनधर्म उनके साथ उपमा को कैसे प्राप्त हो सकता है ? लोक के मध्य में अवस्थित सर्व पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला सूर्य क्या जुगनूं आदि (दीप) पदार्थों के साथ कभी उपमा को प्राप्त हो सकता है ? नहीं हो सकता है ।। ५ ॥

दूसरों ने–अन्य मतानुयायिओं ने–नहीं कहा है, इस हेतु से जैनमत का त्याग करना योग्य

---

३) 1 P °विश्रमणस्थिति ये । ४) D °गायमानः ।

7) त्रैलोक्ये सचराचरे ऽप्यभिमतं संपादयन् प्राणिनां
ख्यातिं स्वां प्रभुतां च नास्तिकमतं निर्मूलयन् मूलतः।
धर्मो भानुरिवाखिलाङ्गिरुचितं मार्गं सदोद्द्योतयन्
स्वं[1] निर्भासयति[2] प्ररूढतिमिरस्तोमं[3] प्रविध्वंसयन् ॥ ७

8) श्रीतीर्थाधिपचक्रवर्तिहलभृल्लक्ष्मीश[2]मुख्याः परा
धर्मादेव जगत्त्रयोत्तमयशः[3]श्वेतीकृताशान्तराः[4] ।
अद्यापि [5]प्रतपत्पवित्रितजगन्नामान एवंविधा
आसन्[6] कम्पितखेचरेश्वरसुरक्ष्मापाल[7]चक्रा अपि[8] ॥ ८

नहीं है। अथवा दूसरों ने उसका उपदेश किया है, इस हेतु से सज्जनों को उसे ग्रहण भी नहीं करना चाहिये। सो ठीक भी है—क्योंकि बालक के भी योग्य वचन को क्या बुद्धिमान मनुष्य नहीं स्वीकारता है? और क्या बालक के द्वारा दिये गये चिन्तामणि रत्न को चतुर पुरुष छोड देता है ? नहीं छोडता है। अभिप्राय यह है कि, जिस प्रकार लोक में बालक के भी योग्य वचन को रुचिपूर्वक ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार अल्पज्ञ होने पर भी मेरे द्वारा कहे जानेवाले हितकारक जैनधर्म को ग्रहण करना योग्य है ॥६॥

नास्तिक मत को—जीव, पाप, पुण्य व स्वर्गादि परलोक नहीं है, केवल देह ही आत्मा है, ऐसा माननेवाले मत को— मूलसे उखाडकर फेंकनेवाला यह धर्म (जिनधर्म) जीव और अजीवों से भरे हुये इस त्रैलोक्य में प्राणियों को इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कराता हुवा अपनी ख्याति और प्रभाव को इस प्रकार से प्रकट करता है जिस प्रकार कि सर्व प्राणियों को रुचनेवाले मार्ग को सदा प्रकाशित करनेवाला, और बढे हुये अन्धकार के समूह को नष्ट करनेवाला सूर्य प्राणियों को प्रिय ऐसे मार्ग को प्रकाशित करके बढे हुये अन्धकार के समूह को नष्ट करता हुआ अपनी ख्याति और प्रभाव को प्रगट करता है ॥७॥

जिन्होंने विद्याधर चक्रवर्ती, इन्द्र और राजाओं के समूह को भी कंपित किया है, जिन्होंने प्रतापयुक्त अपने नाम से जगत् को पवित्र किया है तथा जिन्होंने जगत्त्रय में फैले हुये अपने उत्तम यश से दिशाओं के मध्यभाग को धवलित किया है ऐसे श्रीतीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और लक्ष्मीश (नारायण) आदि पुरुषरत्न धर्म के ही प्रभाव से जगत् में उत्पन्न हुये हैं ॥८॥

७) 1 आत्मानम्. 2 प्रकाशयति. 3 उत्कटतिमिरसमूहम्। ८) 1 बलभद्र. 2 नारायण 3 यशसा. 4 दिशानां मध्याः. 5 प्रतापात्यय (?). 6 समुत्पन्नास्तिष्ठन्ति. 7 पृथ्वीपालराजा. 8 समूहा अपि

9) करचरणादौ तुल्ये[1] दृश्यन्ते दुःखदूनमनसो ऽन्ये[3] ।
तत्राधर्मः स्फूर्जति सातिशयं निश्चयाज्जगति ॥ ९

10) समे ऽपि यत्ने पुरुषाः प्रकृष्टे लभन्ते[1] एके हि फलं विशालम् ।
परे[2] तु कष्टं[3] परितो ऽपि पुष्टं[4] समर्थ्यते[5] सद्भिरिहाप्यदृष्टम्[6] ॥ १०

11) पाथोदाः परिपूरयन्ति परितः पाथोभिरेतां धरां
काले यत्पवनो वहत्यपि तथा शीतं च तापं क्वचित् ।
तत्रापि प्रतपत्यवारितरसः संसारिधर्मो ध्रुवं
नैवं चेदगमिष्यदेकतमतामौभूर्भुवःस्वस्त्रयी ॥ ११

12) पतति नरकं प्रायो लोको ऽनिपित्सुरपि[1] ध्रुवं
वृजिनभरतो[2] जानानः[3] संस्तदीयगति[4] यथा ।
नृपतिवनिताधीनं धन्यं परे[5] भुवनार्चितं
सुरपतिपुरं पुण्यावासाः प्रयान्त्यपरे तथा[7] ॥ १२

इस जगत् में हाथ, पाँव आदि के समान होने पर भी कुछ लोग मन में दुःख से व्यथित दीखते हैं । यह निश्चय से अधर्म का ही प्रभाव है ॥९॥

समान रूप से महान यत्न करने पर भी कितने ही सज्जनों को प्रचुर सुखरूप फल मिलता है, किन्तु दूसरों को सब ओरसे कष्टही कष्ट प्राप्त होता है । अतः इस शुभाशुभ फल की प्राप्ति में अदृष्ट (दैव) कारण है ऐसा सज्जन समर्थन करते हैं ॥१०॥

योग्य वर्षा कालमें–वर्षा के समय में–मेघ पानीसे इस पृथ्वीको चारों ओर से परिपूर्ण करते हैं, योग्य कालमें वायु क्वचित् शीतपना और क्वचित् उष्णता को धारण करती हुयी बहती है । इस प्रकार मेघादिक जो यह कार्य करते हैं उस में भी निश्चय से अनिवार्य पराक्रम से संयुक्त उस संसारी प्राणियों के धर्म (पुण्य-पाप) का ही प्रताप समझना चाहिये । कारण कि यदि ऐसा न होता तो तीनों लोक समानता को प्राप्त हो जाते, सो ऐसा नहीं ॥११॥

जिस प्रकार नरक में पडने का इच्छुक न हो कर भी प्राणी पापभार के कारण उसकी गति को–नारकवेदना को–जानता हुआ भी नरक में पडता है, उसी प्रकार अन्य पुण्यशाली जन

---

९) 1 समाने सति. 2 पीडित. 3 पापिनः. 4 तेषु अन्येषु. 5 यथा भवति । १०) 1 लभन्ते. 2 अन्ये 3. लभन्ते. 4 बहुतरम्. 5 कथ्यते. 6 धर्माधर्मलक्षणं दिष्टं केवलेन कथितम्. ११) 1 D 'पाथोस्ति', P जलैः. 2 उदयः. 3 संसारिधर्मः. 4 यदि धर्मस्य गुणा न भवन्ति तदा एकरूपस्त्रिलोको. 5 ओं एवं [भूः] अधो भुवः मध्यः स्वः ऊर्ध्वः । १२) 1 अगन्तुकामोऽपि, न पतितुकामोऽपि. 2 पापसामर्थ्यात्. 3 जानन् सन्. 4 पापस्य गतिं. 5 एके पुण्यात्मानः. 6 पुण्यवन्तः. 7 अप्रेरिता अपि पुण्यवन्तः ।

13) यथाङ्गमध्यक्षसुखे हि धर्मस्तथा परोक्षे ऽपि च मोक्षसौख्ये ।
भोगोपभोगादिसुखाय धर्मो[1] मित्रादियत्नो ऽपि निमित्तमात्रम् ॥ १३

14) ये वाञ्छन्ति ततो ऽकलङ्कपदवीं ये त्रैदशं[1] मानुषं
सौख्यं विश्वजनैकविस्मयकरं कल्याणमालाधरम्[2] ।
धर्मस्तैरुचितो[3] विधातुमनिशं[4] तस्माद्विनैतन्न[5] यत्[6]
छायाच्छन्नदिगन्तरस्तरुवरो दृष्टो[7] न बीजाद्विना ॥ १४

15) धर्माज्जन्म कुले कलङ्कविकले कल्यं[1] वपुर्यौवनं
सौभाग्यं चिरजीवितव्यरुचिरं[2] रामा रतिर्वा[3] परा ।
सामर्थ्यं शरणार्थिरक्षणपरं स्थानं प्रधानं सुखं
स्वर्निःश्रेयस[4]संभवं वरमपि प्राप्येत किं नो नृभिः ॥ १५

राजा व स्त्री की अनुकूलतायुक्त लोकपूज्य धन्य अवस्था को प्राप्त होते हैं । तथा पुण्य के आवास–विशाल पुण्य के धारक–दूसरे कितने ही इन्द्रपुर (स्वर्ग) को प्राप्त होते हैं ॥१२॥

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्षसुख का भी कारण है । भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है । इस सुख के लिये मित्रादिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है ॥१३॥

जो भव्य जीव अकलंक पदवी को–ज्ञानावरणादि कर्म-कलंक से रहित मोक्षपद को–चाहते हैं, जो देवों संबंधी सुख को चाहते हैं, जो मनुष्यगति के सुख को चाहते हैं तथा जो संपूर्ण जन को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले व जन्मादि पाँच कल्याणरूपी माला को धारण करनेवाले सुख को–तीर्थंकर विभूति को–चाहते हैं उन्हें निरन्तर धर्मका आचरण करना योग्य है । कारण यह कि धर्म के विना संसारभय दूर नहीं होगा । ठीक है, अपनी छाया से दिशाओं के मध्यभाग को व्याप्त करनेवाला उत्तम वृक्ष कभी बीज के विना नहीं देखा गया है । तात्पर्य, जैसे बीज के बिना वृक्ष संभव नहीं है वैसेही धर्म के बिना सुख भी संभव नहीं है ॥१४॥

पूर्वाचरित धर्म से निर्दोष कुलमें जन्म होना है, शरीर सदा नीरोग तथा तरुण रहता है, दीर्घ आयु से रमणीय सौभाग्य अर्थात् सर्वजनप्रियता प्राप्त होती है, दूसरी रति के समान सुन्दर स्त्री प्राप्त होती है, शरण में आये हुये लोगों के रक्षण में तत्पर ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होता है, उत्कृष्ट स्थानकी प्राप्ति होती है, तथा स्वर्ग में और मोक्ष में उत्पन्न हुये उत्तम सुख की प्राप्ति होती है । ठीक है, धर्म के द्वारा मनुष्य क्या नहीं प्राप्त करते हैं ? अर्थात् धर्माचरण से जीवों को सब ही उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति होती है ॥१५॥

---

१३) 1 P °धर्मात् । १४) 1 देवत्वम्. 2 कथंभूतं सौख्यम्. 3 कर्तुं योग्यः. 4 धर्मात्. 5 पूर्वोक्तं सुखम्. 6 यतः कारणात्. 7 D °बीजं विना । १५) 1 नीरोगम्. 2 मनोज्ञम्. 3 इव. 4 स्वर्गमोक्ष ।

16) जायन्ते जन्तवो[1] जातौ[2] धर्मात् सिद्धगताविव ।
पापादतीव निन्द्यायां[3]मन्ये श्वभ्र[4]गताविव ॥ १६

17) इक्ष्वाक्वादिसमन्वयेषु[1] विबुधा विश्वार्चनाधामसु[2]
सुत्राम[3]प्रमुखाश्च येषु जननं[4] काङ्क्षन्ति तेषु स्वयम् ।
जायन्ते नृभवे समे[5]ऽपि सुकृतात् केचित् पुनर्दुष्कृता-
न्निन्द्यैरप्यतिनिन्दितेषु[6] सकले तुल्ये ऽपि लग्नादिके[7] ॥ १७

18) गर्भे केचिदपूर्णरूपवपुषो बाल्ये ऽपरे यौवने
रामारम्यतरे तरां निरुपमे धर्मार्थकामक्षमे ।
वृद्धत्वे ऽनवनं[1] प्रयान्ति गहनं सर्वत्र कालाननं[2]
यत्तत् पापविजृम्भितं[3] मतिमतां पूजास्पदै[4]र्वर्णितम् ॥ १८

धर्माचरण करने से प्राणी सिद्धगति के समान उच्च जाति में उत्पन्न होते हैं और दूसरे–पापीजन–पाप से नरकगति के समान अतिशय निन्द्य जाति में उत्पन्न होते हैं ॥१६॥

मनुष्य जन्म के समान होनेपर भी कितने ही मनुष्य पुण्योदय के प्रभाव से जिन कुलों में स्वयं इंद्र–सामानिकादिक देव भी उत्पन्न होने की इच्छा करते हैं उन लोकपूजा के स्थानभूत इक्ष्वाकु एवं कुरुवंश आदि उत्तम कुलों में जन्म लेते हैं। और कितने ही मनुष्य अपने दुष्कर्म से समस्त लग्न, मुहूर्त व दिनादिके समान होनेपर भी निन्द्य जनों के द्वारा भी निन्दनीय ऐसे नीच कुलों में उत्पन्न होते हैं ॥ १७॥

कितने ही प्राणी अपूर्ण रूप व शरीरसे युक्त होते हुए गर्भ में; दूसरे कितने ही बाल्यावस्था में; कितने ही स्त्री के आश्रयसे अतिशय रमणीय प्रतीत होनेवाली तथा धर्म, अर्थ एवं काम के सेवन में समर्थ ऐसी यौवन अवस्था में; और कितने ही वृद्धावस्था में अनवन–अरक्षण (मृत्यु) –को प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे सर्वत्र जो भयानक कालका मुख खुला हुआ है, अर्थात् किसी भी अवस्था में जो प्राणी का संरक्षण संभव नहीं है, यह सब पाप का प्रभाव है; ऐसा बुद्धिमानों की पूजा के स्थानभूत पूज्य पुरुषों के द्वारा कहा गया है ॥१८॥

---

१६) 1 जीवाः. 2 सुजातिविषये उत्पद्यन्ते. 3 निन्द्यायां गतौ. 4 नरकगतौ । १७) 1 वंशेषु. 2 संसार पूजागृहेषु. 3 इन्द्रादयः. 4 वंशेषु जन्म. 5 तुल्ये. 6 निन्द्यैर्जनैरतिनिन्दितेषु वंशेषु. 7 लग्ने मुहूर्ते दिने रात्रौ समानेऽपि । १८) 1 अरक्षं रक्षारहितम्. 2 कृतान्तस्य मुखम्. 3 विलसितं व्यापितं वा. 4 पूज्यैः ।

19) सेव्यन्ते गर्भवासे भटबुधधनिभिः केचिदन्ये[1] शिशुत्वे
लोकैरालोक्यमाना अहमहमिकया बालचन्द्रेण तुल्याः ।
वत्स्यन्ते[2]ऽमी[3] शुभार्थैः स्वजनपरिजनैर्यौवने वार्द्धके ऽन्ये
कीर्तिव्याप्तत्रिलोका अपि रिपुनिवहैः[4] पालिताज्ञाः सदैव ॥ १९

20) आनीयन्ते गृहे स्वे[1] कथमपि[2] कैः कैर्नोचितैः संभ्रियन्ते[3]
उत्सार्यन्ते[4] ततो ऽन्ये[5] विचलितचित्ताः कैर्न कैरप्यनिष्टैः ।
धन्यास्तद्वान्त्यनिष्टं[6] परमिह[7] शिष्टा गृह्णते सर्वथेष्टं
पापानां वैपरीत्या[8]दिदमपि कष्टं कस्य वच्मो[9] विचार्यम् ॥ २०

21) नन्द्या जीयाश्च भूयास्[1]त्रिभुवनजनताखण्डलो[2] नित्यमेवं
गन्धर्वैर्गीयमानः सुललितवचनैर्मागधैः पठ्यमानः[3] ।
मातः मात[illegible]गतसुकृतागोचरैः[4] मार्च्यमानो
निद्रा[5]मुन्निद्रपुण्य[6]स्त्यजति नृपशतैर्नम्यमानाङ्घ्रिपद्मः ॥ २१

कितने ही जीव गर्भवास में ही शूर, विद्वान् और धनिकों से सेवित होते हैं, अन्य कितने ही जीव बाल्यावस्था में बालचंद्र के–द्वितीया के चन्द्रमा के–समान वृद्धिगत होते हुये लोगों के द्वारा अहमहमिका से–मैं पूर्व में, मैं पूर्व में, इस प्रकारकी आतुरतासे–देखे जाते हैं, कितने ही जीव तारुण्यावस्था में स्वजन और परिजनों के साथ शुभ धनादि पदार्थों से संयुक्त होकर सुखपूर्वक रहते हैं, तथा जिनकी आज्ञा को शत्रुसमूह शिरोधार्य करते हैं ऐसे कितने ही पुण्यशाली जन अपनी कीर्ति से त्रिलोक को व्याप्त करते हुये वृद्धावस्था में सदैव सुख से रहते हैं ॥१९॥

पुण्यशाली जीवों को कौन कौन से मनुष्य अपने घर पर नहीं लाते हैं व उनका समुचित पदार्थों के द्वारा भरण-पोषण नहीं करते हैं ? अर्थात् पुण्यात्मा पुरुषों को कितने ही मनुष्य अपने घर पर लाकर उन का अनेक उत्तमोत्तम वस्तुओं के द्वारा पोषण किया करते हैं । इस के विपरीत अस्थिरचित्त पापी प्राणिओं को कौनसे मनुष्य अनिष्ट वस्तुओं के साथ अपने घरसे नहीं निकाल देते हैं ? अर्थात् पापी जनों को लोग अपने घरसे बाहर निकाल दिया करते हैं । प्रशस्त जन यहाँ अनिष्टका वमन करते हैं, उसे नष्ट करते हैं और शिष्ट जन सर्वथा इष्ट को ग्रहण करते हैं । इस प्रकार विपरीतता से पापियों को प्राप्त होनेवाले शोचनीय कष्ट की वार्ता किससे कही जाय ? ॥२०॥

आप धनादि से समृद्ध होवें, आपको विजय प्राप्त हो, आप तीनों लोगों की जनता के

---

१९) 1 पुण्यवन्तः. 2 D °वश्यन्ते, सेव्यन्ते. 3 सार्धम्. 4 समूहैः । २०) 1 स्वकीये. 2 महता कष्टेन. 3 पोष्यन्ते. 4 निजगृहान्निष्कास्यन्ते. 5 पापिजनाः. 6 तदनिष्टं वान्ति त्यजन्ति छर्दयन्ति. 7 जगति. 8 विरुद्धत्वात्. 9 कथयामः । २१) 1 भव. 2 इन्द्रः. 3 स्तुत्यमानः (?). 4 कथंभूतैर्विलासैः. 5 निद्रां त्यजति. 6 प्रकाशितपुण्यः, पुण्यवानित्यर्थः ।

22) रे रे पापिष्ठ कुण्ठिन्नलसतममहाराजनिर्लज्जचेट[1]
कष्टं प्रोत्थाप्यसे त्वं गृहपतिशयने संवृते[2] रे मयैवम् ।
मध्ये कश्चिज्जहाति[3] श्रवणपथमनोन्मन्थिनीं वाचमित्थं
शृण्वन्[4] कुस्वामिचेट्या[5] व्यपगतसुकृतः प्रातरुद्गीयमानः ॥ २२

23) यद्देहार्धचरी हरं[1] गिरिसुता वक्षःस्थिता वाच्युतं[2]
लक्ष्मीर्यच्च मनोभवं रतिरहो नैवामुचत्[3] प्रेमतः ।
कामिन्यः सुभगं विलोक्य च बलाद् यत्कामयन्ते ध्रुवं
तत्संवर्धितधर्मकल्पतरुजं वर्ण्यं[4] फलं धीधनैः[5] ॥ २३

इन्द्र होवें; इस प्रकार गन्धर्व लोगोंके द्वारा पुण्यवान् पुरुष का सदा कीर्तन किया जाता है तथा प्रतिदिन प्रातःकाल होनेपर भाट लोगों के द्वारा वह पुण्यवान् अतिशय मधुर शब्दों से स्तुत होता है तथा पापीजनों को अप्राप्य ऐसे विलासों से वह (पुण्यपुरुष) पूजा जाता है । इस प्रकार जिसका पुण्य सदा जागृत है–उदय को प्राप्त है–वह सैंकडों राजाओं के नमस्कार को स्वीकार करता हुआ प्रतिदिन प्रातःकाल में निद्राका परित्याग करता है–जागृत होता है ॥२१॥

कोई पुण्यहीन मनुष्य, " अरे पापिष्ठ कुण्ठिन्, अत्यन्त आलसी महाराज का निर्लज्ज दास, इस घर के मालिक की शय्या समेटनेपर मैं तुझे कष्ट से उठाती हूँ" इस प्रकार प्रातःकाल में दुष्ट स्वामी की दासी से कहे गये कान और मन को दुःख देनेवाले शब्दोंको सुनता हुआ शय्याका त्याग करता है–सोनेसे उठता है ॥२२॥

पार्वती ने जो शंकर के आधे शरीर में अवस्थित होकर प्रेम के वश उसे नहीं छोडा· लक्ष्मीने जो विष्णु के वक्षःस्थलपर स्थित होकर स्नेहवश उसे नहीं छोडा, रति ने भी जो उसी प्रेम के वशीभूत होकर कामदेव को नहीं छोडा, तथा काम की अभिलाषा करनेवाली कितनी ही स्त्रियाँ भी जो किसी सुंदर पुरुष को देखकर बलपूर्वक उसकी अभिलाषा किया करती हैं; वह सब निश्चयसे वृद्धिगत किये गये उस धर्मरूप कल्पवृक्ष का फल है, ऐसा विद्वज्जन वर्णन करते हैं ॥२३॥

---

२२) 1 दास. 2 मया स्वामिशय्या संहारे कृते । सति. 3 त्यजति. 4 किं कुर्वन् इत्थं वाचमुद्गीयमानं शृण्वन्. 5 कुत्सितदास्या चेटिकया । २३) 1 ईश्वरं. 2 नारायणम्. 3 अत्यक्तवती पूर्वम्. 4 वर्णनीयम् 5 पण्डितजनैः ।

24) रूपं निशामयति[1] जल्पति यच्च पथ्यं[2]
यद्दुर्भगो[3] हितधिया तनुते[4] ऽपरस्य ।
तत्तद् विषायतितरां[5] ज्वलनायते[6] वा
पापं विडम्बयति कैर्न नरान् प्रकारैः ॥ २४

25) हृच्छोष[1]कासगलगण्डशिरोऽर्तिकुष्ठ-
श्लेष्मानिल[2]प्रभृतिरोगगणैर्न जातु[3] ।
लक्ष्म्या[4] भवन्ति सुकृतात् सुचिरायुषश्च
नाप्यल्पमृत्युमिह[5] ते प्रविलोकयन्ते[6] ॥ २५

26) अन्ये[1] समस्तावयवप्रकम्प-
प्रलीनचेष्टाः परिशिष्ट[2]कष्टाः ।
इतीव संचिन्तयता न नीता[3]
यमेन हा[4] प्राणिवधोद्यमेन[5] ॥ २६

पुण्यहीन मनुष्य हितबुद्धि से जो दूसरे के सौन्दर्यको सुनाता है–उसकी प्रशंसा करता है, हितकारक भाषण करता है, तथा और भी जो वह उसका हितबुद्धि से कार्य करता है; वह सब उसे (दूसरे को) अतिशय विष अथवा अग्निके समान संतापजनक प्रतीत होता है । ठीक है– पाप मनुष्यों को किन किन प्रकारों से प्रतारित नहीं करता है ? वह उन्हें अनेक प्रकार से कष्ट दिया करता है ।।२४।।

पुण्यशाली प्राणी हृच्छोप (यक्ष्मा), कास (खाँसी), गण्डमाला, मस्तकशूल, कुष्ठ, कफ और वात आदि (पित्त आदि) रोगसमूहों से कदापि पीडित नहीं होते, इसीलिये वे दीर्घायु भी होते हैं । लोक में वे कभी अल्पमृत्यु को नहीं देखते, अर्थात् उनका अकाल में मरण नहीं होता है ।।२५।।

इसके विपरीत पापी जन संपूर्ण अवयवों में कम्प उत्पन्न होने से किसी भी कार्य के करने में असमर्थ होते हैं । तथा उनको अधिकसे अधिक सर्व प्रकार का कष्ट भोगना पडता है । ऐसा विचार करके ही मानो प्राणिवध में उद्यत रहनेवाला यम उन्हें नहीं ले जाता है । वे महान् दुख को भोगते हुये दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं ।।२६।।

२४) 1 श्रावयति, वर्णयति. 2 हितम्. 3 भाग्यरहितः. 4 विस्तारयते. 5 हीनकर्म विषाय भवति. 6 अग्निवज्जायते । २५) 1 हृद्दाह. 2 वायु. 3 न पीडिते. 4 लक्ष्म्या सार्धं चिरायुषा भवन्ति-चिह्निताः पीडा न भवन्ति (?). 5 संसारे. 6 न पश्यन्ति । २६) 1 पुण्यहीनाः . 2 अधिककष्टाः . 3 किं न नीता अपि तु नीताः. 4 कष्टम्. 5 कथंभूतेन यमेन हिंसाकारकेण ।

27) रूपिण्य एव सुकृतेन मदालसाश्च
यूनां[1] मनांसि रमयन्त्य[2] उदग्रकान्तेः[3] ।
भार्या भवन्ति भुवने कृतिनां सुमित्रा[4] ।
गौर्यः श्रियो ऽपि रतयो ऽप्युचितैर्विलासैः ॥ २७

28) जायेत प्रमिताक्षरा[1] वचसि सा सा चारुहासिन्यपि
सा स्रग्विण्यपि[2] पार्वणेन्दुवदना[3] सा मञ्जुभाषिण्यपि[4] ।
सा वंशस्थतया[5] हरेत ललना[6] चेतः सतां पश्यता-
माश्चर्यं तनुमध्यया[7] न च तया केषां समुत्पाद्यते[8] ॥ २८

29) कर्पूरोत्थशलाकिका नयनयोः सौभाग्यरत्नावली
उद्यच्छैल[1]तरङ्गिणीमुखधुरी रूपावधिः कामिनी ।
शृङ्गारद्रुममञ्जरी रतिनिधिः सत्कान्तिमञ्जूषिका[2]
कामी मूर्च्छति यद्दृशैव[3] विहितात्[4] सा जायते पुण्यतः ॥ २९

लोक में पुण्यशाली पुरुषों के समुचित हावभावादि विलास से संयुक्त सुमित्रा, गौरी लक्ष्मी और रति जैसी स्त्रियाँ हुआ करती हैं; जो अतिशय सुंदर और मद से आलसयुक्त होकर अपनी उत्कृष्ट कान्ति से युवावस्था में उनके मन को रमाया करती हैं ॥२७॥

पुण्यशाली जन के जो स्त्री होती है वह संभाषण में प्रमिताक्षरा–मितभाषिणी–होकर प्रमिताक्षरा नामक वृत्त के समान, चारुहासिनी–मधुर हास्य से संयुक्त–होकर चारुहासिनी नामक वृत्त के समान, स्रग्विणी–मालासे विभूषित–होकर स्रग्विणी छन्द के समान, पार्वणेन्दुवदना–पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान आल्हादजनक सुन्दर मुख से संयुक्त–होकर इन्दुवदना नामक वृत्त के समान, मंजुभाषिणी होकर–मधुर व मृदु भाषण करती हुयी–मंजुभाषिणी नामक छन्दके समान तथा वंशस्थता से–कुलीनता से- वंशस्थ वृत्त के समान देखनेवाले सत्पुरुषों के मन को हरा करती है। ठीक है–वह तनुमध्या–कटिभाग में कृश–होकर तनुमध्या नामक छन्दके समान किनको आश्चर्य नहीं उत्पन्न किया करती है ? अर्थात् जिस प्रकार तनुमध्या छंद सुनने व पढनेवाले सज्जनों को आश्चर्य उत्पन्न किया करता है उसी प्रकार वह कृशोदरी कामिनी भी देखनेवाले गृहस्थों को आश्चर्य उत्पन्न किया करती है॥२८॥

वह पुण्यवान् पुरुष की स्त्री आँखों को कर्पूरशलाका के समान आनन्ददायक होती है,वह

---

२७) 1 तरुणानां वा वृद्धमुनीनाम्. 2 P °दमयन्ति, D°दमयन्त्य. 3 प्रधानमनोज्ञदीप्तेः सकाशात्. 4 सौभाग्यवत्यः । २८) 1 मर्यादीभूताक्षरा. 2 पुष्पमालायुक्ता वेणी. 3 पूर्णचन्द्रवदना. 4 मनोज्ञ. 5 वंशोत्पन्नतया. 6 P °ललिता. 7 क्षीणमध्यतया. 8 मुग्धम् । २९) 1 शीलस्य भावः शैलम्. 2 पेटिका. 3 दृष्टया यत्नेन. 4 पूर्वकृतात् पुण्यात्।

30) तासां[1] पश्यन्ति रूपं कथमपि न परे किंतु ते[2] यान्ति योगं
शुन्या[3] वा रामयामा[4] सकृदपि वचने निर्विरामं[5] भषन्त्या ।
चामुण्डायाः स्वरूपं निजतनुगुणतो वारवारं हसन्त्या
मन्ये निःसंश्रयस्यांहसं[6] इव कृतया वेधसा[7] वासहेतोः ॥ ३०

31) यत्कोटिसंख्य[1]रिपुदारणसंख्यमध्ये
ऽसंख्यातवारमुपलब्धजया भवन्ति ।
यच्चाज्ञयैव परिपान्ति[2] नरा जगन्ति
जेगीयते कृतिजनैस्तदिदं सुधर्मात् ॥ ३१ ॥

32) चक्री बाहुबलीश्वरेण तुलितो वाहुद्वयेनाहवे[1]
कैलासो ऽपि च रावणेन जयिना गोवर्धनो विष्णुना ।
यच्चापि प्रसभं[2] पृथातनुभुवा[3] तूर्णं[4] च तीर्णो ऽर्णव[5]-
स्तद्विस्फूर्जितमूर्जितं[6] त्रिभुवने सद्धर्मचिन्तामणेः ।। ३२

पुण्यपुरुष की मानो सौभाग्य रत्नमाला के समान होती है, वह सौन्दर्य की मर्यादारूप स्त्री ऊँचे पर्वत से निकलनेवाली नदी के समान सुखदायक होती है, वह शृंगाररूप वृक्षकी मंजरी जैसी होती है, वह रतिसुख की निधि व उत्तम कान्ति की पिटारी है। जिसकी दृष्टि से ही कामी मूर्छित हो जाता है, ऐसी वह स्त्री पूर्व जन्म में किये हुये पुण्य के प्रभावसे ही प्राप्त होती है ॥२९॥

अन्य जन किसी भी प्रकारसे भाग्यहीन स्त्रियों का रूप नहीं देखना चाहते, परन्तु कितने ही पापियों को ऐसी स्त्रियों का योग प्राप्त होता है। यदि उससे एक बार भी भाषण किया जाता है तो वह निरन्तर कुत्तीके समान भौंका करती है। वह अपने शरीर गुणके प्रभावसे चामुण्डासी प्रतीत होती है। वह बार बार हसती है। मानो ब्रह्मदेवने निराश्रय पापको रहने के लिये ही उसे बनाया है ॥३०॥

जहाँ करोडों शत्रुओं का विदारण किया जाता है ऐसे भयानक युद्ध में पुण्यवान पुरुष जो असंख्यात बार जयशाली होते हैं तथा आज्ञामात्रसे जो जगत्‌का संरक्षण करते हैं; वह सब उस उत्तम धर्म का ही प्रभाव है, जो विद्वान् जनों के द्वारा वारंवार गाया जाता है ॥३१॥

युद्धमें बाहुबलि कुमारने अपने दो बाहुओं के द्वारा जो भरत चक्रवर्ती को उठाया था तथा रावणने जो कैलास पर्वत को और जयशाली विष्णु (कृष्ण)ने जो गोवर्धन पर्वत को उठाया-

---

३०) 1 सुन्दरीणां निर्जितदेवाङ्गनानाम्. 2 पापिनः. 3 कुक्कुर्या कुक्कुरभार्यया. 4 सार्धम्. 5 सतसहस्रवारं, वारंवारमित्यर्थः. 6 पापस्य. 7 ब्रह्मणा। ३१) 1 संग्राममध्ये. 2 परिरक्षन्ति। ३२) 1 संग्रामे. 2 हठात्कारेण. 3 अर्जुनेन भुजाभ्यां समुद्रस्तारितः यदा द्रौपदी घातकीखण्डे शत्रुणा हृता. 4 शीघ्रं नीता. 5 समुद्र. 6 उत्कटम्।

33) धराधरैर्वारिधिभिः समग्रामभ्युद्धरन्त्येव धरां कृतार्थाः[1] ।
प्रत्यंशुभिस्तूलमिवापरे[2] स्युस्तृणस्य कुब्जीकरणे ऽसमर्थाः ॥ ३३

34) स्याद् द्वात्रिंशत्सहस्रैः प्रणयविनतिभिः सेवितो भूपतीनां
त्रिस्तावद्भिः[1] सुरस्त्रीविसर[2]विजयिनां कान्तकान्ताजनानाम् ।
रत्नैर्द्विःसप्तसंख्यैरनिधन[3]सुधनैः[4] संनिधानैर्निधानै-
र्मर्त्यानां मूर्धवर्ती मणिरिव सुकृतान्निर्मिताच्चक्रवर्ती ॥ ३४

35) भूपा व्रजन्ति चलचामरवीज्यमानाः
श्वेतातपत्रधवलीकृतविश्वदेशाः[1] ।
लीलां द्युनायकभवां[2] च विलम्बमाना
जम्पानयानचतुरङ्गचमूवृतास्ते ॥ ३५

36) स्रवत्स्वेद[1]स्रवन्तीभिरभितो ऽप्यचला[2] इव ।
अनिला[3] इव वेगेन धावन्त्यन्ये[4] तदग्रतः ॥ ३६

था, इसी प्रकार पृथापुत्र अर्जुन ने जो लवणसमुद्र को शीघ्र पार किया था; उन सब को समृद्धि-शाली इस त्रिभुवन में सद्धर्म रूप चिन्तामणि का ही प्रभाव समझना चाहिये ॥३२॥

सुकृती—पुण्यशाली—पुरुष पर्वत और समुद्रों सहित समस्त पृथ्वी को प्रत्यंशुओंके साथ रुईके समान उठाया करते हैं, परन्तु पुण्यहीन जन तिनके के भी मोडने में समर्थ नहीं होते हैं ॥३३॥

स्नेहसे नम्र हुये बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, देवांगनाओं के समूह को जीतनेवाली छियानबे हजार सुन्दर स्त्रियों से आराधित, तथा चौदह रत्नों एवं अक्षय उत्तम धन को धारण करनेवाली नौ निधियों से सम्पन्न जो चक्रवर्ती मनुष्योंके मस्तक पर स्थित चूडामणि के समान होता है वह भी पूर्वजन्म में किये हुये सुधर्म के प्रभावसे ही होता है ॥३४॥

ढुरते हुये चंचल चामरों से सुशोभित और श्वेत छत्र से समस्त पृथिवीप्रदेशों को धव-लित (श्वेत) करनेवाले वे राजा लोग जो इन्द्र जैसी लीला का आलम्बन लेते हुये सुसज्जित पालकी व चतुरंग सेना से — हाथी, घोडा, रथ और पादचारी सैन्य से — वेष्टित होकर गमन किया करते हैं वह सब धर्मका ही प्रभाव है ॥३५॥

इसके विपरीत जो पापी हैं वे उनके आगे वायुके समान वेगसे दौडते है। उस समय

---

३३) 1 परिपूर्णार्थाः. 2 प्रतिकिरणैः. 3 पापाः । ३४) 1 ९६००० द्वात्रिंशत्सहस्रत्रिगुणीकृतानां स्त्रीणाम्. 2 कान्ति. 3 विनाशरहितैः परिपूर्णैः. 4 परिपूर्णैः । ३५) 1 समस्तप्रदेशाः. 2 इन्द्रलीलाम् । ३६) 1 प्रस्वेदनदीं वहन् सन् अचलः पर्वत इव. 2 पर्वता इव. 3 पवन इव. 4 पापिनः ।

37) सप्ततुङ्गतलभूमिराजिते चारुरत्नचयरोचिरञ्चिते[1] ।
मूर्तपुण्य इव सत्सुधासिते धाम्नि[2] धर्मनिलयाः[3] समासते[4] ॥ ३७

38) कोलैः[1] खातमृदन्नराशिनिचिता तार्णी[2] कुटी संकटा
वात्यामात्रवशा[3] रुजां वशगतैर्बालैः शकृन्मण्डिता[4] ।
द्वारे ऽरंकुवता[5] खरेण रचिता वा वाङ्मयी पापिनो[6]
दृष्टा[7] चेश्वरहर्म्यकार्यरतया सम्यक् कदाभार्यया[8] ॥ ३८

39) खाद्यं स्वाद्यं शुचिसुरभितं पानकं चापि लेह्यं
भेदैरेषामुपचितमलं[2] भुञ्जते स्वादु भोज्यम् ।
स्वर्णादीनामिह सुकृतिनः स्थालकच्चोलकेषु
तेषां[3] पुण्यैरमृतमिव यन्निर्मितं[4] सूपकारैः ॥ ३९

40) त्र्यहोषितं[1] तैलघृतव्रताश्रितं करे कृतं नीरसमप्यगोग्यम् ।
विधाय[2] कर्माणि धनाढ्यमन्दिरे कदन्नमस्ते[4] यदि भुञ्जते परे[5] ॥ ४०

उनके अंगसे चूते हुये पसीने की जो नदियाँ निकलती हैं उनसे वेष्टित वे पर्वतों के समान प्रतीत होते हैं ॥३६॥

पूर्वोपार्जित पुण्यके धारक पुरुष मूर्तिमान् पुण्य के समान होते हुये उत्तम चूने से धवल दिखनेवाले, सुन्दर रत्नसमूह की कान्तिसे युक्त, ऊंची सात तलभूमियों से शोभायमान महल में आनन्दसे निवास करते हैं ॥३७॥

इसके विपरीत घूसोंसे खोदी गयी मिट्टीरूप अन्न की राशिसे व्याप्त, संकुचित, झंझावातसे भरी हुई रोग के वशीभूत हुये–रोगी–बालकों के साथ मलमें मण्डित और द्वार पर शब्द करनेवाले गधे के द्वारा रची गयी कर्कश ध्वनिसे परिपूर्ण; ऐसी पापीकी घाससे निर्मित झोंपडी ईश्वर के गृहकार्य में निरत कुत्सित स्त्री के द्वारा देखी जाती है ॥३८॥

पुण्यशाली जन उन के पुण्यसे जिसे रसोइयोंने अमृतके समान निर्मित किया है ऐसे खाद्य, स्वाद्य, पवित्र और सुगंधित पानक और लेह्य–चाटने योग्य–इन चार भेदरूप मधुर भोजन का उपभोग सुवर्ण, चाँदी आदिकी थाली तथा कच्चोलक (प्याला) आदि पात्रों में किया करते हैं॥३९॥

जो पापी हैं वे धनाढ्यों के घरपर अनेक कार्यों को करके तीन दिनके बासे तथा तेल

---

३७) 1 D °रञ्जिते. 2 गृहे. 3 धर्मसंयुक्ताः 4 तिष्ठन्ति । ३८) 1 घूसविशेषैः 2 तृणमयी जीर्णा झूपडिका. 3 वधूतै. [वातधूलिः] (?) वातमण्डलः तस्य वशा. D°वात्यानात्र. 4 गूथेन मण्डिता. 5 शब्दायमानेन. 6 पापयुक्तपुरुषस्य. 7 सा तृणरचिता कुटी स्वकीयतया पापिनो भार्यया परगृहे कार्यरतया कदाचिदागत्य दृष्टा. 8. कुत्सिता भार्या कदाभार्या । ३९) 1 विकारैः वा उद्वर्तनविशेषैः. 2 परिपूर्णम्. 3 सुकृतीनाम्. 4 भोजनम् । ४०) 1 त्रिदिनकृतमन्नं तैलघृतादिरहितं रूक्षमन्नमित्यर्थः. 2 कृत्वा. 3 कुत्सितमन्नम्. 4 दिनान्ते. 5 पापिजनाः ।

41) पत्रैर्नागरखण्डपत्तनभवैः कर्पूरवल्ल्यादिजैः[1]
पूगैरीशपुरादिजैर्विरचितं सच्चूर्णसंभावितम् ।
कङ्कोलादिफलैरलंकृतमलं कर्पूरवेधोल्बणं
ताम्बूलं भुवि भोगमूलमपरे[4] खादन्ति रामार्पितम् ।। ४१

42) नामाप्यन्ये[1] न जानन्ति ताम्बूलमिति भक्षणम् ।
केन संपाद्यतां तेषां पापोपहतजन्मनाम् ।। ४२

43) वैडूर्यमुक्ताफलपद्मरागरत्नोच्चया द्वीपसमुद्रजा ये ।
धन्यस्य धामैव च धाम तेषां परं धुनीनामिव वारिराशिः ।।४३

44) कपर्दिनः कथंचित्स्युः सार्धचन्द्राः कपालिनः ।
चित्रं वृषदरिद्राश्च स्थाणवो[4] भूतिमण्डिताः ।। ४४

और घीसे रहित नीरस व कुत्सित तुच्छ अन्न को हाथ में लेकर सूर्यास्त के समय खाया करते हैं ।। ४० ।।

पुण्यशाली पुरुष नागरखण्ड नामक नगर में उत्पन्न हुये, कर्पूरवल्ली व नागवल्ली आदि के पत्रों से रचे गये, ईशपुर आदिक नगरों में उत्पन्न हुयी सुपारियों से मिश्रित, जिसमें उत्तम चूना लगाया गया है, कंकोल, इलायची व जायपत्री आदिकों से अलंकृत–सुगंधित, कर्पूर चूर्ण से युक्त ऐसे तांबूल को जो कि भोग का मूल कारण है और जो स्त्रियोंने अपने हाथसे दिया है, खाया करते हैं ।। ४१ ।।

किन्तु पापी लोग खाना तो दूर रहा वे तो ताम्बूल का नाम भी नहीं जानते हैं। पाप से जिनका जन्म व्यर्थ हुआ है ऐसे लोगोंको ताम्बूल भला कौन देता है ? कोई भी नहीं ।।४२।।

जैसे नदियों का निवास स्थान समुद्र है वैसे द्वीप तथा समुद्र में उत्पन्न हुये इन्द्र-नील मणि, मुक्ताफल व पद्मराग आदि रत्नों के समूह पुण्यशाली पुरुषोंके घर को ही अपना घर समझ कर वहीं रहा करते हैं ।।४३।।

वृषदरिद्र – धर्महीन (वृषभहीन) – मनुष्य कथंचित् स्थाणु (शंकर) के समान हैं, यह आश्चर्य की बात है। स्थाणु (शंकर) जैसे कपर्दी–जटाजूट से संयुक्त हैं वैसे ही भाग्यहीन मनुष्य भी कपर्दी पैसों के अभाव में बाल न बनवा सकने से जटा जूट के धारक–होते हैं, शंकर यदि

४१) 1 उत्पन्नैः. 2 इन्द्रैः. 3 उत्कटम्. 4 पुण्यसंयुक्ताः । ४२) 1 पापाः. 2 दीयते. 3 पीडित । ४३) 1 रत्नोच्चयानाम्. 2 नदीनाम्. 3 समुद्र । ४४) 1 कोपीनकथंचित्स्युः(?). 2 ईश्वरस्य. 3 दरिद्रपक्षे पुण्यरहिताः, ईश्वरपक्षे एकवृषभोदयः. 4 ईश्वराः ।

45) पट्टं चीनं द्वीपजं काञ्चिबालं[1]
वासोजातं[2] जायते पुण्यक्लृप्तम्[3] ।
प्रालम्बाद्यं[4] भूषणं पुण्यगेहे–
र्भूषा मन्ये [5]प्रत्युतैषां[6] च देहैः ॥ ४५

46) रथ्या[1]निपातितमलकर्पटखण्डक्लृप्तं
कौपीनमेव बहुनागफणं[2] हि वासः[3] ।
येषां[4] गले तरलहार इवैकतन्तु–
स्तेषा[5]मलं[6] सिचय[7]भूषणवर्णनाभिः ॥ ४६

47) तैलानि चारु[1]सुमनश्चयवासितानि
स्नानानि सन्ति भुवनेश्वरदुर्लभानि ।
गन्धाः सुगन्धसुरभीकृतविश्वदेशा
जात्यादिपुष्पनिचयास्त्रिदिवोद्भवा[2] वा ॥ ४७

सार्धचंद्र – अर्धचन्द्र से सुशोभित – हैं तो भाग्यहीन जन भी सार्धचन्द्र होते हैं – गलहस्त देकर दूर किये जाते हैं, शंकर यदि कपाली – कर्पट (खोपडी) के धारक – हैं तो पुण्यहीन जन भी कपाली– खप्पर में भिक्षा माँगनेवाले – होते हैं, तथा जिस प्रकार शंकर भूतिमण्डित – भस्म से सुशोभित – हैं उसी प्रकार पापी जन भी भूतिमण्डित – योग्य वस्त्रादि के अभाव में धूलिधूसरित– हुआ करते हैं । तात्पर्य यह कि धर्म से विहीन प्राणी अतिशय दरिद्र व निन्दा के पात्र होते हैं ॥४४

पुण्यवान लोगों को पुण्योदय से चीनपट्ट (चीन देश का उत्तम वस्त्र) तथा द्वीप में उत्पन्न हुआ कांचिवाल इत्यादि विविध प्रकार के वस्त्रों का समूह प्राप्त होता है। उनके गले में सरल और लंबा मुक्ताहार होता है। उनके पुण्ययुक्त देहोंसे ही मानो उनकी भूषा होती है ॥ ४५

इसके विपरीत जो दरिद्री हैं उन की लंगोटी मार्ग में गिरे हुये मलिन वस्त्र के टुकडों से बनी हुयी होती है, शरीर के ऊपर का वस्त्र अनेक भागों से बना हुआ होता है, तथा गले में चंचल हार के समान एक तन्तुवाला वस्त्र रहता है। उनके वस्त्र और अलंकारों का वर्णन निरर्थक है । ॥४६॥

पुण्यात्मा जन को सुंदर पुष्पसमूह के संसर्ग से सुवासित तेल, राजाओं को भी दुर्लभ ऐसे स्नान, अपनी सुगंधि से सर्व प्रदेशों को सुगंधित करने वाले गंध – चूर्ण अथवा इत्र आदि–

---

४५) 1 [illegible]लम्. 2 वस्त्रसमूहम्. 3 पुण्यरचितं पुरुषस्य. 4 हाराद्यम्. 5 व्याघुट्य. 6 पुण्यसहितानाम् । ४६) 1 मार्गपतितवस्त्रखण्डरचितम्. 2 फट्टं वस्त्रम्. 3 वस्त्रम्. 4 पुण्यरहितानाम्. 5 पापिनाम्. 6 पूर्ण [र्यं] ताम्. 7 वस्त्र । ४७) 1 मनोज्ञपुष्पसमूहवासितानि. 2 स्वर्गोद्भूता इव।

48) अभ्यङ्गाय सदाश्रुपातकुशलः स्नेहो ऽपि संजायते
देहस्यैव निघर्षणाय[1] विहितं पापात् खलोद्वर्तनम् ।
पङ्कः स्नानविशुद्धये ऽपि कुसुमं गन्धाय शीर्षे तृणं
भाले कर्करघर्षजं च तिलकं तन्नर्मणे[2] निर्मितम् ॥ ४८

49) सुखोष्ण[1]भोज्यैः शयनैः परार्घ्यैः[2]
स्तनो[illegible]डं च रतैः प्रियाणाम् ।
सदंशुकैः पुण्यवतां प्रतीत–
मुपायनै[3]रर्चयतीव[4] शीतम् ॥ ४९

50) चन्द्रः[1] पल्लवसंस्तरः सुमनसो दिव्या प्रियासंनिधिः
श्रीखण्डं चलचामरोत्थपवनः सन्माधवीमण्डपः ।
ध[illegible]मुज्झदम्बु परितो हारा हिमांशु[2]प्रभा
ग्रीष्मस्फारिजगत्प्रतापमपि तं[3] भिन्दन्ति धन्यस्य[4] ते[5] ॥ ५०

तथा मानो स्वर्ग में उत्पन्न हुये ऐसे मालती आदिक वेलियों के पुष्पसमूह प्राप्त होते हैं ॥४७॥

इस के विपरीत जो पुण्यहीन हैं उन्हें अभ्यंगस्नान के लिये स्नेह (तेल) तो मिलता नहीं है, तब उसके अभाव में उनकी आँखों से शोक का जो अश्रुपात होता है वही उनके अभ्यंग स्नान के लिये स्नेह है; पाप से उनके देह का जो घर्षण होना है वही उनका खली का उद्-वर्तन होता है, उनके अंग में जो कीचड लगता है वह उनका उवटन है और मस्तक पर जो वे तृण भार धारण करते हैं वही उनका गंध है तथा भालप्रदेश में कंकड का घर्षण होने से जो चिन्ह प्रकट होता है वही तिलक है। ये सब प्रकार पाप ने दीनों का उपहास करने के लिये निर्मित किये हैं ॥ ४८॥

संतुष्ट शीतकाल मानो पुण्यशाली पुरुषों की, सुखप्रद कुछ उष्ण (ताजे) भोज्य पदार्थ, बहुमूल्य शय्याएं, स्तनों को मर्दित करते हुये किये गये प्रिय स्त्रियों के सम्भोग और उत्तम वस्त्र; इन उपहारों के द्वारा पूजा ही करता है, ऐसा प्रतीत होता है ॥४९॥

कपूर, कोमल पत्तों की शय्या, दिव्य पुष्प, स्त्री का सान्निध्य, चन्दन, चंचल चामरों की पवन, उत्तम माधवी लताओं का मण्डप, चारों ओर पानी फेंकनेवाला धारागृह तथा चंद्र की कांति को धारण करनेवाले हार ये भाग्यशाली के उत्तमोत्तम पदार्थ — जिसका कि प्रताप लोक में सर्वत्र फैला हुआ है ऐसे पराक्रमी ग्रीष्मकाल को भी नष्ट किया करते हैं ॥५०॥

---

४८) 1 उद्वर्तनाय. 2 तस्य पापिनः क्रीडार्थं, पापिजनभोगाय । ४९) 1 कथंचित् उष्ण. 2 उत्तमैः. 3 प्राभृतैः. 4 शीतं विनयं करोति। ५०) 1 कर्पूरः. 2 चन्द्रस्य. 3 ग्रीष्मम्. 4 पुण्यवतः. 5 चन्द्रादयः ।

51) आसीनानां[1] हिमगिरिनिभे हर्म्यपृष्ठे कदाचित्
क्रीडोल्लासाद्वनविहरणैरन्यदा वृष्टिदृष्टैः ।
गर्जं गर्जं तरुणरमणीकण्ठमाश्लेषयन्त्यो[2]
मेघैर्वर्षा इव सुकृतिनामाचरन्तीह दौत्यम्[3] ॥ ५१

52) तप्ताश्चण्डरुचेः करैरतिखरैर्ग्रीष्मस्य मध्यंदिने
कष्टं कर्दममर्दिनो[1] घनजलैर्वर्षासु भिन्नाङ्गकाः[2] ।
शीतार्ता निशि दन्तवीणनमित्र प्राप्ता हिमर्तौ[3] परे[4]
पापात्संकुचिताः श्ववत्[5] कथमहो तिष्ठन्ति भूशायिनः[6] ॥ ५२

53) अशेषताराग्रहभानुचन्द्राः
स्फुरन्ति दिक्चक्रलसत्प्रतापाः ।
हितेन[1] देवा दिवि[2] शं[3] भजन्ते
सदा सुरस्त्रीमुखमुग्धचित्ताः[4] ॥ ५३

पुण्यवान् लोग हिमालय पर्वत के समान धवल उन्नत भवन के ऊपर बैठते हैं, कभी क्रीडा करने की उत्कण्ठा उत्पन्न होने पर वे उद्यान में विहार करते हैं। वर्षा ऋतु, वर्षाकाल में देखे गये मेघ जब गर्जना करते हैं तब उनके द्वारा तरुणी स्त्रियों को उन पुण्यवान् पतियों के कण्ठ को आलिंगन कराती है। इस प्रकार वह वर्षा मानो पुण्यवान् पुरुषों के दूतकार्य को ही करती है ॥५१॥

इसके विपरीत दरिद्र जन पाप के प्रभावसे ग्रीष्म ऋतु में दिन के मध्यभाग में सूर्यकी अत्यन्त तीक्ष्ण किरणों से संतप्त होते हैं, वर्षाकाल में कीचड से लिप्त रहने वाले उन दीन लोगों का शरीर मेघ के पानी से भीगा रहता है, शीतकाल में जब वे ठंड से पीडित होते हैं तब उनके दांत वीणा के समान बजते हैं तथा शैत्य से अतिशय पीडित होने पर वे अपने शरीर को कुत्ते के समान संकुचित कर जिस किसी प्रकार पृथिवी पर सो जाते हैं। इस प्रकार पापोदय से उन्हें ग्रीष्मादि ऋतुओं में दुःख भोगने पडते हैं ॥५२॥

जिनका प्रताप संपूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो रहा है तथा जिनका चित्त देविओं के मुखों पर आसक्त है ऐसे सब तारा, मंगलादिक ग्रह एवं सूर्य-चंद्र ये देव देवगति में उस हित-कर धर्म के प्रभाव से ही सुख का उपभोग करते हैं ॥५३॥

---

५१) 1 पुण्यजनानाम्. 2 रमणीनां पुरुषकण्ठे आश्लेषयन्त्यो वर्षाः. 3 दूतीभावो दौत्यम् । ५२) 1 पापिनः. 2 आर्द्रशरीराः. 3 शीतकाले. 4 पापिनः 5 कुक्कुरवत्. 6 जीवाः । ५३) 1 पुण्येन. 2 स्वर्गे. 3 सौख्यम्. 4 लग्नचित्ताः ।

54) यद्देवकोटिमुकुटार्चितपादपद्मो
देवीभिरप्यहरहः[1] समुपासितश्च ।
शारीरमानससुखं स्वदते[2] द्युनाथ-[3]
स्तत्सर्वमङ्कुरितमुत्तमधर्मबीजात् ॥ ५४

55) ईर्ष्याविषादमदमत्सरमानहीनं
सर्वार्थसिद्धिमरुतो[1] ऽनुभवन्ति सौख्यम् ।
यत्सर्वथाप्युपमया रहितं विशालं
तद्धर्मवृक्षकुसुमं मुनयो वदन्ति ॥ ५५

56) मृत्यूत्पत्तिविवर्जितं निरुपमं दृग्ज्ञानवीर्योर्जितं
व्याधिव्रातविवर्जितं[1] शिवपदं नित्यात्मसौख्याश्रितम् ।
त्रैलोक्यप्रभुवल्लभं कथमपि प्राप्येत यद् दुर्लभं
प्रध्वस्ताखिलकर्मतो बुधजनास्तद् बुध्यतां धर्मतः ॥ ५६

जिसके चरण करोड़ों देवों के द्वारा पूजे जाते हैं तथा देवांगनाएँ जिसकी प्रतिदिन सेवा किया करती हैं ऐसा स्वर्ग का स्वामी इन्द्र जो शारीरिक और मानसिक सुखोंका उपभोग करता है वह सब उत्तम धर्मरूपी बीज से ही अंकुरित हुआ है । अर्थात् सुखरूप अंकुर धर्मरूप बीज से ही उत्पन्न होता है ॥ ५४ ॥

सर्वार्थसिद्धि के देव ईर्ष्या, विषाद, उन्माद, मत्सर तथा गर्व से रहित हो कर जो सर्वथा अनुपम महान् सुख का अनुभव करते हैं वह उस धर्मरूपी वृक्षका ही पुष्प है; ऐसा मुनिजन कहते हैं ॥ ५५ ॥

जो मोक्षपद मरण व जन्म से रहित, अनुपम, केवलदर्शन, केवलज्ञान और अनंत सुख से उत्कर्ष को प्राप्त; अनेक रोगसमूह से रहित, शाश्वतिक आत्मसुख से सम्पन्न और त्रैलोक्यप्रभु जिनेश्वर को अतिशय प्रिय है उस दुर्लभ मोक्षपद को जो विद्वान् जन समस्त कर्मों को नष्ट करते हुये किसी प्रकार से प्राप्त करते हैं उसे धर्म के प्रभाव से ही समझना चाहिये ॥ ५६ ॥

५४) 1 दिने दिने. 2 भुनक्ति. 3 इन्द्रः । ५५) 1 देवाः । ५६) 1 रहितम् ।

57) पुण्यापुण्यद्रुमफलमलं सम्यगालोचयन्त[1]:
कर्तुं योग्यं ह्यहितमथनं पुण्यमेव प्रवीणाः ।
यत्कल्याणैः प्रभुतममिदं संगमं संविधातुं[2]
तद्[3] भो भव्या दुरितसुरतिस्[4]त्यज्यतां[5] नीतिहन्त्री ॥ ५७

इति श्री-जयसेन-मुनि-विरचिते धर्मरत्नाकरनामशास्त्रे
पुण्यापापफलवर्णनप्रकाशकः प्रथमो ऽवसरः[6] ॥ १ ॥

पुण्यवृक्ष के फल की और पापवृक्ष के फल की मन में अतिशय भलीभाँति आलोचना करते हुये प्रवीण पुरुष अहित को नष्ट करने वाले उस पुण्य को ही करने योग्य समझते हैं यह पुण्य गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्षरूप पाँच कल्याणों का संगम करने में पूर्णतया समर्थ है। अतएव हे भव्यजन, आप नीतिका नाश करनेवाली पाप की प्रीति छोड दें ॥ ५७ ॥

इस प्रकार जयसेन मुनिविरचित धर्मरत्नाकर नामक शास्त्र में पुण्य-पाप फलोंका वर्णन करनेवाला प्रथम अवसर समाप्त हुआ है ॥ १ ॥

५७) 1 पश्यन्तः सन्तः. 2 कर्तुम्. 3 तस्मात्. 4 पापेषु सुष्ठु रतिः. 5 त्यजनीयम् । 6 P only प्रथमोवसरः ।

[२ द्वितीयोऽवसरः]

[अभयदानादिफलम्]

58) दानशीलार्चनावृद्ध्यै तपोधर्मस्य भावनाः ।
अगारिणां[1] यतः साध्ये[2] किंचित्कस्यापि साधनम्[3] ।। १

59) प्रसिद्धम्–
यस्मादभ्युदयः[1] पुंसां निःश्रेयसफला[2]श्रयः ।
वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ।। १*१

60) दानमाद्यमभयं भय[1]मुक्तैर्व्याहृतं[2] तदनु[3] चाहृ[4]तिनाम ।
ज्ञानसंज्ञमथ भेषजरूपं तच्चतुर्थमिति मुक्तिनिमित्तम् ।। २

गृहस्थों के लिये दान, शील और जिनपूजा इनकी वृद्धि के लिये तपोधर्म की भावना निर्दिष्ट की गई है। चूंकि साध्यप्राप्ति के लिये कोई किसीका तो कोई किसीका साधन रहता है ।। १ ।।

प्रसिद्ध भी है –

जिससे पुरुषों को मोक्षरूप फल के आधारभूत अभ्युदय की प्राप्ति होती है उसे जैनागम के ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते हैं ।। १*१ ।।

सब प्रकार के भय से रहित हुए गणधरादिकों ने पहला अभयदान, तदनंतर दूसरा आहारदान, तीसरा ज्ञान नामका दान और चौथा औषधदान ये दान के चार भेद निर्दिष्ट किये हैं। वह दान मुक्ति का कारण है ।। २ ।।

---

१) 1 गृहस्थानाम्. 2 नित्यकरणीये 3 मोक्ष (?) । १*१) 1 धर्मात्. 2 मोक्ष । २) 1 भयरहितैर्मुनिभिः. 2 कथितम्. 3 तदनन्तरं. 4 अन्नदानम् ।

61) सत्त्वानामुपकाराय गुणिनां क्लिश्यतामपि ।
यथा तथा दयालुं हि ददतं को ऽवमन्यते ॥ ३

62) सर्वे ऽप्यास्तिकवादिनो यदभयं संमेनिरे निर्मदा
विश्वेषां च यथा तथा प्रियतमं यत्प्राणितव्यं नृणाम् ।
दानं ज्ञानतपोव्रतादि विफलं सर्वं विनैतेन यत्
तस्मादाद्यमिदं मतं च निखिलं यच्चारु तत्तत्फलम् ॥ ४

63) प्रत्यक्षमर्थमिहलोकसुखं च वाञ्छन्
लोकं श्रयन् परिहरन् किल कायपीडाम् ।
कायाकृतो परिणतां चितमध्यवस्यन्
तामत्र नास्तिकबको ऽपि दयां प्रमाति ॥ ५

सम्यग्दर्शनज्ञानादि गुणों से संयुक्त गुणिजनों का तथा क्लेश को प्राप्त हुए दुखी जीवों का भी उपकार करने के लिये जो दयालु सत्पुरुष जिस किसी प्रकार से उन्हें उनके अनुकूल दान दे कर निर्भय करता है ऐसे दाता का भला कौन तिरस्कार करेगा? कोई भी ऐसे दाता का तिरस्कार नहीं कर सकता है ॥ ३ ॥

पाप, पुण्य एवं इह-पर लोक आदिक तत्त्वोंपर श्रद्धा न करनेवाले जो भी आस्तिक हैं मद से रहित उन सब को वह अभयदान अभीष्ट है । जैसे जीवन मनुष्यों को प्रिय है वैसे ही वह सब ही प्राणियों को अत्यन्त प्रिय है। इस अभयदान के बिना चूंकि अन्य दान, ज्ञान, तप एवं व्रत आदिक सब धर्माचार व्यर्थ होते हैं; इस लिये अभयदान को आद्य दान–मुख्य दान– माना गया है । इस दानका फल चारुता है अर्थात् इससे सौंदर्य प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

जो केवल प्रत्यक्ष दिखते हुए पदार्थ को और इस लोक संबंधी सुख को ही स्वीकार करता है, जो लोक व्यवहार का आश्रय ले कर शरीर पीडा को दूर करता है, तथा जो शरीराकार से परिणत हुए चैतन्य को जानता है वह नास्तिक (चार्वाक) रूप बगुला भी दया को प्रमाण मानता है । तात्पर्य–केवल इहलोक का सुख प्राप्त करने के लिये नास्तिकों ने भी दया अर्थात् अभयदान को माना है ॥ ५ ॥

३) 1 क्लेशयुक्तानाम्. 2 यथा योग्यं तथा येन केन प्रकारेण. 3 दयां कुर्वन्तम्. 4 कः अवज्ञां करोति । ४) 1 आमनन्ति, कथयन्ति. 2 जीवितव्यं. 3 जीवितव्येन अभयदानेन इत्यर्थः. 4 मनोज्ञम्. 5 तस्य अभयदानस्य । ५) 1 पदार्थम्. 2 जीविव्यथां परिहरन्. 3 कायस्थैर्यं प्रति उद्यमं कुर्वन्. 4 नास्तिकमतान [नु] वादी. 5 प्रमाणं करोति ।

64) उक्तं च–
लोकवद् व्यवहर्तव्यो लौकिको[1] ऽर्थः परीक्षकैः ।
लोकव्यवहारं[2] प्रति सदृशौ बालपण्डितौ[3] ॥ ५*१

65) ज्ञानात्स्वस्य ज्ञानदानं परेषां सर्वं वित्तात्स्वस्य वित्तप्रदानम् ।
यस्मात्तस्मादात्मवज्जीववर्गश्चिन्त्यः शश्वन्नात्र[1] किंचित्प्रमृग्यम् ॥ ६

66) भानुभ्रष्टमहो[1] यदि प्रभुमृते[2] राज्यं च संजायते
राजीवं[3] च जलाशयेन रहितं चित्रं तथापाश्रयम्[4] ।
पुंभामापगतं[5] कुलं यदि धराहीनस्तथानोकहः[6]
प्राणित्राणविवर्जितो[7] ऽपि नियतं जायेत धर्मस्तदा ॥ ७

67) यथा शरीरं न हि जीववर्जितं मुखारविन्दं न यथा विलोचनम्[1] ।
दयाविहीनं क्रियमाणमर्थिभिर्न[2] धर्मकर्मापि[3] विराजते तथा ॥ ८

कहा भी है–पदार्थ का स्वरूप जैसा लौकिक जन मानते हैं वैसा ही परीक्षकों को भी मानना चाहिये । लौकिक व्यवहार के प्रति बाल और पंडित समान हैं । अभिप्राय यह कि तात्त्विक विवेचन का परीक्षक जन भले ही परीक्षा कर के प्रमाण या अप्रमाण माने, परंतु लौकिक व्यवहार को उन्हें जैसा कि वह प्रचलित है वैसा ही मानना चाहिये ॥ ५*१ ॥

जो अपने पास ज्ञान है उससे अन्यजनों के लिये ज्ञानदान तथा जो अपने पास धन है उससे अन्य जनों के लिये धन का दान देना चाहिये । सर्व जीवसमूह को सदा अपने समान ही समझना चाहिये । इस विषय में अन्य कुछ विचार नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

यदि कभी सूर्य के बिना दिन हो सकता है, राजा के बिना राज्य हो सकता है, जलाशय के बिना कमल उत्पन्न हो सकता है, आधार (भित्ति आदि) बिना चित्र रह सकता है, पुरुष और स्त्री के बिना कुल चल सकता है तथा पृथ्वी के बिना वृक्ष उत्पन्न हो सकता है तो प्राणिरक्षण के बिना निश्चय से धर्म भी हो सकता है । तात्पर्य यह कि प्राणिदया के बिना धर्म असंभव है ॥ ७ ॥

जिस प्रकार जीवरहित शरीर (शव) शोभा नहीं पाता तथा नेत्ररहित मुखकमल शोभा नहीं पाता है उसी प्रकार धर्माभिलाषी जनों के द्वारा दया के बिना किया जानेवाला धर्मकार्य भी शोभा नहीं पाता है ॥ ८ ॥

५*१) 1 D °लौकिकार्थंपरी. 2 D °लोकानां व्यवहारं च सदृशो. 3 अज्ञान । ६) 1 नात्र कश्चित् विचारोज्ञः । ७) 1 दिनम्. 2 प्रभुं विना. 3 कमलम्. 4 अपगताश्रयं कुड्यादि–आश्रयरहितम्. 5 पुरुषं विना पुत्रं विना वा. 6 वृक्षः. 7 जीवरक्षादिरहितम् । ८) 1 नेत्ररहितम्. 2 पुरुषैः. 3 धर्मकार्यम् ।

68) वदतु विशदवर्णं[1] पातु[2] शीलं प्रपूर्णं
जप(य)तु विशदवर्णं[3] दानतश्चापि कर्णम्[4] ।
तपतु तप उदीर्णं नीरसं वात्तु[5] शीर्णं[6]
विफलमभयतीर्णं[7] भस्मनीवोपकीर्णम्[8] ॥ ९

69) गुरुजनपदाम्भोजध्यानं मरुद्गण[1]पूजनं
बहुजनमतं न्यायस्थानं कुलस्थितिपालनम् ।
अमलिनगुणग्रामाख्यानं विशुद्धयशोऽर्जनं[2]
अवति[3] यदि नो जीवानेतत्ततः[4] तुषखण्डनम् ॥ १०

70) शिखी मुण्डी ब्रह्मव्रतधरमहाभैक्षचरणो
भदन्तो[1] दान्तो[2] वा भ्रमयतु जगत्तीव्रकिरणः ।
क्षमी ध्यानी मौनी वनचरसहावासकरण–
स्तमोनृत्तं यद्वद्विफलमखिलं[3] यद्यकरुणः[4] ॥ ११

मनुष्य निर्मल अक्षरों से परिपूर्ण सुन्दर भाषण करे, शील का पूर्णतया पालन करे, स्पष्ट अक्षरों का अर्थात् अर्हत्-सिद्धादिकों के वाचक मन्त्रों का जप करे, दान से निर्मल कीर्ति-धारक कर्ण को भी जीत ले, उत्तम तप करे तथा नीरस, गले हुए अन्न भक्षण भी करे तो भी अभयदान से रहित होने से ये सब कार्य धूल में मिल जाने के समान विफल है ॥ ९ ॥

मनुष्य यदि जीवों का रक्षण नहीं करता है तो गुरुजनों के चरण कमलों का ध्यान करना, देवों की पूजा करना, सर्व जनों को मान्य ऐसा न्यायस्थान का पद प्राप्त होना अर्थात् न्यायाधीश का पद प्राप्त होना, अपनी कुल मर्यादा–सदाचारों–का पालन करना, निर्मल गुण-समूह का वर्णन करना तथा निर्मल यश भी प्राप्त कर लेना ये सब कार्य तुष कंडन के–धान्य-कणों से रहित भूसा के कूटने के–समान व्यर्थ है ॥ १० ॥

मनुष्य यदि दया से रहित–निर्दय–है तो वह भले ही चोटी को धारण कर ले, शिर मुंडा ले, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके भिक्षु जैसा आचरण करे, भद्रतायुक्त हो, जितेन्द्रिय हो, सूर्य के समान तेजस्वी हो कर विश्व का भ्रमण करता रहे, क्षमावान् हो, ध्यान करनेवाला हो, मौन को धारण करता हो तथा भीलों के साथ वन में रहनेवाला हो तो भी उसका यह सब आचरण अन्धकार में किये जानेवाले नृत्य के समान निष्फल होता है ॥ ११॥

---

९) 1 पट्वक्षरम्. 2 रक्षतु. 3 ब्राह्मणादिनिर्मलवर्णम्. 4 D °कीर्तिः. 5 भक्षयतु. 6 सडितम्. 7 अभयदानरहितम्. 8 घृतादिक्षिप्तम् । १०) 1 देव. 2 उपार्जनम्. 3 रक्षति. 4 कारणात् । ११) 1 ज्ञानवान्. 2 जितेन्द्रियः. 3 पूर्वोक्तं समस्तं विफलम्. 4 निर्दयः ।

71) दयया भवति समस्तं सफलं दानादि पूर्वनिर्दिष्टम् ।
दृष्ट्येव[1] बोधतपसी[2] विद्धा इव धातवो रसेन ॥ १२

72) चिरायुष्यं रूपं तरुणरमणीनेत्रसुभगं
विभोगाः साभोगा[1] गुरुरिव जगज्जीवशरणः ।
रणे वारण्ये वा यम[2]भयविधायिन्यपभयो[3]
भय[4]त्यागाद्भावी[5] निरवधिसुखैकान्तवसतिः[6] ॥ १३

73) धर्मस्य जीवितमिदं[1] च रहस्यमेतत्[1]
सर्वस्वमप्युपचयो[2]ऽचलवासभूमिः ।
आचन्द्र[?]थासेतशा[3]सनमेतदेव
माङ्गल्यकोटिसमलंकृतजन्मलग्नम्[4] ॥ १४

74) जन्मसु सारं नृत्वं[1] पुरुषार्थस्तत्र[2] तत्र ननु धर्मः ।
तस्मिन्[3] दया विशाला सकलश्रीसहचरी[4] सारा[5] ॥ १५

उपर्युक्त श्लोकों में जिन दानादि धर्मकर्मों का वर्णन किया गया है वे यदि दया के साथ किये जाते हैं तो सब ही वे सर्व सफल होते हैं । जैसे—सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान व तपश्चरण तथा रसायन से वेधी गयी लोह आदि धातुएं सफल हुआ करती हैं ॥ १२ ॥

जिसने प्राणियों को अभयदान दे कर उन्हें निर्भय किया है उसे दीर्घ आयुष्य, युवान स्त्री के नेत्रों को लुभानेवाला सौन्दर्य तथा इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले विपुल विशिष्ट भोग भी प्राप्त होते हैं । वह गुरु—माता-पिता—के समान जगत् के जीवों का रक्षण करता है । यम के भयको—मृत्युकी आशंकाको—उत्पन्न करनेवाले युद्ध में अथवा वन में भी निर्भय रहता है तथा भय से रहित हो जाने के कारण वह भविष्य में अमर्याद सुखोंका—मुक्ति सुखों का—एकान्त स्थान होता है ॥ १३ ॥

यह अभयदान धर्म का जीवित व रहस्य अर्थात् धर्म का निचोड व उसका सर्वस्व है । अर्थात् अभयदान देने से ही धर्म का पूर्ण आचरण होता है । इससे धर्म की वृद्धि होती है । यह अभयदान निश्चल वसति की—मोक्ष की—आधार भूमि है । जब तक जगत में चन्द्र-सूर्य हैं तब तक रहनेवाला धर्म का यह शुभ्र शासन है, और यही अभयदान करोडों मंगलों से अलंकृत हुआ धर्म का जन्मलग्न है ॥ १४ ॥

देव, नारकी और पशु आदि जन्मों में—पर्यायों में—मनुष्यपना सार है, उस मनुष्य

१२) 1 सम्यग्दर्शनेन. 2 ज्ञानतपसी द्वे । १३) 1 सविस्तारा:. 2 यमकृते भये. 3 भयरहित:. 4 अभयदानात्. 5 भविता. 6 निरवधिसुखैकवास: । १४) 1 अभयदानम्. 2 लक्ष्मीसमूहम्. 3 आज्ञा. 4 अभयदानम् । १५) 1 नृत्वे. 2 पुरुषार्थे. 3 धर्मे. 4 सखी. 5 समीचीना ।

75) न दृष्टिहीनं[1] वदनं[2] विराजते विलासिवृन्दं[3] न विभूतिवर्जितम् ।
विलासिनी रूपविलासदूरिता यथा न धर्मो न तथा दयां विना ॥ १६

76) पितृप्रतिकूली[1] पुत्रः कुलपुत्री परगृहाटनसवित्री[2] ।
धर्मो दयाप्रहीणः प्रहीणधर्माः[3] स्तुवन्त्येतान्[4] ॥ १७

77) विनयविकलान् संख्यातीतान्[1] विनेयजनान्[2] न हि
न हि कृतधियस्[3]तत्त्वाख्यानप्रहीणमतीन् यतीन् ।
मतिमपि न वा श्रेयोबन्ध[4]प्रसिद्धि[5]पराङ्मुखीं
न च करुणया हीनं[6] धर्मं स्तुवन्ति कथंचन ॥ १८

78) ब्रूते मूकः श्रवणसुखदं वीक्षते ऽन्धो ऽपि रूपं[1]
पङ्गुः प्रौढं[2] चतुरचरणं धावते चेद्धरित्र्याम् ।
एडो[3] बाढं[4] यदि च शृणुया[5]दुच्यमानाक्षराणि
प्राणित्राणाचरणरहितस्तर्हि धर्मो ऽपि च स्यात् ॥ १९

पर्याय का सार पुरुषार्थ और उस पुरुषार्थ का सार निश्चय से धर्म है व उस धर्म में भी संपूर्ण संपदाओं के साथ रहनेवाली विशाल दया सार मानी गई है ॥ १५ ॥

जिस प्रकार नेत्रों के बिना मुख, सम्पत्ति के बिना विलासी जन का समूह और सौन्दर्य से विहीन विलासिनी–नेत्र, मुख एवं भृकुटियों आदिकी विशेषता से संयुक्त स्त्री– शोभायमान नहीं होती है । उसी प्रकार दया के बिना धर्म भी शोभायमान नहीं होता है ॥ १६ ॥

पिता की आज्ञा के प्रतिकूल चलनेवाला पुत्र, दूसरों के घर पर पर्यटन की जनक– सदा वहाँ जानेवाली–कुलीन पुत्री और दया से रहित धर्म इनकी वे ही प्रशंसा किया करते हैं, जो स्वयं धर्म से दूर–दुराचारी–हैं ॥ १७ ॥

विवेकी विद्वान् विनय से रहित असंख्यात शिष्यों की, यथार्थ वस्तु स्वरूप का प्रति- पादन करनेवाली बुद्धि से विहीन मुनियों की, पुण्यबंध की प्रसिद्धि से पराङ्मुख–पापबंध को सिद्ध करनेवाली–बुद्धि की और दया से रहित धर्म की किसी प्रकार से भी प्रशंसा नहीं किया करते हैं ॥ १८ ॥

यदि गूँगा मनुष्य कानों को सुख देनेवाला भाषण करने लगे, यदि अन्धा मनुष्य

१६) 1 अवलोकनरहितम्. 2 P °नयनं. 3 कामुकसमूहम् । १७) 1 शत्रुर्निन्दको वा अभक्तो वा. 2 उत्पन्नजननी भूमिर्वा. 3 पापिनः. 4 पुत्रादीन् । १८) 1 बहूनपि. 2 शिष्यजनान्. 3 पुण्यवन्तः पुरुषाः कृतधियः न स्तुवन्ति. 4 पुण्यं वा मोक्षो वा. 5 P °प्रसिद्ध. 6 रहितम् । १९) 1 विशिष्टरूपम्. 2 D °प्रौढश्च. 3 बधिरः. 4 अतिशयेन. 5 शृणोति ।

79) प्राणितव्यम[1]पहाय[2] नापरं प्राणिनां जगति यन्मतं[3] ततः ।
अष्टमूलगुणरात्र्यभोजनद्वादशव्रतविधिस्तदर्थकः[4] ॥ २०

80) दत्ते साक्षाज्जीविते किं न दत्तं तत्रापास्ते[1] किं न वापास्तमत्र[2] ।
भार्यापुत्रान् स्वान्[3] प्रियान् जीवितार्थी विक्रीणीते यत्ततोऽस्तान्यभीतिः[4] ॥ २१

81) उक्तं च–
वृणीष्वै[1]कतरं[2] देवैस्त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः ।
इत्युक्ते त्रिजगल्लाति[3] को विमुच्य स्वजीवितम् ॥ २१*१

82) राज्यं प्राज्यं[1] रुचिररमणी रत्नकोशो धरित्री
सेनाजन्या च रथवा[2] ज्ञातिवर्गः समग्रः ।
भोगा योग्याः शयनभवनान्यासनाद्यन्यदेतत्
व्यर्थं सर्वं शववपुरलंकारवज्जीवहीनम् ॥ २२

विशिष्ट रूप को देखने लगे, यदि पङ्गु (लंगडा) पुरुष अतिशय उत्तम चाल से पृथ्वी पर दौडने लग जावे तथा यदि बहरा मनुष्य बोले जानेवाले अक्षरों को अतिशय सुनने भी लग जावे तो प्राणियों के रक्षण रूप आचरण से रहित प्रवृत्ति को भी धर्म माना जा सकता है ॥ १९ ॥

चूंकि लोक में अपने जीवित को छोड कर प्राणियों को अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है, अतएव अष्ट मूलगुण, रात्रिभोजनत्याग और पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत भी प्राणियों के जीवित के लिये उपयोगी कहे हैं ॥ २० ॥

इस जगत में जिसने साक्षात् जीवित को दिया है उसने क्या नहीं दिया? अर्थात् उसने सभी कुछ दिया है। तथा जिसने उस जीवित को छीन लिया है उसने क्या नहीं छीन लिया? अर्थात् उसने सब ही धनधान्यादिक को छीन लिया है ऐसा समझना चाहिये। कारण कि अपने जीवित की रक्षा के लिये मनुष्य अपनी प्रिय पत्नी और पुत्रादिक को भी दूसरों के लिये निर्भय हो कर बेच देता है ॥ २१ ॥

कहा भी है-तीनों लोक और जीवित इन दोनों में से किसी एक को मांग लो, ऐसा देवों के द्वारा कहे जाने पर कौन ऐसा मनुष्य है जो अपने जीवित को छोडकर तीनों लोकों को ग्रहण करेगा? तात्पर्य यह कि प्राणी को अपना जीवन तीन लोक के राज्य से भी अधिक प्रिय है ॥ २१*१ ॥

उत्कृष्ट राज्य, सुंदर स्त्री, रत्नों का खजाना, पृथ्वी, हाथी, घोडा, रथ और पदाति

---

२०) 1 जीवितव्यम्. 2 दूरीकृत्य. 3 हितं इष्टम्. 4 तस्याः जीवदयायाः प्रयोजनार्थम् । २१) 1 जीवितव्ये निराकृते. 2 जीवराशौ जगति वा. 3 स्वकीयान्. 4 गतान्यभयः । २१*१) 1 स्वकीयजीवितं विक्रीय त्रिलोकं नय. 2 एकम्. 3 गृह्णाति । २२) 1 प्रधानम्. 2 अङ्गा ।

83) हीनाष्टादशदोषतो न हि परो देवो न पुण्याद्धितं
ज्ञानाभ्यासमृते[1] तपो न हि परो नाराधनीयो गुरोः[2] ।
नैर्ग्रन्थ्यान्न[3] परं सुखं न सुखतो ऽभीष्टं परं प्राणिनां
जीवानां परिपालनान्न च परो धर्मो जगत्यां[4] मतः[5] ॥ २३

84) ज्ञानं विश्राणयन्ते[1] सुकृतवसतयो[2] गृह्णते तादृशा ये
भैषज्याहारपात्रं[3] तपसि परिणताः क्लिष्टदीना दरिद्राः ।
दानस्यान्यस्य[4] चान्ये कतिपयमनुजाः कल्पितस्या[5]तिलुब्धैः
पात्रं[6] स्याज्जीवलोको ऽप्यभयवितरितु[7]र्वर्ण्यते ऽतः किमन्यत्[8] ॥ २४

85) आहारादावलसकृपणत्वेन वा दीयमाने
दुःखं तादृग् न भवति तथा[1] दीयमाने भये ऽस्मिन्[2] ।
पातो नूनं नरककुहरे तेन जीवैरजस्रं[4]
यत्यं[5] भव्यैः स्वहितनिरतैः प्रास्य सर्वान् कुभावान् ॥ २५

रूप अजय्य चार प्रकार की सेना; सर्व कुटुम्बी जन, योग्य भोग, तथा शय्या, भवन व आसन आदि को जीवित के विना शव (मुर्दा) को अलंकारों से सजाने के समान व्यर्थ समझना चाहिये ॥ २२ ॥

जो अठारह दोषों से रहित है वही देव होता है, उसको छोड कर अन्य देव नहीं हो सकता है, पुण्य के बिना अन्य कोई हितकर नहीं है, ज्ञानाभ्यास को छोडकर अन्य कोई तप नहीं है, गुरु को छोड कर अन्य कोई आराधनीय नहीं है, पूर्ण निर्ग्रन्थावस्था अर्थात् पूर्ण परिग्रह से रहितावस्था को छोडकर अन्य कोई सुख नहीं है, सुख को छोडकर प्राणियों को अन्य कोई अभीष्ट नहीं है तथा जीवों के परिपालन को छोड कर जगत् में अन्य कोई धर्म सम्भव नहीं है ॥ २३ ॥

पुण्य के निवासस्थानभूत पुरुष ज्ञानदान करते हैं और वैसे ही–पुण्यशाली–पुरुष उसको ग्रहण करते हैं । जो ऋषि तपश्चर्या में तत्पर हैं वे औषधदान और आहारदान के पात्र हैं तथा क्लेश को प्राप्त व दीन-दरिद्री लोग भी आहार व औषधदान के पात्र होते हैं । अतिशय लोभी जन के द्वारा कल्पित अन्य दानके–भूमि आदि के दान के–पात्र अन्य कितने ही मनुष्य होते हैं । परंतु जो अभयदान देनेवाला है उसके लिये सर्व ही जीव लोक पात्र होता है । अर्थात् वह सब के लिये अभयदान दिया करता है । इससे अधिक और क्या कहा जाय? ॥ २४ ॥

आलस्य से अथवा कृपणपने से आहारदान के देने पर जीव को वैसा दुःख नहीं होगा

२३) 1 विना. 2 गुरोः सकाशादपरो नाराधनीयः 3 D °नैर्ग्रन्थात्. 4 जगति. 5 प्रोक्तः । २४) 1 प्रयच्छन्ति, दापयन्ति. 2 पुण्यनिवासाः 3 भेषज्याहारयोग्या भवन्ति. 4 सुवर्णादिदानस्य. 5 रचितस्य. 6 योग्या भवन्ति. 7 दातुः. 8 अभयदानं विना । २५) 1 P° यथा. 2 भये दत्ते सति. 3 भयेन. 4 निरन्तरम्. 5 यत्नः कर्तव्य ;

86) मुक्ता विमुक्तिसुखसागरसंनिमग्नाः
संसारिसत्त्वनिचया विषयो ऽस्य[1] सो ऽपि[2]।
संभिद्यते[3] ऽचरचरप्रविभागतस्तु[4]
पृथ्वीजलज्वलनवातवनस्पतीति[5] ॥ २६
87) अचरश्चरित्रनिलयैः[1] पञ्चविधो ऽयं जिनैर्गणो ऽवादि[2]।
द्वित्रिचतुःपञ्चकरणनाम्ना तु चरः[3] समाम्नातः[4] ॥ २७ । युग्मम् ।
88) जीवस्थानैर्गुणस्थानैस्तथा संज्ञोपयोगतः।
मार्गणाप्राणपर्याप्तिभेदैर्जीवा अनेकधा[1] ॥ २८
89) जीवराशिरिति प्रोक्तः पालनीयः प्रयत्नतः।
सुदृशा[1] वापरेणापि सर्वदा निजजीववत् ॥ २९
90) प्रेष्या[1] दारुणदुःखदूनमनसो[2] दीना दरिद्रास्तथा
मूकान्धा बधिरा नरा बहुविधव्याधिव्यथाविह्वलाः।
देहीति प्रगिरः[3] प्रसारितकरा एवंविधा यद् ध्रुवं
तद्धिंसाद्रुमपुष्पमेतदपरं[4] प्राप्स्यन्त्यपूर्वं[5] फलम् ॥ ३०

जैसा कि आलस्य से या कृपणपने से भय के देने पर होता है। इससे निश्चयतः उसका नरक में पतन होता है। इस लिये स्वहित में तत्पर रहनेवाले भव्य जीवों को सर्व कुभावों को छोड-कर प्राणियों के लिये अभयदान देने में प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ २५ ॥

मुक्त जीव मोक्ष मुख के समुद्र में निमग्न हो चुके हैं–उन्हें इस अभयदान की आवश्यकता नहीं रही है। जो संसारी प्राणियों का समूह इस अभयदान का विषय है उसके अचर (स्थावर) और चर (त्रस) ऐसे दो भेद हैं। उनमें चारित्र के स्थानभूत जिनदेव ने पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति इस पाँच प्रकार के प्राणिसमूह को अचर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों को नाम से चर माना है ॥ २६–२७ ॥

जीवसमास, गुणस्थान, आहारादि संज्ञाएँ, उपयोग, गत्यादिक मार्गणाएँ, प्राण और पर्याप्ति इन भेदों से जीव अनेक प्रकार के हैं ॥ २८ ॥

इस प्रकार से जो यह जीवराशि कही गई है उसका संरक्षण सम्यग्दृष्टि तथा इतर को–मिथ्यादृष्टि को–भी अपने ही जीवन के समान सदा करना चाहिये ॥ २९ ॥

भयंकर दुःख से दुःखित मनवाले जो दीन, दरिद्री, गूंगे, अन्धे, बहरे, अनेक व्याधियों

२६) 1 संसारस्य [अभयस्य]. 2 सोऽपि संसारिसत्त्वनिचयः. 3 भेदवान् भवति. 4 स्थावरत्रस. 5 अचरः स्थावरः। २७) 1 स्थावरः. 2 ऊचे. 3 द्वीन्द्रियादयः. 4 कथितः। २८) 1 बहुप्रकाराः कथिताः। २९) 1 सम्यग्दृष्टिना। ३०) 1 PD °प्रेष्या, किङ्कराः. 2 पीडितचित्ताः. 3 भिक्षुकाः. 4 अवाङ्मनोगोचरम्. 5नारकम्।

91) वैधव्यं[1] कुचकुम्भरम्यरमणीवर्गे हि यज्जायते
दौर्भाग्यं प्रणते[2] विपन्निरुपमे[3][4] मृत्युस्तथा यौवने ।
यन्नार्या[5] अनपत्यता[6] यदपरं जाता म्रियन्ते प्रजा–[7]
स्तद्धिंसाविषवल्लिसंनिधिवशाद्विश्रामविस्फूर्जितम्[8][9][10] ॥ ३१

92) पत्या[1] नित्यं यद्वियोगं लभन्ते लोकालोक्यं[2] यच्च राटिं कुटुम्बात् ।
यत्सापत्न्यं यान्ति रामाः सुदुःखं हिंसादेव्याराधनं तत्प्रसन्नम्[3] ॥ ३२

93) रूपभङ्गमुपयान्ति विचित्रं रोगराजजनितापकृतेर्यत्[1][2][3] ।
यज्जना जगति यान्ति च निन्दां निर्दयत्वसुहृदोपकृतं[4] तत् ॥ ३३

94) सर्वा कल्याणमालेयं दयादेवीप्रसादतः ।
तथाकल्याणमालापि हिंसान्याय्रीसमाश्रयात् ॥ ३४

की पीडा से व्याकुल तथा ' हमें कुछ दो ' इस प्रकार के दीन वचन को कह कर हाथ को फैलानेवाले प्राणी देखे जाते हैं; यह सब निश्चय से हिंसारूप वृक्ष का पुष्प है । इसका अपूर्व फल तो उन्हें आगे प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

स्तनकलशों से सुन्दर दीखनेवाली स्त्रियों के समूह में जो वैधव्य प्राप्त होना है, नम्र मनुष्य में जो दारिद्र्य दिखता है, उपमारहित (सज्जन) पुरुष में जो विपत्ति दिखती है, तारुण्य में जो किसीको मरणावस्था प्राप्त होती है, तथा स्त्रीके जो सन्ततिहीनता होती है अथवा सन्तान के उत्पन्न होने पर भी जो उसका मरण हो जाता है; यह सब प्रभाव हिंसारूपी विषवल्ली के पास जा कर कुछ समय के लिये विश्राम करने का है ॥ ३१ ॥

स्त्रियाँ जो पति के साथ निरन्तर वियोग के कष्ट को प्राप्त होती है, किसी के घर में जो कुटुम्ब से नित्य कलह होता हुआ दिखता है, तथा स्त्रियाँ जो सौत के निमित्त से होने-वाले दुख को प्राप्त होती हैं; यह सब हिंसा देवी की आराधना का फल है ॥ ३२ ॥

देह में रोगराज से–प्रबल व्याधि के प्रभाव से–उत्पन्न हुए अपकार से जो मनुष्यों के रूप का विनाश होता है अर्थात् उदुंबर कुष्ठादिक रोग के कारण अवयवों के गल जाने से जो अनेक प्रकार से रूप का बिगाड होता है, तथा जगत में जो लोगों की निन्दा होती है; उस सब को निर्दयपनारूप मित्र का उपकार समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

यह सब कल्याण माला अर्थात् धन-धान्य, व स्त्रीपुत्रादिकों के सुख दयारूपी देवती

३१) 1 रण्डत्वम्. 2 नमस्कारे. 3 आपत्. 4 मनोज्ञे. 5 स्त्रियः. 6 पुत्ररहिताः. 7 पुत्राः. 8 निकटिता. 9 P °धिमनाग्वि. 10 विलम्बितविस्फूरणम् । ३२) 1 भर्त्रा. 2 सर्वलोकविद्यमानम्. 3 सफलम् । ३३) 1 क्षय. 2 छेदनात्. 3 मित्रेण. 4 उपकारम् ।

95) दोहाङ्कादयताडनाप्रभृतिभिः[1] शीतातपाद्यैस्तथा
क्षुत्तृष्णादिनिरोधनैर्गुरुरुजाभारातिरोपैरपि ।
तिर्यञ्चो ऽप्रतिकारिणः[2] परवशात् दुःखं सहन्ते हि यत्
तत्तन्निर्दयतानदीतटतरुच्छायाश्रयस्र्जितफूम्[3] ॥ ३५

96) अविज्ञातप्रतीकाराः[1] सतां कारुण्यगोचराः ।
चिरं प्राणन्ति[2] रोगार्ताः[3] प्राणिघाताद्वनेचराः[4] ॥ ३६

97) प्रपाय्यन्ते[1] तप्तं कलिलसलिलं हृद्दहदहो
प्रखाद्यन्ते मांसं निजतनुसमुत्थं सुविरसम्[2] ।
विपाटयन्ते[3] चित्रैर्निशितकरपत्रैरकरुणं
प्रशाय्यन्ते[4] शय्यां प्रति दहनहेतिप्रतिभयाम् ॥ ३७

98) कुम्भीपाके विपाच्यन्ते प्रस्फाल्यन्ते शिलातले ।
पीड्यन्ते चित्रयन्त्रेषु परतन्त्रा[1] यथेक्षवः[2] ॥ ३८

के प्रसाद से मिलते हैं तथा अकल्याणों की माला–अनेक प्रकार के दुख–हिंसारूपी व्याघ्री के आश्रय से प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

दूध निकालने, शरीर को दागने व निर्दयतापूर्वक मारने आदि से, ठंड व गर्मी आदि से, भूख व प्यास आदि के रोकने से–समय पर खाना-पीना न देने से, तीव्र रोग से तथा अत्यधिक बोझा लादने से भी तिर्यंचों को जो प्रतिकार रहित दुःख परवशता के कारण सहन करना पडता है, वह सब निर्दयता रूपी नदी के तटवर्ती वृक्ष की छाया के आश्रय के लेने का प्रभाव है ॥ ३५ ॥

वन में रहनेवाले भील आदि प्राणियों का घात करने के कारण रोग से पीडित हो कर उसके परिहार के उपाय को न जानते हुए दीर्घ काल तक उस रोग की वेदना को सहते है व जीवित रहते हैं। उनकी वेदना को देखकर सज्जनों को उनके ऊपर दया आती है ॥ ३६ ॥

नरक में नारकियों को हृदय में दाह उत्पन्न करनेवाला तपा हुआ गहन (ताँबे का) पानी पिलाया जाता है, अतिशय दूषित स्वादवाला अपने ही शरीर का माँस खिलाया जाता है, उनका अंग नाना प्रकार के तीक्ष्ण करोंतों से निर्दयता पूर्वक विदीर्ण किया जाता है, अग्नि ज्वालाओं से घिरी हुयी शय्यापर सुलाया जाता है, उन्हें कुम्भीपाक में पकाया जाता है,

३५) 1 फालादिचिह्नकर्णादिच्छेदनम्. 2 उपायरहिताः. 3 विपाकः उदयः । ३६) 1 अज्ञातोपायाः. 2 जीवन्ति. 3 रोगेन पीडिताः. 4 भिल्लाः श्वापदा वा । ३७) 1 पानं कार्यन्ते. 2 अशुद्धम्. 3 P °विपाद्यन्ते. 4 शयनं कार्यन्ते. 5 आयसपुत्तलिका । ३८) 1 पराधीनाः नारकाः. 2 इक्षुदण्डाः ।

99) इत्थं कदर्थनं[1]मनेकविधं सहन्ते
यन्नारका नरककूपकमध्यमग्नाः ।
कालं प्रभूतं[2]मतिमात्रं[3]मनन्तरालं[4]
हिंसाफलं तदखिलं खलु खेलतीह[5] ॥ ३९

100) (इन्द्रमहर्द्धिकमरुतां[1] मरुतो[2] ऽपि हि वाहनादिविनियोगात् ।)
यन्मनसा तप्यन्ते तदपि च निःशूकता[3]स्फुरितम् ॥ ४०

101) जन्तूपघातजनितोत्कट[1]पातकस्य
मत्वा कटुप्रकटमत्र[2] विपाक[3]मेनं[4] ।
भव्या भवन्तु[5] भवसंभवदुःखभीताः
मा प्राणिवर्ग[6]परिरक्षणबद्धकक्षाः[7] ॥ ४१

102) जीवा ये यत्र[1] जायन्ते रमन्ते तत्र[2] ते यथा ।
निम्बकीटस्य निम्बे ऽपि रतिर्जगति गीयते[3] ॥ ४२

शिलातल पर पटका जाता है, तथा नाना प्रकार के कोल्हुओं में ईख के समान पेरा जाता है। इस प्रकार से यहाँ नरकरूप कुएँ के मध्य में डूबे हुए वे नारकी जीव जो अनेक प्रकार की पीडा को निरन्तर दीर्घकाल तक—अनेक सागरोपम काल तक—सहन किया करते हैं, वह सब हिंसा का फल खेलता है; ऐसा समझना चाहिये ॥ ३७–३९ ॥

इन्द्र और महाऋद्धिधारक सामानिक-त्रायस्त्रिंशादिकों के जो अभियोग्य आदि वाहन देव होते हैं वे वाहन आदि बनने के नियोग से जो मन में संतप्त हुआ करते हैं, वह भी उस निर्दयता की ही महिमा है। तात्पर्य—संक्लेश परिणामों से जो हीन देवगति की प्राप्ति होती है तथा जिससे श्रेष्ठ देवों के वाहन देव बनना पडता है, इसे पूर्व में किये गये क्रूरतापूर्ण व्यवहार का फल समझना चाहिये ॥ ४० ॥

प्राणियों का विघात करने से जो तीव्र पापबन्ध होता है उसके इस प्रत्यक्ष कटु पाप फल को जानकर भावी सांसारिक दुःख से भयभीत हुए भव्य जीवों को प्राणियों के समूह के रक्षण में कटिबद्ध होना चाहिये ॥ ४१ ॥

जो जीव जहाँ उत्पन्न होते हैं, वे वहीं पर रममाण होते हैं। ठीक है—नीम के कीडे को नीम में ही प्रीति होती है, ऐसा लोक में माना जाता है ॥ ४२ ॥

---

३९) 1 पीडनम्. 2 प्रचुरम्. 3 प्रमाणरहितम्. 4 अन्तरालरहितम्. 5 क्रीडति । ४०) 1 इन्द्रमहर्द्धिकदेवानाम्. 2 हीनदेवाः 3 निर्दयतायाः । ४१) 1 जीवघातोत्पन्नम्. 2 लोके. 3 उदयम्. 4 पापम्. 5 D °भवसंभव. 6 संबन्धः 7 कृतप्रतिज्ञाः भवन्तु । ४२) 1 यस्यां गतौ. 2 योन्यादौ. 3 कथ्यते ।

103) सुरेश्वरो[1] दिवि[2] सुरसुन्दरीजनै[3]–
यथा जिजीविषति[4] चिरं तथा जनः ।
जगद्गतो निजनिजजन्मरञ्जितः
कुटीरके[5] कटुतरदुःखपूरके ॥ ४३

104) नाकनेतुरि[1]व नाकविभोगैः कीटकस्य शकृदन्तरितस्य[2] ।
जीविताध्यवसतिः[3] सदृशी स्यान्मृत्युभीतिरपि तुल्यतमैव[4] ॥ ४४

105) रुजा[1] परीताः[2] परतन्त्रजीविताः[3] सुदुर्भगा[4] दुर्गत[5]दीनदुर्धियः ।
सदा कदर्थ्याश्च परैर्विमानिता जिजीविषन्त्येव[6] तथापि जन्तवः ॥ ४५

106) इति मत्वा विधानेन येन येनाङ्गिनां[1] व्यथा ।
जायते वर्जयेत्तं[2] तं धर्मार्थी कालकूटवत् ॥ ४६

107) आजन्म[1] निःशेषरुजा विवर्जिता भोगोपभोगैः स्थितये ऽर्थिता[2] इव ।
राजन्ति रामानयनालिमालिता लोका दयाकल्पलताचला[3]श्रया[4]ः ॥ ४७

जैसे इन्द्र स्वर्ग में सुरांगनाओं के साथ दीर्घकाल तक जीने की इच्छा रखता है वैसे ही इस जगत् में अवस्थित सभी जीव अपनी अपनी पर्याय में अनुरक्त हो कर अतिशय कटु व दुःखों से परिपूर्ण झोंपडी में (शरीर में) दीर्घकाल तक जीने की इच्छा रखते हैं ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार स्वर्ग के स्वामी इन्द्र का स्वर्गीय भोगों के साथ वहाँ रहते हुए अपने जीवित के सम्बन्ध में विचार होता है–वह जीवित रहना चाहता है–। उसी प्रकार मल के मध्य में स्थित क्षुद्र कीडे को भी अपने जीवित का विचार होता है । तथा मरण का भय भी समान रूप से उन दोनों को रहा करता है–दोनों में से किसी को भी मरना अभीष्ट नहीं रहता ॥ ४४ ॥

रोग से पीडित परतंत्रतापूर्वक जीवन बितानेवाले, अतिशय भाग्यहीन, दरिद्र, दीन, दुष्ट बुद्धिवाले और सदा पीडित रहनेवाले प्राणी दूसरों से अपमानित होते हैं तो भी वे जीने की इच्छा करते हैं ॥ ४५ ॥

ऐसा समझकर जिस जिस आचरण से प्राणियों को व्यथा उत्पन्न होती है, धर्माभिलाषी जीव को उस उस आचरण को कालकूट विष के समान त्याग देना चाहिये ॥ ४६ ॥

जो लोग दयारूप कल्पलता का स्थिर आश्रय लेते हैं वे आजन्म सर्व रोगों से रहित

---

४३) 1 इन्द्रः. 2 स्वर्गे. 3 अप्सरःसमूहैः. 4 जीवितुं वाञ्छति. 5 शरीरे । ४४) 1 इन्द्रस्य. 2 गूथमध्ये स्थितस्य. 3 जीवितव्यस्य स्थितिः 4 अन्यतः सदृशा । ४५) 1 रोगेण. 2 पीडिताः. 3 पराधीनाः. 4 दुर्लक्षणाः 5 दरिद्र. 6 जीवितुमिच्छन्ति । ४६) 1 एकेन्द्रियादि- जीवानाम्. 2 विधानम् ।४७) 1 जन्मपर्यन्तम् 2 स्थानाय जीविता इव. 3 D °फलाश्रयाः 4 आधाराः ।

108) गौरीशाविव भर्त्रभिन्नतनवस्तारुण्यमञ्जूषिका
गोत्राकाशविरोचनोपमसुतोत्पत्त्या स्तुतोत्पत्तयः ।
रूपस्यावधयो नयस्य निधयः शीलस्य वेला इव
प्राणित्राणसमाश्रयाच्चिरतरं राजन्ति रामा जने ॥ ४८

109) कामं रूपेण भोगैः सुरपतिमसमत्यागतः कर्णमुख्यां-
स्तारेशं कायकान्त्या रविमपि महसा मारुतं साहसेन ।
मान्धातारं जयन्तः शुचिरुचिरचरित्रेण सत्येन धर्मं
कीर्तिव्याप्तत्रिलोका अभयवितरणात् पुण्यभाजस्तपन्ति ॥ ४९

होते हैं । उनसे मानो भोगोपभोग स्थान प्राप्त करने के लिये स्वयं प्रार्थना करते हैं—भोगोपभोग उनको स्वयं प्राप्त होते हैं । —तथा वे स्त्रियों की नयन-पंक्तियों की माला को धारण करते हैं अर्थात् उनको सुन्दर स्त्रियाँ प्रेम से देखती हैं ॥ ४७ ॥

जिन स्त्रियों ने पूर्व में प्राणिरक्षा का भली भाँति सहारा लिया है—जो प्राणिहिंसा से विरत रही हैं—वे उसके प्रभाव से पार्वती और महादेव के समान पति से अभिन्न शरीरवाली—परस्पर में अतिशय अनुरक्त—युवावस्था की पिटारी, सौन्दर्य की सीमा—अतिशय सुन्दर,—न्याय-नीति का भंडार और शीलरूप समुद्र का मानो किनारा होती हैं । अपने वंशरूप आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न करने के कारण लोक में उनके जन्म की स्तुति की जाती है । इस प्रकार से वे चिरकाल तक जनसमूह के मध्य में शोभायमान होती हैं ॥ ४८ ॥

अभयदान दे कर पुण्य का संचय करनेवाले भाग्यशाली जन अपने सौन्दर्य गुण से कामदेव को, भोगों से इन्द्र को, असाधारण दान गुण से कर्ण आदि प्रसिद्ध दानवीरों को, शरीर की कान्ति से चन्द्र को, तेजस्विता से सूर्य को, साहस से पवनपुत्र—हनुमान—को, पवित्र व सुन्दर चरित्र से मांधाता राजा—युवनाश्व राजपुत्र—को, तथा सत्यगुण से धर्मराज—युधिष्ठिर—को जीत कर अपनी कीर्ति से त्रैलोक्य को व्याप्त करते हुये दीर्घकाल तक तेजस्वी जीवन को बिताते हैं ॥ ४९ ॥

४८) 1 ईश्वरौ. 2 सूर्यं. 3 कृत्वा. 4 स्तवितोत्पत्तय:. 5 प्राणिरक्षणसमाश्रयात् । ४९) 1 कन्दर्पम् 2 आश्चर्यंदानात् 3 तेजसा. 4 युधिष्ठिरम्. 5 पुण्यवन्तः पुरुषास्तपन्ति संतापयन्ति एतान् । रूपेण कामं संतापयन्ति, भोगैरिन्द्रम्, असदृशत्यागतः कर्णसदृशान्, चन्द्रं कायकान्त्या, सूर्यं प्रतापेन, पवनं साहसेन बलेन, मान्धातारं नृपं शुचिनिर्मलचरित्रेण, युधिष्ठिरं सत्येन । कस्मात् अभयदानात् । किंविशिष्टाः पुण्यवन्तः कीर्तिव्याप्तत्रिलोकाः ।

110) व्यासङ्गै[1] रहिताः क्षुदादिभिरपि प्रोद्यद्दिनेशप्रभा
य[illegible]द्रुमभोगदत्तनिलयाः पल्यत्रयं प्राणितम्[2] ।
नीरोगा गमयन्ति भोगधरणीजाताः[3] पुमांसः स्त्रियः
पञ्चत्वे[4] त्रिदशा भवन्ति तदिदं जीवावनोत्थं[5] फलम् ॥ ५०

111) भोगभूमाश्च तिर्यञ्चो निःप्रपञ्चा मनुष्यवत् ।
त्रिपल्यजीवितप्रान्ते सुराः स्युः प्राणिरक्षणात् ॥ ५१

112) स्वायत्तं[1] कुरुते यतो ऽपि न परं संसारसौख्यं वरं
यन्निःश्रेयसदस्यु[2]मङ्गज[3]महासप्तार्चिराच्छेदकम् ।
यत्त्रिंशत्त्रितय[illegible]ताब्धि[4]सुखं सर्वार्थसिद्धेः सुराः
सेवन्ते सकलामराधिपनुतास्तत्प्राण्यहिंसार्जितम् ॥ ५२

113) मातुर्यशोधरस्यात्र कथा दृ[illegible][1] ।
सघण्टविश्वसेनस्य तथा क्षेमस्य मन्त्रिणः ॥ ५३

भोगभूमि में उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुष आसक्ति व भूख-प्यास आदि की बाधा से रहित, उदित होते हुए सूर्य के समान कान्ति से रमणीय तथा कल्पवृक्षों के द्वारा दिये गये भोगों व भवन से संयुक्त हो कर जो तीन पल्य तक रोगरहित जीवित को धारण करते हैं तथा मरण के पश्चात् जो स्वर्ग लोक में देव होते हैं यह सब उनके जीवरक्षण का फल है ॥ ५० ॥

प्राणि रक्षण — अभयदान — के निमित्त से भोगभूमि में उत्पन्न हुए तिर्यंच भी माया व्यवहार से रहित हो कर मनुष्यों के समान वहाँ तीन पल्य तक सुखपूर्वक जीवित रहते हैं। तत्पश्चात् मरण को प्राप्त हो कर वे भी देव होते हैं ॥ ५१ ॥

सर्वार्थसिद्धि के देव समस्त इन्द्रों के स्तुति का स्वीकार करते हुए तेतीस सागरोपम कालतक जिस सुख का उपभोग किया करते हैं वह उन्हें पूर्वकृत प्राणि रक्षण से — उस अभय दान के प्रभाव से—ही प्राप्त हुआ करता है। उस सुख को छोड कर दूसरा कोई उत्तम संसार का सुख प्राणी को स्वाधीन नहीं करता है। वह मोक्षसुख के चोररूप काम की भयानक अग्नि को — उसकी बाधा को — नष्ट करनेवाला है ॥ ५२ ॥

दृष्टान्त स्वरूप यहाँ राजा यशोधर और उसकी माता की, घण्टा नाम की भार्या से युक्त विश्वसेन की तथा क्षेत्रनामक मंत्री की भी कथा हिंसा व अहिंसा के विषय में प्रसिद्ध है ॥ ५३ ॥

---

५०) 1 आरम्भप्र[illegible]ः. 2 जीवितम्. 3 भोगभूमावुत्पन्नाः 4 मृते सति देवा भवन्ति. 5 जीवरक्षणोत्पन्नं फलम् । ५२) 1 स्वाधीनम्. 2 मोक्षस्य. 3 काम. 4 सागरम् । ५३) 1 दृष्टान्तयोर्द्वया ।

114) निर्बाधं सिद्धिसौख्यं विषयविरहितं भाविकाले ऽप्यनन्तं
दूरं सर्वोपमानं वचनविषयतातीतमात्मस्वभावम् ।
यत्काम[1] कामयन्ते[2] भवभयविधुरा[3] आस्तिकाः[4] शुद्धबोधाः
सिद्धा यद् भुञ्जते तत्त्रुटति न नियतं शंबलं श्रीदयाप्तम् ॥ ५४

115) स्वर्निःश्रेयससंभवं[1] सुखफलं ख्यातं परोक्षं परं
प्रत्यक्षं सदयस्य सूरिरिव[2] स[3] प्रमाथ्यते भूतले ।
आनन्दाश्रुकणप्रपूर्णनयनैः संपीयमानो[4] जनै-
र्विश्वं साजननीव सुप्रभुरिव प्रीतैः कृतज्ञैः[5] परैः ॥ ५५

इति[6] श्री–जयसेन–मुनि–विरचिते धर्मरत्नाकरनामशास्त्रे
अभयदानदयाहिंसालफप्रभाववर्णनो नाम द्वितीयो ऽवसरः ॥ २ ॥

संसार के भय से व्याकुल हो कर यथार्थ वस्तु स्वरूप का श्रद्धान करनेवाले सम्यग्ज्ञानी जीव सब प्रकार की बाधा से रहित, इन्द्रिय विषयों से विहीन, भविष्य में अनन्त कालतक अवस्थित रहनेवाले, सब उपमाओं से दूर–अनुपम, वचन की विषयता से रहित–अनिर्वचनीय– और आत्मा के स्वभावभूत जिस सुख की अतिशय इच्छा किया करते हैं तथा सिद्धजीव जिसका उपभोग करते हैं वह पाथेयभूत शाश्वतिक सुख उस उत्तम जीवदया के निमित्त से प्राप्त होता है जो फिर कभी नष्ट नहीं होता ॥५४॥

स्वर्ग व मोक्ष का उत्कृष्ट सुखरूप फल अत्यन्त परोक्ष है, ऐसा प्रसिद्ध है। परन्तु दयालु भव्य को वह प्रत्यक्ष रूपसे प्राप्त होता है। पृथिवी पृष्ठ पर उस अभयदाता को भव्यजन आचार्य के समान मानते हैं। मनुष्य उसे आनन्दाश्रुकणों से भरी हुई आँखों से देखते हैं। वे उसके विषय में प्रेम तथा कृतज्ञता व्यक्त करते हैं व उसे विश्वासपात्र व्यक्ति के जननी के समान तथा उत्तम राजा के समान समझते हैं ॥५५॥ इस प्रकार श्री जयसेन मुनि विरचित धर्मरत्नाकर शास्त्र में अभयदान, दया तथा हिंसा के फलोंका वर्णन करनेवाला दूसरा अवसर समाप्त हुआ ॥२॥

---

५४) 1 अतिशयेन. 2 वाञ्छन्ति. 3 संसारभयभीताः. 4 जैनाः । ५५) 1 स्वर्गापवर्गसंभवम्. 2 आचार्य इव. 3 सदयः. 4 दृश्यमानः. 5 P °कृतज्ञः, कार्यवेत्ता, 6 P °इति द्वितीयोवसरः ।

[३. तृतीयो ऽवसरः]

[आहारदानादिफलम्]

116) द्वितीयं[1] स्तूयते[2] दानं सर्वतीर्थमतं[3] यतः ।
तद्विना[4] नैव तीर्थानि[5] न तपांसि तपस्विनः ॥ १

117) षण्मास[.] समधियः[1] समुपोष्य[2] वर्षे
वाञ्छन्ति नूनमशनानि विनाशनायाम्[3] ।
तस्माद्विना[4] न हि वपुर्न तपो विदा[5] वा
मोक्षो न तेन[6] रहितो ऽभिमतं ततस्तत्[7] ॥ २

118) उक्तं च—
आद्येनेक्षुरसो[1] दिव्यः पारणायां[2] पवित्रितः ।
अन्यैर्गोक्षीरनिष्पन्नपरमान्न[3]मलालसैः[4] ॥ २*१
तीर्थाधिपैरिति संबन्धः ॥

चूंकि दूसरे आहारदान के बिना न तो तीर्थों की–विविध संप्रदायों की–ही सम्भावना है और न उसके बिना तपस्वी के अनेक प्रकार के तपश्चरण भी स्थिर रह सकते हैं। अतएव सब ही तीर्थों को मान्य उस आहारदान की प्रशंसा की जाती है ॥ १ ॥

निर्मलबुद्धि मनुष्य वर्ष में छह मास उपवास करके तदनंतर पारणा के समय आहार की इच्छा करते हैं। आहार के बिना चूंकि शरीर की स्थिति नहीं रहती, तप नष्ट होता है, ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, तथा उसके विना मोक्ष की भी प्राप्ति का संभव नहीं है। इसलिये वह आहारदान आवश्यक माना गया है ॥ २ ॥

कहा भी है–पहले आदिनाथ जिनेश्वर ने पारणा में इक्षुरस को पवित्र किया, अर्थात्

---

१) 1 अन्नदानम्. 2 कथ्यते. 3 सर्वमार्गमतम्, 4 तस्यान्नदानस्य. 5 पन्थानः । २) 1 [बुद्धयः] 2 उपवासं कृत्वा. 3 क्षुधायाम्. 4 अशनात्. 5 ज्ञानम्. 6 अशनेन, श्रेष्ठज्ञानेन वा. 7 अन्नदानम् । २*१) 1 आदिनाथेन. 2 आहार. 3 पायसः क्षीरिः 4 अलोभैः ।

119) आहारेण विना जगत्यभिमताः[1] सिध्यन्ति नो षट्क्रियाः
कार्याकार्यविचारणो ऽपि स चतुर्वर्गो[2] भृशं सीदति[3] ।
वर्णा निर्मलवर्णपूर्णभुवनाः सीमानं[4] मुञ्चन्त्यपि
यान्त्येवं[5] प्रलयं प्रभिन्ननियमा[6]स्तूर्णं तथैवाश्रमाः[7] ॥ ३

120) केचिन्मानसमोजसं[1] कतिपये लेप्यं परे कावलं
श्वाभ्रा[2] दुर्विचिकित्स्यसंततरुजा[3]ग्रस्ताः पुनर्वैक्रियम् ।
जीवा जन्मनि यान्त एव सकला नोकार्मणं कार्मणं
काङ्क्षन्त्येव जगन्ति जीवितमिवा[4]हारं समस्तान्यपि ॥ ४

इक्षुरस का आहार लिया। अजितनाथादि इतर तेईस तीर्थंकरों ने लोलुपता से रहित हो कर गाय के दूध से बने हुए परमान्न (खीर) का आहार ग्रहण किया है ॥ २*१ ॥ श्लोक में कर्ताके रूप में जिनेन्द्रों को ग्रहण करना चाहिये।

लोक में (अभीष्ट) उपाहार के अभाव में छह आवश्यक अथवा असि मषि आदिक जीवन-निर्वाहकी छह क्रियाएँ सिद्ध नहीं हो सकती हैं। उसके विना यह कार्य है और यह अकार्य है, इस प्रकार के विवेक के साथ मनुष्यों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चार पुरुषार्थ भी निश्चयसे फलित न हो सकेंगे। निर्दोष कीर्तिसे जगतको व्याप्त करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार वर्ण भी अपनी मर्यादा को नष्ट कर देंगे। तथा विविध नियमोंवाले ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और भिक्षुकाश्रम ये चार आश्रम भी शीघ्र नष्ट हो हो जायेंगे ॥ ३ ॥

कितने ही जीव – जैसे देव – मानसिक आहार को, कितने ही प्राणी (अण्डस्थ) ओजस आहार को, कितने प्राणी – जैसे वृक्षलतादिक लेप्याहार को, तथा कितने प्राणी – जैसे मनुष्य व पशु – कवलाहार को, प्रतिकाररहित निरन्तर रोगग्रस्त नारकी जीव वैक्रियाहार को ग्रहण करते हैं। तथा जो जीव पूर्व शरीर को छोडकर उत्तर शरीर को धारण करनेके लिये जा रहे हैं वे नोकर्माहार व कर्माहारको ग्रहण किया करते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक में सब ही प्राणी जैसे जीवित की इच्छा करते हैं वैसेही वे उसे स्थिर रखने के लिये आहार की भी इच्छा किया करते हैं ॥ ४ ॥

---

३) 1 अभीष्टाः. 2 ऋषिः, यतिः, मुनिः, अनगारः 3 अतिशयेन खेदखिन्नो भवति. 4 मर्यादाम्. 5 P °यान्तीव. 6 संयमाः 7 वानप्रस्थ, यति, गृही, ब्रह्मचारी. ४) 1 देवा मानसमाहारं वाञ्छन्ति, पक्षिणो ऽण्डकानि ओजसं पक्षाधारं वाञ्छन्ति, वृक्षादि लेप्यं, परे मनुष्याः तिर्यञ्चो ऽपि कवलाहारं वाञ्छन्ति गृह्णन्ति, नारकाः कर्माहारं वैक्रियकं आहारं गृह्णन्ति, तीर्थंकरा नोकर्म भवान्तरे गच्छता जीवकर्मणाम् (?). 2 नारकाः. 3 रोगेण. 4 जीवितव्यमिव ।

121) नाशनायाः[1] समो व्याधिर्भेषजं नाशनोपमम्[2] ।
तत्प्रदेष्टुः[3] परो नास्ति चिकित्साकुशलः[4] कृती ॥ ५

122) आ ारदानमिदमस्तसमस्तदोषं[1]
दातुर्[2]विधाननिपुणस्य भवप्रमोषम्[3] ।
कीर्त्यर्जनं च तनुते परमानुरागं
व्यग्रां[4] समग्रकमलां[5] कुरुते वरीतुम्[6] ॥ ६

123) मित्राण्यरीनपि करोति करोत्यभीष्टं[1]
कष्टं विदूरयति[2] वारयते ऽप्यनिष्टम् ।
मार्तण्डमूर्तिरिव संतमसं समस्तं
दानं निदानविकलं[3] कुदृशो[4] ऽपि दातुः[5] ॥ ७

124) आगांसि[1] क्षपयति वृष्टिरिवाशु तापं
विश्राणनं[2] गुणगणै रहितस्य दातुः ।
प्रोल्लासयत्युरुगु[3]णानसता[4] ऽपि साक्षात्
पानीयपूर्णसरसीव[5] सरोजषण्डान्[6] ॥ ८

भूख के समान कोई रोग और आहार के समान कोई औषध नहीं है। तथा आहार देनेवाले गृहस्थ के समान दूसरा कोई पुण्यवान् (विद्वान्) रोग के परिहार मे कुशल (वैद्य) नहीं है ॥ ५ ॥

समस्त दोषों से रहित यह आहारदान दान की विधि में कुशल दाता के संसारविनाश के साथ उसकी कीर्ति के उपार्जन को व धर्मविषयक उत्कृष्ट अनुराग को भी करता है। साथ ही वह उक्त दाता का वरण करने के लिये समस्त लक्ष्मी को व्याकुल भी कर देता है। उक्त दान के प्रभाव से दाता को सब प्रकार की लक्ष्मी स्वयं आकर प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

मिथ्या दृष्टि भी दाता यदि भावमुख की अभिलाषारहित होकर दान देता है तो उसका वह दान शत्रुओं को भी मित्र बनाता है, अभीष्ट को पूर्ण करता है, कष्ट को दूर करता है, अनिष्ट को निवारण करता है, तथा सूर्यबिंब के समान समस्त अज्ञानरूप अंधकार को दूर करता है ॥ ७ ॥

सम्यग्दर्शनादि गुणों के समूह से रहित दाता के द्वारा दिया गया आहारदान उसके

---

५) 1 क्षुधायाः. 2 अशनसदृशम्. 3 D °प्रदातुः तस्याहारस्य दातुः सकाशात्. 4 वैद्यः. ६) 1 शुद्धम् 2 दानशीलस्य. 3 संसारमोषणम्. 4 आकुलाम्. 5 लक्ष्मीम्. 6 वरणयोग्याम्। ७) 1 मनोवाञ्छितम्. 2 निकटीकरोति (?). 3 निदानरहितम् 4 मिथ्यादृष्टिनः पक्षे अन्धः 5 दातृपुरुषस्य. ८) 1 अपराधान्. 2 दानम्. 3 अधिकगुणान्. 4 अविद्यमानान्. 5 पुष्करिणीव. 6 कमलसमूहान् ।

125) किं कर्पूरमयः [illegible]लाचयमयः किं कीर्तिरेखामयः
किं वानन्द[illegible] लसन्मधुमयः[1] किंवा सुहृद्धृन्मयः ।
वीक्षातृप्तविलोचनैर्[2]नरशतैर्वीक्ष्यो ऽपि नालक्ष्यते
त्यागी तिष्ठतु यत्र तत्र सततं प्रीतिप्रफुल्लाननैः[3] ॥ ९

126) गाण्डीवीव[1] धनुर्धरो विधुरि[2]वानन्दप्रदः पश्यतां
वाग्मी सूरिरिव[3] प्रतापनिलयः पूषेव[4] काव्योपमः[5] ।
नीत्या द्यौरिव[6] नीरजो[7] नरमणि[8]र्धात्रीव[9] सर्वसहः
कीर्त्या श्वेतयते तथा न हि यथा दाता दिशां मण्डलम् ॥ १०

127) गतिमतितनुतेजःकान्तिसौहित्य[1]सत्य-
व्रत[illegible]मयमाज्ञातार्थधर्मप्रवृत्ति-
प्रभृतिगुणस[illegible]हा योगिनां तेन[2] दत्ता
अशनवितरिता[3] यः कामधेनूपमानः ॥ ११

अपराधों को इस प्रकार से शान्त कर देता है जिस प्रकार की वर्षा गर्मी के सन्ताप को दूर कर देती है । तथा वह उसके अविद्यमान भी श्रेष्ठ गुणों को इस प्रकार से प्रकट करता है जिस प्रकार कि पानी से परिपूर्ण तालाब कमलसमूह को प्रकट करता हैं । उसे उत्पन्न किया करता है ॥८॥

दानी जहाँ पर अवस्थित होता है वहाँ वह दर्शनीय दाता प्रेमसे विकसित मुखवाले सैकडों जनों के द्वारा आतुर नेत्रोंसे निरन्तर देखे जानेपर भी क्या वह कपूंरस्वरूप है, क्या कलाओं के समूह (चन्द्र) स्वरूप है, क्या कीर्ति की रेखास्वरूप है, क्या आनन्दस्वरूप है, क्या सुन्दर वसन्त स्वरूप है, अथवा क्या मित्र के हृदयस्वरूप है; इस प्रकार सन्देहास्पद होने से वह ठीक से देखा नहीं जाता है । तात्पर्य, यह कि वह शीतलता आदि अनेक उत्तमोत्तम गुणों से संयुक्त होता है ॥ ९ ॥

दाता अर्जुन के समान धनुर्धारी, देखनेवालों को चंद्रसमान आनंददायक, आचार्य के समान भाषणचतुर, सूर्य के समान प्रताप का धारक, नीति से शुक्राचार्य के समान, आकाश के समान नीरज– धूलिरहित–अर्थात् पापरहित होता है । मनुष्यों में रत्नतुल्य वह दाता पृथ्वी के समान सर्वसह–सब संकटों को सहनेवाला–हो कर अपनी कीर्ति से जिस प्रकार दिशाओं के मण्डल को शुभ्र करता है, उस प्रकार दूसरा कोई अपनी कीर्ति से उस दिङ्मण्डल को शुभ्र नहीं करता है ॥ १० ॥

जो आहार देनेवाला पुरुष कामधेनु के समान है उसने योगिजनों को गति, मति,

---

९) 1 अमृतमयः. 2 दर्शनातृप्तनेत्रैः. 3 विकसिताननैः । १०) 1 अर्जुनः. 2 चन्द्रः. 3 बृहस्पतिरिव. 4 सूर्यः. 5 शुक्रसदृशो नीत्या. 6 आकाश. 7 निर्मल. 8 कश्चित् पुरुषरत्नं तथा श्वेतयते यथा दाता श्वेतयते. 9 D °धरित्री. । ११) 1 सज्जनता. 2 आहारदात्रा. 3 आहारदाता ।

128) चलो ऽकुलीनो ऽपि शठो ऽपि मूर्खः परं विशीलो ऽपि दुराशयो[1] ऽपि ।
उपेयते[2] सर्वजनैः प्रदेष्टा[3] यथा समुद्रः सरितां समूहैः ॥ १२

129) कलाकलापं च कुलं च शीलं श्रुतज्ञतां चारुचरित्रतां च ।
प्रकाशयेच्छन्नगुणांश्च दानं[1] पदार्थरूपाणि यथांशुमाली[2] ॥ १३

130) दृप्तारि[1]पक्षच्छिदुरो गुहो[2] यथा दोषान्धकाराभिदुरो[3] रविर्यथा ।
श्रीचन्दनं तापनिराधकं यथा दानं च दुर्नीतिपिधायकं[4] तथा ॥ १४

131) यादृशस्तादृशो वापि पुमां[1]स्त्यागान्महामुनिः[2] ।
कल्याणाशीःप्रजल्पाकै[3]श्चिन्तामणिरिवार्थ्यते[4] ॥ १५

132) दातृयाचकयोर्भेदः कराभ्यां[1]मेव दर्शितः ।
अर्थिन स्तिष्ठता ऽधस्तात् स[2] दातु[3]रुपरि स्थितः ॥ १६

शरीर का तेज, कान्ति, सज्जनता सत्य, व्रत, नियम, महाव्रत (आजन्म व्रत), आज्ञा और तीर्थ धर्मप्रवृत्ति इत्यादि गुणों के समूह दिये हैं ॥ ११ ॥

दाता यदि चंचल, अकुलीन, कुटिल, मूर्ख, दुराचारी और दुष्ट अभिप्रायवाला हो तो भी जिस प्रकार नदियों के समूह समुद्र में जाते हैं उसी प्रकार सब लोग उसीके पास जाते हैं ॥ १२ ॥

जैसे सूर्य पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करना है वैसे ही दान अनेक कलाओं के समूह, कुल, शील, आगमज्ञान, निर्दोष चारित्र तथा अन्य भी प्रच्छन्न गुणों को प्रकट किया करता है ॥ १३ ॥

जिस प्रकार कार्तिकेय उन्मत्त शत्रुओं के पक्ष को छेदता है, सूर्य रात के अंधकार को चारों तरफ से नष्ट करता है, उत्तम चंदन शरीर के संताप को नष्ट करता है उसी प्रकार दान दुर्नीति को नष्ट करता है ॥ १४ ॥

जिस किसी भी प्रकारका पुरुष दान के प्रभाव से महामुनि हो कर चिन्तामणि के समान अन्य भिक्षार्थी जनों के द्वारा कल्याणसूचक आशीर्वचनोंका उच्चारण करते हुए प्रार्थित होता है ॥ १५ ॥

दाता और याचक के भेद को उन दोनों के हाथ ही दिखला सकते हैं। कारण कि याचक का हाथ नीचे और दाता का हाथ ऊपर रहता है ॥ १६ ॥

---

१२) 1 क्रूरचित्तः. 2 अङ्गीक्रियते. 3 दाता । १३) 1 कर्तृ. २ सूर्यः । १४) 1 दर्पसहितारिः. 2 षण्मुखः ईश्वरपुत्रो वा. 3 भेदकः. 4 आच्छादकम् । १५) 1 पुरुषः. 2 श्रेष्ठः वा महामुनिः वा. 3 कल्याणाशीर्वादप्रजल्पकैः. 4 प्रार्थ्यंते । १६) 1 द्वाभ्यां हस्ताभ्याम्. 2 करः. 3 दातृपुरुषस्य.

133) स्वर्णादिकं बहुविधं शतशोऽपि दानं
स्नानं सहस्रगुणतीर्थसमुद्भवं च ।
कामं[1] करोतु विधिना पितृतर्पणं च
नाऽऽहारदानसममेकमपि प्रभाति[2] ॥ १७

अन्यदर्शने[1]ऽप्युक्तं श्लोकत्रयम् —

134) कनकाश्व[2]तिला नागो रथो दासी मही गृहम् ।
कन्या च कपिला धेनुर्महादानानि ते दश ॥ १७*१

135) श्राद्धे च सुरनद्यां[1] च गयायां चैव भारत ।
वापीकूपतडागेषु षट्सु धर्मो भ्रमान्वितः[2] ॥ १७*२

136) नकुलो यज्ञवाटस्थ[1] इदं वचनमब्रवीत् ।
न सक्तुप्रस्थतुल्यो[2] हि यज्ञो बहुसुवर्णकः ॥ १७*३

137) दानं हि सर्वव्यसनानि हन्तीत्याख्यायि[1] वाक्यं सकलेऽपि लोके ।
कल्याणमालाफललालुपेन[2] देयं[3] स्वशक्त्या तदतन्द्रितेन[4] ॥ १८

मनुष्य भले ही सैंकडो प्रकार से बहुत प्रकार के सुवर्ण आदि का दान करता रहे, तथा वह सहस्र गुणों से युक्त तीर्थजल में भले ही स्नान करता रहे, तथा वह विधिपूर्वक अतिशय पितृतर्पण–श्राद्ध –को भी करता रहे। फिर भी इनमें से एक भी उस आहारदान के समान सुशोभित नहीं हो सकता है ॥ १७ ॥

अन्यदर्शन में भी ये तीन श्लोक कहे गये हैं –

हे भारत! तेरे लिये सुवर्ण, घोडा, तिल, हाथी, रथ, दासी, पृथ्वी, घर, कन्या और कपिला गाय ये दश महादान कहे गये हैं ॥ १७*१ ॥

श्राद्ध, गंगा नदी, गया, वापी, कुआँ और सरोवर इन छह स्थानों में धर्म है, ऐसा मनाना भ्रान्ति है ॥ १७*२ ॥

यज्ञवाट में गया हुआ नेवला यह बोला कि बहुसुवर्णक नामक यज्ञ – जिसमें बहुत सुवर्ण ब्राह्मणों को दिया जाता है – सत्तू के प्रस्थ (एक प्रकार का माप) समान नहीं है। तात्पर्य, बहुत सुवर्णादि के दान की अपेक्षा एक प्रस्थ सत्तू का देना कहीं श्रेष्ठ है ॥ १७*३ ॥

दान सर्व व्यसनों का नाश करता है, यह वाक्य "दाति निकृन्तति व्यसनानि इति

---

१७) 1 अतिशयेन. 2 शोभते । १७*१) 1 परसमयदर्शने. 2 घोटक. १७*२) 1 गङ्गायाम्. 2 भ्रमसंयुक्तः निश्चयरहितः धर्मो भवति न वा भवति । १७*३) 1 यज्ञस्थाने स्थितः. 2 सातूपायेन समानः । १८) 1 उक्तम्. 2 वाञ्छकेन. 3 दानम्. 4 आलस्यरहितेन ।

स्वशक्तिः प्रसिद्धा व्याख्यायते–

138) भागद्वयी कुटुम्बार्थे संचयार्थे[1] तृतीयकः ।
स्वरायो[2] यस्य धर्मार्थे तुर्यस्त्यागी[3] स सत्तमः[4] ॥ १९

139) भागत्रयं तु पोष्यार्थे कोशार्थे तु द्वयी सदा ।
षष्ठं दानाय यो युङ्क्ते स त्यागी मध्यमो ऽधमात् ॥ २०

140) स्वस्वस्य[1] यस्तु षड्भागान् परिवाराय योजयेत् ।
त्रीन् संचयेद्दशांशं[2] च धर्मे त्यागी लघुश्च[3] सः ॥ २१

141) इतो हीनं दत्ते सति सुविभवे यस्तु पुरुषो
मतं तद्यत्किंचित् खलु[1] न गणितं धार्मिकनरैः ।
इमान् भागांस्त्यक्त्वा वितरति[2] बुधो यस्तु बहुधा
महासत्त्वस्त्यागी भुवनविदितो ऽसौ[3] रविरिव ॥ २२

दानम्" इस निरुक्ति के अनुसार [सब लोक में प्रसिद्ध है । इसलिये कल्याण समूह रूप फल की अभिलाषासे दाता को आलस्य छोडकर अपनी शक्ति के अनुसार] दान देना चाहिये ॥ १८ ॥

प्रसिद्ध अपनी शक्ति का व्याख्यान किया जाता है – जो पुरुष अपने अर्जित धन का कुटुम्ब पोषण के लिये दो भाग, संचय के लिये तीसरा भाग तथा धर्म के लिये चौथा भाग नियत करता है, वह उत्तम दाता माना जाता है ॥ १९ ॥

जो अपनी आयमें से सदा कुटुम्ब पोपणके लिये [तीन भाग, संचय के लिये दो भाग और शेष छठे भाग को दानके लिये] नियत करता है वह दानी अधम की अपेक्षा मध्यम कहा गया है ॥ २० ॥

जो दाता अपने धन के दस भागों में से छह भाग परिवार पोषण के लिये, तीन भाग संचय के लिये तथा शेष दसवें भाग को धर्म के लिये नियोजित करता है वह दाता जघन्य माना जाता है ॥ २१ ॥

जो पुरुष अतिशय वैभव के होनेपर भी इससे – एक दशांश से भी कम दान देता है– उसे धार्मिक जन दाता लोगों में कुछ भी नहीं गिनते हैं – उसे वे दाता नहीं समझते हैं । किन्तु जो विद्वान् उपर्युक्त भागों को छोड कर अनेक प्रकार से बहुत धन को देता है, वह दानी महात्मा लोक में सूर्य के समान प्रसिद्ध होता है ॥ २२ ॥

१९) 1 रक्षणार्थे. 2 स्वद्रव्यस्य. 3 चतुर्थः. 4 उत्तमः दाता । २१) 1 स्वकीयद्रव्यस्य. 2 दशमभंशम्. 3 जघन्यदाता । २२) 1 स्फुटम्. 2 ददाति. 3 दाता ।

142) पुव्वपुरिसदाणहलु सुणेविणु लोहु समुब्भवंतु णियमेविणु ।
संसारासारत्तु मुणेविणु णियदव्वाणुसारु सुमरेप्पिणु ॥ २२*१

143) देइ ण जो घरत्थु सो केहउ किं माणुसु चिडउल्लउ जेहउ ।
णियडिंभई अप्पाणु जिं[1] पोसइ मुवउ ण जाणहं[2] कहिं जाईसइ ॥ २२ * २

144) श्रेयान्[1] आदिमदेवदान[2]महितः[3] श्रीचक्रवर्तीरितः[4]
पञ्चाश्चर्यमवाप[5] भूपतिर्मधु[6]श्रीवज्रजङ्घोऽर्हतेः[7] ।
अन्येषां जिनयोगिनां वितरणात्[8] प्रापुर्भवेऽस्मिन्नपि
द्वित्रैर्मुक्तिपदं परे कतिपयै[9]र्भोगांश्च कुर्वादिषु[10] ॥ २३

145) अष्टापदं[1] यथेष्टं तु निष्क्रान्तौ[2] श्रीजिनेश्वरैः ।
स्वयमदायि[3] सत्त्वेभ्यो मध्यस्थैरपि निश्चितम्[4] ॥ २४

146) इति प्रसिद्धं परमागमेऽपि तथापि भोगा विविधाश्च रोगाः[1] ।
नतो गृहस्थैर्यतिभिश्च दानं यथोचितं[2] देयमिहानिदानम् ॥ २५

पूर्व पुरुषों ने दान दे कर जो फल प्राप्त किया है उसे सुनकर, लोभ की उत्पत्ति को नियंत्रित कर संसार की असारता को जानकर और अपने द्रव्य के अनुसार दान देने की योग्यता का स्मरण कर जो गृहस्थ दान नहीं देता है वह गृहस्थ कैसा है, वह क्या मनुष्य है? वह उस चिडिया के समान है जो अपने बच्चों का पोषण करना ही जानता है । वह मरने पर कहाँ जायेगा, यह हम नहीं जानते हैं ॥ २२*१–२ ॥

श्रेयांस राजा आदि जिनेन्द्र को आहारदान देने के कारण महिमा को प्राप्त हुआ, उसकी भरत चक्रवर्ती ने भी स्तुति की। राजा मधु (?) और वज्रजंघ ने जो मुनि के लिये आहारदान दिया था उसके प्रभाव से उन्होंने पंचाश्चर्यों को प्राप्त किया था । अन्य तीर्थंकरों व योगिजनों को आहारदान दे कर कितने ही भव्य जीवों ने इसी भव में और कितनों ने कुरु-देवकुरु व उत्तरकुरु – आदि भोगभूमियों के भोगों को भोगकर दो, तीन अथवा कुछ ही भवों में मोक्ष को प्राप्त किया है ॥ २३ ॥

दीक्षा लेते समय स्वयं तीर्थंकरों ने भी–जो कि मध्यम स्वभाव को प्राप्त थे–प्राणियों के लिये यथेष्ट सुवर्ण को दिया है, यह निश्चित है ॥ २४ ॥

इस प्रकार यद्यपि परमागम में भी दान के विषय में प्रसिद्ध है, तो भी नाना प्रकार के

२२*२) 1 D °अजि पोसइ. 2 D °जाणहि । २३) 1 श्रेयान् राजा प्रथमदाता. 2 आदिनाथदानात्. 3 P °महिमः. 4 P °श्रीचक्रवर्तीडितः, श्रीभरतचक्रवर्तिना ईडितः पूजितः. 5 प्राप. 6 दातृनाम. 7 अर्हतेर्दानात्. 8 दानात्. 9 जन्मभिः. 10 कुरुभोगभूम्यादिषु । २४) 1 सुवर्णम्. 2 दीक्षाकाले. 3 दत्तम्. 4 सत्यं कृतम् । २५) 1 ज्ञात्वा. 2 यथायोग्यम् ।

147) बालो बाढं[1] प्रकुपितमनाः कामिनी वा कुतश्चित्[2]
प्राप्ते ऽभीष्टे[3] प्रहृषिततनुर्भक्ष्यभूषादिरूपे[4] ।
स्वामिन्युच्चै रचयति चटून् कोटिशो ऽभीष्टचेष्टा
दानं प्रीतिप्रमुखवचनं सिद्धतन्त्रं प्रशस्तम् ॥ २६

148) दृष्टान्तमात्रकं चेदं बालकान्ताप्रसादनम्[1] ।
विश्राणनफलं[2] कृत्स्नं[3] केवलं वक्ति[4] केवली ॥ २७

149) ज्ञात्वैतच्च कलेवरं च विभवं[1] पुत्रप्रियाद्यं तथा
सर्वं नश्वरमाशु[2] बुद्बुदतडित्संध्याशरन्मेघवत्[3] ।
प्रौढं शंबलमाकलय्य[4] नियमाज्जन्मान्तरं गत्वरै[5]–
र्दानं किं न विधीयते[6] शुभमहालाभे प्रयत्नार्थिभिः[7] ॥ २८

भोगों को रोग जैसा समझकर गृहस्थ और यति दोनों को ही अपने योग्य दान निदानभावना से रहित होकर देना चाहिये ॥ २५ ॥

जब बालक अथवा कामिनी स्त्री किसी कारण से मन में अतिशय कुपित होते हैं, तब उनको मोदकादि भोज्य पदार्थ और अलंकारादि के देने पर उनका शरीर प्रफुल्लित–रोमांचित–हो जाता है अर्थात् वे प्रसन्न हो जाते हैं। और अनेक इष्ट क्रियाओं को करते हुए वे अपने स्वामी के बारे में मधुर भाषण करते हैं। इसलिये प्रीति से परिपूर्ण वचनों का हेतुभूत वह दान अपनी निश्चित कार्यसिद्धि का प्रशस्त तन्त्र – उपाय है ॥ २६ ॥

बालक और स्त्री की प्रसन्नता का यह केवल दृष्टान्त दिया गया है । दान के संपूर्ण फल का कथन तो केवल केवली ही कर सकते हैं ॥ २७ ॥

यह शरीर, वैभव तथा पुत्र व पत्नी आदिक कुटुम्बीजन ये सब बुलबुले बिजली सन्ध्या तथा शरत्कालीन मेघ के समान शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं । ऐसा समझकर अन्य भव को जानेवाले भव्य जीव दान को उत्तम कलेवा जैसा समझकर उत्तम लाभ के लिये उसे प्रयत्नपूर्वक क्यों नहीं देते हैं ? तात्पर्य – दान से जो महापुण्य प्राप्त होता है उससे जीव जन्मान्तर में महासुखी होता है । जैसे कलेवा लेकर ग्रामान्तर को जानेवाला [प्रवासी सुखी होता है वैसे ही दानरूप कलेवा को लेकर जन्मान्तर को जानेवाला] आत्मारूपी प्रवासी भी सुखी होता है ॥ २८॥

---

२६) 1 अतिशयेन. 2 कस्मादपि स्थानात्. 3 वस्तुनि. 4 बालस्य भक्ष्यं, कामिनीनां भूषा आहरणं वस्त्रम् । २७) 1 प्रसन्नत्वम्. 2 आहारदानफलम्. 3 समस्तम्. 4 केवलज्ञानी कथयति । २८) 1 लक्ष्मीम्. 2 विनश्वरं ज्ञात्वा. 3 [?] 4 कलयित्वा. 5 गन्तुकामैः. 6 दीयते. 7 धनिभिः ।

उक्तं च—

150) समागमाः[1] सापगमाः[2] सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ।
काय: संनिहितापायः[3] संपदः पदमापदाम्[4] ॥ २८*१

157) संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥ २८*२

152) अत्य ज्यं द्रविणं निकामकमिदं[1] प्राणात्यये[2] ऽपीश्वराः[3]
सत्यं चेत्परिवर्धयध्वमपरं[4] नेतुं यतध्वं[5] भवम् ।
सुक्षेत्रेषु तदाखिलेषु वपतः[6] श्रद्धाम्बुभिः सिञ्चतः
श्रेयो ऽनन्तगुणं भविष्यति यतः काले बलं प्राप्नुतः[7] ॥ २९

153) एकं क्षेत्रं[1] त्रिभुवनगुरोर्मन्दिरं[2] बिम्बमन्यत्[3]
संघो ऽनर्घ्यः समभवदतः[4] सो[5] ऽपि भेदैश्चतुर्भिः ।
तुर्यं[6] वर्यं प्रवचनमिति[7] स्पर्शनं[8] बीजमुप्तं[9]
यद्वत्तद्वत्फलति निखिलामेषु[10] कल्याणमालाम् ॥ ३०

कहा भी है –

जो इष्ट पदार्थों का संयोग है, वह वियोगसहित है। अर्थात् इष्ट पदार्थों का वियोग अवश्य होनेवाला है। जो उत्पन्न होना है वह नश्वर होता ही है। यह शरीर अपायसहित है, अर्थात् वह नष्ट होनेवाला है तथा संपत्तियाँ आपदाओं का स्थान हैं – विपत्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं ॥ २८*१ ॥

कल्पवृक्ष का फल संकल्प्य है – मुझे अमुक पदार्थ प्राप्त हो, ऐसी मन में इच्छा उत्पन्न होनेपर ही कल्पवृक्ष फल देता है। चिन्तामणि रत्न मन में चिन्तवन करनेपर ही इच्छित फल को देता है। परन्तु धर्म संकल्प से रहित व अचिन्तित फल को देता है। इसलिये धर्म उस कल्पवृक्ष से और चिन्तामणि से भी श्रेष्ठ है ऐसा समझना चाहिये ॥ २८*२ ॥

हे धनाढच भव्यजनो! यदि यह सत्य है कि प्राणनाश के समय में भी धन का त्याग करना अत्यन्त अशक्य है तो आप उसे वृद्धिगत करते हुए दूसरे जन्म में ले जाने का प्रयत्न करें इसलिये उसे मस्त उत्तम क्षेत्रों में बो कर – जिन मंदिर, जिनप्रतिमा, जिनशास्त्र, मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन सप्त क्षेत्रों में देकर – श्रद्धारूप जल से सींचिये। तब वह योग्य समय में फलित होकर पूर्वसे अनन्त गुणित कल्याण (सुख) को प्रदान करेगा, उसे आप प्राप्त कर सकते हैं ॥ २९ ॥

उपर्युक्त उत्तम क्षेत्रों में प्रथम क्षेत्र त्रैलोक्य गुरु (जिनेन्द्र देव) का मंदिर है। दूसरा

२८*१) 1 संयोगाः. 2 वियोगसहिताः. 3 सविनाशः. 4 आपत्सहिताः । २९) 1 अतिशयं वा हितम्. 2 विनाशे. 3 भो ईश्वराः. 4 वृद्धिं प्रापयत. 5 यत्नं कुरुध्वम्, 6 पुरुषस्य. 7 वपिष्यतः पुरुषस्य । ३०) 1 गेहम्. 2 चैत्यालयम्. 3 जिनबिम्बम्. 4 आसीत्. 5 संघः. 6 चतुर्थम्. 7 आगमम्. 8 स्त्रीकारं दानं वा. 9 वपितम्. 10 चैत्यालयादिषु क्षेत्रेषु ।

154) रत्नावलीविविधदारुमयः[1] सुमेरुः[2]
प्रासाद[3] एष उत[4] मेरुरयं जनानाम् ।
भ्रान्तिमदो जिनवरस्य विधाप्यते[5] यै-
स्तेषां महेन्द्रपदवी[6] ननु किंकरीव[7] ॥ ३१

155) स्याद्वादकेतनस्योच्चैः[1] कारयन्ति निकेतनम्[2] ।
ये[3] तेषां सकलो लोको निकामं[4] किंकरायते[5] ॥ ३२

156) किं मेरोर्जिनहर्म्यमेतदुत वा नन्दीश्वरादागतं[1]
लोकालोकगिरेः[2] स्वयंप्रभनगादाहो[3] कुलाद्रायतः[4] ।
इत्थं भ्रान्तिकरं जनस्य विदुषो[5] यं कारयन्ते जना-
स्ते लोलन्ति सदाप्सरःकुचतटोत्संगेषु[6] हारा इव ॥ ३३

क्षेत्र जिन प्रतिमा है। तत्पश्चात् मुनि आर्यिका, श्रावक व श्राविकारूप अमूल्य चतुर्विध संघ यह तीसरा क्षेत्र है। चौथा क्षेत्र श्रेष्ठ निर्दोष आगम है। इन चारों क्षेत्रों में दानरूपी बीज बोना चाहिये। जैसे क्षेत्र में बीज के बोने से फल प्राप्त होता है वैसे ही इन चारों क्षेत्रों में दानरूप बीज के बोने से अनेक कल्याणरूपी फल प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

जो धनिक जन अनेक रत्नसमूह तथा लकडियों से जिनेन्द्र का ऐसा सुन्दर सुमेरु बनवाते हैं, कि जिसको देखकर लोगों को यह रत्नमय सुमेरु पर्वत है अथवा जिनमंदिर [है ऐसी भ्रांति उत्पन्न होती है। इस प्रकार का जिनमंदिर] बनवाने से धनिकों को इन्द्र पदवी मानो दासी के समान प्राप्त होती है। तात्पर्य — जिनमंदिर बनवानेवाले इन्द्र से भी श्रेष्ठ होते हैं ॥३१॥

जो स्याद्वाद की पताका को धारण करनेवाले जिनेश्वर का भव्य महाप्रासाद बनवाते हैं, उनके अन्य सब लोग अतिशय दास बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

क्या यह मेरुपर्वत का जिनमंदिर है; अथवा [वह नंदीश्वर द्वीप से, अथवा] लोकालोक पर्वत से, अथवा स्वयंप्रभ नामक पर्वत से अथवा हिमवदादि कुलपर्वतों से आया है; ऐसी विद्वान् पुरुषों के मन में शंका को उत्पन्न करनेवाले जिनमंदिर को जो भी भव्य बनवाते हैं वे सदैव अप्सराओं के स्तनतटों के बीच में हार के समान लोटते हैं ॥ ३३ ॥

३१) 1 रत्नखचित. 2 शोभनशृङ्गः वा मर्यादायुक्तः. 3 जिनस्य प्रासादे. 4 अहो. 5 कथिते. 6 इन्द्र पदवी. 7 दासी इव । ३२) 1 जिनस्य. 2 गृहम्. 3 भव्याः. 4 अतिशयेन. 5 किंकरवत् आचरति । ३३) 1 अष्टमद्वीपात्. 2 मानुषोत्तरगिरेः. 3 स्वयंप्रभपर्वतात्. 4 षट्कुलपर्वतात्. 5 पण्डितस्य जनस्य. 6 अप्सरसां देवकन्यानाम् ।

157) वास्तूक्तसूत्रविधिना[1] प्रविधापयन्ति[2]
ये[3] मन्दिरं मदनविद्विषतश्चि[4]रं ते ।
रोचिष्णुविश्वरमणी[5]रमणीयभोगाः
सौख्याब्धिमध्यरचितस्थितयो[6] रमन्ते ॥ ३४

158) न्यक्कुर्वन्[1] घनसा[2]रहारहिमवच्चन्द्रद्युतिस्वर्द्युति[3]-
रेत[4]त्तावदकृत्रिमं सुरवरैः संभाव्यते[5] कृत्रिमम् ।
इत्याश्चर्यकरं मनोभवरिपो[6]र्ये कारयन्ते गृहं
ते संसारसमुद्रसंभवसुधासारं[7] प्रपा[8]स्यन्त्यलम् ॥ ३५

159) लेप्यं तथेष्टकचितं[1] च शिलामयं ये-
ऽनेकान्तकेतन[2]निकेतनमात्मशक्त्या ।
निर्मापयन्ति[3] नृसुरेष्वचिरादुषित्वा
यास्यन्ति ते शिवपुरीं हतरोधकौघाः[4] ॥ ३६

जो वास्तुशास्त्र में कही गई विधि के अनुसार काम के शत्रुभूत जिनेश्वर के मंदिर को बनवाते हैं वे कांति से सम्पन्न संपूर्ण स्त्रियों के साथ रमणीय भोगों को भोगते हुए सौख्यसमुद्र के मध्य में स्थित होकर दीर्घकाल तक क्रीडा किया करते हैं ॥ ३४ ॥

कर्पूर, मुक्ताहार, हिमवान् पर्वत, चन्द्रकान्ति और स्वर्ग की शोभा को तिरस्कृत करने वाले जिस कृत्रिम जिनमंदिर के विषय में देव अकृत्रिमना की सम्भावना करने लग जावें, ऐसे आश्चर्यजनक, मदन के वैरी स्वरूप जिनेश्वर के मंदिर को जो भव्य बनवाते हैं, वे भविष्य में संसाररूप समुद्र के मथन से उत्पन्न हुए श्रेष्ठ अमृत का इच्छानुसार पान करेंगे ॥ ३५ ॥

जो भव्य पुरुष अनेकान्तरूप ध्वज के धारण करनेवाले जिनेश्वर के मंदिरको अपनी शक्ति के अनुसार मिट्टी आदि से, ईंटों से अथवा पाषाण से निर्माण कराते हैं, वे मनुष्यों और देवों में निवास कर–उनके सुख को भोगकर–संसार में रोकनेवाले समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों के समूह को नष्ट करते हुए शीघ्र ही मुक्ति नगरी को प्राप्त करनेवाले हैं ॥३६ ॥

---

३४) 1 P °सूक्तविधिना. शिल्पिकारशास्त्रोक्तविधिना. 2 कारयन्ति. 3 पुण्यवन्तः. 4 मदनशत्रोः सर्वज्ञस्य. 5 मोक्षरमणी. 6 देदीप्यमानसंसारस्त्रीमनोज्ञभोगसौख्यसमुद्रमध्यकृतस्थानाः । ३५) 1 निराकुर्वन् सन्. 2 कर्पूर. 3 स्वर्ग. D °स्वर्धुनी. 4 गृहं चैत्यालयम्. 5 अकृत्रिमं विचार्यते. 6 जिनस्य. 7 सौख्यम्. 8 पानं करिष्यन्ति । ३६) 1 इंटकृतम्. 2 जिनस्य. 3 कारयन्ति. 4 हतरोधका ज्ञानावरणादिकर्मौघा यैस्ते हतरोधकौघाः ।

160) तार्णं[1] च पार्णं[2] च कुटीरमात्रं वासमयं[3] दारुमयं[4] स्वशक्त्या ।
हर्म्यं चलं[5] स्थास्नु[6] च कारयन्ति ये ते भविष्यन्ति च मुक्तिभाजः ॥ ३७

161) ये चैत्य[1]चैत्यभवना[2]गमपुस्तकानि
निर्मापयन्त्यधममध्यमसत्तमानि[3] ।
तेषां स्वकीयपरिणामविशुद्धिहेतोः
सूरीश्वराः[4] फल[illegible]शान्त[5] भिदेलिमं[6] न ॥ ३८

162) चिन्तामणिकल्पलताकामदुघा[1] विजयते यतो ऽचिन्त्यम् ।
फलतीयं प्रयतध्वं भावविशुद्ध्यै ततो भव्याः ॥ ३९

163) आचन्द्रार्कमवारितं तनुमतां धर्मस्य सत्रं परं
प्राणित्राणसुधाप्रपा गुणगणक्षेत्रं पवित्रावनी ।
स्वर्निःश्रेयसदेशयात्रिकजनक्षे[illegible][1] बुधै-
राम्नातं जिनवेश्म दुर्गतिपतद्धस्तावलम्ब ऽचलः ॥ ४०

जो भव्य श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार घास अथवा पत्तों की झोंपडीस्वरूप, वस्त्रमय तंबूस्वरूप अथवा काष्ठस्वरूप चल या स्थिर जिनमंदिर को बनवाते हैं, वे भी मुक्ति को प्राप्त करनेवाले हैं ॥ ३७ ॥

जो हीन, मध्यम अथवा उत्तम जिनप्रतिमा, जिनमंदिर तथा सिद्धान्त ग्रंथों का निर्माण कराते हैं, उनको अपने परिणामों की विशुद्धि के कारण अविनाशी फल प्राप्त होता है यह महान आचार्यों का उपदेश है ॥ ३८ ॥

प्राणी जिस परिणाम विशुद्धि से चिन्तामणि, कल्पलता और कामधेनु के ऊपर विजय प्राप्त करता है, यह चूंकि अभीष्ट, अचिन्तनीय फल को प्रदान करती है, इसीलिए उस परिणाम विशुद्धि की प्राप्ति के लिये भव्य जीवों को सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३९ ॥

वह जिनमन्दिर जगत में जब तक चंद्रसूर्य हैं, तब तक स्थिर रहकर प्राणियों को धर्म का दान करनेवाली उत्कृष्ट दानशाला, प्राणियों की रक्षा करनेवाली अमृत पानशाला

३७) 1 तृणजनितम्. 2 वृक्षपत्रजनितम्. 3 वस्त्रजनितम्. 4 काष्ठजनितम्. 5 चलं गम्यम्. 6 स्थिरीभूतम् । ३८) 1 जिनप्रतिमा. 2 चैत्यालयम्. 3 जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि. 4 जिनाः. 5 कथयन्ति. 6 कथंभूतं फलं; न भिदेलिमं विनश्वरं, अविनश्वरं मोक्षफलमित्यर्थः । ३९) 1 इयं भावविशुद्धिः कर्त्री चिन्तामणिप्रभृतिकल्पलताकामदुघा । ४०) 1 गमनशील ।

164) मुनिः कश्चित्स्थानं रचयति यतो जैनभवने
विधत्ते व्याख्यानं [illegible][1] धर्मनिरतः।
भवन्तो[2] भव्यौघा भवजलधिमुत्तीर्य[3] सुखिन-
स्ततस्तत्कारी[4] किं जनयति जने यन्न सुकृतम् ॥ ४१

165) मर्त्यमस्तकमाणिक्यं [illegible]ण्डनम्।
निकेतनं जिनेन्द्रस्य को ऽपि कारयते कृती[1] ॥ ४२

166) यावत्कृत्य[1]मशेषितं[2] सुकृतिभिस्तैरेव[3] सिद्धैरिव
प्रध्वस्तं रविणेव संतततमः सर्वं तथा दुष्कृतम्।
तैर्[3]आलेखि[4] शशाङ्कमण्डलगता स्वाङ्का प्रशस्तिः स्थिरा
यैर्[illegible]शभवनं स्वं[5] वा यशो मूर्तिमत् ॥ ४३

(प्याऊ) व गुणसमूह का निवासस्थान, पवित्रभूमि – तीर्थक्षेत्र, तथा स्वर्ग व मुक्तिस्थान को जानेवाले पथिकों का कल्याणकारी अद्वितीय मार्ग – बीच का विश्रामस्थान है। विद्वानों ने दुर्गति में गिरनेवाले जनों को सहारा देनेवाला निश्चल हस्तावलम्बन कहा है ॥ ४० ॥

जिनमंदिर में चूंकि कोई भी जैन मुनि आ कर निवास करता है तथा धर्म का व्याख्यान करता है, जिसे जानने से भव्य जीवों के समूह धर्म में तत्पर होकर संसाररूप समुद्र को पार करते हुए शाश्वतिक सुख का अनुभव करते हैं। इसलिये जिनमंदिर का निर्माण करानेवाला गृहस्थ लोगों में कौनसा पुण्यकारक कर्म नहीं करता है? ॥ ४१ ॥

पुरुष मस्तक को भूषित करनेवाले चूडामणि रत्न के समान भूमण्डल को भूषित करनेवाले जिनमंदिर को कोई विरला ही पुण्यात्मा गृहस्थ निर्मापित करता है ॥ ४२ ॥

जिन महापुरुषों ने मूर्तिमान अपने यश के समान जिनालय का निर्माण कराया है उन्हीं पुण्यशाली महात्माओंने सिद्धों के समान समस्त कार्य को निःशेष किया है – वे सब कार्य को पूर्ण करके कृतकृत्य हो चुके हैं। उन्हींने समस्त पाप को इस प्रकार से नष्ट किया है, जिस प्रकार कि सूर्य विस्तृत अन्धकार को नष्ट किया करता है। तथा उन्हींने चन्द्र-मण्डलगत अपनी चिरस्थायिनी प्रशस्ति को भी लिख दिया है ॥ ४३ ॥

४१) 1 अवधारणाक्रियमाणा धर्मनिरताः. 2 उत्पद्यमानाः सन्तः. 3 तरित्वा. 4 जैनभवनस्य कर्ता
४२) 1 पुण्यवान् पुरुषः। ४३) 1 करणीयम्. 2 पूर्णं कृतम्. 3 सुकृतिभिः. 4 लिखापितं. 5 स्वकीयम्।

167) जीर्णं जिनेन्द्रभवनं वसुधापुरन्ध्र्याः
कर्णावतंस[1] इव कालवशादतीव[2] ।
ये ऽभ्युद्धरन्ति सुकृतैकविलासभाज-
स्तेषां तु कीर्ति वनीजनकर्णपूरः[3] ॥ ४४

168) धर्मः समुद्धृतस्तेन कुलकीर्तिर्नवीकृता ।
न्यरोधि[1] नारकः पन्था येन जीर्णोद्धृति[2]ः कृता ॥ ४५

169) पोतो रत्नप्रपूर्णो झगिति जलनिधौ[1] भिद्यमानो धृतस्तै-
र्देहः कुष्ठेन शीर्णः सुरवपुरुपमस्तैः कृतः प्राणभाजाम्[2] ।
आकृष्यैवान्तकास्या[3]दमृतमित्र तरां पायिताः प्राणिनस्तै-
र्यैः प्रासादो जिनानां पुनरपि नवतां प्रापितः[4] शीर्यमाणः ॥ ४६

170) विश्वं[1] विलङ्घ्य लोभांशाः प्रसरन्तो निवारिताः ।
तेन स्वं द्रविणं येन जीर्णे वेश्मनि योजितम् ॥ ४७

जो अतिशय पुण्यशाली जन पृथिवीरूप पुत्रवती स्त्री के कर्णफूल के समान कालवशात् जीर्णशीर्ण हुये जिनमंदिर का जीर्णोद्धार करते हैं, उनका यश भूमण्डलगत समस्त जन को कर्णफूल के समान सुशोभित करता है ॥ ४४ ॥

जिसने जिनमंदिर का जीर्णोद्धार किया है, उसने धर्म का उद्धार करके अपने वंशकी कीर्ति को नवीन किया है, तथा नरक के मार्ग को रोक दिया है—नरक में जाने से अपने को बचा लिया है ॥ ४५ ॥

जिन्होंने जीर्ण हुए जिनेश्वर के प्रासाद को पुनः नवीन किया है, उन्होंने समुद्र में टूटनेवाली रत्नों से भरी हुई नौका को झट से डूबने से बचा लिया है, उन्होंने कुष्ठरोग से गलित प्राणियों के शरीर को देव-शरीर के समान सुंदर बनाया है, अथवा उन्होंने प्राणियों को यम के मुख से निकालकर उन्हें अतिशय अमृत ही पिलाया है ॥ ४६ ॥

जिसने अपने धन का सदुपयोग जीर्ण जिनमंदिर के उद्धार में किया है, उसने जगत को लांघकर आकाश में फैलनेवाले लोभांशों को रोक दिया है, ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य यह कि, महा लोभ को उत्पन्न करनेवाले धन को जिनमंदिर के निर्माण कार्य में लगानेसे वह लोभ नष्ट होता है ॥ ४७ ॥

४४) 1 कुण्डल इव. 2 अतीव जीर्णम्. 3 कुण्डल इव । ४५) 1 निवारितः. 2 जीर्णोद्धरणम् । ४६) 1 समुद्रे. 2 प्राणिनाम्. 3 यमवदनात्. 4 नवीनं कारापितम् । ४७) 1 संसारः ।

171) स पुमानर्थवज्जन्मा तस्यैवार्थो ऽपि सार्थकः[1] ।
कुले जयध्वजो ऽसौ[2] च येनाकारि[3] जिनालयः ॥ ४८

172) वैडूर्यसूर्यशशिकान्तमसारगल्ल-
नीलादिरत्नबहुभेदमयीं जिनार्चाम्[1] ।
निर्मापयन्ति सुधियः स्फटिकादिरथ्यां[2]
पाषाणभेदमयसत्तनुमात्मशक्त्या[3] ॥ ४९

173) रौक्मीं[1] रीतिमयीं[2] च लेप्यरचितं चित्रितां[3] मृण्मयीं[4]
यद्वा राजनराजपट्टघटितां श्रीखण्डखण्डात्मिकाम्[5] ।
श्रेष्ठां काष्ठमयीं गरिष्ठवपुषं शक्त्यान्यदीयामपि
निर्माप्य प्रतिमां प्रतीतयशसो[6] लोके भवन्त्यत्र ते[7] ॥ ५०

174) कुसंगं दौर्भाग्यं दुरितसुरतिं[1] कूटनिकृतिं[2]
परायत्तां वृत्तिं परिभवभयक्लेशकुपथाम्[3] ।
वियोगं[4] योगं[4] वा प्रियारिपुजनैर्दुःसहतरं
न ते ज्ञास्यन्ते[5] के समवसरणस्था इव जनाः ॥ ५१

जिसने जिनमंदिर को निर्माण कराया है वह अपने कुल में जयध्वज समान है — अपने कुल की विजयपताका को फहरानेवाला है । ऐसे पुरुष का जन्म तथा धन भी सार्थक समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

निर्मल बुद्धि के धारक भव्य जीव अपनी शक्ति के अनुसार वैडूर्य, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, मसारगल्ल और नीलम इत्यादि अनेक भेदयुक्त रत्नों की, स्फटिक की अथवा अनेक प्रकार के विशेष पाषाणों की उत्तम आकृतिवाली प्रतिमा को निर्मापित करते हैं, तथा जो सुवर्ण की, पीतल की, वालु आदि से बनी हुई, चित्रमय और मिट्टी की, चांदी की, राजावर्त नामक मणि की (यह मणि अलसी के पुष्प के समान वर्णवाला होता है), चंदन की लकडी की, तथा श्रेष्ठ काष्ठ से बनी हुई भी दृढ शरीरवाली जिनमूर्ति को अथवा शक्ति के अनुसार अन्य धातुकी भी मूर्ति को बनवाते हैं, वे यहाँ लोक में प्रसिद्ध यश से सुशोभित होते हैं ॥ ४९-५० ॥

प्रतिमा निर्माण करनेवाले सज्जनों को समवसरण में बैठे हुए भव्य जीवों के समान

---

४८) 1 सफलः. 2 पुमान्. ३ कारितम् । ४९) 1 जिनप्रतिमाम्. 2 प्रतोली. 3 उत्तमशरीराम् । ५०) 1 रुक्ममयीम्. 2 पित्तलमयीम्. 3 चित्रकारनिर्मिताम्. 4 मृत्तिकानिर्मिताम्. 5 चन्दनखण्डनिर्मापिताम्. 6 व्याख्यातयशोयुक्ताः. 7 ते पुरुषाः । ५१) 1 रागम्. 2 मायाम्. 3 कुपथां वृत्तिम्. 4 प्रियजनैः सह वियोगं रिपुजनैः सह संयोगम्. 5 न जानन्ति ।

175) अरे यदि समीहसे[1] गमयितुं निशां शारदीं
शशाङ्कधवलीकृताष्टदिशमङ्गनाभिः समम्[2] ।
तदा शिरसि कुर्वता सुचिरमञ्जलिं याच्यसे[3]
मनोमदनसूदनप्रतिकृतेः कृते यत्यताम्[4] ॥ ५२

176) कल्याणसंपदखिलापि वशीकृतोच्चै–
रुच्चाटितं स्वमनसो ननु वैमनस्यम्[1] ।
विद्वेषितं[2] सकलमप्यहितं च दूरात्[3] ।
संस्तम्भितः सुकृतिभिर्हितविप्रयोगः[4] ॥ ५३

177) सत्यंकारो[1] ऽर्पितः स्वर्गमर्त्यशर्म वशीकृतम् ।
शासनं[2] सूचितं मुक्तो पुंसा कारयता[3] जिनम् ॥ ५४ । युग्मम् ।

दुर्जनसंगति, दुर्भाग्य, पाप में प्रेम, असत्य, कुटिलता, पराधीन जीवन, अपमान से उत्पन्न हुआ भय और दुःख का बुरा मार्ग, असह्य ऐसा प्रिय जन के साथ वियोग और वैरी जन के साथ संयोग आदि बाधाएँ प्राप्त नहीं होतीं ॥ ५१ ॥

हे मित्र ! चन्द्र से आठ दिशाओं को शुभ्र करनेवाली शरद् ऋतु की रात्रि को यदि तू अपनी स्त्रियों के साथ आनंद से बिताना चाहता है तो मैं मस्तक पर हाथ जोडकर तुझ से यह याचना करता हूँ कि तू मनोमदनसूदन की – अन्तःकरण से काम को नष्ट कर देनेवाले जिनेन्द्र की – प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराने का प्रयत्न कर ॥ ५२ ॥

जिन प्रतिमा का निर्माण करानेवाले पुण्यशाली सत्पुरुषों ने संपूर्ण कल्याणकारी संपत्ति को पूर्णतया अपने आधीन कर लिया है, अपने मन से वैमनस्य को दूर कर दिया है, संपूर्ण ही अहित के विषय में दूर से विद्वेष किया है अर्थात् उसने सर्वथा अपने हितको ही किया है, पुण्यवान भव्यों के होनेवाले अहित को नष्ट किया है, स्वर्ग और मनुष्य के सुख को अपने स्वाधीन करने के लिये मानो सत्यंकार दिया है, (व्यापारी लोग माल अपने को ही मिले इस हेतु से जो विक्रेता को मूल्य का कुछ भाग प्रथम ही दे कर माल को रोक लेते हैं, उसे सत्यंकार कहते हैं ।) तथा मुक्तिविषयक शासन की सूचना की है – वह शीघ्र ही मुक्ति का शासक होनेवाला है ॥ ५३-५४ ॥

५२) 1 वाञ्छसि. 2 सार्धम्. 3 याचनां करोमि. 4 सर्वज्ञबिम्बनिर्मापणाय यत्नं कुरुताम् । ५३) 1 मनःकलुषता. 2 विनाशितम्. 3 D °विदूरात्. 4 सुकृतिभिः हितानां वियोगः दूरात् स्तम्भितो निरोधित इत्यर्थः । ५४) 1 व्यापारीवत् साई दत्ता स्वर्गं प्रति. 2 आज्ञा. 3 निर्मापयता ।

178) मर्त्येन[1] संरचयता प्रतिमाप्रतिष्ठां[2]
आत्मा नरोत्तमपदे गमितः[3] प्रतिष्ठाम् ।
तन्नास्ति यन्न विहितं[4] स्वहितं प्रशस्तं
तन्नास्ति यन्न दुरितं निखिलं निरस्तम् ॥ ५५

179) स्वर्विषय[1]भुक्तिभूमिं स्वहस्तितं सौख्यपत्रमालिखितम् ।
श्रीमुक्तेरिव दूतीं कारयता[2] जिनपतिप्रतिमाम् ॥ ५६

180) सत्पुरुषाणां मध्ये कृतो निबन्धो[1] निवारितं पापम् ।
जिनबिम्बविधापनतः समासतः फलमिदं सिद्धम् ॥ ५७

जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा करानेवाले पुरुष ने अपनी आत्मा को पुरुषोत्तम के पद पर प्रतिष्ठित कराया है–उत्तम पुरुष की अवस्था को प्राप्त कराया है । ऐसा प्रशंसनीय कोई आत्महित नहीं है जिसे इसने नहीं किया हो, तथा ऐसा कोई पातक नहीं है, जिसे उसने नष्ट नहीं किया हो ॥ ५५ ॥

श्रेष्ठ मुक्ति की दूती जैसी जिनेन्द्र की प्रतिमा को निर्मापित करानेवाले सद्गृहस्थने स्वर्गीय विषयभोग की भूमि को अपने हाथ में कर लिया, ऐसा मानो सुख का पत्र (रसीद), ही लिख दिया है । तात्पर्य यह है, जिन प्रतिमा को निर्माण करानेवाला भव्य जीव शीघ्र ही स्वर्ग व मोक्ष के सुख को प्राप्त किया करता है ॥ ५६ ॥

जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा-विधि से मनुष्य सत्पुरुषों के समूह में अपना निबंध–संबंध–स्थापित कर लेता है, तथा पाप को रोक देता है । यह जिनबिंब स्थापन का फल संक्षेप से सिद्ध है–कहा गया है ॥ ५७ ॥

५५) 1 मनुष्येन. 2 P °प्रतिमापदिष्टा. अप्रतिष्ठप्रतिमा. 3 नीतः. 4 कृतम् । ५६) 1 स्वर्गगोचर. 2 निर्मापकेन । ५७) 1 निदानं वा संबन्धः ।

181) भ्रूभङ्गानतभूमिपालमखिलं[1] न प्रार्थये भूतलं
दूरादेव पराकरोमि[2] तमपि स्वर्गाङ्गना[3]संगमम् ।
एतस्मिन् भवसागरे निपततामालम्बने निश्चला
भक्तिः केवलमस्तु[4] नाथ भवतः पादारविन्दद्वये ॥ ५८

इति श्री-जयसेन-मुनि-विरचिते धर्मरत्नाकरशास्त्रे आहारदान-
जिनगृहनिर्म[illegible]र्णनो नाम तृतीयो ऽवसरः ॥ ३ ॥[5]

हे प्रभो ! केवल मेरे भौंहों की कुटिलता से जिसके भूमिपाल नम्र हुए हैं ऐसी अखिल भूमि को भी प्रार्थना मैं नहीं करना चाहता तथा स्वर्गीय देवांगना के उस संगम को भी मैं नहीं चाहता – उस से दूर ही रहना चाहता हूँ । मैं तो केवल आपके चरणारविन्दों की उस भक्ति का चाहता हूँ, जो इस संसार–सागर में पडनेवाले जनोंको निश्चल हस्तावलम्बन देती है ॥५८॥

इस प्रकार तृतीय अवसर समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

५८) 1 षट्खण्ड. 2 तिरस्करोमि. 3 जी गानाम्. 4 भवतु. 5 P °इति तृतीयोवसरः ।

[४. चतुर्थो ऽवसरः]

[साधुपूजाफलम्]

182) मुक्ताफलानि बहुशो ऽपि सुवृत्तभाञ्जि
रन्ध्रान्वितानि गुणार्त्यसहस्तनाति ।
गुण्यो गुणैरतितरां परिपूरयेत
तद्वत्कृती स्वहृदयं प्रविभूषणाय ॥ १

183) बलिबन्धनमालोक्य[1] युक्तं पात्रपरीक्षणम् ।
सो ऽवश्यं बध्यते मुग्धो निःशीलेभ्यो ददाति यः ॥ २

184) मातापितृकामदुघाप्रभृतीन् जयति प्रसत्ति[1]रिह यस्य[2]
भविनां सहगामिफलः[3] संघो ऽसौ पापा[4]त्पातु ॥ ३

जैसे डोरा डालने के कार्य में समर्थ कोई कुशल कारीगर बहुतसे मोती अतिशय गोल होते हुए भी यदि वे छिद्रयुक्त हो तो वह उसमें डोरा डालता है, वैसे ही भव्य जीव सदाचारादि गुणों से युक्त होकर भी उसने अपना हृदय अधिक उज्ज्वल करने के लिये गुणों से अतिशय परिपूर्ण करना चाहिये ॥ १ ॥

बलिराजा के बन्धन को देखकर पात्रपरीक्षा के विना बलि राजा के अविवेकपूर्वक दान देने व इसी कारण उस के वामनरूपधारी–विष्णु के बन्धन में पडने का विचार करके– दाता को पात्र की परीक्षा करना उचित है । कारण कि जो मूर्ख निःशील–सदाचाररहित अपात्र–जनों के लिये देता है वह अवश्य बांधा जाता है–कर्मबन्धन में पडता है ॥ २ ॥

जिस संघ को प्रसन्नता–वात्सल्यभाव–माता, पिता और कामधेनु आदि को जीतती है अर्थात् उनसे भी वह भक्तों का अधिक हित करती है तथा जिसकी प्रसन्नता का फल जीव के

२) 1 विचार्य । ३) 1 प्रसन्नता. 2 यस्य संघस्य. 3 सह ... फलः. 4 पापात् ।

185) यद्भक्तिप्रगुणा[1] भवन्ति[2] भविनः[3] सेव्याः सभाग्यैरपि[4]
यद्दानादिविधानतश्च[5] नियतं निःशेषसौख्याकराः ।
यद्ध्यानानुगमाज्जगत्यपि[6][7] सतां ध्येया[8] भवेयुः सदा
घोराघौघघनाघनैकपवनः[9] संघः स जीयाच्चिरम् ॥ ४

186) संघोऽनघः स्फुरदनर्घगुणौघरत्न–
रत्नाकरो हितकरश्च शरीरभाजाम् ।
निःशेषसद्गुणनिवासमुनीन्द्रजन्मा[1]
मान्यो[2] गुरुस्त्रिभुवनेऽपि समोऽस्य[3] नान्यः ॥ ५

187) श्रीसंघतो जगति तीर्थकृदप्यपार[1]–
माहात्म्यभूमिरुदपादि[2][3] यतो महर्द्धेः[4] ।
माणिक्यशैलत इवोत्तमजातिरत्नं
तत्पूर्वमेव[5] ननु को न नमस्यतीमम्[6] ॥ ६

साथ भवान्तर में भी जाता है अर्थात् परलोक में भी जो जीव के कल्याण को करती है, वह मुनि आदिकों का संघ मेरा पाप से संरक्षण करे ॥ ३ ॥

जिसकी भक्ति करने में तत्पर भव्यजन स्वयं भी भाग्यशाली जनों के द्वारा आराधनीय होते हैं, जिसके लिये दानादि देनेसे भव्य निश्चय से संपूर्ण सुखों की खान बनते हैं, तथा जिसके ध्यान के अनुसरण से ध्यातागण इस जगत में स्वयं सज्जनों के ध्येय बन जाते हैं, ऐसा घोर पातकसमूहरूप मेघ को अनुपम वायु के समान उडा देनेवाला वह मुनि आदि का संघ दीर्घकाल तक जयवंत रहे ॥ ४ ॥

समस्त सद्गुणों के निवासस्थानस्वरूप मुनिराजों से उत्पन्न वह निर्दोष संघ चमकनेवाले अमूल्य गुणसमूहरूप रत्नों का समुद्र हो कर प्राणियों का हित करनेवाला है इस संघ को मान्य गुरु ही समझना चाहिये । इसके समान त्रैलोक्य में और दूसरा कोई नहीं है ॥ ५ ॥

महा समृद्धि के धारण करनेवाले उक्त संघ से अपार माहात्म्य की भूमिस्वरूप तीर्थंकर इस प्रकार उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार की माणिक्य पर्वत से उत्तम जातिवाला रत्न उत्पन्न होता है । इसलिये ऐसे संघ को पूर्व में ही नमस्कार कौन नहीं करता है ? सब ही उसे पूर्व में नमस्कार करते हैं ॥ ६ ॥

४) 1 यस्य संघस्य. 2 गुणयुक्ता भवन्ति. 3 संसारिजीवाः. 4 भाग्यवन्तपुरुषैः. 5 यस्य संघस्य. 6 संघस्य. 7 पृष्ठगामित्वात्. 8 आराध्याः. 9 यः संघः पापौघमेघसमूहस्य पवनः । ५) 1 उत्पादकः. 2 नमस्कारार्हः. 3 संघस्य । ६) 1 तीर्थंकरत्वम्. 2 योनिः. 3 उत्पन्नः. 4 महर्द्धियुक्तात् श्रीसंघात्. 5 तस्मात्. 6 श्रीसंघम् ।

188) क्लेशापह[1] सपदि सुन्दरनामधेयं[2]
स्मृत्वाप्यमुष्य[3] परिपुष्यति[4] भागधेयम्[5] ।
आलापमात्रमपि लुम्पति पातकानि
कां योग्यतां तनुमतां[6] तनुते न योगः[7] ॥ ७

189) श्रीसंघे परिपूजिते किमु न यत्संपूजितं पूजकै-[1]
रेतस्मिन्[2] गृहमागते किमु न यत्कल्याणमभ्यागतम् ।
एतत्पाद[3]सरोजराजिरजसा[4] पुंसां महापातकं
मूर्धस्थेन[5] विलीयते यदधिका शुद्धिस्तदत्राद्[6]भुतम्[7] ॥ ८

190) यत्किंचनात्र[1] भक्त्या विभाजितं[2] वितनुते[3] फलं विशदम्[4] ।
तोयमिव शुक्तिसंपुटपतितं मुक्ताफलं विमलम् ॥ ९

इस संक्लेश के नाशक संघ के सुंदर नाम के स्मरण मात्र से भी प्राणी का भाग्य (पुण्य) शीघ्र ही परिपुष्ट होता है । इसके नामोच्चारण से भी पाप नष्ट होते हैं । इस प्रकार उसका संबंध प्राणियों की कौनसी योग्यता को विस्तृत नहीं करता है? अर्थात् संघ की भक्ति से मनुष्य विशेष योग्यता को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

पूजकों के द्वारा श्रीसंघ की पूजा की जानेपर अन्य कौन नहीं पूजा गया? अर्थात् संघ की पूजा से देवपूजा तथा शास्त्रपूजा आदि का भी फल प्राप्त होता है । इस श्रीसंघ के घर पर आने से कौनसा कल्याण अपने घर में नहीं आया? अर्थात् संघ के घर पर आने से कुटुम्ब का महान् हित होता है । मस्तक पर लगाई गई संघ के चरणकमल की रज से पुरुषों का महापातक नष्ट होकर उससे जो अधिक शुद्धि होती है, यह आश्चर्य की बात है । तात्पर्य, यह है कि रज (धूलि) मलिन है और मलिन के संघ से कभी शुद्धि नहीं होती परन्तु इस पवित्र संघ के चरण स्पर्श से अतिशय पवित्रता को प्राप्त हुई उक्त रज के मस्तकपर लगाने से जीव का पापमल नष्ट होता है । इसलिये उससे आत्मा के शुद्ध होने में कोई आश्चर्य नहीं है ॥ ८ ॥

यहाँ जो कुछ भी अतिथि के लिये भक्तिपूर्वक विभाजित किया जाता है – दिय जाता है – वह दाता के लिये इस प्रकार निर्मल फल को विस्तृत करता है जिस प्रकार कि सीपके मध्य में गिरा हुआ जल निर्मल मोती को विस्तृत करता है ॥ ९ ॥

---

७) 1 विनाशकम्. 2 आख्यम्. 3 संघस्य. 4 पोषयति. 5 सौभाग्यम्. 6 प्राणिनाम्. 7 संघस्य संयोगः । ८) 1 जनैः वा पूजाकरणशीलैः. 2 श्रीसंघे. 3 संघस्य. 4 धूल्या. 5 मस्तकस्थेन. 6 जनेषु संघेषु वा 7 आश्चर्यम् । ९) 1 संघे. 2 विभागं कृतम्. 3 विस्तारयति. 4 निर्मलं बहुमूल्यं वा ।

191) अनघे संघक्षेत्रे श्रद्धामृतासिक्त.[1]प्तमल्पमपि ।
जनयति फलं विशालं वटबीजमिव क्ष्मा[2] वटवृक्षम् ॥ १०

192) वित्तं वितीर्णं[1] विस्तीर्णे पवित्रे पात्रसत्तमे[2] ।
संघे संजायते[3] ऽनन्तं[4] गतमर्ण[5]मिवार्णवे[6] ॥ ११

193) समस्तः पूजितः संघ एकदेशे ऽपि पूजिते ।
विन्यस्ते[1] मस्तके पुष्पे पूज्यो[2] जायेत पूजितः ॥ १२

194) गजव्रजस्येव[1] हि दिग्गजेन्द्राः संघस्य मुख्या मुनयः प्रणीताः ।
तेभ्यः[2] प्रदानं विधिना निदानं[3] निर्वाणपर्यन्तसुखावलीनाम् ॥ १३

195) साधवो जङ्गमं तीर्थं जल्पज्ञानं[1] च साधवः ।
साधवो देवता मूर्ताः साधुभ्यः साधु नापरम् ॥ १४

196) तीर्थं ज्ञानं स्वर्गिणो[1] नोपकुर्युः[2] सत्त्वा[3]नित्थं साधुसार्थो यथोच्चैः[4] ।
धर्माधर्मप्रेरणाव[र]णाभ्यां[5]मर्थानर्थौ साधयन्[6] बाधयंश्च[7] ॥ १५

निर्दोष संघरूप खेत में श्रद्धारूपी अमृत से सींचा गया — श्रद्धापूर्वक दिया गया — दान प्रमाण में अल्प भी हो तो भी वह इस प्रकार विस्तृत फल को उत्पन्न करता है जिस प्रकार कि उत्तम खेत (भूमि) में जल से सींच कर बोया हुआ वट का बीज विशाल वटवृक्ष को उत्पन्न करता है ॥ १० ॥

विस्तीर्ण, विशुद्ध व योग्य पात्ररूप संघ में दिया हुआ धन समुद्र में गये हुये पानी के समान अनन्त बन जाता है ॥ ११ ॥

संघ के एक विभाग की भी पूजा करने पर समस्त संघ पूजित होता है । ठीक है — मस्तक के ऊपर फूल के चढानेसे पूज्य व्यक्ति का समस्त ही शरीर पूजित होता है ॥ १२ ॥

जैसे दिग्गजेन्द्र हाथियों के समूह के मुख्य माने जाते हैं, वैसे ही मुनिजन संघ के मुख्य माने जाते हैं । उन मुनियों को विधिपूर्वक दिया गया दान मुक्तिपर्यन्त समस्त सुख-समूहों का कारण होता है ॥ १३ ॥

मुनिजन मानो जंगम — चलते फिरते — तीर्थ व बोलनेवाले ज्ञान हैं । वे मुनि देवता स्वरूप हैं । लोक में उन मुनियों से उत्कृष्ट और दूसरा कोई भी नहीं है ॥ १४ ॥

ज्ञान चूँकि प्राणियों को संसाररूप समुद्र से पार कराता है, अतः तीर्थ उसे ही समझना चाहिये । साधुसमूह प्राणियों को धर्म में प्रेरित कर उनके अभीष्ट अर्थ को सिद्ध करता है

---

१०) 1 वपितम्. 2 पृथिव्याम् । ११) 1 दत्तम्. 2 उत्तमे. 3 उत्पद्यते. 4 P °ते नूनं ग°. 5 जलम्. 6 सागरे । १२) 1 धृते. 2 पूजार्हः । १३) 1 हस्तिसमूहस्य. 2 मुनिभ्यः. 3 कारणम् । १४) 1 श्रुतज्ञानम् । १५) 1 देवाः. 2 उपकारं न कुर्युः. ३ जीवान्. 4 करोति. 5 द्वाभ्यां कृत्वा. 6 कथयन्. 7 नाशयन् ।

197) साधूपदेशतः सर्वो धर्ममार्गः प्रवर्तते ।
विना तु साधुभिः सर्वा तद्वार्ता[1] विनिवर्तते ॥ १६

198) दर्शनं बोधश्चरणं मुनिभ्यो नापरं मतम् ।
त्रयाच्च नापरं पूज्यं कथं पूज्या न साधवः ॥ १७

199) क्वचित्त्रयं द्वयं वापि दर्शनार्थोद्यमः क्वचित् ।
प्रायो न निर्गुणो लिङ्गी स्तुत्यः[1] सर्वस्ततः सताम् ॥ १८

200) चित्रे ऽपि लिखितो लिङ्गी वन्दनीयो विपश्चिता[1] ।
निश्चेताः[2] किं पुनश्चित्तं दधानो[3] जिनशासने ॥ १९

201) नानारूपाणि कर्माणि[1] विचित्राश्चित्तवृत्तयः ।
मन्दा अपि बहिर्वृत्त्या[2] विमलाश्चेतसा[3] पुनः ॥ २०

तथा पाप का निवारण करके उनकी होनेवाली हानि को भी रोकता है । अतएव वह उनको जिस प्रकार उपकार करता है उस प्रकार देव उनका उपकार नहीं कर सकते हैं अथवा तीर्थ, ज्ञान और देव प्राणियों का ऐसा उपकार नहीं कर सकते हैं जैसा की साधूसमूह धर्म की प्रेरणा और पाप के निवारणद्वारा उनका अतिशय उपकार करता है ॥ १५ ॥

सब धर्म का मार्ग साधु के उपदेशसे ही चालू रहता है । यदि साधु नहीं हो तो उनके विना धर्म की सव बात ही समाप्त हो जाती है ॥ १६ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों उन मुनियों से कुछ अन्य नहीं माने गये हैं,—उनको रत्नत्रय स्वरूप ही समझना चाहिये, तथा इस रत्नत्रय से कोई अन्य वस्तु जगत में पूज्य नहीं है । इसलिये वे साधु पूज्य कैसे नहीं हैं ? अवश्य ही वे पूजने के योग्य हैं ॥ १७ ॥

उपर्युक्त सम्यग्दर्शनादि में किसी के वे तीनों, किसीके दो और किसीका केवल सम्यग्दर्शन के लिये ही प्रयत्न रहता है । परंतु लिंगी—जिनलिंगका धारक साधु—प्रायः उक्त सम्यग्दर्शनादि गुणों से रहित नहीं होता है । अतः सत्पुरुषों को जिनलिंग के धारक सब ही साधुओं की स्तुति करनी चाहिये ॥ १८ ॥

चित्र में लिखा हुआ अचेतन भी साधु विद्वान् के द्वारा वन्दनीय होता है । फिर भला जो सचेतन साधु अपने चित्त को जिनागम या जैनधर्म में लगा रहा है उसका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो सब के द्वारा वन्दनीय होना ही चाहिये ॥ १९ ॥

जिस प्रकार बाह्य क्रियाएँ अनेक प्रकार की होती हैं उसी प्रकार चित्तकी वृत्तियाँ—

---

१६) 1 धर्ममार्गस्य । १८) 1 स्तवनार्हः । १९) 1 पण्डितेन. 2 चेतनारहिताः. 3 धारयन् । २०) 1 कार्याणि. 2 बहिराचरणे. 3 चित्तेन निर्मला मुनयः ।

202) मनसा वचसा दृष्टं[1] कायेनापि समर्ज्यते[2] ।
आत्मनीनं[3] जनः सर्वः कथंचन करोत्यतः ॥ २१

203) तस्मान्महान्तो गुणमाददन्तु[1] दोषानशेषानपि संत्यजन्तु ।
गृह्णन्ति दुग्धं जलमुत्सृजन्ति हंसाः स्वभावः स निजः शुचीनाम्[2] ॥ २२

204) गृह्णन्[1] नामापि नामेह[2] कुर्वन् नामादिकं[3] पुनः ।
जिनस्य मन्ये मान्यः[4] स्यात्तद्भक्तानां[5] स्वभावतः ॥ २३

205) लेखवाहो ऽपि भूपस्य स्वामिभक्तैर्नियुक्तकैः[1] ।
मान्यते निर्गुणोऽप्येवं लिङ्गी [illegible]मिश्रैः ॥ २४

206) सर्वज्ञो हृदये यस्य[1] वाचि सामायिकं करे ।
धर्मध्वजो[2] जगज्ज्येष्ठो ग्रामणीर्गु[3][illegible][4] ॥ २५

मानसिक चिन्तन–भी अनेक प्रकार के होते हैं । कितने जीव बाह्य आचरण से हीन दिखते हुये भी मनोवृत्ति की अपेक्षा निर्मल हो सकते हैं ॥ २० ॥

जो मन व वचन से देखा गया है वह शरीरसे भी उपार्जित किया जाता है – शरीर की प्रवृत्ति भी वैसी ही हुआ करती है । इसलिये समस्त जन किसी न किसी प्रकार से आत्म-हित करता ही है ॥ २१ ॥

इसलिये जो महापुरुष है उन्हें सब दोषों को छोडकर गुणों को इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए जिस प्रकार कि हंस पानी को छोडकर दूध को ग्रहण किया करते हैं । सो योग्य भी है, क्योंकि जो निर्मल होते हैं उनका यह निजी स्वभाव होना है ॥ २२ ॥

लोक में जो जिनेश्वर के नामको ग्रहण करता है – उसका स्मरण करता है व नमस्कार आदि को भी करता है वह जिनभक्तों को स्वभावसेही मान्य होना है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥२३॥

जो राजाका लेख ले जानेवाला दूत होता है वह भी स्वामिभक्त राजपुरुषों के आदर का पात्र होता है । इसी प्रकार जिन को जिनमत में अनुराग है वे निर्गुण – सम्यग्दर्शनादि गुणों से रहित – भी साधु का आदर किया करते हैं ॥ २४ ॥

जिसके हृदय में सर्वज्ञ, वचन में सामायिक और हाथ में धर्म का ध्वज– पीछि–है वह लोक में श्रेष्ठ और गुणिजनों में अगुआ होता है ॥ २५ ॥

२१) 1 कर्म. 2 उपार्जयता. 3 आत्महितम् । २२) 1 गृह्णन्तु. 2 निर्मलपुरुषाणाम् । २३) 1 नाम गृह्णन् सन्. 2 अहो. 3 नमस्कारादिकम्. 4 वन्दनीयः. 5 तस्य जिनस्य भक्तानाम् । २४) 1 नियोगिभिः । २५) 1 मुनीश्वरस्य. 2 प्रतिलेखनः पिच्छिकेत्यर्थः. 3 अग्रणीः. 4 मुनिः ।

207) न सन्ति येषु देशेषु साधवो धर्मदीपकाः ।
नामापि तेषु[1] धर्मस्य जायते न कुतः क्रिया ॥ २६

208) धर्मं कुर्वन्ति रक्षन्ति वर्धयन्ति सुमेधसः[1] ।
कथं न वन्द्या विश्वस्य[2] साधवो धर्मवेधसः[3] ॥ २७

209) करणकारणसंमतिभिस्त्रिधा[1] वचनकायमनोभिरुपार्जयन्[2] ।
कथमपीह[3] शुभाशुभचेतसां[4] मुनिजनो ऽजनि[6] पूजनभाजनम् ॥ २८

210) ज्यायःपात्रं[1] श्रेयश्चित्तं स्वायत्तं[2] सद्गेहे वित्तम् ।
एतल्लभ्यं[3] पुण्यैः पूर्णं मुक्तिप्राप्तेर्यानं[4] तूर्णम्[5] ॥ २९

211) केषांचिच्चित्तवित्तं भवति भुवि नृणां दानयोग्यं न पात्रं
पात्रे प्राप्ते परेषां गुणवति[1] भवतो नोचिते चित्तवित्ते[2] ।
स्याच्चित्तं नापरे द्वे[3] द्वितयमपि[4] भवेत् कस्यचिन्नैव वित्तं
वित्तं कस्यापि नोभे[5] उभयमपि न तद्[7]दुर्लभं यत्समग्रम्[8] ॥ ३०

जिन देशों में धर्म को प्रकाशित करनेवाले साधु नहीं रहते हैं, उन देशों में धर्म का जब नाम भी नहीं रहता है तब भला आचरण कहाँ से हो सकता है ? ॥ २६ ॥

धर्म के विधाता निर्मलबुद्धि साधु धर्म का आचरण, संरक्षण और वृद्धि भी किया करते हैं । फिर भला वे लोक के वन्दनीय कैसे नहीं होते हैं ? ॥ २७ ॥

कृत, कारित और अनुमत इन तीन के साथ वचन काय और मन से (पुण्य) उपार्जित करनेवाला मुनिजन यहाँ निर्मल व कलुषित चित्तवालों के लिये जिस किसी भी प्रकार से पूजा का पात्र हुआ है ॥ २८ ॥

उत्तम पात्र, योग्य पुण्य, मन की स्वाधीनता और समीचीन गृह में संपत्ति का सद्भाव; यह सब सामग्री पूर्णरूप से भाग्यशाली मनुष्यों को पुण्योदय से प्राप्त होती है । इसे मोक्ष प्राप्ति के लिये शीघ्रगामी यान – रथ आदि वाहन – के समान समझना चाहिये ॥ २९ ॥

इस संसार में कितनेही धर्मप्रेमी सज्जनों के मन में धर्मप्रेम और दान के योग्य धन भी रहता है, परन्तु उन्हें दान के लिये योग्य पात्रकी प्राप्ति नहीं होती । दूसरे किन्हीं को

२६) 1 देशेषु । २७) 1 सुष्ठुबुद्धियुक्ताः. 2 त्रैलोक्यस्य. 3 धर्मकर्तारः । २८) 1 कृतकारितानुमतैः. 2 मुनिः सन्. 3 जगति. 4 भव्यानाम्. 5 अभूत् । २९) 1 उत्तमपात्रम्. 2 स्वाधीनम्. 3 चतुष्कम्. 4 कारणाय. 5 शीघ्रम् । ३०) 1 पात्रे. 2 द्वे. 3 द्वे पात्रवित्ते. 4 पात्रं चित्तम्. 5 द्वे पात्रचित्ते. 6 पात्रं चित्तम्. 7 न वित्तम्. 8 यस्मात् समस्तं दुर्लभम् ।

212) ज्ञानोत्तमं किमपि किंचन दर्शनाढ्यं
पात्रं पवित्रितजगत्त्रयसच्चरित्रम् ।
किंचित्तपोगुणमयं द्विगुणं समग्रै -
र्युक्तं गुणैः किमपि[1] पूज्यमशेषमेवं[2] ॥ ३१

213) मिथ्यात्वध्वान्तविध्वंसे पटीयांसो[1] महौजसः[2] ।
सुवृत्ताः[3] कस्य नो पूज्याः स्युः[4] सूर्या इव सूरयः[5] ॥ ३२

214) तारका इव भूयांसः[1] स्वप्रकाश[illegible]रा नराः ।
प्र[illegible]शयन्तस्तत्त्वानि दुर्लभा भास्करा इव ॥ ३३

215) कि[illegible]चित्प्रकाशपटवो[1] बहवो हि पापाः
संतापका हुतवहा इव सन्ति लोके ।
प्र[illegible]णा[illegible]ः[2] प्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वाः
सत्त्वाधिका[3] शशधरा इव पुण्यलभ्याः[4] ॥ ३४

रत्नत्रय से विभूषित पात्र तो प्राप्त होता है, परन्तु उनके चित्त में धर्मप्रेम और धन दोनों भी नहीं रहते। किन्हीं का चित्त तो होता है परन्तु तदनुकूल वित्त और पात्र दोनों भी नहीं होते हैं। किन्हीं के चित्त और पात्र होते हैं, परंतु इस योग्य वित्त नहीं होता है। तथा किसीके पास चित्त तो होता है पर वित्त और पात्र नहीं होते हैं। इस प्रकार सब सामग्री दुर्लभ ही है ॥३०॥

कोई पात्र ज्ञान से उत्तम, कोई दर्शन से पूर्ण और कोई जगत्त्रय को पवित्र करनेवाला सम्यक् चारित्र से युक्त होता है। कोई पात्र तपोगुण से युक्त, कोई दो गुणों से युक्त और कोई पात्र सर्व गुणों से परिपूर्ण होता है। ये सब ही पात्र पूज्य हैं ॥ ३१ ॥

सूर्य के समान मिथ्यात्वरूप अंधकार के नष्ट करने में अतिशय चतुर, महातेजस्वी और उत्तम चारित्र के धारक आचार्य किसको पूज्य नहीं होते हैं ? ॥ ३२ ॥

ताराओं के समान अपनेको ही प्रकाशित करनेवाले पुरुष तो बहुत हैं, परंतु सूर्य के समान अन्य जीवादि तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाले पुरुष दुर्लभ हैं ॥ ३३ ॥

लोक में थोडेसे प्रकाश को धारण करनेवाले पापी लोग तो बहुत हैं। ऐसे लोग अग्नि के समान संताप को उत्पन्न किया करते हैं। परंतु संपूर्ण वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करते हुए वात्सल्य रखनेवाले धैर्ययुक्त लोग चन्द्र के समान पुण्यसे ही प्राप्त हुआ करते हैं ॥ ३४ ॥

---

३१) 1 बहुनोक्तेन. 2 समस्तमुनिगणम् । ३२) 1 प्रकाशवन्तो बुद्धिवन्तश्च. 2 प्रतापवन्तः. 3 वृत्ताकाराश्चारित्रयुक्ताश्च. 4 भवेयुः. 5 आचार्याः साधव इत्यर्थः । ३३) 1 बहवः । ३४) 1 प्रवीणाः. 2 अधिकक्रियावन्तः. 3 उत्तमपुरुषाः. 4 दैवयोगात् लभ्याः ।

216) उज्जासयन्तो[1] जाड्यस्य[2] पदार्थानां प्रकाशकाः ।
भास्करा इव दुष्प्रापाः साधवो विश्वपावनाः ॥ ३५

217) निःशेषनिर्मलगुणान्तरसारहेतौ[1]
संसारसागरसमुत्तरणैकसेतौ ।
ज्ञाने यतेः[2] सति सतामतिपूजनीये
दौर्जन्यमन्यगुणवीक्षणमेव[3] मन्ये ॥ ३६

218) आलोकेनैव संतापं हरन्ते ऽतिमनोहराः ।
बुधप्रिया[1] विलोक्यन्ते क्वापि पुण्यैर्दिगम्बराः[2] ॥ ३७

219) ज्ञानाधिको वरनरः स्वपरोपकारी
मुक्तक्रियो ऽपि मतमुन्नमयन्[1] महात्मा ।
सुष्ठूद्यतो ऽपि करणे नु सुशास्त्रशून्यः
स्वार्थे प्रियः कुशलताविकलो वराकः ॥ ३८

जो सूर्य के समान जडता को – शैत्य व अज्ञानान्धकार को – नष्ट करके पदार्थों को प्रकाशित करते हुए विश्व को पवित्र किया करते हैं ऐसे साधु लोक में दुर्लभ ही हुआ करते हैं ॥ ३५ ॥

अन्य समस्त निर्मल गुणों का श्रेष्ठ हेतु, संसाररूप समुद्र से पार करने के लिये अद्वितीय पुल के समान और सज्जनों के द्वारा अतिशय पूज्य ऐसा ज्ञानगुण यदि मुनि के पास विद्यमान है तो फिर उसके अन्य गुणों का देखना – उनकी अपेक्षा करना – दुष्टता ही है, । ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ३६ ॥

जो अतिशय मनोहर, विद्वत्प्रिय, मुनिराज अपने दर्शन से ही लोगों के संताप को नष्ट किया करते हैं वे दिगम्बर मुनिराज पुण्योदय से ही कहीं पर दिखते हैं । अर्थात् ऐसे विद्वान् मुनिराजों का दर्शन दुर्लभ है ॥ ३७ ॥

जो ज्ञान में श्रेष्ठ उत्तम पुरुष अपना व अन्य का भी उपकार करनेवाला है, वह महात्मा क्रिया से – चारित्र से – हीन होता हुआ भी मत को – जैन शासन को – समुन्नत करनेवाला है इसके विपरीत जो करण में –क्रिया में–तो भली भाँति प्रयत्नशील है, परन्तु उत्तम शास्त्रज्ञान से रहित है वह बेचारा कुशलता से रहित हो कर स्वार्थ में ही प्रिय है – उसी में अनुरक्त रहता है ॥ ३८ ॥

---

३५) 1 [उज्जाडयन्तो ?] उद्वासयन्तः. 2 जडतायाः शीतस्य । ३६) 1 समस्तगुणमध्यसारकारणभूते. 2 व्रतिनः. 3 दर्शनादि । ३७) 1 बुधनामा ग्रहः पण्डितश्च. 2 यतयश्चन्द्राश्च । ३८) 1 स्वकीयमतम् उन्नतिं नयन् ।

220) जैनं प्रभावयति[1] शा ःनमाङ्गसार्थं[2]
यो बोधयत्यनुपमः कृपया परीतः[3] ।
त्यक्तक्रियः[4] कथमसौ न न स्तपस्वी
स्वाध्यायतो[5] न हि तपो ऽस्त्यधिकं न कृत्यम्[6] ॥ ३९

221) सज्ज्ञानिनो[1] मूर्खमतीव साधुर्यः कष्टचेष्टानिरतं स्तुवीत[2] ।
मार्गज्ञमन्धं स वदेत् सुदृष्टे[3]स्तेजस्तमो व्याहरते[4] समं सः ॥ ४०

222) एनांसि[1] यो ऽङ्घ्रिरजसा[2] विनि न्ति[3] वाचा
मोहं व्यपोहति[4] दृशापि[5] पुनः पुनाति ।
संगेन[6] दुःखमपनीय[7] तनोति[8] सौख्यं
ज्ञानी सतां स महितो[9] ऽत्र[10] महानुभावः ॥ ४१

223) ज्ञाने सति भवत्येव दर्शनं सहभावतः ।
तेनो[1]भय[2]मिदं पूज्यं विभागे[3] तु विशेषतः ॥ ४२

जो अनुपम मनुष्य जैनमत की प्रभावना किया करता है तथा दयासे युक्त होकर प्राणिसमूह को प्रबोधित करता है वह मनुष्य क्रिया से हीन होकर तपस्वी कैसे नहीं है ? वह तपस्वी है ही । ठीक है – स्वाध्याय से अन्य कोई तप और उससे अधिक कोई दूसरा कृत्य नहीं है ॥ ३९ ॥

जो साधु उत्तम ज्ञानियों को छोडकर कष्टक्रिया करने में – कायक्लेश में तत्पर ऐसे मूर्ख साधु की स्तुति करता है वह मानो मार्ग जानने वाले को अन्धा तथा उत्तम ऑंखोंवालेक तेजको अन्धकार कहता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४० ॥

जो अपनी चरणरज से पाप को नष्ट करता है, वाणी से मोह को दूर करता है, आँख से लोगों को पवित्र करता है तथा संगति से उनके दुःख को नष्ट कर के सुख को विस्तृत करता है वह ज्ञानी महानुभाव सज्जनों से पूजित होता है ॥ ४१ ॥

ज्ञान के होनेपर दर्शन होता ही है, क्योंकि वे दोनों साथही होते हैं । इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों भी पूज्य हैं । उस ज्ञान और दर्शन को पृथक् मानकर विशिष्ट भुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से वे विशेष रूप से पूज्य हैं ॥ ४२ ॥

३९) 1 प्रकाशयति. 2 जीवसमूहम्. 3 संयुक्तः 4 त्यक्तव्यापारः. 5 आत्मचिन्तनतः, आगमचिन्तनतः. 6 करणीयम् । ४०) 1 सुज्ञानिनो मध्ये यो मूर्खं वन्दते. 2 स्तौति. 3 शोभननेत्र पक्षे सम्यग्दर्शनम्. 4 कथयति । ४१) 1 पापानि. 2 पादधूल्या. 3 विनाशयति. 4 स्फेटयति. 5 दृष्टया. 6 कृत्वा. 7 दूरीकृत्य. 8 विस्तारयति. 9 स पूजितः. 10 लोके । ४२) 1 तेन कारणेन. 2 ज्ञान-दर्शनम्. 3 भेदे कृते सति विशेषतः पूज्यम् ।

224) उक्तं च गुणभद्रैः—

य: श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं[2] विद्धि[3] विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात् कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः[4] ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादि[5] गाढेति रूढा ॥ ४२*१

225) शुश्रूषा धर्मरागो जिनगुरुपदयोः पूजनाद्युद्यमश्च
संवेगो[1] निर्विदुच्चैरसमशमरुपास्तिक्यलिङ्गानि येषाम्[3] ।
शङ्काकाङ्क्षाद्यभावो जिनवचनरते धार्मिके बन्धुबुद्धिः
श्रद्धानं सप्ततत्त्व्यामिति[4] गुणनिधयः सद्दृशस्ते[5] ऽपि पूज्याः ॥ ४३

226) दर्शनं प्रथमकारणमुक्तं मुक्तिमन्दिरगतेः[1] मुनिमुख्यैः[2] ।
ज्ञानमत्र[3] सति तावदवश्यं संभवेदपि[4] न वा चरणं तु ॥ ४४

गुणभद्राचार्य कहते हैं---

जो द्वादशांग को सुनकर तत्त्वश्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आगम वचनों के विना सुनें ही किसी अर्थ के ग्रहणमात्र से जो तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न होती है वह अर्थ सम्यग्दर्शन है। आचारांगादिक बारह अङ्ग और अङ्गबाह्य श्रुत के अवगाहन से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। केवलज्ञान से संपूर्ण पदार्थों के देखने पर जो उत्कृष्ट श्रद्धा होती है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन समझना चाहिये ॥ ४२*१ ॥

आगम के सुनने की इच्छा, धर्म में अनुराग, जिनेश्वर और निर्ग्रन्थ गुरुचरणों की पूजा आदि में उद्युक्तता, संवेग – संसारसे भीति, अतिशय निर्वेद – भव व भोगों से विरक्ति, अनुपम शमता – राग-द्वेष का अतिशय अभाव – और आस्तिक्य – दृढतर यथार्थ तत्त्वश्रद्धा; ये सम्यग्दर्शन के चिन्ह जिन के विद्यमान हैं, जो शंका व कांक्षा आदि दोषोंसे रहित हो कर जिन-वचन के प्रेमी ऐसे धार्मिक जन में बन्धुबुद्धि रखते हैं तथा जिनकी जीवादिक सप्त तत्त्वोंमें दृढ श्रद्धा होती है; ऐसे गुणों के निधि स्वरूप वे सम्यग्दृष्टि भी पूज्य हैं ॥ ४३ ॥

श्रेष्ठ मुनियों ने मोक्षरूप महल के प्राप्त करने में सम्यग्दर्शन को प्रमुख कारण कहा है। सम्यग्दर्शन के होनें पर सम्यग्ज्ञान अवश्य उत्पन्न हो जाता है, परन्तु उस के होनेपर सम्यक् चारित्र उत्पन्न हो भी सकता है और नहीं भी उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

यह सम्यग्दर्शन इतर संपूर्ण गुणों की प्राप्ति का कारण, समस्त सुखोंकी निधि, बाधा-

---

४२*१) 1 कृतरुचिः भवति. 2 पुरुषम्. 3 जानीहि. 4 विना. 5 व्याख्याताः कथयन्ति । ४३) 1 निर्वेगः. 2 उपशमयुक्तमुनिगणेषु. 3 सम्यग्दृष्टीनाम्. 4 सप्तानां भावः (समाहारः) सप्ततत्त्वी, तस्यां सप्ततत्त्व्यां विषये. 5 सम्यग्दृष्टयः । ४४) 1 कारणाय. 2 गणधरदेवैः जिनैः वा. 3 दर्शने. 4 भवति ।

227) इदमशेषगुणान्तरसाधनं सकलसौख्यनिधानमबाधनम् ।
कुगतिसंगतिदूरनिवारणं निखिलदारुणदूषणदारणम्[2] ॥ ४५
228) अपगतो[1] ऽपि मुनेश्चरणाद् दृशि स्थिरतरः[2] सुतरां परिपूज्यते[3] ।
शुभमतेर्महतां[4] बहुमानतः परिणतिश्चरणे ऽपि भवेदिति ॥ ४६
229) साधुश्चारित्रहीनो ऽपि समानो नान्यसाधुभिः ।
भग्नो ऽपि शातकुम्भस्य कुम्भो मृत्स्नाघटैरिव ॥ ४७
230) यद्यद् दुःखमासाम्यादनुष्ठानं न दृश्यते ।
केषांचिद् भावचारित्रं तथापि न विहन्यते ॥ ४८
231) सातिचारचरित्राश्च काले ऽत्र[1] किल साधवः ।
कथितास्तीर्थनाथेन[2] तत्[3]तथ्यं[4] कथमन्यथा ॥ ४९
232) कालादिदोषात् केषांचिद्व्यलीकानि[1] विलोक्य ये ।
सर्वत्र कुर्वते ऽनास्थां[2]मात्मानं वञ्चयन्ति ते ॥ ५०

रहित तथा आत्मा को कुगति के – नरक – पशु आदि दुर्गति के – संग से बचाकर समस्त भयंकर दोषोंको नष्ट करनेवाला है ॥ ४५ ॥

कोई मुनि चारित्रसे भ्रष्ट हुआ है, परन्तु यदि वह सम्यग्दर्शन में अतिशय स्थिर है तो वह स्वयं ही पूजा जाता है। कारण यह कि उस निर्मलबुद्धि मुनि की महामुनियोंका अतिशय विनय करने से अथवा महापुरुषों ने बहुमान करनेसे चारित्र में भी आगे प्रवृत्ति हो सकती है ॥ ४६ ॥

जिस तरह सोने का घडा फूटने के बाद भी मिट्टी के अनेक (अच्छे) घडों के समान नहीं होता, उसी प्रकार जैन मुनि चारित्र से हीन होने पर भी अन्य अजैन साधुओं के समान कदापि नहीं होता है। वह उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ ही होता है ॥ ४७॥

यदि आज दुखमा नामक पंचमकाल के प्रभावसे संयम का आचरण नहीं देखा जाता है तो भी किन्हीं साधुओं के भाव चारित्र नष्ट नहीं होता है। चारित्र के परिपालनका अभिप्राय तो रहता ही है ॥ ४८ ॥

इस पंचमकाल में साधुओं का चारित्र सदोष रहेगा, ऐसा जो तीर्थंकरने कहा है वह अन्यथा कैसे हो सकता है ॥ ४९ ॥

काल आदि के दोष से कुछ साधुओं में दोषों को देख कर जो भव्य सभी जैन साधुओं में अश्रद्धा करते हैं वे अपने आपको ही धोखा देते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥५० ॥

---

४५) 1 दर्शनम्. 2 विदारकम् । ४६) 1 रहितः. 2 कथंभूतः मुनिः, दृशि स्थिरतरः. 3 द्रव्यलिङ्गी. 4 मुनेः । ४७) 1 परदर्शनयतिभिः. 2 मृत्तिका । ४८) 1 पञ्चमकालविशेषात् । ४९) 1 पञ्चमकाले. 2 [illegible]विदेवेन. 3 वचनम्. 4 सत्यम् । ५०) 1 असत्यानि. 2 अनादरं निन्दां वा ।

233) वहन्ति चेतसा[1] द्वेषं वाचा गृह्णन्ति दूषणम् ।
अनम्रकायाः[2] साधूनामधमा दर्शनद्विषः[3] ॥ ५१

234) इहैवानिष्टाः शिष्टानां मृता यास्यन्ति दुर्गतिम् ।
द्राघयिष्यन्ति[1] संसारमनन्तं क्लिष्टमानसाः ॥ ५२

235) इदं विचिन्त्यातिविविक्तचेतसा यमेव किंचिद्गुणमल्पमञ्जसा[1] ।
विलोक्य साधुं बहुमानतः सुधीः प्रपूजयेत्पूर्णमिवाखिलैर्गुणैः ॥ ५३

236) तथा लभेताविकलं[1] फलं जनो निजाद्विशुद्धात्परिणामतः स्फुटम् ।
अभीष्टमेतत् प्रतिमादिपूजने फलं समारोपसमर्पितं[2] सताम् ॥ ५४

237) काष्ठोपलादीन् देवबुद्ध्या ये पूजयन्त्यत्र विशिष्टभावाः ।
ते प्राप्नुवन्त्येव शुभानि नूनं प्रत्यक्षसाधोः किमु पूजनेन ॥ ५५

जो मन से साधुओं में द्वेष करते हैं, वचन से उनके दोषोंका प्रतिपादन करते हैं और जो साधुओं को देखकर शरीरके द्वारा विनय को प्रकट नहीं करते हैं – उनकी वन्दना आदि नहीं करते हैं – वे नीच सम्यग्दर्शनके द्वेषी हैं ॥ ५१ ॥

जो सम्यग्दृष्टिओं को अनिष्ट (मिथ्यादृष्टि) मानते हैं, वे मन में क्लेशका अनुभव करते हुए मरणोत्तर दुर्गति में – नरक-तिर्यंच गति में – जाते हैं और अपने संसार में अनन्त कालतक बढाते हैं ॥ ५२ ॥

यह सोचकर बुद्धिमान् मनुष्य जिस साधु को कुछ थोडे से गुणोंसे संयुक्त व अल्प (हीन) देखता है उसे वास्तव में वह समस्त गुणों में परिपूर्ण जैसा मानकर उसकी निर्मल अन्तःकरण से बहुत विनय के साथ पूजा करें ॥ ५३ ॥

ऐसा करने से भव्य जन अपने विशुद्ध परिणामों से निश्चयतः पूर्ण फल को प्राप्त करता है । तथा स्थापना निक्षेप के आश्रय से प्रतिमादिक पूजन में जो फल प्राप्त होता है वह सत्पुरुषों को अभीष्ट है ॥ ५४ ॥

जो विशिष्ट परिणामोंसे संयुक्त भव्य जीव यहाँ देवबुद्धि से –यथार्थ देव मानकर– लकडी एवं पाषाण आदिसे निर्मित मूर्तियों की – पूजा किया करते हैं वे निश्चयसे शुभ फलों को प्राप्त करते हैं । फिर भला प्रत्यक्ष में स्थित साधु की पूजा करने से क्या वह फल नहीं प्राप्त होगा ॥ ५५ ॥

---

५१) 1 मानसेन. 2 अविनीताः. 3 शत्रवः । ५२) 1 दीर्घतरम् । ५३) 1 सामस्त्येन । ५४) 1 परिपूर्णम्. 2 समारोपणेन ।

238) कालोचितं[1] साधुजनं त्यजन्तो[2] मार्गन्ति[3] ये ऽन्यं कुधियः सुसाधुम् ।
ते दातृपात्रद्वितयाद्धीना यास्यन्ति दुर्योनिषु दुर्दुरूढाः[4] ॥ ५६

239) ग्रासादिमात्रदाने ऽपि पात्रापात्रपरीक्षणम् ।
क्षुद्राः कुर्वन्ति ये केचित् न तत् स्याच्छिष्टलक्षणम् ॥ ५७

240) गेहे समागते साधौ[1] भेषजादिसमीहया ।
अवज्ञा क्रियते यत्तत् पातकं किमतः परम् ॥ ५८

241) अन्यत्रापि[1] सधर्मचारिणि जने मान्ये[2] विशेषान्मुनौ
दृष्टे साधुनिधौ निधावनिधने[3] बन्धाविवातिप्रिये ।
यस्योल्लासविकासहाससुभगे स्यातां[4] न नेत्रानने[5]
दूरे तस्य जिनो वचो ऽपि हृदये जैनं[6] न संतिष्ठते ॥५९

242) विलोक्य साधुलोकं यो विकासितविलोचनः ।
अमन्दानन्दसंदोहः स्यात् स देही[1] सुदर्शनः ॥ ६०

जो दुर्बुद्धि मानव कालोचित – समयपर प्राप्त हुए – साधुओं को छोडकर अन्य उत्तम साधुओं को ढूंढते हैं वे दुर्जन उन्हें दान न देनेके कारण दाता और पात्र दोनों से रहित हो कर दुःखदायक योनियों में परिभ्रमण करेंगे ॥ ५६ ॥

जो कितने ही क्षुद्र मनुष्य आहारादि मात्र के देने में भी पात्र – अपात्र की परीक्षा करते हैं, उनमें सज्जनों का लक्षण नहीं है ॥ ५७ ॥

औषध आदिकी इच्छा से साधु घर आने पर जो उनकी अवज्ञा की जाती है उससे अधिक पाप और अन्य क्या हो सकता है ? उसे महापाप ही समझना चाहिये ॥ ५८ ॥

सन्मान के योग्य अन्य भी – गृहस्थ भी – सार्धमिक जनके, विशेषकर साधुओं में श्रेष्ठ मुनि के दृष्टिगोचर होनेपर अविनश्वर निधि अथवा अतिशय स्नेही बंधु के दृष्टिगोचर होने के समान जिस सत्पुरुष के नेत्र और मुख आनन्द, प्रफुल्लता एवं हास्य से सुन्दर नहीं होते हैं उसके हृदय में जिन भगवान् तो दूर रहें, किन्तु उनके वचन भी – उनका सदुपदेश भी – स्थित नहीं रह सकता है ॥ ५९ ॥

साधु जन को देखकर जिस के नेत्र आनन्द से प्रफुल्लित हो उठते हैं, तथा जिसके हृदय में अतिशय आनंद का प्रवाह उत्पन्न होता है उस मनुष्य को सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये ॥ ६० ॥

---

५६) 1 यथावसरम्. 2 त्यजन्तः सन्तः 3 वाञ्छन्ति. 4 दुष्टाः । ५८) 1 विषये । ५९) 1 कुत्रापि 2 पूज्य. 3 P °[illegible]. 4 द्वे भवेताम्. 5 नेत्रमुखे. 6 जैनं वचोऽपि । ६०) 1 जीवः ।

243) इदं दर्शनसर्वस्वमिदं[1] दर्शनजीवितम् ।
प्रधानं दर्शनस्येदं यद्वात्सल्यं सधर्मणि ॥ ६१

244) येषां[1] तीर्थकरेषु भक्तिरतुला पापे जुगुप्सा[2] परा
दाक्षिण्यं समुदारता सममतिः[3] सत्त्वोपकारे रतिः ।
ते सद्धर्ममहाभरैकधवलाः पोता भवाम्भोनिधौ
भव्यानां पततां पवित्रितधराः पात्रं परं सद्दृशः[4] ॥ ६२

245) चारित्रिण[1]स्तृणमणीन् गणयन्ति तुल्यान्
पश्यन्ति मित्रमिव शत्रुमरागरोषाः ।
किं भूयसा[2] निजवपुष्यपि निर्ममत्वा
ये ते परं त्रिभुवनार्चितमत्र[3] पात्रम् ॥ ६३

246) ये नित्यं प्राणिरक्षाप्रणिहितमतयो[1] ऽसत्यसंत्यागयुक्ता-
स्त्यक्तस्तेया मृगाक्षीमुखकमलविमुखा मुक्तमुक्तादि[2]मूर्च्छाः ।
मूर्ता धर्मा इवैते जितमदमदना मन्दिरं मन्दरागाः
पादीयैः पांशुपातै[3]रिह यतिपतयः पुण्यभाजां पुनन्ति[4] ॥ ६४

साधर्मिक जन के प्रति जो अनुराग प्रकट किया जाता है, इसे सम्यग्दर्शन का सर्वस्व तथा उक्त सम्यग्दर्शन का प्राण और प्रधान समझना चाहिये ॥ ६१ ॥

जिन महापुरुषों के, तीर्थंकरों के विषय में अनुपम भक्ति, पापाचरण में अतिशय ग्लानि सरलता, उदारता, समबुद्धि – राग-द्वेष का अभाव – और प्राणियों के उपकार में अनुराग हुआ करता है, वे असाधारण बैल के समान समीचीन धर्म के महाभार के धारण करने में समर्थ और संसाररूप समुद्र में गिरते हुए भव्य जीवों के लिये जहाज के समान हुआ करते हैं। पृथिवी को पवित्र करनेवाले वे सम्यग्दृष्टि मनुष्य उत्कृष्ट पात्र के समान होते हैं ॥६२ ॥

चारित्र के धारक जो मुनिराज तृण और रत्नों में समान बुद्धि रखते हैं, जो राग-द्वेष से रहित होते हुए शत्रु और मित्र को समान समझते हैं; और अधिक कहने से क्या, किन्तु जो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं, वे त्रैलोक्य से पूजित उत्कृष्ट पात्र हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ६३ ॥

जो सदा प्राणियों की रक्षा में सावधानतापूर्वक अपनी बुद्धि को लगाते हैं, जिन्हों ने

---

६१) 1 जैनमतस्य सम्यग्दर्शनस्य वत् । ६२) 1 मुनीनां श्रावकानां वा. 2 निन्दा. 3 उपशमे मतिः. 4 सम्यग्दृष्टयः.। ६३) 1 मुनयः चारित्रयुक्ताः. 2 किं बहुना. 3 लोके । ६४) 1 सावधानयुक्ता मतयः. 2 मुक्ताफलादि. 3 पादधूलिभिः. 4 पात्रं [पवित्रं] कुर्वन्ति ।

247) बन्धून् बन्धनिबन्धनं[1] सनिधनं[2] बाध्यं[3] धनं धीधना-
श्चित्रं पुत्रकलत्रमित्रनिवहं[4] निर्यन्त्रणाकारणम्[5] ।
ये[6] संचिन्त्य विचारचारुमतयो निर्मुक्तये[7] तस्थिरे[8]
ते चिन्तामणिवद्भवन्ति भविनां पुण्यात्मनां मन्दिरे ॥ ६५

248) ये स्त्रैणं[1] न तृणाय रूपरुचिरं लोष्टाय नाष्टापदं[2]
रम्यं धाम[3] सुधाविधानधवलं प्रालेयशैलोपमम्[4] ।
मन्यन्ते न कुटीरकाय मुनयो धन्यस्य[5] धामाजिरे[6]
ते तिष्ठन्ति महौषधानि यदि वा[7] स्युः पुण्यभाजः[8] करे ॥ ६६

249) तथ्यं[1] पथ्यं[2]मगर्वितं सुनिपुणं[3] माधुर्यवर्यं[4] वचः
कार्येण प्रविचार्य जल्पति धिया यो ऽल्पं विकल्पक्षमम् ।
धन्यैर्मन्दिरचत्वरे[5] मुनिगणश्चैवंविधो ऽवाप्यते[6]
सत्कल्पद्रुमपादपः परिसरे[7] पुण्यात्मभिर्लभ्यते ॥ ६७

असत्य का त्याग कर दिया है, जो चोरी से दूर व स्त्री के मुखावलोकन जनित सुख से विमुख हैं, जिनका मोती आदि से ममत्व नष्ट हो चुका है, जो मानो मूर्तिमान धर्म के ही समान हैं, जिन्हों ने गर्व और काम को जीत लिया है, तथा जिनका राग-भाव मन्द हुआ है; ऐसे वे मुनिराज अपने चरणरज से पुण्यवानों के घर को पवित्र किया करते हैं ॥ ६४ ॥

जो निर्मल बुद्धिरूप धन के धारक सज्जन बन्धुओं को कर्मबन्ध के कारण, धन को नश्वर और पीडा का कारण, तथा पुत्र, पत्नी एवं मित्रों के समुदाय को अनेक दुःखों का कारण समझ कर विवेक से सुन्दर बुद्धि को धारण करते हैं वे मुक्ति प्राप्ति के लिये स्थिर रत्नत्रय में उद्यत होते हुए पुण्यवान भव्य जनों के भवन में चिन्तामणि के समान सुशोभित होते हैं ॥ ६५ ॥

जो सुन्दर युवतिसमूह को घास के समान व सुवर्ण को मिट्टी के ढेले के समान भी नहीं मानते हैं, जो चूना के पोतने से शुभ्र ऐसे हिमालय पर्वत के समान उन्नत सुंदर प्रासाद को घास की झोंपडी के समान भी नहीं समझते है, ऐसे वे मुनिराज पुण्यवान् पुरुष के गृह के मध्य में आकर रहते हैं अथवा मानो वे पुण्यवान् भव्य के हाथ में महान् औषधि के समान प्राप्त होते हैं ॥ ६६ ॥

जो मुनिसमूह कार्यवश बुद्धिसे अतिशय विचार करके सत्य हितकर, गर्व से रहित व

६५) 1 बन्धनकारणम्. 2 सविनाशम्. 3 बाधाकारकम्. 4 समूहम्. 5 पीडानाम्. 6 मुनयः 7 मुक्तिकारणाय. 8 स्थितवन्तः । ६६) 1 स्त्रीणां रूपं स्त्रैणम्. 2 सुवर्णम्. 3 गृहम्. 4 हिमालयसदृशम्. 5 पुण्यपुरुषस्य. 6 गृहप्राङ्गणे. 7 इव. 8 पुण्यपुरुषस्य । ६७) 1 सत्यम्. 2 हितम्. 3 प्रवीणम्. 4 मिष्टतया प्रधानम्. 5 गृहप्राङ्गणे 6 लभ्यते. 7 गृहनिकट ।

250) युक्तायुक्तविचारचञ्चुरधियः[1] पञ्चास्तिकायादिषु[2]
मिश्राचित्तसचित्तवस्तुविषयां कुर्युः[3] परिस्थापनाम्[4] ।
प्राणित्राण[5]परायणाः सुकृतिनाम्[6] आयान्ति ते[7] मन्दिरे
कामं[8] कामदुघा विशन्ति सदने गावो हि पुण्यात्मनाम् ॥ ६८

251) यो[1] मञ्जीरकमञ्जु[2]सिञ्जितरवैः[3] श्रीराजहंसस्वनं
न्यक्कुर्वाण[4]मलं विलोक्य ललनालोकं लसन्मेखलम् ।
पन्थानं मथितोरुमन्मथशरः पश्यन् शनैर्गच्छति[5]
धन्यस्यैष[6] गृहाङ्गणं मुनिगणः पादैः समाक्रामति ॥ ६९

252) त्रिभुवनमिदं व्याप्तं चित्रै[1]श्चराचर[2]जन्तुभिः
स्वभरणपरैः[3] पीडां कर्तुं परस्य सदोद्यतैः[4] ।
कथमपि तनुत्यागे ऽप्यन्यं हिनस्ति न[5] यः सदा
कथमिव मुनिर्मान्यो न स्यात्स देव इवापरः[6] ॥ ७०

चातुर्य से परिपूर्ण ऐसे उत्तम एवं मधुर वचन को परिमित मात्रा में बोलता है, जो वस्तु के निर्णय करने में समर्थ होता है, ऐसे मुनिसमूह को भाग्यवान पुरुष ही अपने गृहके आँगनमें प्राप्त किया करते हैं । सो ठीक भी है, अपने घरके आँगन में उत्तम कल्पवृक्ष पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥

जिनकी बुद्धि जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकाय द्रव्यों के संबंध में योग्य व अयोग्य का विचार करने में दक्ष है; जो मिश्र–सचित्त-अचित्त, अचित्त और सचित्त वस्तुओं के विषय में परिस्थापना – परित्याग अथवा विचार –करते हैं; तथा जो प्राणिरक्षण में सदा तत्पर रहते हैं; ऐसे वे उत्तम पात्र पुण्यशाली जन के घर पर आया करते हैं । ठीक है – अतिशय अभीष्ट को प्रदान करनेवाली कामधेनु गायें पुण्यात्मा पुरुषों के घर में ही प्रविष्ट हुआ करती हैं ॥ ६८ ॥

जो मुनिसमूह नूपुरों की मनोहर अव्यक्त ध्वनि से राजहंस की आवाज को अतिशय तिरस्कृत करनेवाले और कटिभाग को विभूषित करनेवाली करधनी से सुशोभित ऐसे रमणीजन को देखकर काम के प्रबल बाणों को नष्ट करता है – उसके वशीभूत नहीं होता है– तथा मार्ग को देखकर मन्दगति से – ईर्यासमिति से – गमन करता है ऐसा वह साधुसमूह अपने पाँवोंसे चलकर भाग्यशाली पुरुष के गृह के आँगन मे पहुँचता है ॥ ६९ ॥

अपना पेट भरने के लिये अन्य को सदा पीडा देने में उद्युक्त हुये अनेक प्रकार के त्रस-

६८) 1 मुनयः. 2 द्रव्यपदार्थादिषु. 3 कुर्वन्ति. 4 त्यागम्. 5 रक्षा. 6 पुण्यवताम्. 7 मुनयः. 8 अत्यर्थम्. ६९) 1 मुनिगणः. 2 नूपुरमनोज्ञम्. 3 नूपुरशब्दः. स्वनिते वस्त्रपर्णानां भूषणानां तु शिञ्जितम्, अभिधानम्. 4 निर्धाटितं वा जितम्. 5 यो मुनिगणः पश्यन् सन् मन्दं मन्दं गच्छति. 6 मुनिगणः ७०) 1 नानाप्रकारैः. 2 त्रसस्थावररूपम्. 3 परमांसैरात्मोदरपूरकैः. 4 उद्यमपरायणैर्जीवैः. 5 न मारयति. 6 प्रकृष्टः ।

253) लोभक्रोधाद्यैः प्राणनाशे ऽप्यसत्यं
ये नो भाषन्ते ऽशेषभाषाविधिज्ञाः[1] ।
लोकातिक्रान्तैः क्रान्त[illegible]न्तारुसत्त्वाः
सत्त्वं[2] स्ते वाचा ऽप्येनसो[3] दूरयन्ति ॥ ७१

254) निपतितमपि किंचित् काञ्चनाद्यन्यदीयं[1]
विषविषधरकल्पं कलयन्त्य[2]प्यनल्पम् ।
विजितविषमलोभा ये जगज्जात[3]शोभा
गृहमतिशुभभाजां[4] ते भजन्ते[5] यतीन्द्राः ॥ ७२

255) रामाणां नयने[1] पयोजजयिनी[2] लोले[3] पयोबुद्बुदौ[4]
स[illegible]न्तौ कलशोपमौ घनकुचौ पीनौ च मांसा[illegible]दौ[5] ।
वक्त्रं पूर्णशशाङ्ककान्ति कलये[6]च्चर्मोपनद्धास्थिकं
यः सद्भावनया सतां स भवनं पुण्यात् पुनीते[7] मुनिः ॥ ७३

स्थावर जन्तुओं से यह त्रैलोक्य व्याप्त हो रहा है। परन्तु जो शरीर के त्याग करने का प्रसंग आनेपर भी किसी प्रकार से भी अन्य प्राणी का घात नहीं किया करता है ऐसा अहिंसा महाव्रत का धारक मुनि, भला दूसरे देव के समान, कैसे मान्य – आराधनीय नहीं होता है?॥७०॥

समस्त भाषाओं के विधान को जाननेवाले जो मुनि प्राणोंके नष्ट होनेपर कभी क्रोध व लोभ आदिके वशीभूत हो कर असत्य नहीं बोलते हैं तथा लोक का उल्लंघन करनेवाले अपने लौकिक गुणों से जो उच्च मान्य पुरुषों को उल्लंघनेवाले हैं, ऐसे वे सत्य महाव्रत के धारक मुनि अपनी वाणीसे भी प्राणियों को पाप से दूर किया करते हैं ॥ ७१ ॥

जो मुनिजन मार्ग आदि में गिरे हुए दूसरे के सुवर्ण आदि किसीपदार्थ को थोडीसी भी मात्रा में ग्रहण न कर के उसे विष अथवा सर्प के समान घातक समझते हैं और इसीलिये भयानक लोभ के जीत लेने से जो लोक में शोभाको प्राप्त हुए हैं ऐसे वे अचौर्य महाव्रत के धारक मुनिराज अतिशय भाग्यशाली महापुरुषों के घर को जाते हैं ॥ ७२॥

जो साधु कमल को जीतनेवाले स्त्रियों के चंचल नेत्रोंको अस्थिर जल बुद्बुदों के समान, घट के समान मनोहर, सघन व स्थूल स्तनों को मांसकी कीलों के सदृश और पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्तिवाले मुखको चमडे से ढकी हुई हड्डियों से व्याप्त देखता है, वह ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारक साधु सद्भावना से सत्पुरुषों के घरको उनके पुण्योदय से ही पवित्र किया करता है ॥ ७३ ॥

---

७१) ज्ञातारः. 2 जीवान्. 3 पापानि । ७२) 1 परकीयम्. 2 विचारयन्ति. 3 प्राप्त. 4 अतिपुण्यवताम्. 5 आप्नुवन्ति । ७३) 1 द्वे नयने. 2 कमलजयिनी. 3 चञ्चले नेत्रे द्वे. 4 जलबुद्बुदौ गणयति 5 मांसपिण्डौ रूपौ वा सदृशौ पश्यति. 6 यः मन्येत. 7 पवित्रीकरोति ।

256) हरिहरप्रमुखं सुरासुरं जितवतः[1] स्वशरैर्भुवनत्रयम्[2] ।
विजयिनं मदनस्य[3] मदच्छिदं[4] नमति कः सुमतिर्न मुनीश्वरम् ॥ ७४

257) न वीतरागादपरो ऽस्ति देवो न ब्रह्मचर्याद[परं] तपो ऽस्ति ।
नाभीतिदानात्[1] परमस्ति दानं चरित्रिणो नापरमस्ति पूतम्[2] ॥ ७५

258) विश्वं येन[1] वशीकृतं कृतधियो ऽकृत्ये[2] कृताः सोद्यमा
भाण्डाद्या विकृता[:...] नटभटाश्चित्राकृती[3] कारिताः ।
तं निर्जित्य परिग्रहग्रहमहो ये ऽध्यात्मचिन्ता[:] ता
धन्यस्यैव[4] तपोधना गुणधना धामानि ते ऽध्यासते[5] ॥ ७६

259) निर्मग्नलोकं गुरुलोभसागरं तरन्ति संतोषतरण्डकेन ।
न पादपद्मैरिह सद्म[1] निःस्पृहाः स्पृशन्ति ते पातकिनां तपोधनाः ॥ ७७

जिसने विष्णु और महादेव को आदि ले कर देव व दानवों सहित तीनों ही लोकों को अपने पुष्पमय बाणों के द्वारा जीत लिया ऐसे उस जगद्विजयी कामदेवके भी मान को मर्दित करने वाले काम विजेता मुनिराज को कौनसा निर्मल बुद्धिधारक मनुष्य नमस्कार नहीं करता है ? अर्थात् उस की सब ही विवेकी जन आराधना किया करते हैं ॥ ७४ ॥

लोक में वीतरागको छोडकर दूसरा कोई देव, ब्रह्मचर्य को छोडकर दूसरा कोई तप, अभयदान को छोडकर दूसरा कोई दान और चारित्र के परिपालक मुनिराज को छोडकर दूसरा कोई पवित्र प्राणी नहीं है ॥ ७५ ॥

जिस परिग्रह रूप ग्रहने विश्वको अपने अधीन कर लिया, बुद्धिमानों को प्रयत्नपूर्वक अकृत्य में नियुक्त किया, भांड (बहुरूपिया) आदिकों को विकारयुक्त किया और श्रेष्ठ नटों (अथवा नट एवं सुभटों) को अनेक आकृति के धारक बना दिया, ऐसे उस परिग्रहरूप पिशाच को जीतकर जो आत्मध्यान में लीन हुए हैं ऐसे वे समीचीन गुणरूप धन के धारक तपोधन परिग्रह महाव्रती मुनिराज किसी पुण्यवान के ही घर में प्रवेश करते हैं । सामान्य जनों के लिये वे दुर्लभ हैं ॥ ७६ ॥

जिस लोभ रूप महासमुद्र में समस्त लोक ही निमग्न हो रहा है उस अपार लोभरूप समुद्र को जो संतोष रूप नौका के द्वारा पार कर चुके हैं, ऐसे वे निःस्पृह तपोधन मुनिराज पापियों के घर को अपने चरण कमलों से स्पर्श नहीं करते हैं ॥ ७७ ॥

---

७४) 1 जेता. 2 स्वबाणैः. 3 कामस्य. 4 मदविनाशकम् । ७५) 1 न अभयदानात्. 2 पवित्रम् । ७६) 1 परिग्रहग्रहेण. 2 अकार्ये. 3 नानाप्रकाराः. 4 पुण्यवतः मन्दिरे. 5 आश्रयन्ति तिष्ठन्ति ।७७) 1 गृहम् ।

260) एवंविधानि पात्राणि पवित्रितजगन्त्यहो ।
किर्यान्त सन्ति लोके ऽत्र[1] कियन्तः कल्पपादपाः ॥ ७८

261) प्रायो ऽस्ति नैकगुणमत्र[1]ममत्रमत्र[2]
द्वित्रैर्गुणैरनुगतं[3] सुतरां दुरापम्[4] ।
मत्वेति पात्रमुपलभ्य[5] विचक्षणानां
नोपेक्षणं क्षणमपि क्षमते क्षमाणाम् ॥ ७९

262) यतिपतिभिरसंगैः[1] संगतिः पुण्यलभ्या
परिणतिरपि दाने दुर्लभा मन्दभाग्यैः[2] ।
उचितमुचितमुच्चैर्वस्तु[3] देयं[4] दुरापं
त्रितयमिदं[5] दातुः[6] को ऽप्यवाप्नोति पुण्यैः[7] ॥ ८०

263) प्राप्ते ऽपि पात्रे सुलभं न वित्तं
वित्ते ऽपि पुण्यैः पुनरेति चित्तम् ।
दाने त्रयं को ऽपि भवाब्धिसेतुं[1]
प्राप्नोति कल्याणकलापहेतुम्[2][3] ॥ ८१

लोक को पवित्र करने वाले वे पात्र भला संसार में कितने हैं ? अर्थात् ऐसे उत्तम पात्र लोक में क्वचित् ही उपलब्ध होते हैं । सो ठीक भी है, क्यों कि, यहाँ लोक में कल्पवृक्ष कितने हैं ? ॥ ७८ ॥

लोक में प्रायः सम्यग्दर्शनादि गुणों में से केवल एक किसी गुण से युक्त भी पात्र नहीं उपलब्ध होता है, फिर भला दो – तीन गुणों से युक्त वह पात्र तो स्वयं अतिशय दुर्लभ होगा, ऐसा समझ कर जो चतुर एवं समर्थ दाता हैं वे उनकी उपेक्षा एक क्षण के लिये भी सहन नहीं करते हैं ॥ ७९ ॥

निर्ग्रंथ – परिग्रह रहित – मुनियों की संगति पुण्य से प्राप्त होती है, मन्द भाग्यवाले के मन में दान देने का विचार आना भी दुर्लभ है, इसके साथ देने के योग्य उत्तम वस्तु (आहारादि) भी अतिशय दुर्लभ होती है । पात्र, दान देनेका विचार और उत्तम देय (आहारादि) वस्तु, इन तीनों को प्राप्ति पूर्व पुण्योदय से महान् पुरुषोंको ही होती है ॥ ८० ॥

पात्र के प्राप्त होने पर भी किसी किसी को धन के अभाव में उसके लिये देने योग्य

७८) 1 अस्मिन् संसारे. 2 दातारः । ७९) 1 [पात्रं =] ऋषि. 2 संसारे. 3 युक्तम्. 4 दुष्प्रापं. 5 प्राप्य । ८०) 1 बाह्याभ्यन्तरसंगरहितैः. 2 पुरुषैः. 3 योग्यं योग्यं. 4 अन्नादिकं भक्ष्यवस्तु. 5 यतेः संगतिर्दाने परिणतिः अन्नादिभक्ष्यवस्तु. 6 इदं त्रिकम्. 7 पुण्यैः कृत्वा प्राप्ते सति । ८१) 1 संसारसमुद्रे किं पात्रं वित्तं चित्तं इति त्रयं फलम्. 2 गर्भादि. 3 कारणम् ।

264) दुरापमिदमुच्चकैस्त्रयम्[1]अवाप्य पुण्योदयात्
प्रमत्तसकलं जना न हि विलम्बितुं संगतम् ।
विलोक्य मुनिसंकुलं विमलधीर्निधानं परं[2]
विधानविदपि हितं बत[3] विलम्बते को ऽपि किम् ॥ ८२

265) त्यागो भोगो विनाशश्च विभवस्य त्रयी गतिः ।
द्वे[1] यस्याद्ये न विद्येते नाशस्तस्यावशिष्यते[2] ॥ ८३

266) दायादा[1] आददन्ते[2] दहति हुतवहो[3] वारनार्यो[4] हरन्ति
स्तेना मुष्णन्ति[5] भूपो ऽपहरति[6] रटतां[7] मारयित्वा कृकाटिम् ।
मूढानां याति बाढं धनमिति निधनं[8] धीधना[9] धीधनानां
साधूनामर्पयित्वा[10] ऽस्खलितमगलितं[11] पालितं भुञ्जते ऽग्रे ॥ ८४

आहारादि सामग्री सरलता से प्राप्त नहीं होती, फिर यदि इस योग्य धन भी हुआ तो दान देने का विचार भी मन में पुण्योदय से ही प्रादुर्भूत होता है । दान के निमित्त संसाररूप समुद्र से पार करने के लिये पुल के समान हो कर जो कल्याण परंपरा की कारणभूत उपर्युक्त तीनों की प्राप्ति होती है वह किसी विरले ही पुण्यात्मा को हुआ करती है ॥ ८१॥

हे भव्यजनो ! पूर्व पुण्योदय से उन अतिशय दुर्लभ तीनों के प्राप्त हो जाने पर फिर प्रमाद के वशीभूत हो कर विलंब करना योग्य नहीं है । क्या कोई ऐसा निर्मलबुद्धि मनुष्य है जो उत्कृष्ट निधिके समान हितकारक मुनि को देखकर विधि को जानता हुआ भी इसके लिये विलम्ब करता है ? ॥ ८२ ॥

दान, उपभोग और नाश ये धन की तीन अवस्थाएँ होती हैं । जिस सत्पुरुष के यहां उस धन की त्याग और भोग ये दो प्रथम अवस्थाएँ नहीं हैं, उस के उस धन की नाश रूप तीसरी अवस्था ही शेष रह जाती है ॥ ८३ ॥

मूर्खों के धन को उनकी मृत्यु के पश्चात् जो कुटुम्बीजन नियमानुसार उसके अधिकारी होते हैं वे ग्रहण कर लिया करते हैं, कभी कभी उसको अग्नि भस्मसात् कर देती है, यदि व्यसनी हुए तो वेश्याएँ उसे खा डालती हैं, अवसर मिलने पर चोर उसे चुरा लेते हैं, अथवा अपराधी प्रमाणित होनेसे उनके रोते चिल्लाते रहने पर भी गला दबा कर राजा उसका अपहरण करा लेता है; इस प्रकार उन मूर्खों का धन पात्रदान के बिना यों ही अतिशय नाश को प्राप्त हो जाता है । किन्तु उसके विपरीत बुद्धिमान सत्पुरुष उसे आहारादि के रूप में बुद्धिमान

८२) 1 वित्तं चित्तं पात्रम्. 2 प्रकृष्टम्. 3 अहो । ८३) 1 त्यागभोगौ. 2 त्रिषुमध्ये न(?)। ८४) 1 सापत्ना भ्रातरः. 2 गृह्णते. 3 अग्निः. 4 वेश्यादयः. 5 चौराश्चोरयन्ति. 6 राजा गृह्णाति. 7 क्रन्दनं कुर्वताम्. 8 विनाशम्. 9 दातारः. 10 समर्पयित्वा. 11 पूर्णम् ।

267) वियोगेनायोगो[1] भवति विभवैश्चेद्विभविनां[3]
विना किंचित्कार्यं जनितपरितापः परवशः ।
वरं[4] धर्मायासौ[5] विमलयशसे तोषितपरः
प्रमोदाय स्वस्य[6] स्ववशविहितः साधितहितः ॥ ८५

268) अनन्तगुणमक्षयं भवति रक्षितं[1] साधुभिः
सुपात्रविनियोजितं ननु[2] परत्र धर्मार्थिनम् ।
प्रयाति निधनं[3] धनं सदनसंचितं निश्चितं
तथापि न धनप्रिया[4] ददति[5] मोहराजो[6] बली ॥ ८६

269) ददति[1] सति कदाचिन्मूलनाशे ऽपि लोभात्
इह[2] हि शतसहस्रं[3] लाभसंभावनायाम् ।
ध्रुवबहुगुणलाभे नो परत्रार्थनाथा[5]
जयति जनसमूहं मोहयन् मोहमल्लः ॥ ८७

साधुओंको दे कर विना गिरे पडे संरक्षित व अविनश्वर रूप से उसका उपभोग किया करते हैं। इस प्रकार उन बुद्धिमानोंका धन नष्ट न हो कर भविष्य में भी बना रहता है ॥ ८४ ॥

यदि धनिकों के धन का नाश नहीं हुआ अर्थात् वह यदि उनके पास बना रहा तो वह धन विना किसी प्रयोजन के ही दूसरों को पीडा देनेका कारण व पराधीन होगा। जो वैभव धर्म और निर्मल लोगोंको सन्तुष्ट करता है वही वैभव योग्य है। ऐसा धन दाता के अधीन रहकर उसे आनंदित करता है वह उसके हित का कारण होता है ॥ ८५॥

उत्तम पात्र में प्रयुक्त हुआ धर्माभिलाषी जनों का धन साधुजनों से संरक्षित हो कर पर भव में पूर्व की अपेक्षा अनन्त गुणी व अविनश्वर होता है, यह निश्चित है। तथा उसके विपरीत जो धन घर में ही संचित रहता है वह धन की ऐसी स्थिति होने पर नष्ट होता है। धनानुरागी जन सत्पात्र में उसका सदुपयोग नहीं करते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि मोहरूप राजा बलवान् है ॥ ८६ ॥

लोक में लाखों के लाभ की संभावना के होने पर धनवान् मनुष्य लोभ के वशीभूत हो कर उस धन के समूल नष्ट हो जाने पर भी लाखों दे डालते हैं। परन्तु परलोक में निश्चित ही बहुत गुणों के लाभ की सम्भावना के होने पर वे उस धन को नहीं दिया करते हैं — पात्र-

---

८५) 1 व्ययः. 2 विभूतिभिः सह. 3 संपदा युक्तानां पुरुषाणाम्. 4 धर्मकार्याय श्रेष्ठम्. 5 असौ प्रयोगः. 6 आत्मनः । ८६) 1 रक्षितं धनम्, कैः साधुभिः. 2 अहो. 3 विनाशम्. 4 धनिनः. 5 न प्रयच्छन्ति. 6 मोहराजः । ८७) 1 प्रयच्छन्ति. 2 लोके. 3 बहुतरं धनम्. 4 परत्र विषये. 5 धनिनः ।

270) भोगारम्भपरिग्रहाग्रहवतां[1] शीलं तपो भावना
दुःसाध्या गृहमेधिनां धनवतां दानं सुदानं पुनः[2] ।
यस्तत्रापि[3] निरुद्यमो द्रमकधी रौद्रं समुद्रोपमं
संसारं स[4] कुतस्तरिष्यति नरो दुष्कर्मपापाकुलम् ॥ ८८

271) प्रकृतिचपलं पुंसां चित्तं प्रगच्छति तस्ततः
कथमपि यदा पुण्यैर्यातं विहायितसंमुखम्[1] ।
भवति न तदा कालक्षेपः[2] क्षमो विदुषामहो
पुनरपि भवत्यादृक् नो वा[3] चलं[4] सकलं यतः[5] ॥ ८९

272) प्राप्ते त्रये[1] ये गमयन्ति कालं ते वेगगच्छत्तरिकाधिरूढाः[2] ।
मूढा गृहीतुं प्रतिपालयन्ते रत्नाकरे रत्नमयत्नदृष्टम् ॥ ९०

दान में उसका सदुपयोग नहीं किया करते हैं। इसका कारण जो समस्त प्राणिसमूह को जीतने- वाला मोहरूप सुभट है वह जयवन्त रहा है । ॥ ८७ ॥

जो धनवान् गृहस्थ पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोग, आरम्भ और परिग्रह में आसक्त रहते हैं उनके लिये शील, तप व मैत्र्यादि भावनाएँ दु:साध्य – दुर्लभ – होती हैं । ऐसे गृहस्थोंके लिये दान और वह भी सत्पात्र दान करना अशक्य होता है । जो द्रमकधी – रुपये पैसे में बुद्धि रखनेवाला कृपण – शील व तप आदि की तो बात दूर, किन्तु उस दान में भी उद्यमरहित होता है – उसके लिये उत्सुकतापूर्वक कुछ प्रयत्न नहीं करता है – वह दुराचरण रूप पाप से परिपूर्ण व समुद्र के समान अपार इस भयानक संसार को कहाँ से पार कर सकता है ? ॥८८॥

पुरुषोंका मन स्वभावत: चंचल होता है, इसीलिये वह इधर उधर दौडता है । यदि वह किसी प्रकार पुण्योदयसे दान के उन्मुख होता है तो फिर उस समय विद्वानोंको विलम्ब करना योग्य नहीं है । कारण यह कि जब यहाँ सब ही कुछ अस्थिर है तब फिर से वैसा संयोग मिलना संभव नहीं है ॥ ८९ ॥

पात्र वित्त और चित्त इन तीनों के प्राप्त हो जाने पर भी जो कालक्षेप करते हैं – शीघ्र दान नहीं देते हैं – वे मूर्ख मानो वेग से जानेवाली नौका पर आरूढ हो कर रत्नों से भरे हुए समुद्र में विना प्रयत्न के ही देखे गये रत्न के ग्रहण करने की प्रतीक्षा करते हैं – तत्काल उसे नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ९० ॥

---

८८) 1 P D ग्रहवताम्. 2 दु:साध्या. 3 तत्र दाने. 4 जडबुद्धि: लोभी वा । ८९) 1 दानसम्मुखं चित्तं भवति, D दानसुमुखं जातं चित्तं. 2 विलम्बो न करणीय: D करणीय:. 3 वा न भवेत्. 4 चपलं वा विनश्वरम्. 5 कारणात् । ९०) 1 चित्ते वित्ते पात्रे. 2 नौ: जलतरिका ।

273) भव्यं वासः[1] श्लाघनीयो निवासः शय्या वर्या[2] प्राज्य[3]भोज्यं शुभाज्यम्[4]।
पात्रं[5] पानं[6] भेषजादिप्रधानं भक्त्या देयं[7] सर्वसंघे ऽनिदानम्[8] ॥ ९१

274) यद्[1]आत्मनो ऽतिवल्लभं जगत्यतीव दुर्लभम् ।
तदेव भक्तिभाजनैः प्रदेयं[2] आदृतै[3]र्जनैः ॥ ९२

275) धर्मकार्ये ऽपि ये व्याजं[1] कुर्वते वित्ततत्पराः[2] ।
आत्मानं वञ्चयन्त्युच्चैस्ते नरा मूर्खशेखराः ॥ ९३

276) भो जना[1] भोजनं यावन्न न्यस्तं साधुभाजने ।
समग्रं[2]मग्रमस्तावद्भुज्यते स्वेच्छया कथम् ॥ ९४

277) तीर्थस्य मूलं मुनयो भवन्ति मूलं मुनीनामशनासनादि[1] ।
यच्छ[2]न्निदं धारयतां तीर्थं तद्धा[3]रणं पुण्यतमं वरेण्यम्[4] ॥ ९५

सुन्दर वस्त्र, प्रशंसनीय वसतिका, उत्तम शय्या — गादी आदि, देने के योग्य प्रचुर भोजन, पात्र, पीने योग्य वस्तु एवं औषध इत्यादि का दान सब संघ के लिये भक्तिपूर्वक विना निदान के — इस दान से मुझे स्वर्गादि की प्राप्ति हो, ऐसी इच्छा न करके — करना चाहिये ॥ ९१ ॥

भक्ति के भाजनभूत — भक्त — श्रावक जनों को ऐसे ही आहारादिक का दान आदरसे करना चाहिये जो कि अपने को अतिशय प्रिय व लोक में अत्यन्त दुर्लभ होता है ॥ ९२ ॥

जो धन में आसक्त रहनेवाले मानव धर्म कार्य में भी छल — कपट करते हैं, वे मूर्ख शिरोमणि स्वयं अपने को ही धोखा देते हैं। ॥ ९३ ॥

हे भव्य जनो ! जब तक साधु रूपी पात्र में संपूर्ण उत्तम भोजन को नहीं स्थापित किया है, तब तक तुम स्वेच्छासे स्वयं भोजन कैसे करते हो ? ॥ ९४ ॥

मुनिजन तीर्थ के — धर्म के — मूल (प्रधान कारण) हैं और मुनियोंकी स्थितिका मूल कारण अन्न व आसन आदिक हैं। इसलिये जो श्रावक उन मुनियोंको अन्नादिक देते हैं वे उस तीर्थ को धारण करते हैं। इस प्रकार तीर्थ का धारण करना अत्यन्त पुण्यदायक और श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

९१) 1 मनोज्ञवस्त्रम्. 2 प्रधाना. 3 मनोज्ञ. 4 घृतम्. 5 भाजनम्. 6 दुग्धजलादिकम्. 7 दातव्यम्. 8 कर्मक्षयनिमित्तम्। ९२) 1 दानम्. 2 दातव्यम्. 3 आदरपूर्वकैः। ९३) 1 मृषा. 2 असावधानाः। ९४) 1 भो लोकाः. 2 समस्तम्। ९५) 1 आहारआसनादि. 2 सन्. 3 तस्य तीर्थस्य. 4 श्रेष्ठम्।

278) तीर्थे यद्भव्या[1] भवजलनिधेरुत्तरीतुं तरण्डं
सम्यक्त्वं केचिद्विरतिमपरे देशतः[2] सर्वतोऽन्ये ।
अङ्गीकुर्वाणाः कुशलमतुलं कुर्वते कारयन्ते
तत्स्यान्निःशेषं[3] शुभपरिणतेस्तीर्थनिर्वाहकस्य ॥ ९६

279) इह[1] हि गृहिणां निर्वाणाङ्गं विहाय विहायितं[2]
जिनपरिवृढैः[3] प्रौढं बाढं परं परिकीर्तितम्[4] ।
न खलु यदतो मुख्ये[5]ऽमुष्मिन्नतीव कृतादरैः
कृतिभि[6]रनिशं[7] भव्या[8] भव्यं[9] भवाब्धितितीर्षया[10] ॥ ९७

280) ग्लानादीनां पुनरवसरे सीदतां क्वापि बाढं
यत्नाद्देयं स्वयमुरुतरं[1] दापनीयाः परेऽपि ।
काले दत्तं विपुलफलदं येन संपद्यतेऽदः[2]
सद्धान्यानामिव जलधरैः[3] शुष्यतां मुक्तमम्भः ॥ ९८

भव्य जीव जो तीर्थ में संसार समुद्र से पार करने के लिये नौकातुल्य सम्यग्दर्शन को कितने ही भव्य देशविरति को – श्रावक के धर्म को – तथा अन्य कितने ही भव्य संपूर्ण – विरति – महाव्रत रूप चारित्र – को ग्रहण करके अपने और पद के अनुरूप हितको करते व कराते हैं, यह सब तीर्थ का निर्वाह करनेवाले की शुभ परिणति का फल है ॥ ९६ ॥

चूँकि यहां जिनेन्द्र देव ने गृहस्थों के लिये दान को छोडकर दूसरा कोई अतिशय प्रवृद्ध – पुष्ट – निर्वाण का कारण नहीं निर्दिष्ट किया है – उसे ही उन्होंने गृहस्थों के लिये प्रमुख निर्वाण का साधन बतलाया है, इसीलिये भाग्यशाली गृहस्थों को संसाररूप समुद्र से पार होने की इच्छा से निरन्तर उस प्रमुख दान कर्म के विषय में अतिशय आदरयुक्त रहना चाहिये ॥ ९७ ॥

जो रोगी व वृद्ध आदि मुनिजन कहीं पर दुःख का अनुभव कर रहे हों उनको योग्य अवसर पर अतिशय प्रयत्न पूर्वक महान दान स्वयं देना चाहिये और अन्य भव्यों से भी दिलाना

---

९६) 1 यस्य तीर्थे. 2 देशविरति अणुव्रतं सर्वविरति महाव्रतम्. 3 सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादिसमस्तं तीर्थनिर्वाहकस्य पुरुषस्य भवति । ९७) 1 जगति. 2 PD दानम्. 3 जिनस्वामिभिर्वीतरागैः. 4 कथितम्. 5 दाने. 6 पुण्यवद्भिः. 7 वारंवारम्. 8 भो भव्याः. 9 भवितव्यम्. 10 तर्तुमिच्छया । ९८) 1 उत्कटम्. 2 एतद्दानम्. 3 मेघैः ।

281) भक्तं[1] विपत्तावुपकारि[2] किंचित् संपद्यते जीवितकल्पमल्पम् ।
पुंसः[3] पिपासोः[4] सुतरां मुमूर्षो[5]रानीय पानीयमिवोपनीतम्[6] ॥ ९९

282) कालेन ता[1] एव पदार्थमात्राः प्रायः क्रियन्ते ऽसुमतां महार्घाः ।
स्वात्यामिवापो[2][3] ऽपि पयोदमुक्ताः स्थूलामलाः शुक्तिमुखेषु मुक्ताः[4] ॥ १००

283) प्रस्तावमासाद्य सुखाय सद्यः संपद्यते दुःखकरः पदार्थः ।
यूनां[1] मुदाये[2]न्दुरिव[3] प्रियाभियोगे[4] वियोगे[5] परितापहेतुः ॥ १०१

284) यद्यन्यदा न क्रियतें तथापि व्यापत्सु[1] कार्यं[2] गुरुणादरेण[3] ।
अन्नादिदानं महते फलाय को ऽल्पेन[4] नो पुण्यमुपाददीत ॥ १०२

चाहिये । कारण यह कि योग्य काल में दिया हुआ दान विपुल फल को – धनादि वैभव को – इस प्रकार देता है जिस प्रकार कि मेघों के द्वारा छोडा गया जल सूखते हुए उत्तम धान्य के – गेहूँ आदि की फसल के – विपुल फल को देता है ॥ ९८ ॥

विपत्ति के समय दिया हुआ थोडा-सा भी दान जीवित देने के समान उपकारक होता है जिस प्रकार कि प्यास से पीडित हो कर मरने के इच्छुक हुए मनुष्य को ला कर दिया हुआ थोडासा भी जल उपकारक होता है ॥ ९९ ॥

समयानुसार वे थोडे-से भी पदार्थ प्राणियों के लिये अतिशय मूल्यवान इस प्रकार किये जाते हैं जिस प्रकार कि स्वाति नक्षत्र के समय मेघोंके द्वारा छोडा गया जल सीपों के मुखों में पड कर स्थूल व निर्मल मोतियों के रूप में अतिशय मूल्यवान् किया जाता है ॥ १०० ॥

दुःख को उत्पन्न करनेवाला भी पदार्थ योग्य अवसर को पाकर शीघ्र ही सुख के लिये होता है – सुखरूप परिणत हो जाता है । जो चन्द्र तरुण जन को प्रियाओं के वियोग में संताप का कारण होता है वही उनके संयोग समय में आनन्दका भी कारण होता है ॥ १०१ ॥

यदि अन्य समयमें अन्नादि का दान नहीं किया जाता है तो न सही, पर विपत्ति के समय में तो उसे बडे आदर से करना ही चाहिये। ऐसा करने से वह महान् फल को देता है। ठीक है— ऐसा कौन मनुष्य है जो थोडे-से अन्नादि दान से पुण्य का संग्रह नहीं करेगा ॥१०२॥

९९) 1 दत्तम्. 2 सत्याम्. 3 पुरुषस्य. 4 तृषातुरस्य. 5 मर्तुमिच्छोः मरणप्राप्तस्य. 6 दत्तम् । १००) 1 पदार्थमात्राः. 2 स्वातिनक्षत्रे. 3 जलानि. 4 मुक्ताफलानि । १०१) 1 तरुणानाम्. 2 हर्षाय. 3 चन्द्र इव. 4 प्रियाभिः संयोगे सति. 5 सति । १०२) 1 आपत्कालेषु. 2 क्रियताम्. 3 महता. 4 दानेन ।

285) इदं[1] विमलमानसो विपुलसंपदामास्पदं
पदं च यशसां परं परमपुण्यसंपादकम् ।
मुनीन्द्रजनपूजनं जनितसज्जनानन्दनं
विधाय विधिनाधुनाप्यवधुनाति[3] धन्यो ऽधमम्[4] ॥ १०३

286) दीनादीनामपि करुणया देयमौदार्ययुक्तै -
र्युक्तं दानं स्वयमपि यथा तीर्थनाथैर्वितीर्णम् ।
पात्रापात्रापरिगणनया प्राणिनां प्रीणनाय
स्यात्कारुण्यं कथमितरथा[1] धर्मसर्वस्वकल्पम् ॥ १०४

287) अत्रैव जल्पति जनः सुभगं भविष्णु[1] -
राढ्यं भविष्णुरपरत्र[2] परोपकारी ।
कश्चित्कृती च सुकृती च कृतार्थजन्मा
दानं ददाति विपुलं पुलकाञ्चिताङ्गः ॥ १०५

चतुर्थो ऽवसरः ॥ ४ ॥

जो यह मुनींद्रजनों की पूजा महती विभूति का कारण, कीर्ति का उत्कृष्ट स्थान, अतिशय पुण्यकी उत्पादक और सज्जन मनुष्यों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली है; उसको विधि-पूर्वक कर के निर्मलबुद्धि पुण्यात्मा पुरुष निकृष्ट पाप को नष्ट किया करता है ॥ १०३ ॥

औदार्य गुण के धारक सज्जनों को दीन व अन्धे आदि जीवों को भी करुणा भाव से इस प्रकार वह दान देना चाहिये जिस प्रकार कि स्वयं तीर्थंकरों ने भी उस योग्य दान को करुणाबुद्धि से दिया है । पात्र और अपात्र का विचार न कर के दिया गया वह करुणादान प्राणियों के लिये आनन्द का कारण होता है । सो ठीक भी है – कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर वह दया धर्म का सर्वस्व कैसे हो सकती थी ? ॥ १०४ ॥

जो परोपकारी दाता रोमांचित हो कर हर्ष से विपुल दान को देता है वह विद्वान और पुण्यवान् है और उसका जन्म कृतार्थ है, ऐसा लोग यहीं पर कहते हैं, तथा वह परजन्म में सुंदर, भाग्यवान् व धनाढ्य होनेवाला है ॥ १०५ ॥

इस प्रकार चौथा अवसर समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

१०३) 1 मुनीन्द्रजनपूजनम्. 2 पञ्चमकाले. 3 दूरीकरोति. 4 पापम् । १०४) 1 अन्यथा । १०५) 1 भवि[ष्]णुः. 2 इहलोके ।

[५. [illegible] ऽवसरः]

[दानफलम्]

288) जिनागमं ये ऽनधिगम्य[1] सम्यग्गम्भीरमात्मंरयो[2] वराकाः ।
दानं निषेधन्ति वचो न कर्णे कर्णेजपानां[3] [illegible]म् ॥ १

289) आरम्भाद्यैर्नियतमुदयेद्वस्तुजातं यतो ऽतो
हिंसा दाने भवति[1] गदिते ऽप्यन्तरायो[2] निषिद्धे
यत्तत्तूष्णीं[illegible]चितमधुना स्थातुमात्मेश्वराणा-
मर्थे ऽमुष्मिन्[3] समुपगृणते[4] सूत्रकृत्सूत्रमज्ञाः ॥ २

290) जे हु[1] दाणं पसंसंति वहमिच्छंति[2] पाणिणं[3] ।
जे उ णं[4] पडिसेहंति[5] अंतरायं कुणंति ते ॥ २*१

जो बेचारे स्वार्थ से प्रेरित हो कर ठीक से गंभीर जिनागम का अध्ययन न करते हुए दान का निषेध करते हैं उन कर्णेजपों के – निंदकों के – वचन को कान पर नहीं लेना चाहिये – उस पर ध्यान नहीं देना चाहिये ॥ १ ॥

चूंकि सब वस्तुओंकी उत्पत्ति आरम्भादिके द्वारा होती है, इसलिये दान देने में हिंसा होती है; तथा दान देने को उद्यत हुए जन को ' तू दान मत दे ' ऐसा निषेध करने पर अन्तराय होता है; इस लिये इस प्रकरण में आत्मज्ञों को चुपचाप रहना योग्य है । ऐसा क[illegible]नेवाले अज्ञानी के विषय में सूत्रकार का ऐसा सूत्र कहते हैं ॥ २ ॥

जो दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं । तथा जो उस दान का निषेध करते हैं वे अंतराय को करते हैं ॥ २ * १ ॥

---

१) 1 न ज्ञात्वा ऽज्ञात्वेत्यर्थः. 2 कथंभूतास्ते वराकाः निजोदरपूरकाः. 3 कथंभूतानां तेषां वराकाणाम्, कर्णेजपानां जनैर्निन्द्यानाम् । २) 1 आरम्भादि भवति. 2 तस्मिन् दाने निषेधिते सति अन्तरायो भवति. 3 हिंसा दाने कथने ऽपि. 4 कथयन्ति. २*१) 1 p 'उ', तु पुनः. 2 वहं वधं हिंसाम्. D वधं. 3 जीवानाम्, D प्राणिनां. 4 पुनः निषेधः, D पुनः. 5 D प्रतिषेधन्ति ।

291) लिङ्गपाशाः[1] सुदुर्बुद्धिमारोप्येत्थं सुकर्मणाम्[2] ।
गृह्णन्ति निभृताः[3] सर्वे बका इव हि धार्मिकाः[4] ॥ ३

292) नो जानन्ति जिनागमं जडधियो नो सौगताद्यागमं
नो लोकस्थितिमुज्ज्वलामृजु[1]महो व्यामोहयन्तो ऽन्वहम्[2] ।
दातॄणामथ गृह्णतामसुमतां[3] कृत्वान्तरायं[4] तरां
मिथ्यादेशनया नयन्ति नरकं लोकं व्रजन्ति स्वयम् ॥४

293) महानुभावा भवमुत्तरीतुं प्राणैरपि प्राणिगणोपकारम् ।
कुर्वन्ति केचित्करुणार्द्रचित्ताश्चन्द्रा इवाल्हादितजीवलोकाः ॥ ५

294) अन्ये ऽमुनैव परितापितविश्वविश्वा
वैश्वानरा इव नरा निरये[1] रयेण[2] ।
गन्तुं द्वयप्रकृतयः[3] कथयन्ति मिथ्या
किं कुर्महे वयमहो विषमो हि मोहः ॥ ६

तथा चोक्तं कलिकालसर्वज्ञैः—

जो कुलिंगी साधु पुण्यकार्यों में ऐसी दुर्बुद्धि को आरोपित कर के विनीत भाव से सब को ग्रहण करते हैं वे बगुला पक्षियों के समान धार्मिक हैं ॥ ३ ॥

वे दुष्ट बुद्धि न तो जिनागम को जानते हैं, न बौद्ध आदिकों के आगम को जानते हैं और न निर्मल लोकव्यवहार को भी जानते हैं । वे भोले मनुष्यों को प्रतिदिन मुग्ध करते हुये दाता और ग्राहक प्राणियों के मध्य में दान देने का अतिशय निषेध कर के मिथ्योपदेश के द्वारा दूसरे लोगों को नरक में ले जाते हैं और स्वयं भी नरक में जाते हैं ॥ ४ ॥

चंद्र के समान सब जीवों को आनंदित करनेवाले कितने ही महानुभाव संसार से पार होने के लिये मन में अतिशय दयालु हो कर अपने प्राणोंसे (प्राण देकर) भी प्राणिसमूह का उपकार किया करते हैं ॥ ५ ॥

अग्नि के समान समस्त विश्व को संतप्त करनेवाले दूसरे जन स्त्री और नपुंसक की प्रकृति से युक्त — मायाचारी — हो कर शीघ्रतासे नरक में जाने के लिये मिथ्या उपदेश करते हैं । इस विषय में हम क्या करें ? क्योंकि मोह भयानक है ॥ ६ ॥

इस विषय में कलिकालसर्वज्ञ ने कहा भी है —

३) 1 लिङ्गमेव पाशः तिर्यग्जीवबन्धनो येषां ते लिङ्गिपाशाः. 2 पुण्यवतां धनयुक्तानां राजादीनाम्. 3 मायया प्रच्छन्नाः । ४) 1 सरलं जनं लोकं मोहयन्तः सन्तः. 2 दिनं दिनम्. 3 प्राणिनाम्. 4 विघ्नं विनाशम् । ६) 1 नरके. 2 वेगेन. 3 किंचिदुपकारकिंचित्संतापकारिणः द्वयप्रकृतयः ।

295) दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान् पुंसि[1] करोति किम् ।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न[2] तोयदः[3] ॥ ६*१

296) प्रायः संप्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् ।
निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥ ६*२

297) तथापि किंचित्कथयामि युक्तं[1] मध्यस्थ[2]लोकस्य खलूपयुक्तम्[3] ।
मोहव्यपोहाय[4] विहाय[5] कृत्यं[6] स्वार्थात्परार्थो महतां महिष्ठः ॥ ७

298) यावद्वर्षं ननु जिनवृषो वर्षति स्वर्णवर्षं
हर्षोत्कर्षं प्रणयि[1]शिखिनां बिभ्र[2]दुर्वीगताना[3]म् ।
नो संदिग्धं[4] न च विरचितं केनचिन्मादृशेदं
प्रोक्तं प्रोच्चैरविचलवचोविश्रुतैः श्रीश्रुतज्ञैः ॥ ८

दुराग्रह रूप पिशाच से पीडित मनुष्य के विषय में भला विद्वान् क्या कर सकता है ? अर्थात् वह भी उसे समझाने में समर्थ नहीं होता है । सो ठीक भी है, क्योंकि, मेघ काले पत्थर के टुकडों पर बरस कर के कुछ मृदुता को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं ॥ ६*१ ॥

जिस प्रकार नकटे को निर्मल दर्पण का दिखलाना क्रोध को उत्पन्न करनेवाला होता है, उसी प्रकार वर्तमान में सन्मार्ग का उपदेश देना भी प्रायः कोप का कारण हुआ करता है ॥ ६*२ ॥

इस प्रकार यद्यपि वर्तमान में समीचीन उपदेश का देना भी क्रोध का जनक होता है तो भी मैं मध्यस्थ जन को लक्ष्य कर के उनके मोह को नष्ट करने के लिये स्वार्थ कार्य को छोडता हुआ कुछ योग्य उपदेश को करता हूँ, जो कि उनके लिये उपयोगी हो सकता है । और यह ठीक भी है, क्योंकि, महान् पुरुष स्वार्थ की अपेक्षा परोपकार को ही अधिक महत्त्व दिया करते हैं ॥ ७ ॥

समस्त भूमण्डलगत याचक रूपी मोरों को अतिशय आनन्दित करने के लिये एक वर्ष-तक जिनवृष – तीर्थंकर प्रभु – सुवर्ण की वृष्टि को किया करते हैं । यह वचन न तो संदिग्ध और न मुझसरीखे किसी अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा कहा गया है । किन्तु उसे अतिशय निश्चल (सत्य) भाषण से ख्याति पाये हुए श्री श्रुत के ज्ञाता पूर्वाचार्यों ने ही कहा है ॥ ८ ॥

६*१ 1 पुरुषे. 2 न भवति. 3 मेघः । ७) 1 कथंभूतम् उपदेशम्. 2 कस्य. 3 उपदेशम्. 4 कस्मै मोहविनाशाय. 5 परित्यज्य. 6 निजकार्यम् । ८) 1 शिष्य. 2 धारयन्. 3 पृथ्वीगतानाम्. 4 संदेहरहितम्. ।

299) निष्क्रान्तिकाले[1] सकला जिनेन्द्रा यादृच्छिकं[2] दानमतुच्छ[illegible]ः ।
य[illegible]न्ति विच्छिन्नदरिद्रभावं मेघा इवाम्भो भुवि निर्विशेषम् ॥ ९

300) दिशन्त्येते[1] मोहान्न खलु निखिलेभ्यः[2] स्वविभवं[3]
भवन्तो विज्ञानैस्त्रिभिरपतितैस्तीर्थपतयः[4]
भवे पूर्वे ऽभ्यस्तैरनुगतधियो नाप्यकुशलं[5]
प्रवृत्तेः[6] कर्मास्याः किमविकसितं[7] कारणमिह[8] ॥ १०

301) किंतु दानान्तरायस्य कर्मणो ऽपचये[1] सति ।
[illegible]मिके भावे दानमुक्तं जिनागमे ॥ ११

302) अर्थे ऽपि तीर्थकृन्नाम[1] नामकर्मोदयाद[2]यम्[3] ।
दयाकरो महासत्त्वः सर्वसत्त्वोपकारकः ॥ १२

जिस प्रकार मेघ बिना किसी भेदभाव के पृथिवी पर सर्वत्र जल को दिया करते हैं उसी प्रकार समस्त तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण के समय में महती इच्छा के वशीभूत हो कर–निरीहवृत्ति से–सबके लिये बिना किसी प्रकार के भेदभाव के दरिद्रता को नष्ट करनेवाले इच्छानुरूप दान को दिया करते हैं ॥ ९ ॥

ये अप्रतिपाति तीन ज्ञानों–मति, श्रुत, एवं अवधि–के साथ तीर्थंकर हो कर पूर्व भव में अभ्यस्त उक्त तीनों ज्ञानों से अनुगत बुद्धि हो कर समस्त प्राणियों के लिये कुछ अज्ञानता से दान नहीं दिया करते हैं। साथ ही वे इस दान के रूप में प्राणियों का कुछ अहित करते हों, सो भी नहीं है। फिर उनकी दान प्रवृत्ति का कारण यहाँ कौनसा विकासरहित कर्म समझा जाय? ॥ १० ॥

परन्तु दानान्तराय कर्म का अपचय–सर्व घातिस्पर्धकों का उदयक्षय–होने पर क्षायोपशमिक दान भाव आत्मा में प्रगट होता है और तब उनकी दान में प्रवृत्ति होती है, ऐसा जिनागम में कहा है ॥ ११ ॥

जिस प्रकार (दानान्तरायके क्षय के साथ) तीर्थंकर नामक नामकर्म के उदय से दया को खानि–अतिशय दयालु, महाबली–(या महात्मा) और समस्त प्राणियों के उपकार में निरत ये तीर्थंकर जिनदेशना में–धर्मदेशना में–प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार वे दानान्तराय के क्षयोपशम जनित दान–गुण से प्रेरित हो कर वे गृहस्थावस्था में अर्थ के प्रदेशन में–सुवर्णादि के दान में–भी निरन्तर

९) 1 दीक्षाकाले. 2 यदृच्छया वाञ्छितम् । १०) 1 यच्छन्ति. 2 याचकेभ्यः. 3 स्ववैभवं प्रयच्छन्ति. 4 कथंप्रकृतयः तीर्थपतयः, त्रिभिर्ज्ञानैः संयुक्ताः सन्तः. 5 नायुक्तम्. 6 प्रवृत्तेः. 7 पुण्यरहितं कारणम्, न पुण्यसहितं कारणमित्यर्थः. 8 लोके । ११) 1 विनाशे । १२) 1 तीर्थंकरः. 2 अहो. 3 तीर्थकृत् ।

303) प्रदेशने प्रवर्तेत देशनायामिवानिशम् ।
प्रशस्यते तथापीदं[1] देशनेव प्रदेशनम् ॥ १३ ॥ युग्मम् ।

304) नाशुभस्य फलं दानं निदानं[1] वा निदर्शनम् ।
कर्मणः क्वापि सिद्धान्ते दीयमानं विधानतः ॥ १४

305) शुभे कृत्ये[1] कृते[2] पूर्वे[3] सर्वैः सर्वार्थवेदिभिः ।
प्रवर्तितव्यमन्यैश्च न्याय एष सतां मतः ॥ १५

306) वचो ऽप्यशेषमेतेषां प्रमाणीक्रियते बुधैः ।
विशिष्टा किं पुनश्चेष्टा दृष्टादृष्टाविरोधिनी ॥ १६

307) यथा तपस्तथा शीलं तीर्थनाथैरनुष्ठितम् ।
तथा दानमपि श्रेष्ठमनुष्ठेयमनुष्ठितम् ॥ १७

308) निष्क्रान्ता[1] यद्भुवनपतयो नाभिजातप्रमुख्याः
संघार्यैते चतुरवगमा[2] मार्गमादर्शयन्ति ।
तूष्णींभावादपि विहरणात्प्रीणयन्तो ऽङ्गिजातं
ब्रूयुर्देयं स्वहितनिरतैस्तन्न किं धार्मिकाणाम् ॥ १८

प्रवृत्त रहते हैं तो भी इस सुवर्णादि दान की उस देशना के समान ही प्रशंसा की जाती है ॥ १२–१३ ॥

यह दान अशुभकर्म का फल अथवा कारण है, इस प्रकार का विधिपूर्वक आगम में दिया जानेवाला उदाहरण कहीं पर भी उपलब्ध नहीं है ॥ १४ ॥

सर्वज्ञों ने पहले शुभ कर्म के करनेपर तदनुसार सब अन्य (छद्मस्थ भी) प्रवृत्त हुआ करते हैं, यही न्याय सज्जनों को अभीष्ट है॥१५॥

विद्वान् उनके – सर्वज्ञों के–संपूर्ण वचन को प्रमाण मानते हैं । ठीक है – क्या कभी ऐसी कोई प्रवृत्ति देखी गई है जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध हो ? अर्थात् नहीं देखी गई ॥ १६ ॥

तीर्थंकरोंने जिस प्रकार तप और शील का परिपालन किया है उसी प्रकार उन्होंने आचरणीय उस श्रेष्ठ दान का भी परिपालन किया है ॥१७॥

नाभिराज के पुत्र भगवान ऋषभनाथ को आदि लेकर इन सब ही लोकनायकोंने–

१३) 1 P °यथापीदं । १४) 1 कारणम् । १५) 1 करणीये. 2 कारणाय. 3 P °पूर्वैः । १८) 1 दीक्षां गताः. 2 ज्ञानवन्तः ।

309) दानं निदानं[1] यदि पातकानां संपाद्यते[2] नैव तदा मुनीन्द्राः ।
दद्युस्त्वनिन्द्या निरवद्यविद्याचतुष्टयाढ्याः सितसच्चरित्राः[3] ॥ १९

310) अयुक्ते न प्रवर्तन्ते मर्त्यनाथा[1]स्तथाविधाः ।
रागद्वेषप्रमादादिविमुक्ता मुक्तिसंमुखाः ॥ २०

311) न ह्युत्तरारम्भभवो ऽपि दोषो दातुर्भवेन्निश्चितमत्र कश्चित् ।
परोपकाराय दयापरस्य प्रवर्तमानस्य शुभाशयस्य ॥ २१

312) अन्यथा हि महादानं महारम्भनिबन्धनम्[1] ।
न दद्युर्विधिना धन्या विवीर्या[2] निधनं[3] धनम् ॥ २२

313) एष्टव्यमत एवेदं गुर्वादेरपि नान्यथा ।
अन्नादि देयं व्याध्यादेः कदाचित्स्याद्विधायकम् ॥ २३

तीर्थंकरों ने—जन्मजात मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों के साथ दीक्षित हो कर चतुर्थ मनःपर्यय ज्ञान को भी प्राप्त करते हुए संघ के लिये मौनपूर्वक भी मार्ग को दिखलाया है। पश्चात् विहार कर के उन्हों ने प्राणिसमूह को प्रसन्न करते हुए उस मार्ग की प्ररूपणा भी की है। इसलिये जो सत्पुरुष आत्मकल्याण में उद्यत हैं उन्हें क्या धर्मात्मा जन के लिये आहारादि को नहीं देना चाहिये ? अवश्य देना चाहिये ॥१८॥

यदि दान पापोंका कारण होता तो निर्दोष चार ज्ञानों के साथ उत्तम चारित्र को धारण करनेवाले प्रशंसनीय मुनीश्वर-तीर्थंकर—उस दान को कभी भी नहीं देते। कारण कि, राग, द्वेष व प्रमादादि दोषों से रहित हो कर मुक्ति के संमुख हुए वैसे महापुरुष—तीर्थंकर—अयोग्य कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं ॥ १९-२० ॥

जो दयालु दाता निर्मल अभिप्राय से परोपकार करने में प्रवृत्त हो रहा है उसे निश्चय से कोई उत्तर आरम्भसे उत्पन्न हुआ दोष भी नहीं लग सकता है ॥ २१ ॥

यदि वह दान आरम्भजनित दोष से संगत होता तो फिर महादान (विपुलदान) तो अत्यधिक आरम्भ का कारण हो सकता था। तब वैसी अवस्था में विशिष्ट वीर्य-शाली, पुण्यपुरुष विधिपूर्वक नश्वर धनका दान कैसे कर सकते थे ? (परन्तु चूंकि उन विचारशील महापुरुषोंने प्रचुर दान दिया है अतएव इससे सिद्ध है कि वह दान आरम्भजनित दोष से दूषित नहीं है) ॥ २२ ॥

यदि दान आरम्भजनित पाप का कारण होता तो फिर कोई गुरु—मुनि—आदि सत्पा-

१९) 1 कारणम्. 2 P °संपद्यते. 3 कविगमकवादिवाग्मिरूपाः । २०) 1 राजानः । २२) 1 कारणम्. 2 PD पराक्रमयुक्ताः. 3 D °वीर्याऽनिधनं. ।

314) प्रत्तं[1] प्रबन्धेन[2] गिरा गुरूणां साधर्मिकेभ्यो भरतेन दानम् ।
अन्यैश्च[3] धन्यैर्धनसार्थवाहमुख्यैः प्रभूतैः[4] समयप्रासैः[5] ॥ २४

315) कल्याणहेतुस्तदभूदमीषां[1] नानर्थसंपादि निरर्थकं वा ।
तीर्थाधिनाथप्रथमान्नदानं दातुः शिवाय प्रथितं निदानम्[2] ॥ २५

316) मुख्यं च धर्मस्य चतुर्विधस्य[1] प्रोक्तं जिनेन्द्रैः समये समस्तैः ।
तीर्थान्तरीयैः कथितं च शिष्टं दानं जिनानां नितरामभीष्टम् ॥ २६

317) बाह्यं तु पञ्च बाह्यं यत्कारणं दानवारणे ।
अमीभ्यो दृश्यते नूनं न चादृष्टं प्रकल्प्यते ॥ २७

318) स्वयं च सर्वं गृह्णन्ति गृद्धा गृध्रा[1] इवामिषम् ।
कयापि भङ्ग्या निर्भाग्या भङ्गमन्यस्य कुर्वते ॥२८

त्रोंके लिये भी उस के देने की इच्छा नहीं कर सकता था। इस के अतिरिक्त कदाचित् अन्नादि देय वस्तु रोगादि का भी कारण हो सकती है । पर इस से उसे पाप का कारण नहीं माना जा सकता ॥ २३ ॥

गुरुजनों के सदुपदेश से सन्दर्भपूर्वक भरत चक्रवर्ती ने तथा धन नामक प्रमुख व्यापारी आदि को लेकर आगम प्रसिद्ध अन्य भी बहुतसे पुण्यशाली पुरुषों ने साधर्मी जनों के लिये दान दिया था और वह दान भरतादि दाताओं तथा पात्रों के भी कल्याण का कारण हुआ है, वह न तो उन के अनर्थ का–आपत्ति का–कारण हुआ है और न व्यर्थ भी हुआ है। तीर्थंकरों के लिये जो प्रथम बार आहारदान दिया जाता है वह दाता के लिये मुक्ति का कारण होता है, यह आगम में प्रसिद्ध है ॥ २४–२५ ॥

सब ही जिनेन्द्रोंने दान, शील, पूजा और तप इस चार प्रकार के धर्म में दानधर्म को मुख्य कहा है । अन्य धर्मानुयायियों ने भी उस दान का वर्णन किया है । यह दानधर्म जिनेश्वरों को अतिशय अभीष्ट है ॥ २६ ॥

दान निषेध में जो पाँच प्रकार के कारण इन लोगों से कहे गये हैं वे इनके लिये ही दीखते हैं । जो अदृष्ट है अर्थात् जो नहीं दीखता है उसकी कल्पना नहीं की जाती है ॥ २७ ॥

जिस प्रकार गीध पक्षी (अन्य पक्षियों को बाधा पहुँचा कर) स्वयं ही सब मांस का ग्रहण किया करते हैं, उसी प्रकार भाग्यहीन जन लोलुपता के वश हो कर स्वयं तो सब कुछ ग्रहण करते हैं, परन्तु दूसरों के लिये किसी भी बहाने से उस दान में बाधा पहुँचाया करते हैं ॥२८॥

---

२४) 1 दत्तम्. 2 PD उपदेशेन. 3 प्रत्तं दत्तम्. 4 प्रचुरैः. 5 श्रावकाणां मध्ये मुख्यैः D श्रावकाणां । २५) 1 भरतादीनाम्. 2 कारणम् । २६) 1 दानपूजाशीलतपसः चतुर्विधस्य धर्मस्य । २८) 1 D गृद्धा ।

319) परो व्यामोह्यते येन गम्यते दुर्गतौ स्वयम् ।
क्रियते शासनोच्छेदो धिगीदृक्[1]कलिकौशलम् ॥ २९

320) विज्ञप्तिः सा भवतु भविनां[1] सा च वाचां प्रवृत्ति–
श्चेतोवृत्तिः कलिलविकला सैव सा कापि शक्तिः
आज्ञा सैव प्रभवतु यया शक्यते संविधातुं
मोहापोहः स्वपरमनसोः शासनाभ्युन्नतिश्च ॥ ३०

321) अन्नादिदाने ऽथ भवेदवश्यं प्रारम्भतः प्राणिगणोपमर्दः[1] ।
तस्मान्निषिद्धं ननु नेतियुक्तं यूकाभयान्नो परिधानहानम्[2] ॥ ३१

322) पापाय हिंसेति निवारणीया दानं तु धर्माय ततो विधेयम्[1] ।
दुष्टा दशानामुरगादिदष्टा यैवाङ्गुली सा किल कर्तनीया ॥ ३२

323) कृष्यादि कुर्वन्ति कुटुम्बहेतोः पापानि चान्यानि समाचरन्ति ।
देवादिपूजादि विवर्जयन्ति हिंसां भणित्वेति कथं[1] न मूढाः ॥ ३३

जो दूसरे के लिये व्यामोह उत्पन्न करता है– उसे भ्रान्ति में पाडता है– वह स्वयं दुर्गति को प्राप्त होता हुआ जैन धर्म को नष्ट करता है। उस के इस प्रकार के पाप की (कलियुगकी) कुशलता को धिक्कार है ॥२९॥

जिसके आश्रय से अपने और अन्य सार्धर्मिकों के मन के मोह को नष्ट कर के धर्म की उन्नति की जा सकती है वही भव्यों की विज्ञप्ति, वही वचनप्रवृत्ति, वही पापरहित मनोवृत्ति, वही कोई अपूर्व शक्ति और वही आज्ञा प्रभावशालिनी हो सकती है ॥३०॥

अन्नादि कें देने में चूंकि पीसने, कूटने एवं पकाने आदिका प्रकृष्ट आरम्भ होता है और उस आरम्भ से प्राणिसमूह की हिंसा होती है, इसीलिये अन्नादि दानका निषेध किया जाता है, ऐसा जो कहता है उसका वह कहना युक्तियुक्त नहीं है । कारण कि जुओं के भय से कुछ वस्त्रों को नहीं छोडा जाता है ॥ ३१ ॥

चूंकि हिंसा पाप का कारण है अतः उसका निषेध करना योग्य है । परन्तु दान तो धर्म का कारण है, अत: उसका निषेध न करके विधान करना ही योग्य है । उदाहरणार्थ, दस अँगुलियोंमें से जो अंगुली सर्पने काटने से दूषित बनी है उसे ही कटवाया जाता है ॥ ३२ ॥

---

२९) 1 PD पापं । ३०) 1 संसारिजीवानाम् । ३१) 1 D °पमर्दत:. 2 व[illegible]म् । ३२) 1 कर्तव्यं दातव्यम् । ३३) 1 ते कथं न मूढा भवन्ति अपि तु भवन्ति ।

324) संत्यज्य पूज्यं जननीजनादि ये दुष्टचेष्टामतिचेष्टयन्ति ।
तेषां भवन्तो ऽपि भवन्ति तुल्याः सक्ता[1] गृहे देवगुरूंस्त्यजन्तः ॥ ३४

325) अथाप्यनारम्भवतो[1] न युक्तं प्रारम्भणं धर्मनिमित्तमेव ।
द्रव्यस्तवो[2] हन्त गतो ऽन्तमेवं ध्वस्तः समस्तो गृहमेधिधर्मः ॥ ३५

326) द्रव्यस्तवः प्रधानो धर्मो गृहमेधिनां यतो ऽभिदधे ।
द्रव्यस्तवस्य विरहे भवत्यभावस्ततस्तस्य ॥ ३६

327) युक्त्यागमानगतं संगतमुपगन्तुमीदृशं न सताम् ।
द्रव्यस्तवभावस्तवरूपो धर्मो जिनैर्जगदे[1] ॥ ३७

328) जन्माभिषेकादिमहं जिनानां व्याख्यानधात्रीरचनां च चित्राम् ।
कुर्वन्ति सर्वे त्रिदशाधिपाद्या नन्दीश्वरादौ महिमानमुच्चैः ॥ ३८

जो कुटुम्ब के निमित्त से कृषि आदि आरम्भ कार्यों को तथा आवश्यकतानुसार दूसरे भी पापकार्यों को तो करते हैं, परन्तु हिंसा के कारण बतलाकर देवपूजा एवं गुरुपूजा आदि शुभ कार्यों का निषेध करते हैं; उन्हें मूर्ख कैसे न समझा जाय ? अर्थात् अवश्य ही वे मूर्ख आत्मवंचना कर के अपने को नरकादि दुर्गतिका पात्र बनाते हैं ॥ ३३ ॥

हे शुभ कर्म निषेधक जनो ! जो अपने पूज्य माता पिता आदि को त्याग कर अतिशय निंद्य आचरण को करते हैं, आप भी उन्हीं के समान हैं । क्यों कि आप गृहस्थाश्रमी होते हुए भी घरपर आये हुए देव एवं गुरु आदि का अनादर करते हैं ॥३४॥

यदि यहाँ यह कहा जाय कि, जो स्वयं आरम्भसे रहित है उसके लिये धर्म के निमित्त से भी प्रकृष्ट आरम्भ करना योग्य नहीं है । तो उस के उत्तर में यह खेद के साथ कहना पडेगा कि इस प्रकार से तो द्रव्यस्तव--द्रव्यपूजा व दान आदि जो कि गृहस्थ का धर्म है वह सब समाप्त हो जावेगा । ॥३५॥

चूंकि गृहस्थों के धर्म में द्रव्यस्तव को प्रधान कहा गया है, इसीलिये उस द्रव्यस्तव के नष्ट हो जाने पर गृहस्थ धर्मका विनाश होगा ही ॥ ३६ ॥

धर्म के निमित्त आरंभ करना योग्य नहीं है । यह उपर्युक्त कथन चूंकि युक्ति और आगम का अनुसरण नहीं करता, इसलिये वह सज्जनों के स्वीकारने योग्य नहीं है । कारण यह कि जिनेश्वरों ने धर्म को द्रव्यस्तव और भावस्तव रूप से दोनों भी प्रकार का कहा है ॥३७॥

इन्द्रादिक तीर्थंकरों के जन्माभिषेकादि उत्सव को, विचित्र व्याख्यान धात्री— समवस-

३४) 1 आसक्ताः । ३५) 1 आरम्भरहितस्य. 2 दानादयः । ३७) 1 कथितम् । ३८) 1 D चरित्राम् ।

329) अष्टापदाद्रौ[1] भरतादिभूपैर्वेश्मानि बिम्बानि च कारितानि ।
हर्षेण चक्रिप्रमुखैर्नृमुख्यैः पूजा जिनानां विहिता हिता च ॥ ३९

330) साधर्मिकेभ्यो भरतेन दत्तं भोज्यादि भक्त्या विविधं विधाय ।
मोक्षाय निःशेषमभूदमीषां[1]मेतज्जिनोक्तं क्रियमाणमेव ॥ ४०

331) ग्रामं क्षेत्रं वाटिकां कोषधान्यं वाहं[1] हट्टं देवदेवाय भक्त्या ।
दत्त्वा केचित्पालयित्वा तथान्ये धन्याः सिद्धाः साधुसिद्धान्तसिद्धाः ॥ ४१

332) आचेष्टन्ते सर्वकार्याण्यनार्या भार्यादीनां सर्वथा सर्वदा ये ।
देवादीनां नैव दीनास्तु मन्ये धर्मे द्वेषो निश्चितः कश्चिदेषाम्[1] ॥ ४२

333) आरम्भश्चेत् पापकार्ये ऽपि कृत्यो[1] धर्मायासौ[2] संविधेयः[3] सुधीभिः ।
वोढव्या[4] चेच्चेटिकाया उपानद्[5] वाढं व्यूढा[6] तद्[7]वरं स्वामिनः सा[8] ॥ ४३

रण भूमि —की रचना को और नन्दीश्वरादि पर्वों में अष्टाह्निक पूजा महोत्सव आदिको ठाट बाटसे करते हैं । इससे सिद्ध है कि धर्म के लिये आरम्भ करना अयोग्य नहीं है ॥३८॥

भरत आदि राजाओं ने कैलाश पर्वतपर जिन मन्दिर और जिन प्रतिमाओं का निर्माण कराया है । तथा मनुष्यों में प्रमुख चक्रवर्ती आदि राजाओं ने जिनेन्द्रों की हितकारक पूजा आनन्दसे की है ॥३९॥

भरत चक्रवर्तीने साधर्मिक जनों को भक्तिपूर्वक अनेक प्रकार का आहारादि दान दिया था । और यह सब धर्मकार्य चूंकि आगमोक्त विधि से ही किया गया था, अतएव वह उनकी मुक्ति का कारण हुआ ॥ ४० ॥

कितने ही सज्जन देवाधिदेव के लिये—जिनालय आदि के संरक्षण के लिये— ग्राम, खेत, उद्यान, कोष-भंडार, धान्य (गेहूँ—चावल आदि) , वाह—घोडा या नाव आदि—और हाट—बाजार या दूकान को देकर तथा दूसरे कितने ही भाग्यशाली सज्जन इन सब दी गई वस्तुओं का संरक्षण कर के साधु सिद्धान्त में सिद्ध—मुनिधर्म में निपुण—होते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ॥४१॥

जो दुष्ट पुरुष पत्नी व पुत्र आदि के सर्व कार्योंमें सर्वदा सर्व प्रकार से प्रयत्नशील रहते हैं, परंतु देव, गुरु व शास्त्र आदि के लिये कुछ नहीं करते हैं उन बेचारों का धर्म के विषयमें कोई अपूर्व द्वेष निश्चित है ॥ ४२ ॥

जब पाप कार्य में भी आरंभ करना पडता है तब उसे धर्म के निमित्त तो करना ही

३९) 1 कैलासाद्रौ । ४०) 1 भरतादीनाम् । ४१) घोटकवृषभादि । ४२) 1 दीनानामनार्याणाम् । ४३) 1 करणीयः. 2 आरम्भः. 3 करणीयः. 4 वाहितव्या. 5 पाणही. 6 वाहिता गृहीता. 7 ततः. 8 सा उपानत् पाणही ।

334) पापारम्भविवर्जनं गुरुयशोराशेः शुभस्यार्जनं
गेहाद्याग्रहनिग्रहेण मनसो निःसंगतासंगतिः ।
कल्याणाभिनिवेशिता तनुमतां सन्मार्गसंदर्शनं
धर्मारम्भवतां भवन्ति भविनामित्यादयः सद्गुणाः ॥ ४४

335) स्थानोपयोगा[1]त्साफल्यं भवस्य[2] विभवस्य च ।
परस्परोपकारः[3] स्याद् धर्मतीर्थप्रवर्तनात् ॥ ४५

336) संसारसागरे घोरे देहभाजां[1] निमज्जताम् ।
तीर्थं श्रीतीर्थनाथस्य यानपात्रमनुत्तरम्[2] ॥ ४६

337) भक्तिश्चेज्जिनशासने जिनपतौ संजायते निश्चला
तत्कृत्येषु बलात्प्रवृत्तिरतुला संपद्यते देहिनाम् ।
भक्तः किंकरतां प्रयाति[1] दिशति[2] स्वं स्वापतेयं गुणा –
नादत्ते पिदधाति दूषणगणं प्राणानपि प्रोज्झति[3] ॥ ४७

चाहिये । उदाहरणार्थ, यदि दासी की जूती को धारण किया जाता हो तो स्वामी की जूती को धारण करना कहीं उससे अधिक अच्छा है ॥४३ ॥

धर्म के लिये आरम्भ करनेवाले भव्य जीवों के पाप को उत्पन्न करनेवाले आरम्भ का त्याग उत्तम विपुल कीर्ति की प्राप्ति, घर आदि विषयक ममत्व के नष्ट कर देने से मन की निःस्पृह वृत्ति का संयोग, तथा अन्य सब प्राणियों के कल्याण के अभिप्राय से उन्हें समीचीन मार्ग का दिखलाना, इत्यादि अनेक उतम गुण हुआ करते हैं ॥ ४४ ॥

योग्य स्थान में जिन मंदिर और जिन प्रतिमा की पूजा प्रभावना के लिये जो अपनी सम्पत्तिका उपयोग करता है, उसका भव (जन्म) और वैभव दोनों ही सफल होते हैं। इस प्रकार धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति के चलते रहने से दाता और पात्र का परस्पर में उपकार होता है ॥ ४५ ॥

भयानक संसारसमुद्र में डूबनेवाले प्राणियों के लिये श्रीतीर्थंकर का तीर्थ अनुपम नौका के समान सहायक होता है ॥ ४६ ॥

यदि जैन धर्म और जिनेन्द्र के विषय में स्थिर भक्ति होती है तो प्राणियों की अनुपम प्रवृत्ति उस जैन धर्म और जिनेन्द्र के कार्यों में जबरन् हुआ करती है । तथा भक्त पुरुष दास

४५) 1 दानात्. 2 मनुष्यजन्मनः. 3 दानात् दातृपात्रयोर्द्वयोः परस्परमुपकारो भवति । ४६) 1 प्राणिनाम्. 2 उपमारहितम् उतमं प्रधानम् । ४७) 1 गच्छति. 2 यच्छति. 3 त्यजति ।

338) चैत्यस्य कृत्यानि विलोकयन्तो ये पापभाजो यदि वा यतीनाम् ।
कुर्वन्त्युपेक्षा[1]मपि शक्तियुक्ता मिथ्यादृशस्ते जिनभक्तिमुक्ताः ॥ ४८

339) आरम्भो ऽप्येष पुण्याय देवाद्युद्देशतः कृतः ।
सामग्र्यन्तःपातित्वाज्जीवनाय विषं यथा ॥ ४९

340) भिन्नहेतुक एवायं भिन्नात्मा भिन्नगोचरः ।
भिन्नानुबन्धस्तेन स्यात्पुण्यबन्धनिबन्धनम् ॥ ५०

341) लोभादिहेतुकः पापारम्भो गेहादिगोचरः ।
पापानुबन्धी संत्याज्यः कार्यो ऽन्यः पुण्यसाधनः ॥ ५१

342) धर्मारम्भरतस्य रज्यति जनः कीर्तिः परा जायते
राजानो ऽनुगुणा भवन्ति रिपवो गच्छन्ति साहायकम् ।
चेतः कांचन निर्वृतिं च लभते प्रायो ऽर्थलाभः परः
पापारम्भभराद्यनर्थविरतिश्चेति प्रतीता गुणाः ॥ ५२

बनकर अपनी सब सम्पत्ति को दे डालता है और गुणों को ग्रहण करता है। इस के अतिरिक्त वह दोष समूह को आच्छादित कर के प्राणों को भी छोड देता है ॥ ४७ ॥

जो पापीजन शक्तिसम्पन्न हो कर जिनप्रतिमा अथवा मुनियों के भी कार्यों को– पूजा, प्रतिष्ठा एवं आहार दानादि को– देखते हुए भी उनकी उपेक्षा किया करते हैं उन्हें जिनभक्ति से रहित मिथ्या दृष्टि समझना चाहिये ।। ४८ ॥

देव, शास्त्र व गुरु के उद्देश से किया गया महान् आरंभ भी उसकी सामग्री के अन्तर्गत होने से पुण्य के लिये होता है। जैसे–विष इतर सामग्री से युक्त होने पर जीवन के लिये –प्राण रक्षा का कारण भी होता है ॥ ४९ ॥

इस आरंभ का चूंकि हेतु भिन्न, स्वरूप भिन्न, विषय भिन्न और सम्बन्ध भी भिन्न है; इसीलिये वह पुण्यबंध का कारण होता है ॥ ५० ॥

लोभ के कारण जो गृह-कुटुम्बादि – के विषय में आरम्भ किया जाता है वह पाप का बन्धक होने से छोडने के योग्य है। परन्तु दूसरा–जिनगृह व जिनप्रतिमा के निर्माणादि तथा आहारदानादि विषयक आरम्भ–पुण्य का बन्धक होने से आचरणीय है ॥ ५१ ॥

जो भव्य धर्म के निमित्त आरम्भ में निरत होता है उस से लोग प्रेम करते हैं, उसे

---

४८) 1 अवगणनम् ।

343) न मिथ्यात्वात्प्रमादाद्वा कषायाद्वा प्रवर्तते ।
श्राद्धो[1] द्रव्यस्तवे[2] तेन तस्य बन्धो ऽस्ति नाशुभः ॥ ५३

344) शुभः शुभानुबन्धीति बन्धच्छेदाय जायते ।
पारंपर्येण यो बन्धः स प्रबन्धाद्विधीयते ॥ ५४

345) द्रव्यस्तवे[1] भवति यद्यपि को ऽपि दोषः
क्वाप्यागमे प्रकथितो ऽतिलघुस्तथापि ।
कृत्यो[2] गुणाय महते स न किं चिकित्सा-
क्लेशो गदापगमनाय बुधैर्विधेयः ॥ ५५

346) लोकोत्तरे गुणगणे बहुमानबुद्धिः
शुद्धिः परा स्वमनसो मनुजोत्तमत्वम् ।
स्याद्धर्मसिद्धिरखिले जगति प्रसिद्धिः
सिद्धिः क्रमेण जिनपूजनतो जनानाम् ॥ ५६

उत्तम कीर्ति का लाभ होता है, राजा उस के अनुकूल होते हैं, शत्रु सहायक होते हैं, उसका चित्त किसी अभूतपूर्व शान्ति को प्राप्त होता है, उसे प्रायः बहुत धन का लाभ होता है, तथा वह प्रचुर पापारम्भ से परिपूर्ण अनर्थों से—निरर्थक कर्मों से—विरक्त होता है । इस प्रकार धर्मारम्भ में तत्पर भव्य के ये प्रसिद्ध गुण हुआ करते हैं ॥ ५२ ॥

श्रावक चूँकि मिथ्यात्व से, प्रमाद से अथवा कषाय से द्रव्यस्तव में — पूजा-प्रतिष्ठा एवं दानादिरूप बाह्यसंयम में—प्रवृत्त नहीं होता है, इसीलिये उसको अशुभ का बन्ध नहीं होता है ॥ ५३ ॥

शुभबन्ध शुभानुबन्धी होता है । इसलिये बन्धच्छेद के लिये परम्परा से जो बन्ध कारण हो जाता है वह विपुल प्रमाण से करना चाहिये (?) ॥ ५४ ॥

यद्यपि द्रव्यस्तव में कुछ—आरम्भजनित—दोष होता है, ऐसा किसी आगम में निर्दिष्ट भी किया गया है तो भी वह चूँकि अतिशय अल्प होता है, इसलिये उस दोष की अपेक्षा गुण की अधिकता को देखकर उस द्रव्यस्तव को करना चाहिये । ठीक है—क्या विवेकी जन रोग को दूर करने के लिये चिकित्सा के क्लेश को नहीं सहन करते हैं ? ॥ ५५ ॥

जिनपूजन से मनुष्यों को क्रम से अलौकिक गुणसमूह में अतिशय आदर की बुद्धि, अपने अन्तःकरण की उत्कृष्ट विशुद्धि, मनुष्यों में श्रेष्ठता, धर्म की प्राप्ति, समस्त लोक में प्रसिद्धि और अन्त में मुक्ति भी प्राप्त होती है ॥ ५६ ॥

---

५३) 1 श्रावकः. 2 दाने । ५५) 1 दाने. 2 करणीय ।

347) देवा[illegible]कजयुग्मपूजां
छत्राद्यवाद्य[illegible]सुमै [illegible] जस्रम् ।
मृत्वा गतामरगतौ किल दुर्गतां[1]लं
स्त्रीत्वादि पूजनफलं समयप्रसिद्धम् ॥ ५७

348) [illegible]चागमा विधिनिषेधविधायको[1] ऽत्र
पारत्रिके खलु विधौ सुधियां प्रमाणम् ।
द्रव्यस्तवे ऽस्ति स च नास्ति च युक्तिबाधा
संसाधिकाधिकमतेः क्रमते च युक्तिः ॥ ५८

349) संप्राप्य ये नरभवं जिनशासनं च
संसारसागरविलङ्घनयानपात्रम् ।
द्रव्यस्तवं[1] परिहरन्ति जनास्तरां ते[2]
चिन्तामणिं समधिगम्य[3] परित्यजन्ति ॥ ५९

जो भक्त इन्द्रादिक देवों के भी देव ऐसे श्री जिनेश के चरणकमलयुगल की पूजा छत्र आदि वादित्र, और पुष्पों से निरन्तर करते हैं वे मर कर के देवगति में जन्म लेते हैं। वहाँ से उन्हें मनुष्य लोक में स्त्रीत्व व दरिद्रता आदिक नहीं प्राप्त होते हैं। पूजन का यह फल आगम में प्रसिद्ध है ॥ ५७ ॥

पारलौकिक विधिके विषय में विधान अथवा निषेध को करनेवाला जो आगम विद्वानों को प्रमाण है, वह द्रव्यस्तव के विधान में उपलब्ध होता है और इसमें युक्ति से कुछ बाधा भी नहीं आती है। अपि तु जो विशेष विद्वान् हैं उनकी युक्ति उक्त द्रव्यस्तव की सिद्धि करने में हि प्रवृत्त होती है ॥ ५८ ॥

जो संसारसमुद्र के पार कराने में नौका के समान जैनधर्म और मनुष्यभव को प्राप्त कर के द्रव्यस्तव से विरत रहते हैं, वे मनुष्य मानो चिन्तामणि को प्राप्त करके उसे यों ही छोड देते हैं ॥ ५९ ॥

---

५७) 1 दुर्गति. सोमा ब्राह्मणीकी सासू षट्कर्मोपदेशग्रन्थे जलपूजाकथायां प्रसिद्धा कथा। ५८) द्रव्यस्तवभावस्तव। ५९) 1 दानम्. 2 P °जनास्त एते. ३ प्राप्य।

350) देवादिकृत्यरहिणो[1] गृहिणः प्रहीणाः
शोच्याः सत भवमताः[2] पशुभिः समानाः ।
जन्मान्तरे गुरुनिरन्तरदुःखदूना[3]
दीना न किंचन कदापि शुभं लभन्ते ॥ ६०

351) एवं कृत्वा कारयित्वा यतीनामाहाराद्यं यच्छतां नास्ति दोषः ।
पुण्यस्कन्धः केवलं देहभाजां संजायेत स्वर्गनिर्वाणहेतुः ॥ ६१

352) प्रोक्तः स्वल्पः क्वापि यः कर्मबन्धः सारम्भत्वात्सर्वदास्त्येष[1] तेषाम् ।
इत्थं चेदं प्रोक्तयुक्त्यावसेयं[2] सिद्धान्तार्थः शुद्धबुद्ध्यावबोध्यः[3] ॥ ६२

353) इष्यते दोषलेशोऽपि प्रभूतगुणसिद्धये ।
यथा दष्टाङ्गुलिच्छेदश्छेकैर्[1] जीवितहेतवे ॥ ६३

जो निकृष्ट गृहस्थ देव-गुरु आदि के विधेय सत्कार्य से रहित होते हैं उनके उपर सत्पुरुषों को तरस आता है व वे उन्हें पशुओं के समान तिरस्कार के पात्र समझते हैं । ऐसे दीन जन परभव में निरन्तर भारी दुःख से पीडित हो कर कभी भी कुछ हित को नहीं प्राप्त कर सकते हैं ॥ ६० ॥

इस प्रकार जो प्राणी आहारादिक को स्वयं बनाकर अथवा दूसरों से बनवाकर मुनियों के लिये देते हैं वे कुछ भी दोष के भागी नहीं होते, अपि तु उनके इससे जो पुण्यस्कन्ध का बन्ध होता है, वह उनके लिये स्वर्ग व मोक्ष का कारण होता है ॥ ६१ ॥

आगम में जो कहीं पर गृहस्थों के अतिशय अल्प कर्मबन्ध कहा गया है वह उनके आरम्भसहित होने के कारण सदा ही हुआ करता है । इस प्रकार युक्ति से इस कथनका निश्चय कर के निर्मल बुद्धि से आगम के रहस्य को समझ लेना चाहिये ॥ ६२ ॥

जिस आरम्भ विशेषसे अतिशय अल्प दोष के उत्पन्न होनेपर भी यदि बहुत गुणों की प्राप्ति होती है तो वह आरम्भ अभीष्ट माना जाता है । उदाहरणार्थ, यदि सर्प ने अंगुलि में काट लिया है तो प्राणरक्षारूप महान् लाभ को देखकर उस अंगुली का कटवा देना भी विद्वानों के द्वारा अभीष्ट माना गया है ॥ ६३ ॥

---

६०) 1 रहिताः. 2 ज्ञाताः. 3 पीडिताः । ६२) 1 कर्मबन्धः. 2 निश्चयं करणीयम्. 3 ज्ञातव्यः ।
६३) 1 विचक्षणैः ।

354) कृष्यादिकम बहुजङ्गमजन्तुघाति
कुर्वन्ति ये गृहपरिग्रहभागसक्ताः ।
धर्माय रन्धन[1]कृतां किल पापमेषा-
मेवं वदन्नपि न लज्जित एव दुष्टः ॥ ६४

355) एवंविधस्याप्यबुधस्य वाक्यं सिद्धान्तबाह्यं बहुबाधकं च ।
मूढा दृढं श्रद्दधते कदर्याः पापे रमन्ते ऽमतयः[1] सुखेन ॥ ६५

356) नाभेयादिभि[1]रन्यजन्मनि मुनेर्नानाविधैरौषधै-
स्तैलाभ्यञ्जनतो वराशनविधे रोगावगूर्णस्य[2] वै ।
भक्त्यावेशवशादसौ[3] शिवकरी गुर्वी चिकित्सा कृता
तस्याः[4] सौख्यपरंपरामनुपमां भुक्त्वा शिवं ते ऽगमन्[5] ॥ ६६

357) वह्निप्लुष्टं नैगमश्चोज्जयिन्यां श्राद्धः[1] साधुं साधुतैलादिपाकैः ।
चित्राकारैश्चारुभिश्चोपकारैः कृत्वा कल्पं[2] किं न कल्याणमायात्[3] ॥ ६७

जो गृहस्थ घर, परिग्रह तथा भोगों में आसक्त होकर बहुत से त्रस जीवों के घात के कारणभूत खेती आदिक कार्यों को करते हैं, उन्हें धर्म के लिये भोजन के तैयार करने में पापका भागी कहनेवाले दुष्ट को लज्जा नहीं आती ? (तात्पर्य, मुनियां को आहार देने के लिये जो आरम्भ होता है, उससे पाप अल्प और पुण्य महान् होता है अतः ऐसे आरम्भका निषेध करना अनुचित है) ॥ ६४ ॥

जो अज्ञानी जन लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार वोलनेवाले मूर्ख के भी आगम-बाह्य और अतिशय बाधक वचन पर स्थिर श्रद्धा करते हैं, वे दुर्बुद्धि पाप में आनन्द से रममाण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६५ ॥

वृषभादि तीर्थंकरों ने पूर्व जन्म में रोगयुक्त मुनीश्वर की अनेक प्रकार की औषधों, तैलमर्दन और उत्कृष्ट आहार देने से जो भक्तिपूर्वक सुखदायक भारी चिकित्सा की थी उससे वे अनुपम सुखपरम्पराको भोग कर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ॥ ६६ ॥

उज्जयिनी नगरी में किसी वैश्य श्रावक ने अग्निसे जले हुए साधु को उत्तम तैलादि पाक से तथा और भी विविध सुन्दर उपचारों से नीरोग कर के क्या अपने स्वर्गरूप कल्याण को नहीं प्राप्त किया है ? अवश्य प्राप्त किया है ॥ ६७ ॥

---

६४) 1 आहारादिनिष्पादनम् । ६५) 1 मतिहीनाः । ६६) 1 ऋषभनाथप्रभृतिभिः. 2 रोगपीडितस्य मुनेः. 3 चिकित्सा. 4 चिकित्सायाः. 5 गताः । ६७) 1 श्रावकः. 2 स्वर्गम्. 3 P° कल्याणमाप ।

358) श्रीमान्[1] द्वारवतीपुरि प्रतिगृहं निर्माप्य सद्भेषजं
दत्त्वा व्याधिकदर्थितं[2] मुनिवरं संप्राचिकित्सत्तराम्[3] ।
तेनागृह्यत[4] निर्विकल्पमनसा[5] दाता ग्रहीता ततो
लप्स्येते[6] सुखसंततिं प्रवचने प्रोक्तं विशेषादिति ॥ ६८

359) शक्तितो भक्तितश्चापि रुक्मिणी हरिवल्लभा ।
उत्कृष्टश्रावकादीनां वैयावृत्त्यं चकार च ॥ ६९

360) नानावग्रहकष्टितानथ रुजाग्रस्तान् व्रतैः कर्शितान्[1]
दिग्वासोनिवहानभीष्टकरणाद् भैषज्यतः पथ्यतः ।
इत्थं स्वेन परैरपि प्रतिदिनं प्रोल्लासिवक्त्राम्बुजो[2]
गम्भीरः समुपाचरच्चिरतरं श्रीनन्दिषेणो मुनिः ॥ ७०

361) आर्या वर्या रेवती भक्तिनिष्ठा सम्यग्दृष्टिर्विश्रुता सुश्रुतानाम् ।
आहाराद्यं साधु संपादयन्ती वाञ्छाछेदं[1] किं न सोपाचचार[2][3] ॥ ७१

द्वारावती नगरी में ऐश्वर्यशाली कृष्ण ने प्रत्येक घर में उत्तम औषध को तैयार करा कर उसे व्याधिसे व्यथित मुनिराज को देते हुए उनका उपचार किया था । तथा उस मुनिराज ने भी उसे निराकुल भाव से ग्रहण किया था । इससे निश्चित है कि इस प्रकार के दान से दाता और उसे ग्रहण करनेवाला पात्र दोनों ही सुखपरम्पराको प्राप्त करते हैं । इसका विवेचन आगम में विशेष रूप से किया गया है ॥ ६८ ॥

कृष्ण की प्रिय पत्नी रुक्मिणीने अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार उत्कृष्ट श्रावक आदिकोंका वैयावृत्त्य किया था —उन्हें आहारादि के द्वारा संमानित किया था ॥ ६९ ॥

नन्दिषेण मुनिने अनेक अवग्रहों —तपनियमादिकों —से पीडित, रोगों से आक्रान्त और व्रताचरणों से कृशता को प्राप्त हुए दिगम्बर मुनिसमूहों का हितकर औषधों से अभीष्ट किया था। इस प्रकार उस नन्दिषेण मुनिने स्वयं तथा दूसरों के द्वारा भी दीर्घकाल तक प्रतिदिन उनका उपचार कराया था । उस समय उस गम्भीर नन्दिषेण मुनि का मुख-कमल अतिशय प्रफुल्लित रहा है ॥ ७० ॥

जो मान्य, श्रेष्ठ व भक्ति में संलग्न रेवती रानी स्थिर सम्यग्दृष्टि के रूप में प्रसिद्ध

---

६८) 1 विष्णुः. 2 पीडितम्. 3 निर्व्याधिमकरोत्. 4 मुनिना. 5 गृहीतम्. 6 लभते । ७०) 1 पीडितान्. 2 मुखकमलः । ७१) 1 वाञ्छापूरणम्. 2 रेवती राणी. 3 कृतवती ।

362) श्रद्धालुः किं श्राविका चेलनाख्या श्रीसिद्धान्ते विश्रुता[1] स्थैर्यकारात् ।
नानारूपैरौषधैः संस्कृतान्नं दत्त्वार्यायाः किं न संप्राचिकित्सत्[2] ॥ ७२

363) सीतया रामचक्रिभ्यां[1] वने गुप्तसुगुप्तयोः ।
आश्चर्यपञ्चकं प्राप्तं दानात्तद्धितं भुवि ॥ ७३

364) अन्यच्च देशकुलभूषणयोरुभाभ्यां[1] कष्टं व्यनाशि[2] निजजीवितसंशयेन ।
चण्डोपसर्गकरणाच्च महामुनीनां दुःखं सुदुःसहतरं समभूज्जटायोः[3] ॥ ७४

365) भूयांसो[1] ऽन्ये ऽपि कथ्यन्ते पुण्यभाजो जिनागमे ।
कृत्वा कृत्यानि[2] साधूनां संप्राप्ताः संपदं पराम् ॥ ७५

366) ग्रहीतुं नाम[1] नामापि भागधेयैर्नरैः परम् ।
साधूनां प्राप्यते दातुं भक्त्या भक्तादि किं पुनः ॥ ७६

थी, उसने श्रुतशाली मुनिराजों के लिये उत्तम आहारादि को संपादित कराकर उनकी इच्छा को दूर करते हुए क्या निःस्पृहतापूर्वक उनका उपचार नहीं किया था ? ॥ ७१ ॥

चेलना रानी नाम की जो श्रद्धालु–सम्यग्दर्शन से संपन्न–श्राविका धर्म से च्युत होते हुए साधर्मी जन को उस धर्म में स्थिर कराने में आगमप्रसिद्ध है, उसने अनेक प्रकार की औषधियों से संस्कृत-मिश्रित –आहार को दे कर क्या आर्यिका की चिकित्सा नहीं की थी ? ॥ ७२ ॥

सीता के साथ राम और लक्ष्मणने दण्डकारण्य में गुप्त और सुगुप्त मुनियों को आहार-दान दे कर इस पृथिवी पर पंचाश्चर्यों को तथा उसी प्रकार अपने हित को भी प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

इसके अतिरिक्त उन्हीं रामचंद्र और लक्ष्मण ने अपने प्राणों को संकट में डालकर देश-भूषण और कुलभूषण मुनियों के कष्ट को नष्ट किया था । तथा पूर्वभव में– दण्डक राजा की पर्याय में –महामुनियों के ऊपर घोर उपसर्ग करने से जटायु पक्षी को अतिशय दुःख उत्पन्न हुआ था ॥ ७४ ॥

जिनागम में ऐसे अन्य भी अनेक पुण्यवान स्त्री-पुरुषों का वर्णन किया गया है, जिन्होंने साधुओंके कार्यों को कर के उत्कृष्ट वैभव को–स्वर्ग मोक्षादि की लक्ष्मी को–प्राप्त किया है ॥७५॥

साधुओं का केवल नामग्रहण भी भाग्यशाली मनुष्यों को प्राप्त होता है, फिर भला भक्तिपूर्वक उनको आहारादि देने के प्रसंग में क्या कहा जाय ? उसकी प्राप्ति को तो विशेष पुण्य का फल समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

---

७२) 1 प्रसिद्धा. 2 चिकित्सतवती । ७३) 1 रामलक्ष्मणाभ्याम् । ७४) 1 रामलक्ष्मणाभ्याम्. 2 विनाशितम्. 3 जटायुपक्षिणः दण्डकारण्यसंबन्धः पद्मचरित्रे प्रसिद्धः । ७५) 1 बहवः. 2 करणीयानि । ७६) 1 अहो ।

367) यस्यान्नपानैः संतृप्ताः साधवः साधयन्त्यमी ।
स्वाध्यायादिक्रियां सार्वी तस्य[1] पुण्यं तदुद्भवम् ॥ ७७

368) ब्रूषे[1] ऽथ व्याधिबाधायामभ्याहृत्य विधीयते ।
साधूनामौषधान्नादि शेषकाले तु दुष्यति ॥ ७८

369) किं व्याधिबाधा साधूनां गौरव्या यदि वा गुणाः ।
गुणाश्चेद् भक्तपानादि दातव्यं व्याधिना विना ॥ ७९

370) बुभुक्षा च महाव्याधिः स्वाध्यायध्यानबाधिनी ।
आर्तिप्रवर्तिनी भीमा शमनीयाशनादिभिः ॥ ८०

371) अथ न्यायागतं कल्प्यं देयं[1] युक्तं न चापरम् ।
युक्तं तदुक्तं बोद्धव्यं मध्यस्थैः शुद्धबुद्धिभिः ॥ ८१

372) अन्यायेनागतं दत्तमन्यदीयं हि निष्फलम् ।
तेन स्वकीयं दातव्यं स्वामिनेति निवेदितम् ॥ ८२

जिस दाता के अन्न पानी से तृप्त हुए मुनिजन आत्महितकर सब स्वाध्यायादि क्रियाओं को करते हैं, उससे उत्पन्न हुआ पुण्य उस दाता को प्राप्त होता है ॥७७ ॥

यदि यह कहा जाय कि साधुओं को व्याधिबाधा के होनेपर उन्हें औषधदान व अन्नदान करना योग्य हैं परन्तु अन्यकाल में अर्थात् उनकी नीरोग अवस्था में वह दोषजनक है; तो इसके उत्तर में हम पूछते हैं कि क्या साधुओं की रोगपीडा गौरवास्पद है या उनके गुण गौरवास्पद हैं ? यदि गुण गौरवास्पद हैं तो फिर रोग के विना भी साधुओं को आहारपानादि देना ही चाहिये ॥ ७८–७९ ॥

भूख वह महाव्याधि है जो स्वाध्याय तथा ध्यान में बाधा उत्पन्न करती हुई पीडा को भी उत्पन्न करती है । इस भयंकर व्याधि को आहारादिके द्वारा शान्त करना चाहिये ॥ ८० ॥

इसके अतिरिक्त जिस अन्नादि द्रव्य को न्यायपूर्वक प्राप्त किया गया है तथा जो साधुजन के ग्रहण करने योग्य भी है वही द्रव्य देने के योग्य है, इतर द्रव्य – अन्याय से प्राप्त व ग्रहण के अयोग्य आहारादि–देने के योग्य नहीं है । इस प्रकार जो कहा गया है उसे पक्षपात से रहित निर्मलबुद्धि जन को योग्य समझना चाहिये ॥ ८१ ॥

अन्यायसे प्राप्त किये गये दूसरे के आहारादिक पदार्थों को देनेपर उस दान का कुछ

७७) 1 तस्मात् स्वाध्यायसकाशादुत्पन्नं पुण्यं तस्यापि भवति यस्यान्नपान । ७८) 1 ब्रवीषि । ८१) 1 दयं द्रव्यमन्नादिकम् ।

373) कल्प्यं योग्यं तु साधूनां धर्मकार्ये ऽपि कारणम् ।
वितीर्ण[1]मपि नायोग्यं गृह्णन्ति यतयो यतः ॥ ८३

374) [1]यद्वान्यायागतं कल्प्यं देयमेवेति कथ्यते ।
लोभेनाशोभनं दानमदानं वा निवार्यते ॥ ८४

375) तथा कल्प्ये ऽपि सत्येव कश्चिद्दानाय दुर्विधः[1] ।
विधत्ते ऽभिन्नमन्नादि सो ऽमुना प्रतिषिध्यते ॥ ८५

376) विधिरौत्सर्गिको वायमुत्तमं दानमीदृशम् ।
अन्यत्तु मध्यमादि स्यान्न तु दोषाय जायते ॥ ८६

377) सर्वत्र चास्ति न्यायो ऽयमुत्कृष्टमुपदिश्यते ।
अन्यत्तु न प्रतिक्रुष्ट[1]मदुष्टं पुण्यपुष्टये ॥ ८७

फल नहीं प्राप्त होता है। इसलिये स्वामी (दाता) को न्यायप्राप्त अपने ही आहारादिक पदार्थ को देना चाहिये, ऐसा कहा है ॥ ८२ ॥

कारण इस का यह है कि दाता के द्वारा दिये गये कल्प्य—ग्रहण करने योग्य उचित आहारादि ही साधुओं के स्वाध्यायादि कार्यों में सहायक होते हैं। इसीलिये वे अयोग्य आहार के देने पर भी मुनिजन उसे ग्रहण नहीं करते हैं ॥ ८३ ॥

अथवा, जो आहारादि द्रव्य अन्यायसे प्राप्त किये गये हैं वे यदि साधुजन के लिये ग्रहण करने के योग्य हैं तो उन्हें भी देना ही चाहिये। कारण यह कि ऐसा करने से लोभ के वश हो कर जो निन्द्य दान दिया जाता है अथवा दिया ही नहीं जाता है उसका इससे निषेध हो जाता है ॥ ८४ ॥

तथा कोई दरिद्री आहारादिक के कल्प्य—देने योग्य—होने पर भी उसे अभिन्न करता है, अर्थात् योग्य और अयोग्य आहारादिक को एक करता है। इस से वह निषिद्ध माना गया है ॥ ८५ ॥

अथवा मुनिजन के लिये न्यायप्राप्त कल्प्य आहारादि को देना चाहिये, यह पूर्वोक्त विधान औत्सर्गिक—सामान्य—है। इसलिये इस विधि के अनुसार दिया गया दान उत्तम माना गया है। इस से भिन्न—अन्याय प्राप्त व अकल्प्य आहारादिक—दान को मध्यम व जघन्य समझना चाहिये और वह दोषजनक नहीं है ॥ ८६ ॥

यह न्याय—पूर्वोक्त विधान—सर्वत्र उत्कृष्ट कहा गया है। इस से भिन्न दान का विधान निषिद्ध नहीं है, किन्तु वह भी दोष रहित व पुण्य की पुष्टि का कारण है ॥ ८७ ॥

---

८३) 1 दत्तम् । ८४) 1 अथवा । ८५) 1 दीनो दरिद्रः । ८७) अनुत्कृष्टम् ।

378) व्याख्येयमेवमेवेदमन्यथा न व्रताद्यपि ।
देयं ग्राह्यं च केनापि संपूर्णं विधिना विना ॥ ८८

379) अथ कालादिदोषेण न्यूनो[1] ऽपि विधिरिष्यते ।
व्रतादेरिव भक्तादेर्दाने ऽप्येष[2] समिष्यताम् ॥ ८९

380) आरम्भरहितं वा दायकमुद्दिश्य[1] दर्शितं कल्प्यम् ।
देयं कृत्वा ददतः[2] प्रतिमापन्नस्य भङ्गभयात् ॥ ९०

381) यो[1] ऽपि क्वचिदपि समये[2] कृत्वा ददतो[3] निवेदितो दोषः ।
सो[4] ऽप्येवंविधविषये विदुषा[5] योज्यो न सर्वत्र ॥ ९१

382) यदि वाधिकृत्य पात्रं सामान्येनैव निर्निमित्तमिदम् ।
देयं कल्प्यं जल्पितमनल्पबुध्द्यावबोद्धव्यम् ॥ ९२

इस उपर्युक्त औत्सर्गिक व आपवादिक विधि का व्याख्यान इसी प्रकार से —औत्सर्गिक विधि से दिया गया दानादि उत्तम तथा शेष (अपवाद विधि से दिया गया) दानादि मध्यम या जघन्य होता है, परन्तु होता वह भी निर्दोष है; ऐसा —करना चाहिये । कारण यह कि यदि ऐसा उसका व्याख्यान नहीं किया गया तो फिर विधि के बिना उस दान के समान संपूर्ण व्रत आदि भी न तो किसी के द्वारा दिया जा सकेगा और न किसी के द्वारा ग्रहण भी किया जा सकेगा ॥ ८८ ॥

इसलिये यदि कालादि के दोष से उक्त व्रतादि के ग्रहण में कुछ हीन विधि भी अभीष्ट मानी जाती है तो फिर उक्त व्रतादि के समान आहारादिक के दान में भी कालादि दोष से उस हीन विधि को स्वीकार करना चाहिये ॥ ८९ ॥

अथवा, आरम्भ से रहित दाता को लक्ष्य कर के पूर्वोक्त कल्प्य दिखलाया गया है; क्योंकि आरम्भ त्याग प्रतिमा को प्राप्त श्रावक यदि देयको कर के—आहारादि को तैयार कर के देता है तो उसके उस स्वीकृत प्रतिमा के भंग होने का भय है ॥ ९० ॥

आहारादि को स्वयं निर्मित कर के देने वाले श्रावक को जो किसी आगम ग्रन्थ में दोष कहा गया है, उसकी भी योजना विद्वान् मनुष्य को इसी प्रकार के विषय में करना चाहिये, न कि सब प्रकार के विषय में ॥ ९१ ॥

अथवा सामान्यतया पात्र को उद्देश्य करके व्याध्यादि निमित्त के बिना उदार बुद्धि से कल्प्य को देय कहा गया है ऐसा समझना चाहिये ॥ ९२ ॥

८९) 1 ऊनः हीनो ऽपि विधिः. 2 ऊनविधिः । ९०) 1 पात्रम्. 2 दातुः पुरुषस्य । ९१) 1 दोषः. 2 आगमे. 3 प्रयच्छतः पुरुषस्य. 4 दोषः. 5 पण्डितेन ।

383) यस्मात्सति निर्वाहे बालग्लानादिहेतुविरहे वा।
गृह्णन्त्य[illegible] यं न साधवो वारितं तेन ॥ ९३

384) अनिर्वाहे तु गृह्णन्ति ग्लानादेश्च प्रयोजने ।
देशाद्यपेक्षं [illegible] तथा चोवाच तार्किकः ॥ ९४

385) किंचित्कल्प्यम[illegible]ल्प्यं स्यात्किंचित्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् ।
पिण्डः शय्या शास्त्रं छात्राद्यं भेषजाद्यं वा ॥ ९५

386) देशं कालं पुरुषावस्था[1][illegible]पयागशुद्धिपरिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥ ९६

387) ग्रहीष्यन्ति न वा ते तु ज्ञातुमेतन्न शक्यते ।
दातव्यं सर्वथा च स्यात्साधुभ्यो धर्मसिद्धये ॥ ९७

388) उक्तं चेच्छेन्न वा साधुस्तथापि विनिवेदयेत् ।
अगृहीतेऽपि पुण्यं स्याद्दातुः सत्परिणामतः ॥ ९८

कारण यह कि निर्वाह के होने पर अर्थात् कल्प्य आहार के मिल जानेपर अथवा बाल और व्याधिग्रस्त आदि निमित्त के अभावमें साधुजन अकल्प्य आहार को ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये अकल्प्य आहार का निषेध किया गया है॥ ९३ ॥

इसके विपरीत निर्वाह के न होने पर–कल्प्य आहारके न प्राप्त होनेपर– तथा बाल व व्याधिग्रस्त आदि प्रयोजन (निमित्त) के होनेपर साधुजन देश कालादिकी अपेक्षा से कल्प्यादिक आहारको ग्रहण करते हैं । इस विषय में तार्किक विद्वान् ने ऐसा कहा है ॥ ९४ ॥

पिंड (आहार), शय्या, शास्त्र, छात्र आदि अथवा औषध आदि; इनमें देशकालादिकी अपेक्षा कोई कल्प्य तो अकल्प्य और अकल्प्य भी कल्प्य हुआ करता है ॥ ९५ ॥

देश, काल, पुरुष की अवस्था, उपयोग, शुद्धि और परिणाम; इनका विशेष विचार करके कल्प्य होता है । एकान्तसे – देशकाल आदिकी अपेक्षा के विना – कल्प्य की कल्पना करना योग्य नही है ॥ ९६ ॥

वे – साधुजन – उसे ग्रहण करेंगे या नहीं ग्रहण करेंगे, यह जानना शक्य नहीं है । इसलिये धर्म की सिद्धि के लिये साधुओंको सब प्रकारसे आहारादिका दान करना चाहिये ॥ ९७ ॥

दाताके निर्देश कर ने पर पात्र उसे (निर्दिष्ट वस्तु को) ग्रहण करे अथवा न करे,

---

९६) 1 P 'पुरुषमवस्थाम् ।

389) किंचोपदेशेन विनापि भक्तः शक्तश्च दत्ते हि यथाकथंचित्।
मिथ्याविचारं च करोत्यभक्तस्तुच्छस्वभावः समदातुकामः ॥ ९९

390) भक्तिव्यक्तिः कथमिव भवेदागतानां यतीनां
यद्याहारं न पचति[1] गृही सुन्दरं सादरं च।
अन्यस्यापि स्वजनहृदयः[2] कृत्यमौचित्यमित्थं
गौरव्याणां[3] किमुत जगतः साधु साधर्मिकाणाम् ॥ १००

391) नामापि साधुलोकानामालोकादि विशेषतः।
को ऽपि पुण्यैरवाप्नोति दानादि तु किमुच्यते ॥ १०१

392) एष्टव्य[1]मित्थमेवेदं मध्यस्थैः सूक्ष्मदृष्टिभिः।
विधातुं[2] बुध्यते श्राद्धै[3]र्वन्दना[4]द्यपि नान्यथा ॥ १०२

तो भी दाताको उसके विषय में निवेदन करना ही चाहिये।कारण यह कि ऐसा करने से साधु के उसे ग्रहण न करने पर भी दाता के शुभ परिणाम से उसे पुण्य की प्राप्ति होती है ॥ ९८ ॥

दूसरे, जो समर्थ दाता साधुजन के विषय में भक्ति रखता है वह उनके लिये उपदेश के विना भी किसी न किसी प्रकारसे आहारादि को देता ही है। परन्तु जो मुनिजन में अनुराग नहीं रखता है वह हीन स्वभाववाला मनुष्य नहीं देने की इच्छा से मिथ्या विचार को किया करता है ॥ ९९ ॥

यदि गृहस्थ आदर से सुन्दर आहार को नहीं पकाता है तो आये हुए मुनि के विषय में उसको भक्ति कैसी प्रगट हो सकती है ? जिसका आत्मीय जनों के विषय में प्रेम है ऐसा गृहस्थ जब अन्य व्यक्ति का भी मधुर भाषणपूर्वक दानादि देकर उचित आदर करता है तब क्या वह जिनका गौरव जगत् करता है ऐसे सार्धमिक साधुजन के लिये समुचित आहारादि देकर उनका आदर सत्कार नहीं करेगा ? ॥ १०० ॥

कोई भी भाग्यशाली मनुष्य साधुजन के नाम को भी पुण्योदयसे सुन पाता है व उनका दर्शन तो उसको विशेष पुण्यसे ही प्राप्त होता है। फिर यदि उसको उनके लिये दान देने आदिका प्रसंग प्राप्त होना है तो क्या कहना है– वह तो महापुण्योदय से ही प्राप्त समझना चाहिये ॥ १०१ ॥

जो मध्यस्थ – पक्षपात से रहित – और सूक्ष्म विचारक हैं उन्हें 'यह ऐसा ही है' ऐसा स्वीकार करना चाहिये। कारण यह कि ऐसा स्वीकार करने के विना श्रावक मुनियों के लिये वन्दना कैसे करना चाहिये, यह भी न जान सकेंगे ॥ १०२ ॥

१००) 1 यदि पाकं न करोति तदा भक्तिः कथं प्रकटा भवति. 2 गृही. 3 माननीयानाम्। १०२) 1 अङ्गीकर्तव्यम्. 2 कर्तुम्. 3 श्रावकैः. 4 D° वन्दनाद्यपि।

393) न चेयं क्वापि सिद्धान्ते निषिद्धा किंतु साधिता ।
स्थाने स्थाने ऽनवद्याया[1] वन्दनाया विधानतः ॥ १०३

394) आरम्भान्तरमन्तरे गुरुतरं गेहाद्यसद्गोचरं
मुञ्चत्यत्र[1] समग्रमग्रिमगुणग्रामं मुनेर्मानतः ।
मान्यं सो ऽन्यगुणान्तरं च लभते छिन्द्यात्क्वचित्[2]संशयं
दुष्टानेन[3] न वन्दना यदि वदेद्दाने समाधिः समः ॥ १०४

395) वन्दनादिगुणान् दिव्यानन् नानभिवाञ्छता[1] ।
दानं विशेषतो देयं यत्यवस्थानकारणम् ॥ १०५

396) मुनीनां ज्ञानादौ भवति बहुमानः प्रकटित-
स्तदन्येषां मार्गो जिनवचनभक्तिः परहितम् ।
धने ऽनास्थाभावो गुरुपुरुषकृत्यानुकरणं[1]
कियन्तः कथ्यन्ते वितरण[2]गुणाः सिद्ध्यनुगुणाः ॥ १०६

यह वन्दना किसी भी सिद्धान्त में निषिद्ध नहीं है, किन्तु उसकी आवश्यकता ही कही गई है। आगम में स्थान स्थानपर उक्त निर्दोष वन्दना का विधान किया गया है ॥ १०३ ॥

वन्दना के समय गृहस्थ चूंकि बीच में गृहादि के असद्गोचर (?) अन्य भारी आरम्भ को छोड देता है, मुनि के सन्मानसे वह समस्त श्रेष्ठ गुण समूहको एवं आदरणीय अन्य गुणान्तर कोभी प्राप्त करता है तथा किसी विषय में उत्पन्न हुए संशय को नष्ट करता है; इसीलिये वह वन्दना दोषयुक्त नहीं है; ऐसा यदि कहा जाता है तो यही समाधान समानरूप से दान के विषय में भी जानना चाहिये ॥ १०४ ॥

जो सत्पुरुष सम्पूर्ण वन्दनादि अनेक दिव्य गुणों की प्राप्ति की इच्छा करता है उसे मुनिजन को धर्म में स्थिर करनेवाले दान को विशेष रूपसे देना चाहिये ॥ १०५ ॥

आहारादिक देने से मुनियों के ज्ञानादि गुणों में बहुमान प्रकट होता है, अन्य लोगों को दान मार्ग का परिचय होता है — एक को दान देते हुए देख कर अन्यजन भी उसमें प्रवृत्त होते हैं, जिनवचन में भक्ति उत्पन्न होती है उससे परका — पात्र का — हित होता है (अथवा दाता का उत्कृष्ट हित होता है), दान देने से धन में अनास्था भाव — उसकी नश्वरताका निश्चय उत्पन्न होता है, तथा महापुरुषों के कृत्यों का — उदारता, औदार्य, वत्सलता एवं प्रभावना आदि समीचीन कार्यों का — अनुसरण होता है। सिद्धि के अनुकूल उन दानके प्रचुर गुणों मे से भला यहाँ कितनों का वर्णन किया जा सकता है? ॥ १०६ ॥

१०३) 1 वन्दनायाः । १०४) 1 दाने. 2 वन्दनाविषये. 3 प्रकारेण । १०५) पुरुषेण । १०६) 1 श्रेयांसादिवत् [illegible] भवति. 2 दान ।

397) धर्मे स्थैर्यं स्यात्कस्यचिच्चञ्चलस्य प्रौढं वात्सल्यं बृंहणं[1] सद्गुणानाम् ।
दानेन श्लाघा शासनस्यातिगुर्वी दातृणामित्थं दर्शनाचारशुद्धिः ॥ १०७

398) औदार्यं वर्यं[1] पुण्यदाक्षिण्यमन्यत् संशुद्धो बोधः पातकात्स्याज्जुगुप्सा
आख्यातं मुख्यं सिद्धधर्मस्य लिङ्गं लोकप्रेयस्त्व[2]द्दातुरेवोपपन्नम्[3] ॥ १०८

399) तीर्थोन्नतिः परिणतिश्च परोपकारे
ज्ञानादिनिर्मलगुणावलिकाभिवृद्धिः ।
वित्तादिवस्तुविषये च विनाशबुद्धिः
संपादिता भवति दानवता[1]त्मशुद्धिः ॥ १०९

400) सीदन्ति पश्यतां येषां शक्तानामपि साधवः ।
न धर्मो लौकिको ऽप्येषां दूरे लोकोत्तरः स्थितः[1] ॥ ११०

401) सीदन्तो यतयो यदप्यनुचितं किंचिज्जलान्नादिकं
स्वीकुर्वन्ति विशिष्टभक्तिविकलाः कालादिदोषादहो ।
मालिन्यं[1] रचयन्ति यज्जिनमतस्यास्थानशय्यादिना
श्राद्धा[2]नामिदमेति दूषणपदं शक्ता[3]नुपेक्षाकृताम्[4] ॥ १११

दान देनेसे किसी चञ्चल– धर्ममार्गसे च्युत होते हुए– साधर्मिक की उसमें स्थिरता होती है, धार्मिकों में प्रौढ (अतिशय) वात्सल्य प्रगट होता है, धार्मिकों में सद्गुणों की वृद्धि होती है, तथा दान देने से जिनशासन की बडी प्रशंसा होती है। इस प्रकार दाताजन के दर्शनाचारकी शुद्धि होती हैं ॥ १०७ ॥

श्रेष्ठ उदारता, पवित्र मृदुता या सरलता, निर्मलज्ञान, पाप से ग्लानि, तथा लोकप्रियता ये अनादि सिद्ध धर्मके चिन्ह कहे गये हैं। और ये सब गुण दाता को ही प्राप्त होते हैं ॥१०८॥

दान देनेसे तीर्थ की उन्नति, दाता की परोपकार परिणति (प्रवृत्ति), ज्ञानादि निर्मल गुणसमूह की वृद्धि, धन आदि वस्तुओं में नश्वरता का विचार और दाता की आत्मशुद्धि भी है ॥ १०९ ॥

दुःख के दूर करने में समर्थ हो कर जो श्रावक साधुजन को कष्ट में देखकर भी उनके दुःख को दूर नहीं करते हैं, उनके लौकिक धर्म भी सम्भव नहीं है, फिर भला लोकोत्तर धर्म तो उनसे बहुत दूर है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ११० ॥

रोगादि से पीडित साधुजन विशिष्ट भक्ति से रहित होते हुए काल आदिके दोष से

---

१०७) 1 वर्धनम् । १०८) 1 श्रेष्ठम्. 2 धर्मलिङ्गम्. 3 युक्तम् । १०९) 1 पुरुषेण । ११०) उत्तमो धर्मः सोऽपि नास्ति । १११) 1 मलिनता. 2 श्रावकाणाम्. 3 शक्तौ सत्यां. 4 अवगणनाकराणाम् ।

402) अपात्रबुद्धिं ये साधौ लिङ्गमात्रे ऽपि कुर्वते ।
नूनं न पात्रतास्त्येषां यथात्मनि तथा परे ॥ ११२

403) सुदृगादिपरं पात्रं सर्वमुक्तं जिनागमे ।
दानं तु निर्गुणेभ्यो ऽपि दातव्यमनुकम्पया ॥ ११३

404) आहारवस्त्रामत्रादिदाने पात्रपरीक्षणम् ।
कुर्वन्तः[1] किं न लज्जन्ते दरिद्राः[2] क्षुद्रचेतसः ॥ ११४

405) सर्वज्ञो[1] हृदि[2] वाचि[3] तस्य वचनं काये प्रणामादिकं
प्रारम्भो ऽपि च चैत्यकृत्यविषयः पापाज्जुगुप्सा परा ।
हीनानामपि सन्त्यमी शुभदृशां येषां गुणा लिङ्गिनां
ते मन्ये जगतो ऽपि पात्रमसमं शेषं किमन्विष्यते[4] ॥ ११५

यदि अपने पद के अयोग्य जल व अन्नादि का स्वीकार करते हैं तथा अयोग्य वसति व शय्या आदिका ग्रहण करके जिनमत में मलिनता को उत्पन्न करते हैं तो यह दोष शक्ति होनेपर भी उपेक्षा करने वाले श्रावकों पर आता है– इसे श्रावकों का दोष समझना चाहिये ॥ १११ ॥

जो किसी विशेष साधुके अथवा लिंगी–साधु–मात्र के विषय में अपात्र बुद्धि को करते हैं–उसे पात्र नहीं समझते हैं– उनकी निश्चय से जैसे स्वयं अपने में पात्रता नहीं है वैसे ही वे दूसरे के– साधु के –विषय में भी अपात्रता की कल्पना करते हैं ॥ ११२ ॥

जो सम्यग्दर्शन आदिसे सम्पन्न हैं वे सब पात्र हैं ऐसा जिनागम में कहा गया है। इसके अतिरिक्त दान तो निर्गुणों को भी– सम्यग्दर्शन आदि गुणों से रहित जनों को भी– दया भाव से देना चाहिये ॥ ११३ ॥

आहार वस्त्र व पात्र आदि देने के लिये पात्र की परीक्षा करनेवाले दरिद्र श्रावक अपनी इस क्षुद्र मनोवृत्ति पर लज्जित क्यों नहीं होते हैं ? ॥ ११४ ॥

चारित्र से हीन होने पर भी जिन उत्तम दृष्टिवाले – सम्यग्दृष्टि – लिंगियों के हृदय में सर्वज्ञ, वचन में उसकी वाणी, शरीर में उनके लिये प्रणामादिक, जिनमन्दिर व जिन प्रतिमा संबंधी कार्य विषयक प्रकृष्ट आरम्भ और मन में पाप से अतिशय ग्लानि ये गुण होते हैं उनको मैं लोक में अनुपम पात्र मानता हूँ। फिर भला शेष को–परिपूर्ण संयमी आदिको– क्यों खोजा जाता है ? ॥ ११५

---

११४) 1 D सन्तः. 2 हीनाः। ११५) 1 D सर्वज्ञदेव. 2 D हृदये. 3 D वचने. 4 विचार्यते D धर्मकार्येऽन्यत्किमवलोक्यते ।

406) चतुर्दशाद् गुणस्थानात्सर्वे सर्वे ऽप्यपेक्षया।
निर्गुणाः सगुणास्तु स्युस्[1]तृतीयादुत्तरे[2] क्रमात् ॥ ११६

407) साधवो दुष्षमाकाले[1] कुशीलबकुशादयः ।
प्रायः शबलचा[रि]त्राः[2] सातिचाराः प्रमादिनः ॥ ११७

408) सगुणो निर्गुणो ऽपि स्यान्निर्गुणो गुणवानपि ।
शक्यते न च निश्चेतुं[1] मान्यः सर्वो ऽप्यतो[2] मुनिः ॥ ११८

409) गुणानुरागितैवं स्याद्दर्शनाभ्युन्नतिः परा ।
लोके ऽत्र पात्रता पुंसां परत्र कुशलं परम् ॥ ११९

410) अक्रूरता गुणापेक्षा[1] दोषोपेक्षा[2] दयालुता।
उदारतोपकारेच्छा विधेया[3] सुधिया[4] सदा ॥ १२०

411) एकं पापं देयभावे ऽप्यदानं साधोरन्यन्निन्दया निर्निमित्तम् ।
गृह्णन्त्युच्चैः क्रूरचित्ता वराकाः पापैः पापा नैव तृप्यन्ति लोकाः ॥ १२१

चौदहवें गुणस्थान से पूर्व गुणस्थानवर्ती सब ही अपेक्षाकृत निर्गुण हैं- हीन गुणवाले अथवा गुणों से रहित हैं। तथा तीसरे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानवर्ती सब ही जीव क्रम से अपेक्षा कृत सगुण -सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित अथवा परिपूर्ण गुणवाले - हैं ॥११६ ॥

इस पंचमकालमें कुशील व बकुशादिक साधु प्रायः शबल चारित्र- दूषित चरित्रवाले -अतिचारों से सहित और प्रमादयुक्त होते हैं ॥ ११७ ॥

जिसे सगुण समझा है वह कदाचित् निर्गुण हो सकता है। और जिसे निर्गुण समझा है वह सगुण हो सकता है । इस प्रकार जब सगुण और निर्गुण का निश्चय करना शक्य नहीं है तब ऐसी अवस्थामें जिनलिंगधारी सब ही मुनिजनका सत्कार करना चाहिये ॥ ११८ ॥

इस प्रकारसे- गुणी और निर्गुणका विचार न करके जिनलिंगधारक साधुमात्रको आहारादिके देनेसे- दाताजनोंकी गुणानुरागिता, सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट उन्नति, इस लोक में पात्रता और परलोक में उत्कृष्ट हित होता है ॥ ११९ ॥

निर्मलबुद्धि मनुष्य को दुष्टता का परित्याग, गुणों की अपेक्षा, दोषों की उपेक्षा, दयालुता, उदारता -दातृत्व बुद्धि- और परोपकार की इच्छा सदा ही करनी चाहिये ॥ १२० ॥

जिनका मन क्रूर है ऐसे पापी लोग देने योग्य आहारादिक के होने पर भी जो नहीं

---

११६) 1 D भवेयुः. 2 तृतीयगुणस्थानादुपरि. ११७) 1 P° दुःखमाकाले. 2 D° कलुषितचारित्राः। ११८) 1 निश्चयं कर्तुम्. 2 D कारणात् । १२०) 1 वाञ्छा. 2 अवगणना. 3 कर्तव्या. 4 बुद्धियुक्तेन ।

412) ख्यातं मुख्यं जैनधर्मप्रधानं श्राद्धस्यो[1]क्तं द्वादशं तद्व्रताद्यम् ।
दत्तं पूज्यैः कीर्तितं चागमज्ञैर्युक्त्या युक्तं दीयतां निर्विवादम्[2] ॥१२२

413) किंचिद्दायकमुद्दिश्य किंचिदुद्दिश्य याचकम् ।
देयं[1] च किंचिदुद्दिश्य निषिद्धं वै तथागमे ॥ १२३

414) त्यक्तारम्भो यथारभ्य साधुभ्यो ऽप्यशनादिकम् ।
न दद्यात्पापिने ऽन्यो ऽपि दानमेतत्प्रवर्तनम् ॥ १२४

415) कन्याफलं यथोद्दिश्य वापीकूपसरांसि[1] वा ।
दानं दद्यान्न धर्मार्थी ध्वस्तयुक्तफलादिकम् ॥ १२५

416) उत्सर्गेणा[1]पवादेन[2] निश्चयाद् व्यवहारतः ।
क्षेत्रपात्राद्यपेक्षं च सूत्रं योज्यं जिनागमे ॥ १२६

देते हैं, यह एक पाप हुआ, तथा साधुओं की जो वे निष्कारण निन्दा करते हैं, यह दूसरा पाप हुआ, इस प्रकार से वे दोनों ही घोर पापों को ग्रहण करते हैं। ठीक है–बेचारे पापी लोग पापों से कभी तृप्त नहीं होते हैं ॥ १२१ ॥

जो प्रसिद्ध दान मुख्य व जैन धर्म में प्रधान है उसे यद्यपि संख्या में बारहवाँ व्रत कहा गया है, तो भी उसे श्रावक के व्रतों में प्रथम व्रत समझना चाहिये। उक्त दान को पूज्य पुरुषों ने दिया है और आगम के ज्ञाता जनों ने उसकी स्तुति की है। इसलिये युक्ति से युक्त उस दान को विना किसी विवाद के देना योग्य है ॥ १२२ ॥

आगम में किसी दान का निषेध दाता की अपेक्षा से, किसीका निषेध याचक (पात्र) की अपेक्षा से और किसीका निषेध देय वस्तु की अपेक्षा से किया गया है ॥१२३ ॥

यथा– आरम्भत्यागी सद्गृहस्थ को भोजन आदि का आरम्भ करके साधुओं के लिये भी दान नहीं देना चाहिये। इसी प्रकार आरम्भरत गृहस्थ भी पापी मनुष्य को आहारादिक नहीं देवे। कारण कि उस दानसे उसको पाप में ही प्रवृत्ति होनेवाली है (?) ॥ १२४॥

धर्मार्थी दाता कन्याफलकी अपेक्षासे जैसे कन्यादान नहीं करता है वैसे ही उसे वापी, कुआँ, सरोवर और तालाब आदिका भी फल की अपेक्षा से दान करना योग्य नहीं हैं। तथा बिगडे हुए व उच्छिष्ट फलादिक देना भी योग्य नहीं है ॥ १२५॥

जिनागम में उत्सर्ग और अपवाद, निश्चय और व्यवहार, क्षेत्र व पात्र आदिकी अपेक्षासे सूत्रकी योजना करनी चाहिये ॥ १२६॥

---

१२२) 1 श्रावकस्य. 2 D अनिदानवन्धेन। १२३) 1 D दातव्यम्। १२५) 1 D सरोवराणि। १२६) 1 संक्षेपेण. 2 विस्तारेण।

417) न किंचित्कृत्यमेकान्तादकृत्यं वा जिनागमे ।
गुणदोषौ तु संचिन्त्य कृत्याकृत्यव्यवस्थितिः ॥ १२७

418) विधीयते[1] गुणः शुद्ध ईषद्दोषो महागुणः ।
न समधिकदोषस्तु गुणो दोषो न केवलः ॥ १२८

419) आलोच्यागममागमज्ञपुरुषानापृच्छय[1] धर्मार्थिनो
दृष्ट्वा शिष्टजनप्रवृत्तिमधुना श्रुत्वागमे प्राक्तनीम्[2] ।
मोहापोहविधित्सया[3] शुभधियां किंचिन्मया वर्णितं
कर्णे कार्यमिदं[4] विचार्य निपुणैः पुण्यार्थिभिः सज्जनैः ॥ १२९

420) दानाभावे भवति गृहिणां मुख्यधर्म[1] महाणं[2]
साधूनां च स्थितिविरहतो मार्गनाशः क्रमेण ।
लोके निन्दा जिनपतिमतस्यावदातस्य[3] गुर्वी
दानं युक्त्या जयमुनिरुपासाधयत्साधुसिद्धयै ॥ १३०

पञ्चमो ऽवसरः ॥ ५ ॥

जिनागम कोई भी कार्य एकान्त से न विधेय ही माना गया है और न अविधेय भी। किन्तु वहाँ इस कार्य की विधेयता और अविधेयता की व्यवस्था गुण व दोष के आधार पर की गयी है ॥ १२७ ॥

जिस आरम्भ कार्य में केवल गुण ही हो वह किया जाता है। जो आरम्भ कार्य महान् गुण से संयुक्त हो कर कुछ थोडे से दोष से भी संगत हो वह भी विधेय है। किन्तु जो गुण दोष की अधिकता से व्याप्त हो वह विधेय नहीं है। तथा जिस आरम्भ कार्य में केवल दोष ही हो वह भी विधेय नहीं है ॥ १२८ ॥

मैंने आगम का विचार कर के आगम के जाननेवाले धर्मेच्छु विद्वानोंसे पूछकर, वर्तमान में सत्पुरुषों के आचरण को देखकर, तथा उनकी पूर्व प्रवृत्ति को सुनकर निर्मल बुद्धि के धारक सज्जनों के मोह के हटाने की इच्छासे जो यह कुछ थोडासा वर्णन किया है उसका विचार कर के पुण्येच्छु निपुण सज्जनों को उसे कान पर करना चाहिये – उसे सुनकर हृदयस्थ करना चाहिये ॥ १२९ ॥

दान के अभाव में गृहस्थों के मुख्य धर्म का नाश होता हैं, उस दान के विना साधुओं की स्थिति नहीं रह सकती है, तथा साधुओं का अवस्थान न रहने से समीचीन मार्ग का विनाश भी अनिवार्य है। इस प्रकार से लोक में निर्मल जैनमत की घोर निन्दा हो सकती है। इस सबका विचार करके जय (जयसेन) मुनि ने साधुओं के अस्तित्व की सिद्धि के लिये युक्तिपूर्वक दान का यह वर्णन किया है ॥ १३० ॥

इस प्रकार पाँचवा अवसर समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

---

१२८) 1 D कथ्यते। १२९) 1 D पृष्ट्वा. 2 D पूर्वोक्ताम्. 3 मोहविनाशमिच्छया. 4 D करणीयम्
१३०) 1 दानपूजामुख्यधर्मं. 2 हानिः, D विनाशः 3 शुद्धस्य निर्दोषस्य.

[६. षष्ठो ऽवसरः]

[ज्ञानदानफलम्]

421) ज्ञानस्या[illegible]दानमत्रानिदानं[1] दातुर्[2]लातुर्[3]धर्मसिद्धेर्निदानम्[4] ।
ईदृङ्नान्यत्स्यात्[5]सुखानां निधानं भव्यास्[6]तेन[7] प्रोच्यते तत्प्र[8]धानम् ॥ १

422) अभयान्नादिभ्यां तु प्र[illegible]ने न मर्त्यानाम् ।
अर्थे ऽनर्थे च यथा ज्ञानात्तेनोत्तमं ज्ञानम् ॥ २

423) सर्वपुरुषार्थसिद्धेर्निबन्धनं धीधना वद[illegible]म्[1] ।
तेन ज्ञानं ददता[2] दत्ताः सर्वे ऽपि पुरुषार्थाः ॥ ३

हे भव्य जीवो ! आगामी भोगाकांक्षा से रहित जो ज्ञान का दान किया जाता है वह यहाँ दाता और ग्रहीता दोनों के लिये धर्मसिद्धि का कारण होता है । इस ज्ञानदान के सदृश और दूसरा कोई सुखका भंडार (कारण) नहीं है । इसीलिये उस प्रधानभूत ज्ञानदान का वर्णन किया जाता है ॥ १॥

जिस प्रकार मनुष्यों की उपादेय पदार्थ के विषय में प्रवृत्ति और अनर्थ के विषय में निवृत्ति ज्ञान के द्वारा हुआ करती है, उस प्रकार उनकी वह प्रवृत्ति और निवृत्ति अभय व अन्न आदि के द्वारा सम्भव नहीं है । इसी कारण ज्ञान को उत्तम माना गया है ॥ २ ॥

ज्ञान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का कारण है ऐसा बुद्धि-रूपी धन के धारक आचार्य कहते हैं । इसलिये जो उस ज्ञान को देता है, समझना चाहिये कि उसने सब ही पुरुषार्थों को दे दिया है ॥ ३ ॥

---

१) 1 PD निदानरहितम्. 2 दातृपुरुषस्य. 3 गृह्णतः पुरुषस्य पात्रस्य. 4 कारणम्. 5 D भवेत् 6 हे भव्याः. 7 तेन कारणेन. 8 PD ज्ञानदानम् । ३) 1D ज्ञानम्. 2 दातृपुरुषेण ।

424) अन्यच्च धर्ममूलं करुणा सा[1] ज्ञानकारणात्सिद्धा ।
सिद्धान्ते ऽपि प्रथितं[2] प्रथमं ज्ञानं ततः करुणा ॥ ४

425) धर्मेण चाखिलसुखानि समीहितानि
मर्त्यामरेषु[1] मनुजो[2] लभते हितानि ।
धर्मः समस्तसुखसिद्धिनिमित्तमुक्तः[3]
सर्वेण वादिनिवहेन विना विवादम् ॥ ५

426) तद्धर्म[1]साधनमिदं ददता[2]खिलानि
सौख्यानि धर्मजनितानि समर्पितानि ।
वित्तं यथा वितरता[3] वनितारतादि
वस्तूनि चित्तसुलभानि विलोभनानि[4] ॥ ६

427) लोके ऽपि रूपके दत्ते प्रदत्तं भोजनं जनः ।
हेतौ कार्योपचारेण निर्विचारं वदत्यदः[1] ॥ ७

दुसरे, धर्म का मूल कारण जो दया है, वह भी ज्ञान के निमित्त से सिद्ध होती है। आगम में भी पहिले ज्ञान और तत्पश्चात् दया प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

प्राणी धर्म के आश्रय से मनुष्य जन्म में और देव जन्म में उत्पन्न हो कर संपूर्ण इच्छित सुखों और हितों को प्राप्त करता है। सर्व वादिसमूहने निर्विवाद रूप से उस धर्म को समस्त सुखों की सिद्धि का निमित्त कहा है ॥ ५ ॥

जो उस धर्म के साधनभूत इस ज्ञानको दिया करता है उसने धर्मसे उत्पन्न होनेवाले सभी सुखों को इस प्रकार से दे दिया समझना चाहिये, जिस प्रकार कि धनको देनेवाला व्यक्ति मन को सुलभ रूपसे लुभानेवाली स्त्री सम्भोगादि मनोज्ञ वस्तुओं को दे देता है ॥ ६ ॥

लोक में भी यदि किसीने रुपया दिया तो मनुष्य निर्विवाद रूपसे कहता है कि इसने मुझे भोजन दिया। इस लोक व्यवहार में निमित्तभूत कारण (रुपया) में कार्य (भोजन) का उपचार है ॥ ७ ॥

४) 1 सा करुणा. 2 D विस्तरितम् । ५) 1 मनुष्यदेवेषु भवेषु. 2 PD मनुष्यः. 3 D कथितः । ६) 1 तस्य धर्मस्य. 2 D दातृपुरुषेण. 3 ददता पुरुषेण. 4 लोभोत्पादकानि चित्तरञ्जकानि । ७) 1 ज्ञानम् ।

428) लोकद्वये ऽभिलषता विपुलोपकारं
दातव्यमेतद[1]निशं[2] करुणापरेण ।
ज्ञानात्परं न पर[3]मस्ति परोपकार-
संपादकं सपदि[4] संपदमादधानम्[5] ॥ ८

429) ज्ञेयं ज्ञात्वा ज्ञानतो ज्ञानवन्तो हेयं हित्वा पूजनीया जनानाम् ।
संज यन्त ऽत्रैव जन्मन्यकृच्छ्रं[1] पापभ्रंशादन्यजन्मन्यवश्यम् ॥ ९

430) कल्याणकलाप[1]कारणं ज्ञानं सर्वविपन्निवारणम् ।
मिथ्यात्वादिविरोधि साधनं सिद्धेः[2] सिद्धं साधु साधनम्[3] ॥१०

431) यथैधांसि[1] समिद्धो ऽग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ११

432) अज्ञानी यत्कर्म क्षपयति बहु[1]कोटिभिः प्राणी[2] ।
तज्ज्ञानी गुप्तात्मा क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १२

इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में विपुल परोपकार करने की अभिलाषा करनेवाले दयालु मनुष्य को निरन्तर इस ज्ञानका दान करना चाहिये। कारण यह कि लोक में उस ज्ञान को छोडकर और दूसरा कोई परोपकार का साधन नहीं है। वह ज्ञान शीघ्र सम्पत्ति देनेवाला है ॥ ८ ॥

प्राणी ज्ञान से ज्ञेय को– प्रयोजनीभूत जीवादि तत्त्वों को – जानकर ज्ञानवान् होते हुए हेय का– मिथ्यात्वादि दुर्भावों का – परित्याग कर देने से समस्त जनों के पूज्य हो जाते हैं। यह ज्ञानदानकृत इस लोकसंबंधी उपकार हुआ। तथा पर भव में पाप का विनाश करने से वे अवश्य ही सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

वह ज्ञान कल्याण समूह का कारण, समस्त आपत्तियों का निवारक, मिथ्यात्व व अविरति आदिका विरोधी कारण – उनका विनाशक – और मुक्ति का प्रमाणसिद्ध निर्दोष उपाय है ॥ १० ॥

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि इन्धन को – लकडियों को – क्षणभर में जलाकर भस्म करती है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सर्व ज्ञानावरणादि कर्मों को क्षणभर में जलाकर भस्म कर देती है ॥ ११ ॥

अज्ञानी प्राणी जिस कर्म का अनेक कोटि वर्षों में क्षय करता है, उसका क्षय ज्ञानी जीव पाप से आत्माका संरक्षण करता हुआ उच्छ्वास मात्र काल में कर देता है ॥ १२ ॥

---

८) 1 ज्ञानम्. 2 D अनवतं. 3 द्वितीयम् 4 D शीघ्रम्. 5 धारकम् । ९) 1 कृच्छ्ररहितं. D कष्ट-रहितम् । १०)1 D समूह. 2 D कारणाय. 3 PD मण्डनम् । ११)1 इन्धनानि. D काष्ठसमूहानि । १२)1 D °बहुजन्मकोटि.° 2 D जीवः ।

433) वाचकमुख्यो[1] ऽप्याख्यत्[2] संज्ञानादीनि मुक्तिमार्ग इति ।
न च मार्गणीयमपरं[3] परमस्ति महात्मनां[4] मुक्तेः[5] ॥ १३

434) यो दिशति मुक्तिमार्गं परोपकारी ततो ऽपरो न परः ।
परमपदानन्दादिव भवभुवनसमुद्भवानन्दः ॥ १४

435) समीहमानैः[1] स्वपरोपकारं ज्ञानं सदा देयमचिन्तय[illegible]ः ।
परिश्रमं[2] श्रीश्रमणैः स्वकीयं कृत्यान्तरं वा सुतरामतन्द्रैः[3] ॥ १५

436) नास्मिंश्[1]चित्तं चरति सुचिरं चिन्तनीयान्तरेषु
प्रायः कायो रचयति न वा दुष्टचेष्टामनिष्टाम् ।
व्यग्रं वक्त्रं वदति न परं येन सावद्यजातं
धर्मादानं तदिदमुदितं ज्ञानदानं प्रधानम् ॥ १६

वाचक मुख्य— आचार्य उमास्वामी—ने भी ' सम्यग्ज्ञानादि — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र— मोक्षके मार्ग हैं, ऐसा कहा है। और महापुरुषों को उस मोक्ष को छोडकर अन्य किसी को खोजना नहीं हैं, किन्तु एक मात्र उसी मोक्ष को खोजना है, तथा उसका उत्कृष्ट साधन यह सम्यग्ज्ञान ही है ॥ १३ ॥

जो परोपकारी महापुरुष मोक्षमार्ग का कथन करता है उससे दुसरा कोई जगत् में उत्कृष्ट परोपकारी नहीं है । जैसे परमपद (मोक्ष) का आनन्द ही सर्वोत्कृष्ट है, उस से संसार रूप घर में उत्पन्न हुआ आनंद कदापि उत्कृष्ट नहीं हो सकता है ॥ १४ ॥

स्वयं अपने और सार्धमिक जनके उपकार करने की इच्छा रखनेवाले ज्ञानी मुनिराजों को परिश्रमका विचार न करके सदा ज्ञान का दान करना चाहिये । अथवा उन्हें अपने इतर कृत्य की चिन्ता न करते हुए आलस्य को छोडकर स्वयं ही उस ज्ञानका दान करना चाहिये ॥ १५ ॥

इस ज्ञान के प्राप्त होने पर मन विचारयोग्य किन्हीं इतर कार्यों में दीर्घकालतक संचार नहीं करता है । शरीर प्रायः अनिष्ट दुष्ट चेष्टा को नहीं करता है — वह हिंसादि हीन कृत्यों में प्रवृत्त नहीं होता है । तथा मुख से व्याकुल हो कर पापसंयुक्त कार्यों का कथन नहीं करता है । इसीलिये धर्मग्रहण का कारण होने से इस ज्ञानदान को प्रधान कहा गया है ॥ १६ ॥

१३) 1D अर्हन्. 2 उक्तवान्. 3 कथयामास. 3 D विचारणीयं न. 4 D योगिनां. 5 D ज्ञानात् ।
१५) 1D वाञ्छद्भिः. 2 करणीयमाश्रमम्. 3 D मुनिभिः कृतश्रमम् । १६) 1 ज्ञाने. D ज्ञानावलम्बे ।

437) ज्ञानमेकमनेकेषामेककालमुपक्रियाम्[2] ।
करोति याति नो हानिं दत्तं वर्धेत कौतुकम्[3] ॥ १७

438) अपास्यति[1] कुवासनां भवशतार्जितामूर्जितां
प्रमार्जयति[2] दुर्जयं निबिडपापरूपं रजः ।
प्रकाशयति च स्फुटं किमपि वस्तुतत्त्वं परं
करोति सकलं शुभं परिणता[3] चिदेषा नृणाम् ॥ १८

439) मुष्णाति[1] विषयतृष्णां पुष्णाति[2] च निर्वृतिं[3] हरत्यरतिम् ।
अमृतमिव ज्ञानमिदं कोपाद्युपतापमपनुदति[4] ॥ १९

440) विलसदतुलमोदं मानसं मानमुक्तं
विपुलपुलकपूर्णं तूर्णमङ्गं विधत्ते ।
श्रुति[1]सुखमसमानं लोचने चाश्रुगर्भे
श्रुतमपि जिनवाक्यं श्रेयसामेकहेतुः[2] ॥ २०

ज्ञान ही एक समान काल में अनेकों का— बहुत से श्रोता जनों का — उपकार किया करता है । तथा वह दिये जाने पर हानि को न प्राप्त हो कर वृद्धि को ही प्राप्त होता है, यही आश्चर्य की बात है । ज्ञान में धन की अपेक्षा यह विशेषता समझना चाहिये ॥ १७ ॥

यह ज्ञान सैंकडो भवों से चली आयी प्रबल कुवासना को दूर करता है, जो कष्ट से जीती जा सके ऐसी सघन पापरूप धूलि को झाड देता है तथा किसी अपूर्व ही वस्तुस्वरूप को स्पष्टतासे प्रकट करता है । इस प्रकार वह परिपक्व ज्ञान मनुष्यों के पूर्ण शुभ को करता है ॥ १८ ॥

अमृततुल्य वह ज्ञान विषयलोलुपता को नष्ट करता है, सुख को पुष्ट करता है, अरति को दूर करता है, तथा कोप, अभिमान आदि के संतापको नष्ट करता है ॥ १९ ॥

जिनवाणी का सुनना भी श्रोता के मन को मान से रहित करके उसे विलासयुक्त अनुपम आनन्द से परिपूर्ण, शरीर को शीघ्र ही विस्तृत रोमांच से व्याप्त, कानों को अनुपम सुख से संयुक्त और नेत्रों को आनन्दाश्रुओं से पूर्ण कर देता है । इस प्रकार केवल जिन-वाणीका श्रवण भी विविध प्रकार के कल्याण का एकमेव कारण होता है ॥ २० ॥

१७) 1 समानकालं. 2 उपक्रियाम् उपकारं करोति. D उपकारं. 3 इदं कौतुकम् । १८) 1 निरा॰ करोति. D विनाशयति. 2 शोधयति. D स्फेटयति. 3 ज्ञानस्य परिणता । १९) 1 P D चोरयति. 2 पोष-यति. 3 सुखम्. 4 स्फेटयति. D क्रोधादिरूपतापं विनाशयति । २०) 1 कर्णौ. 2 D कारणम् ।

441) दहति मदनवह्नि[1]र्मानसं तावदेव
भ्रमयति तनुभाजां कुग्रहस्तावदेव ।
छलयति गुरुतृष्णाराक्षसी तावदेव
स्फुरति हृदि जिनोक्ता [illegible]क्यमन्त्रो न याव[2]त् ॥ २१

442) त्रुट्यन्ति स्नेहपाशा झटिति विघटते [illegible] दुराशा
प्रौढो गाढाधिरूढो रहयति[1] दृढतां कर्मबन्धप्रबन्धः ।
ध्वंसन्तो ध्वान्तपूरा[2] इव दिवसपतेः पातकार्थाभियोगा[3]
[illegible] ज्ञानयोगादुपरमति[4] मतिर्गेहदेहादितो ऽपि ॥ २२

443) शास्त्राञ्जनेन जनितामलबुद्धिनेत्र –
स्तन्त्रोपकल्पित[1]मि[illegible]खिलजीवलोकम् ।
लोलं[2] [illegible] फल्[3][illegible][4] रूपं
नास्[5]थामतो वितनुते[6] तनुका[illegible] ॥ २३

जब तक श्री जिनेश्वरका वचनरूप मंत्र अन्तःकरण में स्थान नहीं प्राप्त करता है तब तक ही कामाग्नि मन में दाह उत्पन्न कर सकती है, तब तक ही दुष्ट शनि आदि ग्रह अथवा पिशाच प्राणियों को भ्रान्ति उत्पन्न करा सकते हैं और तब तक ही तीव्र विषयतृष्णा-रूप राक्षसी धोखा दे सकती है ॥ २१ ॥

ज्ञान के संबंध से योग्य जनोंकी स्नेहरूप फाँसें – गृहकुटुम्बादिसे आसक्तियाँ – शीघ्र नष्ट हो जाती हैं । दुःखपूर्वक नष्ट होनेवाली दुराशा – विषयतृष्णा – शान्त हो जाती है । आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूपसे दृढतापूर्वक संबद्ध हुए प्रबल कर्मबंध का विस्तार उस दृढता को छोड देता है – पाप प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग क्षीण हो जाता है । उससे पापजनक पदार्थों के संबन्ध इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं । जिस प्रकार कि सूर्य के संबन्धसे अन्धकार के प्रवाह नष्ट हो जाते हैं । तथा उनकी बुद्धि घर व शरीर आदि से विश्राम ले लेती है – उनसे ममत्वबुद्धि छूट जाती है ॥ २२ ॥

जिसका बुद्धिरूप नेत्र शास्त्ररूप अंजन के संसर्ग के निर्मलता को प्राप्त हुआ है, वह भाग्यशाली मनुष्य समस्त जीवलोक को – चराचर विश्व को – गारुड आदि विद्या से उपस्थित किये गये के समान चंचल देखता है । तथा श्रेष्ठ रूप को निरर्थक देखता है इसीलिये वह शरीर और सुवर्णादि में आस्था को नहीं करता है – वह उन्हें अस्थिर मानता है ॥ २३ ॥

२१) 1 D कामाग्निः. 2 D °तावत्.° । २२) 1 PD त्यजति. 2 तमःसमूहाः. D समूहाः D °ध्वान्तपूगाः° 3 D उद्यमाः इव. 4 व्यावृत्ता भवति. D विरक्ता भवति । २३) 1D यथा तांत आकर्षपुत्त-लिका इव. 2 D पर्यायेण विनश्वरं. 3 निष्फलम् D विनश्वरं वा. 4 सफलम्. D द्रव्यार्थेन शाश्वतम्. 5 स्थितिम्. 6 करोति ।

444) संज्ञानलोचनमिदं भविनो[1] ऽसमानं
भूतं भविष्यदखिलं खलु वर्तमानम् ।
सूक्ष्मं तिरोहितम[2]तीन्द्रिय[3]दूरवर्ति
ज्ञेयं[4] विलोकयति विष्टप[5]मध्यवर्ति ।। २४

445) विनापि चक्षुषा रूपं[1] निश्चिन्वन्ति विपश्चितः[2] ।
चक्षुष्मन्तो[3] ऽपि नाज्ञाना हेयोपादेयवेदिनः ।। २५

446) शास्त्रनेत्रविहीनो हि वाहदोहा[1]दिवर्जितः ।
पशोरपि नरः पापः कथं जीवन्न लज्जितः ।। २६

447) नरेण शास्त्रशून्येन किं शोच्येन[1] विपश्चिताम्[2] ।
तिरश्चो[3] ऽपि जघन्येन[4] लब्धेन गतजन्मना ।। २७

ज्ञाननेत्र सर्व प्रकार से जगत् को जानता है । भव्य का यह सम्यग्ज्ञानरूप चक्षु अनुपम है । यह जगत् के मध्य में स्थित भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालीन ज्ञेयों को – वस्तुओं को – जानता है । तथा जो अतीन्द्रिय होने से दूरवर्ती कहे जाते हैं ऐसे सूक्ष्म – परमाणु आदिक तिरोहित – देशान्तरित – मेवादिक, कालान्तरित – राम रावणादिक, अतीन्द्रिय पापपुण्य, धर्माधर्मादिक द्रव्य, इन सबको जानता है ।। २४ ।।

विद्वान् लोग आँख के बिना भी वस्तु के रूप का निश्चय करते हैं–हेय को हेय और उपादेय को उपादेय जानते हैं । परन्तु अज्ञानी जन आँख के होने पर भी हेय और उपादेय वस्तु को नहीं जानते हैं ।। २५ ।।

जो मनुष्य आगमरूप नेत्र से रहित है– जिसे हितकर आगम का परिज्ञान नहीं है– उसे निश्चयतः पशु से भी पापी समझना चाहिये । कारण कि पशु–बैल व गाय आदि तिर्यंच प्राणी–तो बोझा ढोने व दूध दुहने आदि के उपयोग में आते हैं, परन्तु आगमज्ञान से हीन मनुष्य किसी उपयोग में नहीं आता है । ऐसा मनुष्य जीवित रहते हुए भला लज्जा को क्यों नहीं प्राप्त होता है ? ।। २६ ।।

शास्त्रज्ञान से शून्य मनुष्य विद्वानों के लिये शोचनीय हो कर पशु से भी हीन माना जाता है । ऐसे मनुष्य से भला स्वयं उसका व अन्य का भी क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? कुछ भी नहीं । वह मनुष्य जन्म को पाकर भी उसे यों ही नष्ट कर देता है ।। २७ ।।

---

२४) 1 संसारिजीवस्य. 2 आच्छादितम्. D आवरणसहितम्. 3 D इन्द्रिय-अगम्यम्. 4 D पदार्थम्. 5 D त्रिभुवन । २५) 1 D पदार्थं जानन्ति. 2 ज्ञानवन्तः, D पण्डिताः. 3 चक्षुर्युक्ताः । २६) 1 D कृषिकरतावर्जितः । २७) 1 D निन्द्येन. 2 ज्ञानवतां, D पण्डितानां. 3 तिरश्चः सकाशात्. D °तिरश्चा.° 4 हीनेन ।

448) श्लाघ्याः सुलब्धजन्मानः स्पृहणीया विवेकिनाम् ।
पूजनीया जनस्य[1]ान्ये[2] धन्याः शास्त्रविशारदाः[3] ॥ २८

449) श्रूयन्ते श्रुतिनो ऽश्रान्तं श्रेणिभिः[1] श्रीमतां श्रिताः ।
विश्राणयन्तः[2] श्रेयांसि श्रुतीनां विश्रुतश्रुताः[3] ॥ २९

450) तपसा रिक्तानमपि[1] शम्भूनां[2] संभवन्ति य[illegible]मलाः[3] ।
तरलितभुवनस्वान्तस्तच्छ्रुतचिन्तामणिस्फुरितम् ॥ ३०

451) अभव्यसेनप्रायाणां[1] यत्सुखं पूज्यता च यत् ।
तथापि श्रुतकल्पागसेवा[2] सूते[3] महाद्भुतम् ॥ ३१

452) धनश्री[1]प्रभृतीनां च जातिस्मृत्यादिकं च यत् ।
ज्ञानकामदुघापूर्वसेवा संजनयत्यदः[2] ॥ ३२

453) कुर्वाणा गीर्वाणा निर्वाणार्थं श्रुतस्य बहुमानम् ।
श्रूयन्ते श्रुतभाजां महामुनीनां च बहुमानम् ॥ ३३

उन से भिन्न जो भाग्यशाली जन उस शास्त्रज्ञान से विभूषित होते हैं, वे प्रशंसा के पात्र हैं, उनका मनुष्यजन्म सफल है, उन को विवेकी जन चाहते हैं, तथा जन समुदाय उनकी पूजा करता है ॥ २८ ॥

जिन का कि धनिकों के समूहोंने आश्रय लिया है ऐसे कितने ही प्रसिद्ध श्रुतशाली महाभाग कल्याणकारी आगमों का निरन्तर दान करते हुए-सदा सदुपदेश देते हुए – सुने जाते हैं ॥ २९ ॥

तपश्चरण से रहित भी शंभुओं को–धनवानों को–जो समस्त जनसमूह के मन को चंचल करनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है उसे श्रुतज्ञान रूपी चिन्तामणि रत्न का प्रभाव समझना चाहिये ॥ ३० ॥

अभव्यसेन जैसे आत्मानुभव रहित मुनियों को जो सुख, पूज्यपना (और यश) प्राप्त हुआ है उसे श्रुतज्ञानरूपी कल्पवृक्ष की सेवा उत्पन्न करती है, यह महान् आश्चर्य है ॥ ३१ ॥

धनश्री आदिकों को जो जातिस्मरण आदि हुआ है उसे ज्ञानरूप कामधेनु की पूर्व काल में की गई अपूर्व सेवाने ही उत्पन्न किया है ॥ ३२ ॥

देवगण मोक्षप्राप्ति के लिये श्रुत का बहुमान और उस श्रुत के धारक महामुनियों का भी बहुमान करते हुए सुने जाते हैं ॥ ३३ ॥

२८) 1 D लोकस्य. 2 D ज्ञानिनः. 3 श्रुतज्ञाः । २९) 1 D पङ्क्तिभिः. 2 PD दापयन्तः. 3 D विख्यातश्रुताः । ३०) 1 तपोभ्रष्टानामपि. 2 रुद्राणां धनाढ्यानामित्यर्थः, D तीर्थंकराणाम्. 3 लक्ष्म्यः । ३१) 1 सदृशानाम्. D प्रमुखाणाम्. 2 कल्पवृक्षः. 3 उत्पादयति । ३२) 1 राजपुत्री श्रुतस्कन्धव्रतेन D आर्या. 2 एतज्जा।।त[illegible]त्यादिकम् ।

454) जायन्ते च यतीनां श्रुतानुभावेन लब्धयो[1] विविधाः ।
फलमैहिकमामुत्रिकममलामरनरशिवसुखानि ॥ ३४

455) धर्मार्थकाममोक्षाणां कीर्तेश्चैकं प्रकीर्तितम्[1] ।
ज्ञानं जलमिवावन्ध्यं[2] धान्यानां संनिबन्धनम् ॥ ३५

456) इदं विदित्वा श्रुतसंग्रहे गुरुर्गुरुक्रमाम्भोजरतरनारतः ।
समीहमानैरसमां समुन्नतिं समुद्यमः सद्विधिना विधीयताम्[1] ॥ ३६

457) गुरुजनमुखे भक्त्या न्यस्यन्मुहुर्मुहुरीक्षणे
क्षणमपि कथां कुर्वन्नन्यां न चापरचिन्तनः ।
उपचित[1]रतिः सूत्रस्यार्थे शिरोरचिताञ्जलिः
पुलकितवपुः पूज्ये[2] जल्पं[3]स्तथेति समाहितः ॥ ३७

458) उद[1]नन्दाश्रुणी बिभ्रन्नेत्रपात्रे पवित्रितम् ।
स्वं[2] कृतार्थं च मन्वानः पिबेत्तद्वचनामृतम् ॥ ३८

श्रुत के प्रभाव से मुनिजनों को इस लोक संबंधी फलस्वरूप अनेक प्रकार की लब्धियाँ –ऋद्धियाँ– प्राप्त होती हैं और परलोक में निर्मल देव व मनुष्यों का तथा अन्त में मुक्ति का भी सुख प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

जैसे जल धान्य की उत्पत्ति का सफल–व्यर्थ न होनेवाला–कारण है, वैसे ही ज्ञान धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कीर्ति की प्राप्ति का निर्बाध कारण कहा गया है ॥ ३५ ॥

यह जान कर के जो सज्जन अपनी असाधारण आत्मोन्नति की इच्छा करते हैं उन्हें सद्‌गुरुओं के चरणकमलों में अनुरक्त हो कर विधिपूर्वक उस श्रुत के ग्रहण में निरन्तर महान् प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३६ ॥

जो गुरुजन के मुख पर भक्ति से बार बार अपने नेत्रों को रख कर एक क्षण भी अन्य कथा को व मन में अन्य चिन्तन को नहीं करता है, जो सूत्र के अर्थ में अतिशय प्रीति रखता है, जिसने अपने भालप्रदेश पर हाथ जोडकर रखे हैं अर्थात् जो विनयपूर्वक मस्तक झुका कर नमस्कार करता है, जिसका शरीर आनन्द से रोमांचित हो रहा है, तथा गुरुने जो कुछ भी कहा है उसे जो ' तथा–ठीक है, वैसा ही करूँगा यह ' कह कर स्वीकार करता हुआ समाधान को प्राप्त हुआ है; ऐसे सत्पुरुष को उत्पन्न हुए आनन्दाश्रुओं से परिपूर्ण नेत्ररूप पात्रों के साथ मन में पवित्रता को धारण कर के अपने को कृतार्थ मानते हुए गुरु के वचनामृत का पान करना चाहिये ॥ ३७–३८ ॥

---

३४) 1 ऋद्धयः । ३५) 1 D कथितम्. 2 यथा सफलम्, D सफलम् । ३६) 1 D क्रियताम् । ३७) 1 वर्धित. 2 वक्तरि गुरौ. 3 यथा गुरुणोक्तं तथैवेति वदन् श्रोता । ३८) 1 उत्पन्न. 2 P °स्वकृतार्थं°।

459) नीचासनो[1] न चासन्नो नातिदूरे न पृष्ठतः[2] ।
न पार्श्वतः समश्रेण्यां पुरो[3] ऽपि न पराङ्मुखः ॥ ३९

460) संमुखीनो[1] ऽग्रतःस्थायी स्थास्नुकायः[2] स्थिरासनः ।
नैकाङ्गपादिकां कुर्यान्नैव पादप्रसारितम् ॥ ४०

461) अवष्टम्भं न पट्टादौ[1] नापि पर्यङ्कबन्धनम् ।
नाधिक्षेपं[2] विवादं नो न सावज्ञो[3] न चापरम् ॥ ४१

462) व्याख्यानादन्यदन्येषां विनेयः[1] संनिधौ[2] जनः ।
अपथ्यमिव दूरेण हितैषी तद्विवर्जयेत् ॥ ४२

463) चित्तानुवर्ती सर्वत्र प्रविष्ट इव चेतसि ।
प्रवर्तेत निवर्तेत हितकारी प्रियंकरः ॥ ४३

श्रुत के ग्रहण को अभिलाषी शिष्य गुरु के आगे हीन आसन पर बैठे–उच्चासन पर न बैठे, वह न तो गुरु को अतिशय समीप बैठे, न अतिशय दूर बैठे, न पीछे बैठे और न पार्श्व-भाग में बराबरी से भी बैठे तथा आगे बैठा हुआ भी गुरु की ओर पीठ कर के न बैठे ॥ ३९ ॥

वह गुरु की ओर मुख कर के आगे बैठे। उसे अपने शरीर व आसन को स्थिर रखकर एकांगपादिका को नहीं करना चाहिये–एक पाँव की जंघा पर दूसरे पाँव को रखकर नहीं बैठना चाहिये–तथा पाँव फैलाकर बैठना भी योग्य नहीं है ॥ ४० ॥

उसे उस समय न पाटा (चौकी) आदि का आश्रय लेना चाहिये, न पर्यंक बन्धन को करना चाहिये, न तिरस्कार करना चाहिये, न विवाद करना चाहिये, न अपमान करना चाहिये और न किसी अन्य भी ऐसे निन्द्य कृत्य को करना चाहिये ॥ ४१ ॥

आत्महित के अभिलाषी शिष्य जन को गुरु के समीप में व्याख्यान के अतिरिक्त दूसरों के अन्य कार्य को–उन के साथ बातचीत या परिहास आदि को – इस प्रकार से छोड देना चाहिये जिस प्रकार कि अपने स्वस्थ होने को अभिलाषा करनेवाला व्यक्ति अपथ्य को–स्वास्थ्य के विरुद्ध आचरण को–दूर से छोड देता है ॥ ४२ ॥

अपने हित व प्रिय को करने वाले शिष्य को गुरु के अनुकूल व्यवहार करते हुए उसके चित्त में प्रविष्ट हुए के समान सर्वत्र हितकर कार्यों में प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

३९) 1 D नीचासने स्थातव्यं. 2 D स्थातव्यं. 3 अग्रेऽपि न पराङ्मुखो भूत्वा, D अग्रेऽपि पृष्टि (पृष्ठं) दत्त्वा न स्थातव्यम् । ४०) 1 संमुखः. 2 स्थिरीभूतः, D स्थिरकायः स्थिरासनः । ४१) 1 D जोगवटा न. 2 नाधिकवचनं, D विक्षेपं अधिकं न कर्तव्यम्. 3 न अवज्ञासहितः, D अवज्ञावचनं न वक्तव्यम् । ४२) 1 D शिष्यः. 2 निकटे ।

464) यथा पूर्वं तथा पश्चाद्यथाग्रे पृष्ठतस्तथा।
निर्व्याजवृत्तिः[1] पूज्यानां सुखीकुर्यान्मनः सदा ॥ ४४

465) ज्ञानाचारपरायणस्य ददतः संगृह्णतश्च श्रुतं
कां लक्ष्मीं न तनोति[1] संप्रति तथा श्रीशासनस्योन्नतिम्।
संवेगादिगुणान् परस्वहितकृत्कल्याणमालार्पकान्
तस्मात्तीर्थकराज्ञया वितरणं[2] ज्ञानस्य कार्यं[3] बुधैः[4] ॥ ४५

466) नो माता सुतवत्सला न च पिता स्वामी प्रसन्नो न वा
न भ्राता ऽव्यभिचारिणो न सुहृदो नाश्वा[1] न हस्त्यादयः[2]।
यन्निष्कारणनिष्कलङ्ककरुणाः सर्वोपकारोद्यता
हेयादेयविपश्चितां[3] तनुमतां श्रीसूरयः[4] कुर्वते ॥ ४६

गुरु के साथ शिष्य की जैसी निष्कपट प्रवृत्ति पूर्व में रही है वैसी ही पश्चात्–अध्ययन के पीछे–भी रहनी चाहिये, तथा जैसा व्यवहार प्रत्यक्ष में रहता है वैसा ही परोक्ष में रहना चाहिये। कारण कि पूज्य पुरुषों के समक्ष किया गया निष्कपट व्यवहार मन को सदा सुखी किया करता है ॥ ४४ ॥

जो ज्ञानाचार में तत्पर हो कर ज्ञान को दे रहा है तथा जो उसे ग्रहण कर रहा है उन दोनों के लिये यह दान कौन-सी लक्ष्मी को–किस अपूर्व सम्पत्ति को–तथा कौनसी सुन्दर शासन की उन्नति को–जैन धर्म की किस अपूर्व उन्नति को–नहीं विस्तृत करता है? अर्थात् इस दान के प्रभाव से आचार्य व शिष्य दोनोंको ही अपूर्व लक्ष्मी का लाभ होता है तथा उस से जैन धर्म की असाधारण उन्नति भी होती है। इस के अतिरिक्त वह अन्य के व अपने हित के करनेवाले तथा कल्याणपरम्परा के देने वाले संवेगादि गुणों को भी विस्तृत करता है। इसीलिये विद्वानों को जिनेन्द्र की आज्ञा से ज्ञान का दान करना चाहिये ॥ ४५ ॥

विना किसी स्वार्थ के ही निर्मल दया से संयुक्त हो कर सब के उपकार में उद्यत रहनेवाले श्रेष्ठ आचार्य हेय व उपादेय के विचार में चतुर ऐसे प्राणियों का जो हित किया करते हैं, उसे पुत्र से प्रेम करनेवाली न तो माता करती है, न पिता करता है, न प्रसन्नता को प्राप्त हुआ स्वामी करता है, न भाई करता है, न निर्दोष – सदा अनुकूल आचरण करनेवाले – मित्र करते हैं, न घोडे करते हैं और न हाथी भी करते हैं। तात्पर्य यह कि लोक में गुरु के समान प्राणी का हित करनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ४६ ॥

४४) 1 PD छद्मरहितवृत्तिः। ४५) 1 D विस्तारयति. 2 PD दानम्. 3 करणीयम्. 4 D पण्डितैः कर्तव्यम्। ४६) 1 घोटकाः. 2 गजादयः. 3 पण्डितानाम्. 4 D आचार्याः।

467) गुरूपकारः शक्येत नोपमातुमिहापरैः[1] ।
उपकारैर्जगज्ज्येष्ठो जिनेन्द्रो ऽन्यनरैरिव ॥ ४७

468) जन्मशतैरपि शक्यं नृभिरानृण्यं[1] गुरोर्न तु विधातुम्[2] ।
तद्गुणदानाभावे[3] ते च गुणास्तस्यं[4] सन्त्येव ॥ ४८

469) ये शृण्वन्ति वचो जिनस्य विधिना ये श्रावयन्त्या[1]दृता[2]
मन्यन्ते बहु ये पठन्ति सुधियो ये पाठयन्ते परान् ।
ये भूयो[3] गुणयन्ति ये ऽपि गुणिनः संचिन्तयन्त्युद्यता–
स्ते कर्म क्षपयन्ति भूरिभवजं पङ्कं[4] पयोदा[5] इव ॥ ४९

470) बोधयन्त्यमलबोधशालिनो ये जनं जिनमतं महामतिम् ।
[illegible]ले महीतले लीलयैव परिपालयन्ति ते ॥ ५०

471) दर्शनचारित्राद्यं[1] ज्ञानान्तर्भावतः पृथगनुक्तम्[2] ।
तद् [illegible][3] न परं दानं यतो[4] ऽस्या[5]स्ति ॥ ५१

जिस प्रकार लोक में सर्वश्रेष्ठ जिनेन्द्र की अन्य साधारण मनुष्यों से तुलना नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार गुरु के उपकारकी भी अन्यजनों के तुच्छ उपकारों के साथ तुलना नहीं की जा सकती है ॥ ४७ ॥

सैंकडों जन्मों से भी मनुष्यों को गुरु के ऋण से मुक्त होना असंभव है । क्योंकि गुरु ने दिये हुए गुण उस के ही पास रहते हैं । वे वापिस नहीं किये जा सकते हैं ॥ ४८ ॥

जो निर्मलबुद्धि भव्य विधिपूर्वक जिनेश्वर के वचन (आगम) को सुनते हैं, जो आदरपूर्वक उसे दुसरों को सुनाते हैं जो उसका बहुत संमान करते हैं, जो उसे स्वयं पढते हैं, जो दूसरों को पढाते हैं, जो गुणीजन उसकी आवृत्ति करते हैं तथा जो उसकी चिन्तन – बार बार विचार व मनन – करते हैं, व अनेक जन्मों में संचित कर्म को इस प्रकार से नष्ट कर देते हैं, जिस प्रकार कि मेघ कीचड को नष्ट कर देते हैं ॥ ४९ ॥

निर्मल ज्ञान से सुशोभित जो विद्वान्–अतिशय बुद्धिमान जन–जिनमतका ज्ञान कराते हैं, वे समस्त पृथिवीके सर्व प्राणियों की लीला से – अनायास – ही रक्षा करते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ५० ॥

सम्यग्दर्शन व चारित्र आदिका ज्ञान में अन्तर्भाव होने से उन के दान का पृथक्

४७) 1 उपमां दातुम् । ४८) 1 ऋणमोचनम्. 2 कर्तुम्. 3 तस्य गुरोः गुणानां सदृशा दानाभावे. 4 गुरोः । ४९) 1 D अन्येषां श्रावयन्ति. 2 D सादरा. 3 पुनः. 4 कर्दम. 5 D मेघाः । ५१) 1 अपरमपि ज्ञेयम्. 2 PD °पृथगुक्तम्, ज्ञेयम्. D भिन्नं न कथितम् यतो ... मध्ये. 3 ज्ञानरूपज्ञापनतः. 4 D वाक्तुः सकाशात्. 5 गुरोः ।

472) ज्ञानस्य कश्चिदपरो महिमाद्भुतो ऽस्य
दातार्थिभिस्तदपरैः परिपूज्यते यत् ।
प्राप्नोति चार्थयशसी पदमत्युदार-
मत्रैव जन्मनि परत्र च मोक्षलक्ष्मीम् ॥ ५२

473) पारे वाङ्मयसागरं गुरुधियो जाताः सृजन्ति[1] स्वयं
यच्छास्त्राणि सुमेधसः[2] सुकृतिनो यच्चैकसंस्था[3] नराः ।
जायन्ते भुवनत्रयस्य महतो यज्ज्ञेयपारं गता-
स्तद्दत्तस्य निरीहमानमनसा ज्ञानस्य लीलायितम् ॥ ५३

इति षष्ठो ऽवसरः ॥ ६ ॥

उल्लेख नहीं किया है। कारण कि उनके – सम्यग्दर्शन व चारित्र के – स्वरूपका समझनाही उनका दान है। इसलिये वह ज्ञानदान से भिन्न नहीं है ॥ ५१ ॥

ज्ञानका कोई आश्चर्यकारक अपूर्व ही माहात्म्य है। कारण कि उसका दाता ज्ञानार्थियों के साथ दूसरों से भी पूजा जाता है। उसे इसी जन्म में धन और कीर्ति के साथ महान पद की प्राप्ति होती है, तथा परलोक में मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होती है ॥ ५२ ॥

कितने ही प्रकृष्ट बुद्धि के धारक जन जो शास्त्ररूप समुद्र के पार पहुँच कर स्वयं शास्त्रों की रचना करते हैं, कितने ही निर्मलबुद्धि पुण्यशाली मनुष्य जो एकसंस्थ – गुरु से किसी पद, वाक्य या सन्दर्भ आदि को एक ही बार सुनकर आजन्म उसका स्मरण रखनेवाले— हुआ करते हैं, तथा कितने ही जो महान् तीनों लोकों संबन्धी ज्ञेय के पारंगत–सर्वज्ञ– हो जाते हैं, यह सब निरीहमान मन से – निःस्वार्थ वृत्ति से – दिये गये उस ज्ञानकी ही लीला समझनी चाहिये ॥ ५३ ॥

इस प्रकार छठा अवसर समाप्त हुआ।

---

५३) 1 रचयन्ति यच्छन्ति वा. D शास्त्राणि निर्मापयन्ति. 2 D सुबुद्धयः 3 D एकसधिया इति लोके ।

[७. सप्तमो ऽवसरः]

[ज्ञानदानफलम्]

474) वीतरागवचनं सदागमं वञ्चनादिरहितं मनीषिणः।
आमनन्ति[1] खलु रागपूर्वकांस्तत्र[2] दोषनिवहान्मनोभवान्[3] ॥ १

475) रक्तो हि रागिणं वक्ति वीतरागं परं नरम्।
द्विष्टश्च शिष्टमाचष्टे[1] निकृष्टो दुष्टचेतसम्[2] ॥२

476) इत्थं रागादिदोषेण पुरुषो भाषते मृषा[1]।
यस्यासौ[2][3] नास्ति नो भावी तस्य वाणी मृषा कथम् ॥ ३

477) ताल्वादिहेतुव्यापारपारवश्येन जायते।
अवश्यमागमः सर्वः स[1] कथं कथ्यते ऽन्यथा[2] ॥ ४

वीतराग भगवान का वचन उत्तम आगम है। क्योंकि उस में प्रतारणा आदि दोष नहीं है। विद्वान लोग मानते भी हैं कि वस्तुतः उस आगम में उत्पन्न होनेवाले मानसिक दोषसमूह रागपूर्वक ही उत्पन्न होते हैं। (वीतराग भगवान में रागद्वेष न होने से आगम में दोष उत्पन्न नहीं होते ॥ १ ॥

रागी पुरुष दूसरे वीतराग पुरुषों को रागी कहता है। तथा द्वेष से संयुक्त निकृष्ट मनुष्य शिष्ट -- द्वेषरहित -- पुरुष को दुष्ट अन्तःकरणवाला कहा करता है ॥ २ ॥

इस प्रकार पुरुष रागादिक दोषों से असत्य बोलता है। परन्तु जिसके वे रागादि दोष न वर्तमान में है और न भविष्य में भी संभव हैं उसकी वाणी असत्य कैसी हो सकती है? ॥ ३ ॥

शब्द स्वरूप समस्त ही आगम जब नियम से तालु व ओंठ आदि कारणों के

१) 1 कथयन्ति जानन्ति वा. 2 P D वीतरागवचने. 3 D मनोद्भवान्। २) 1 वीतरागं प्रति. 2 P D कथयति। ३) 1 असत्यम्. 2 वीतरागस्य. 3 रागादिदोषः। ४) 1 आगम. 2 अकृत्रिम।

478) वर्णाभिन्नो ध्वनिः किंचिच्छन्दोव्याकरणादिकम् ।
लौकिकेष्विव[1] स[2] प्रायो वैदिकेष्[3]वपि लक्ष्यते ॥ ५
479) प्रत्यभिज्ञा[1] त्वनित्ये ऽपि[2] ध्वाङ्क्षैः[3] खलु न भक्ष्यते ।
दीपज्वालादिवद् भ्रान्तिरुभये[4] समवर्तिनी ॥ ६
480) अपि च ध्वनिते[1] नित्ये प्रागासीदिति किं प्रमा[2] ।
तत्रार्थप्रतिपत्तिः किं सानित्ये[3] तस्करैर्हृता ॥ ७

व्यापार के अधीन हो कर ही उत्पन्न होता है तव उसे अन्यथा– उक्त तालु आदिकों की क्रियासे निरपेक्ष अपौरुषेय– कैसे कहा जाता है ? (अभिप्राय यह है कि जो मीमांसक आदि आगम को अपौरुषेय मानते हैं, उनका वैसा मानना युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि, वह आगम शब्दात्मक होने से पुरुष के तालु आदिकी क्रिया के विना नहीं हो सकता है) ॥ ४ ॥

दूसरे, अकारादि वर्ण, विविध प्रकारकी ध्वनि (शब्द) तथा कुछ छन्द और व्याकरण नियम आदि जैसे लौकिक वाक्यों में देखे जाते हैं, वैसे ही प्रायः वे वैदिक वाक्यों में भी देखे जाते हैं । (अतः लौकिक वाक्यों के समान वैदिक वाक्य भी पुरुषकृत ही होने चाहिये ॥ ५ ॥

आगम को नित्य व अपौरुषेय मानने वाले यदि यह कहें कि उसे अनित्य व पुरुषकृत मानने पर 'ये वे ही गकारादि वर्ण हैं' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा । परन्तु वह होता अवश्य है । अतः वह आगम अनित्य नहीं हो सकता है । तो उसके उत्तर में यहाँ यह कहा गया है कि वह प्रत्यभिज्ञान तो अनित्य के विषय में भी हुआ करता है – जैसे यह वही दीपक की शिखा (लौ) है, अथवा ये वे ही नखकेश हैं, इत्यादि । उस प्रत्यभिज्ञान को अनित्य के विषय में कुछ कौवे नहीं खा डालते हैं । वह तो नित्य व अनित्य दोनों के ही विषय में समान रूप से हुआ करता है । यह बात अलग है कि कहीं वह भ्रान्त होता है और कहीं यथार्थ होता है । प्रकृत में गकारादि के विषय में जो उक्त प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है उसे दीपज्वालादिविषयक प्रत्यभिज्ञान के समान भ्रान्त समझना चाहिये ॥ ६ ॥

इसके अतिरिक्त शब्द को सर्वथा नित्य मानने पर हम पूछते हैं कि जिस प्रकार वह वर्तमान में है उसी प्रकार वह पूर्व में भी रहा है, इसमें क्या प्रमाण है । इस प्रकार यदि कहा जाय कि गृहीत संकेत के अनुसार जो शब्दों से नियत अर्थ का बोध होता है वह उसकी पूर्ण विद्यमानता के विना नहीं हो सकता है । यही उनके पूर्व अस्तित्व में प्रमाण है । सो यह कहना

५) 1 D यथा लौकिकेषु शब्देषु वर्णाभिन्नो ध्वनिस्तथा वैदिकेषु... शब्देष्विवति संबन्धः. 2 ध्वनिः. 3 वेदशास्त्रेषु । ६) 1 P D स्थायिज्ञानम्. 2 PD क्षणिकेऽपि. 3 न च काकैः D हीनैः. 4 P 'रुभत्र'. नित्यानित्ये. D नित्यानित्ये. र्वातरनित्या तेजो नित्यं दीपे । ७) 1 शब्दसामान्ये, P 'ध्वनित्वे°. 2 प्रमाणम्, D आकाशध्वनौ अर्थप्रतिपत्तिः किं प्रमाणम्. 3 अर्थप्रतिपत्तिः ।

481) संकेताद्यं[1] च नित्ये चेदनित्येऽपि वरं हि तत् ।
यमेन यादृशी नीता या माता तादृशी सुता ॥ ८
482) अथ वेदस्य कर्तारं नरं नोपलभामहे[1] ।
अपौरुषेयतामस्य[2] परिभाषामहे[3] ततः ॥ ९
483) वेदकर्तृपरिज्ञातृशून्यविश्वमिदं सदा ।
इति यो वेत्ति सर्वज्ञः स एव भगवानिति ॥ १०
484) किं च वेदो निजं नार्थं समर्थो भाषितुं स्वयम् ।
[1]तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञे रागित्वे विप्रलम्भनात्[2] ॥ ११
485) यज्ञं तत्फलसंबन्धं विबुध्यन्ते बुधाः कुतः ।
अबोधान्न प्रवर्तेरन्[1]निवर्तेरन्न वा सदा ॥ १२

भी योग्य नहीं है । क्योंकि वह तो उनके अनित्य होने पर भी हो सकता है, उसका अपहरण कुछ चोर नहीं कर लेते हैं । (अभिप्राय यह है कि 'गो' आदि शब्दों के अनित्य होने पर भी सादृश्य के वश उन से प्रतिनियत अर्थ के बोध होने में कोई बाधा नहीं है । उदाहरणार्थ, जिस 'गो' शब्द को सुनकर उस से पशुविशेष में संकेत ग्रहण किया गया था, उसी के समान दूसरे गो शब्दों के सुनने से उक्त पशुविशेष का बोध हो जाता है) ॥ ७ ॥

यदि कहा जाय कि संकेत आदि तो नित्य में होते हैं, तो यह भी युक्ति संगत नहीं है । क्योंकि उक्त संकेत आदि सदृशता के वश शब्द के अनित्य होनेपर भी भली भाँति हो सकते हैं । ठीक भी है । क्योंकि, यम जिस प्रकार की माता को ले जाता है उसी प्रकार की पुत्री को भी वह ले जाता है ॥ ८ ॥

यदि आगम को अपौरुषेय मानने वाले यह कहें कि चूँकि वेदका कर्ता कोई पुरुष पाया नहीं जाता है, इसलिये हम उसे अपौरुषेय कहते हैं । तो इस पर हम कहते हैं कि जिसने इस प्रकार से तीनों कालों में वेदके कर्ता और उसके ज्ञाता से रहित समस्त लोक को देख लिया है वही सर्वज्ञ परमेश्वर हो सकता है । फिर भला उस सर्वज्ञ परमात्मा का निषेध क्यों किया जाता है ? वह योग्य नहीं है ॥ ९–१० ॥

इसके अतिरिक्त वेद अपने अर्थ को स्वयं कहने के लिये तो समर्थ हैं नहीं । इसलिये उसका कोई व्याख्याता अवश्य होना चाहिये । परन्तु उसका वह व्याख्याता यदि असर्वज्ञ और रागी-द्वेषी हुआ तो उससे श्रोताओं की वंचना हो सकती है ॥ ११ ॥

वेद के व्याख्याता के विना विद्वज्जन यज्ञ और उसके फल के संबंध को कहाँ से जान सकते हैं ? और तद्विषयक ज्ञान के विना न तो वे सदा उक्त यज्ञादिक के विषय में प्रवृत्त ही हो सकते हैं और न उस से निवृत्त भी हो सकते हैं ॥ १२॥

८) 1 PD समयाद्यम् । ९) 1 वयम्. 2 वेदस्य. 3 PD कथयामहे वयम् । ११) 1 D वेदस्य. 2 PD वञ्चनात् । १२) 1 न प्रवर्तन्ते, D वेदज्ञानाभावात् प्रवर्तना निवर्तना भवति ।

502) विनाशे प्राणिनां सद्यो ऽहिंसार्थस्त्वपकारिणोः[1] ।
[illegible]कयोः स्यातामन्यथाश्चेदहे[illegible]कौ ॥ २६

503) अस्तीह प्रचुरं वाच्यमनुद्य[1]मिति नोच्यते ।
[illegible]खावबाधं प्रा[2]येण प्राणिभ्यो रोचते वचः ॥ २७

504) प्रत्यक्षादि[1]प्रतिक्षिप्तो नित्यपक्षो ऽप्यसंगत[2]ः ।
अपरापरपर्यायपर्युपास्यं[3]खिलं यतः ॥ २८

505) [illegible]चिद्धर्माद्यनुष्ठानं कूटनित्ये[1] हि निष्फलम् ।
न धर्मादुपकारो ऽस्य नापकारो ऽस्त्यधर्मतः ॥ २९

यदि प्राणी एक क्षण के अनन्तर नष्ट होते हैं, तो हिंसारूप कार्य किसका माना जावेगा ? क्योंकि जिसने मारा वह और जो मरा वह दोनों भी एक क्षण के अनन्तर स्वयं नष्ट होते हैं। अर्थात् हिंसक और हिंस्य दोनों भी वास्तविक हैं नहीं। अतएव वहां हिंसार्थ सिद्ध हो नहीं सकता। फिर अपकारी उपकारी ये नाम भी सार्थक नहीं हैं। बन्ध और मोक्ष किनको होंगे ? यदि अन्य किसीको भी ये अवस्था प्राप्त होती है तो ये निष्कारण होती होंगी। क्योंकि बन्धक और मुमुक्षु तत्काल नष्ट होने पर बन्ध और मोक्ष अवस्थायें निराधार हो जायेगी ॥ २६ ॥

इस विषय में कहने के लिये तो बहुत है, परन्तु अनुकूल प्रतीत न होने से अधिक कुछ कहा नहीं जा रहा है। कारण यह कि प्राय: प्राणियों को वह भाषण प्रिय लगता है जिससे उनको सुखपूर्वक बोध हो सकता है ॥ २७ ॥

नित्य पक्ष भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने के कारण अनित्य पक्ष के ही समान असंगत है। कारण यह कि समस्त वस्तुसमूह उत्तरोत्तर उत्पन्न होनेवाली अन्य अन्य पर्यायों से युक्त है। सो वह सर्वथा नित्य पक्ष में संभव नहीं है ॥ २८ ॥

सर्वथा नित्य पक्ष में किसी भी धर्मकर्म आदि का आचरण व्यर्थ ठहरता है। कारण यह कि आत्मा आदि को सर्वथा नित्य – अपरिणमन स्वभाव – स्वीकार करने पर न तो धर्म से उसका कुछ उपकार हो सकता है और न अधर्म से अपकार भी। और यदि उसका धर्म से कुछ उपकार और अधर्म से अपकार स्वीकार किया जाता है तो फिर वैसी अवस्था में उसकी कूटस्थ नित्यता नहीं रह सकती है ॥ २९ ॥

---

२६) 1 [illegible]कयो:, D हिंस्यहिंसकयोः। २७) 1 गर्ह्यम्. 2 P D सुखावबोधं तु प्रायेण। २८) 1 D प्रत्यक्षादिः प्रतिक्षिप्तो. 2 D अमिलितः. 3 D परंपरापर्यायैः सेवितम्। २९) 1 D कूटवत् आत्मा शाक्यमतमेव कथयति।

506) ब्रह्महत्यादिदोषो हि नास्ति घाताद्यभावतः ।
बालाद्या न युवाद्याः स्युर्नित्यस्याविचलत्वतः ॥ ३०

507) इत्येकान्तोपगमे[1] समस्तमसमंजसं समुपजाते ।
तस्मादुपगन्तव्यः[2] प्रमाणवान् वस्तुपरिणामः[3] ॥ ३१

508) प्रतिसमयं प्राचीनं रूपं मुञ्चत्तदुत्तरं चाञ्चत्[1] ।
वस्तु ध्रुवं कथंचन[2] काञ्चनवदितादिपरिणामि (?) ॥ ३२

509) यस्या[1]भावे सर्वे व्यवहाराः संभवन्ति न जनस्य ।
जीयात्स जीवितसमो ऽनेकान्तः संततं कान्तः[2] ॥ ३३

510) बाधाविकलं सकलं धर्मादिकमप्यतीन्द्रियं वस्तु ।
युक्तं युक्तिविविक्तैरनुमीयत[1] एव जीवादिः ॥ ३४

आत्मा के सर्वथा नित्य माननेपर चूंकि उसका अस्त्र-शस्त्रादि के द्वारा घात संभव नहीं है, अतएव ब्राह्मणहत्या आदि का दोष भी कभी किसीको नहीं लग सकता है। इस के अतिरिक्त नित्य में कुछ परिवर्तन संभव न होने से जीव की बालक और युवा आदि अवस्थायें–जो कि प्रत्यक्ष में भी दृष्टिगोचर होती हैं–नहीं घटित हो सकेंगी ॥ ३० ॥

इस प्रकार वस्तु के सर्वथा नित्य मानने से सर्व ही वस्तुस्वरूप असमंजस हो जाता है – तत्त्वव्यवस्था और लोक व्यवहारका प्रसंग प्राप्त होना है। इसलिये प्रमाणसिद्ध वस्तु के परिणाम को मानना चाहिये ॥ ३१ ॥

यद्यपि वस्तु प्रत्येक समय में अपने प्राचीन स्वरूप को – पूर्व पर्याय को – छोडती है और उत्तर स्वरूप को – नवीन पर्याय को – धारण करती है, तो भी वह कथंचन – द्रव्यस्वरूप से – ध्रुव (नित्य) है। जैसे सुवर्ण अपनी घट पर्याय को छोडकर किरीट पर्याय को धारण करता है, तो भी वह अपने सुवर्णपन को नहीं छोडता है – वह दोनों ही अवस्थाओं में अवस्थित रहता है ॥ ३२ ॥

जिस अनेकान्तके अभाव में लोगों के सर्व व्यवहार असंभव हो जाते हैं वह जीवित के समान सुन्दर (प्रिय) अनेकान्त निरन्तर जयवन्त रहे ॥ ३३ ॥

धर्म व अधर्म द्रव्य आदि समस्त बाधा से रहित – अतीन्द्रिय वस्तुओंका तथा जीवादि पदार्थों का पवित्र विविध युक्तियों के द्वारा योग्य अनुमान ही किया जाता है ॥ ३४ ॥

३१) 1 अङ्गीकारे, D अङ्गीकारे सति समस्तम् अमनोज्ञं भवति. 2 PD अङ्गीकर्तव्यः. 3 पर्यायः ।
३२) 1 प्राप्नुवत्. 2 P D अनेकान्तेन । ३३) 1 अनेकान्तस्य. 2 मनोज्ञः । ३४) 1 P° अनुमानत एव. ।

511) यद्यपि नानुमानं क्रमते ननु मादृशस्य मन्दमतेः ।
बहुधा दृष्टावञ्चनाज्जिनवचनात्त[1] पि निश्चेयम् ॥ ३५

512) लोको ऽपि सत्यवादं संवादाद्वादिनं विनिश्चित्य ।
संदिग्धे ऽर्थे साक्षिणमङ्गीकुरुते प्रमाणतया ॥ ३६

513) न च भगवतो ऽस्तु किंचन वञ्चनवचने निमित्तमित्युक्त ।
प्रत्यक्षेणागम्यं[1] तत्त्वागमनेन[2] निःशेषम् ॥ ३७

514) आप्तपरंपरया स्याद्ग्रन्थेनान्येन वचनसाम्येन ।
संदिग्धार्थे वचने क्वचन जिनोक्तत्वनिश्चयनम् ॥ ३८

515) धर्मास्तिकायमुख्यं[1] क्वचित्[illegible]तु किं तेन[2] ।
कृत्याकृत्यं चिन्त्यं सुचेतसा पुण्यपापादि ॥ ३९

जिस सूक्ष्म तत्त्व के विषय में मुझ जैसे मन्दज्ञानी का अनुमान प्रवृत्त नहीं होता है, उसका निश्चय जिनवचनसे करना चाहिये । क्योंकि वह यथार्थ वस्तुस्वरूप का दिखलानेवाला व वंचनासे रहित है ।। ३५ ।।

व्यवहारी जन भी सत्यवचन से सत्यवक्ता वादी का निश्चय करके संदिग्ध पदार्थ का निर्णय करने के लिये साक्षी को प्रमाण मानता है ।। ३६ ।।

भगवान् जिनेन्द्रके वंचनापूर्ण भाषण का कोई निमित्त नहीं रहा है – वंचनापूर्ण भाषणका निमित्त जो कषाय भाव है वह उनका नष्ट हो चुका है, यह पूर्व में कहा जा चुका है । इसीलिये उसे प्रमाणभूत मानकर जो समस्त वस्तुस्वरूप प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जाना जा सकता है उसका आगम से – उक्त जिनवचन से – निश्चय करना चाहिये ।। ३७ ।।

संदिग्धार्थ विषयक वचन में जिनोक्त तत्त्व का निश्चय कहीं आप्त परम्परासे, कहीं अन्य ग्रन्थसे तथा कहीं वचन की समानतासे होता है ।। ३८ ।।

धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थ कैसे भी रहें, उनसे क्या सिद्ध होना है ? आत्महितैषी भव्य जीव को निर्मल अन्तःकरण से आचरणोय पुण्य कार्य का तथा परित्यजनीय पापकार्य का विचार करना चाहिये । अभिप्राय यह है कि तत्त्व की सूक्ष्मता और बुद्धि की मन्दता के कारण यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है तो न सही । क्योंकि, उससे अभीष्ट की सिद्धि में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है । परन्तु आत्महित के साधनार्थ हेय व उपादेय का विचार करना ही चाहिये । क्योंकि, उसके विना अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है ।। ३९ ।।

---

३५) 1 D तथापि । ३७) 1 D प्रत्यक्षेण अग्राह्यं वञ्चननिमित्तमागतम्. 2 P तत्त्वागमनेन ।
३९) 1 D जीवादिद्रव्यं. 2 D एकान्तेन ।

516) तत्रास्ति कर्म चित्रं विचित्रफलस[illegible]पलम्भतो ऽनुमितम् ।
जातं हेतोः सदृशाच्च दृश्यते विसदृशं कार्यम् ॥ ४०

517) एकजनकाद्विजातौ स्त्रीपुंसौ यमलकौ प्रसाधयतः ।
भिदुरायुःसौभाग्यादि भागिनौ भेदं तत्कर्म ॥ ४१

518) समे ऽपि व्यापारे पुरुष[illegible]गलस्यामलधियः
समाने कालादौ सकलगुणसाम्ये ऽपि भवति ।
यदेकस्यानर्थो द्रविणनिचयो ऽन्यस्य सुखदो
विनिश्चेयं कर्म स्[illegible]टतरमितो ऽस्तीत्यनुमितम्[1] ॥ ४२

519) दारिद्र्यं विदुषां[1] विपन्नयवतां[2] संपत्परा द्वेषिणां
वैधव्यं[3] च वधूजनस्य वयसि प्रोल्लासि[4]पीनस्तने ।
यत्प्रेयोविर[illegible]ः स्थितिः सह खलैर्योगो ऽप्ययं[5]दारुणं
मुक्त्वा कर्म विचेतनं विकरुणं कश्चेतनश्चेष्टते ॥ ४३

लोक में चूंकि कर्म का सुख दुःखादि रूप अनेक प्रकारका फल (कार्य) देखा जाता है, अतः इससे उसकी विविध रूपता का अनुमान होता है। कारण यह कि किसी एक सदृश कारण से उत्पन्न विलक्षण कार्य नहीं देखा जाता है, किन्तु कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है ॥ ४० ॥

एक माता-पिता से उत्पन्न युगल स्त्री-पुरुष आयु, सौभाग्य एवं सुख दुःखादि की भिन्नताका अनुभव करते हुए अपने कर्म की भिन्नता को सिद्ध करते हैं ॥ ४१ ॥

किन्हीं निर्मलबुद्धि (विचारशील) दो पुरुषों की क्रिया, काल आदि और अन्य सब गुणों की समानता के होने पर भी उन दोनों में से एक को हानि और दूसरे को सुखप्रद धनसमूह का लाभ होता है। इससे कर्म के अस्तित्वका अनुमान होता है। इसीलिये यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि जीव जो भला बुरा आचरण करता है, तदनुसार उसके पुण्य-पापका उपार्जन होता है, जिससे उसे भविष्य में सुख-दुःख को भोगना पडता है ॥ ४२ ॥

विद्वानों को दारिद्र्य, न्यायमार्ग से चलनेवाले सत्पुरुष को विपत्ति, शत्रुओं को उत्तम संपत्ति, सुंदर और पुष्ट स्तनों के कारणभूत तारुण्य में स्त्रीजनों को वैधव्य की प्राप्ति, प्रिय मित्रादिकों का विरह, तथा दुष्टों के साथ संयोग; इस प्रकार से प्राणियों को जो अनुकूल व प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है उसका कारण वह दुष्ट जड कर्म ही है। उस कर्म के विना भला कौनसा प्राणी प्रवृत्ति करता है ? उसके विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कर सकता है ॥ ४३ ॥

---

४०) 1 कृत्याकृत्ये पुण्यपापादौ, D कृत्याकृत्ये । ४२) 1 प्रमाणीकृतम् । ४३) 1 पण्डितानाम्. 2 D आपदा. 3 रण्डत्वम्. 4 उन्नत. 5 बभूव ।

486) नरोत्तमं[1] निराकृत्य नरपाशं[2] पशुप्रियाः[3] ।
धर्मोपदेशदातारं वदन्तो विप्रतारिताः[4] ॥ १३

487) उक्तं च--

कर्ता न तावदिह को ऽपि धियेच्छया वा
दृष्टो ऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसंगः ।
आहत्य[2] चेत्त्रिभुवनं पुरुषः करोति
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यैः[3] ॥ १३*१

488) वक्ता नैव सदाशिवो ऽ विक[1][illegible]त्परो[2] रागवान्
द्वैविध्यादपरं तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।
शक्त्या चेत्परकीयया[3] कथमसौ तद्वानसंबन्धतः[4]
संबन्धो ऽपि न जाघटीति भवतां शास्त्रं निरालम्बनम् ॥ १३*२

कितने ही पशुओं को प्रिय माननेवाले – उनका यज्ञ में हवन करनेवाले–मनुष्यों में उत्तम सर्वज्ञ का निराकरण करके हीन पुरुष को धर्मोपदेशक कहते हुए स्वयं आत्मवंचना करते हैं ॥ १३ ॥

कहा भी है –

इस अनादिनिधन लोक या सृष्टिका कोई भी – ब्रह्मा आदि – ज्ञान से अथवा इच्छा से कर्ता (निर्माता) नहीं देखा गया है। फिर भी यदि उसको कर्ता माना जाता है तो चटाई की रचना में भी उसी बुद्धिमान के द्वारा रचे जानेका प्रसंग अनिवार्यतः प्राप्त होता है। फिर भी यदि आघात कर के – हठपूर्वक –पुरुष (ब्रह्मा) तीनों लोकों की रचना करता है, तो फिर इसी प्रकार से गृह आदिका निर्माण भी उसीके द्वारा किया जा सकता है। और तब वैसी अवस्था में बढई आदि की कुछ भी आवश्यकता न रहेगी ॥ १३*१ ॥

उक्त वेदार्थका व्याख्याता यदि सदाशिव (सदामुक्त) को माना जाता है, तो वह भी उसका व्याख्याता नहीं हो सकता है। क्योंकि वह इन्द्रियों से रहित है और विना इन्द्रियों के उसका व्याख्यान संभव नहीं है। इसलिये यदि उससे भिन्न किसी इन्द्रिययुक्त पुरुष को उसका व्याख्याता माना जाता है तो यह सम्भव नहीं है। क्योंकि, जो इन्द्रिययुक्त शरीरधारी होगा वह राग आदि (अल्पज्ञता) दोषों से दूषित होने के कारण उसका प्रामाणिक व्याख्याता

१३) 1 सर्वज्ञम्. 2 नरनिकृष्टम्. 3 यज्ञकर्तारः. 4 वञ्चिताः । १३*१) 1 बुद्धया. 2 साक्षात् 3 वाडहीप्रभृतिभिः । १३*२) 1 P D इन्द्रियरहितः. 2 करणसहितः. 3 D परया यया. 4 D शिवशक्ति-संबन्धरहितः ।

489) सूक्ष्मान्तरित[1]दूरार्थवस्तुविस्तारवेदकः ।
उपदेष्टा जिनो युक्तस्ततः सर्वहितंकरः ॥ १४

490) पूर्वापराविरुद्धं दृष्टे[1] संव घबाधितमदृष्टे[2] ।
क्वाचित्यतीन्द्रिये ऽर्थे संवादाद्दृष्टमाहात्म्यम् ॥ १५

491) कान्तो[1] जिनैरनेकान्तो व्याहृतो[2] व्याहतो[3] न हि ।
जीवादिकः पदार्थो वा धर्मो वाप्यवधादिकः ॥ १६

492) जात्यन्धसिन्धुरविधेरतिदूरवर्ती
भानुप्रताप इव सं[illegible]स्य[1] जीवैः[2] ।
सर्वागमस्य धरणीव तरुव्रजस्य
निःशेषदुर्नयविलासम[illegible]ध्र[3]वज्रम् ॥ १७

नहीं हो सकता है । तब उन दोनों को छोडकर यदि किसी अन्य तीसरे को कारण माना जाता है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह तीसरा भी किसके निमित्त से होगा । यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि वह शक्ति के निमित्त से होगा, तो ऐसा कहना भी ठीक न होगा। क्योंकि, शक्तिमान् से उस शक्ति को सर्वथा भिन्न मानने वाले आप्त के यहां उस भिन्न शक्ति से कोई शक्तिमान् नहीं हो सकता है कारण कि उन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि उन में समवायादि संबंध को स्वीकार किया जाता है तो सर्वथा भेद पक्ष में वह भी सिद्ध नहीं होता है । इस प्रकार आपका शास्त्र निराधार ही ठहरता है ॥ १३*२ ॥

इसलिये जो जिन भगवान् सूक्ष्म – स्व-भावान्तरित परमाणु आदि – कालान्तरित राम व रावण आदि और दूरवर्ती – देशान्तरित मेरु आदि – वस्तुओं के विस्तार को जानता हुआ सर्व प्राणियों का हित करने वाला है उसी को आगम का उपदेशक मानना योग्य है ॥ १४ ॥

जो पूर्वापर प्रकरणों में विरोध से रहित हो कर प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ के विषय में संवादक (सत्यतायुक्त) तथा परोक्ष पदार्थों के विषय में सब प्रकारकी बाधा से रहित है, साथ ही किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप वर्णन में संवाद (यथार्थता) के कारण जिसका माहात्म्य देखा गया है, उसी को यथार्थ आगम समझना चाहिये ॥ १५॥

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा मनोहर निर्बाध सिद्धान्त को अनेकान्त, जीव अजीव आदि को पदार्थ, तथा अवध– अहिंसा– आदिको धर्म कहा गया है ॥ १६ ॥

जन्मान्ध लोग हाथी का सूंड, पूँछ आदि एक एक अवयव को छूकर उसी को हाथी

---

१४) 1 प्रच्छन्नावरितः । १५) 1 प्रत्यक्षे. 2 परोक्षे । १६) 1 P D मनोज्ञः. 2 कथितः. 3 न निराकृतः, D निषेधितो न । १७) 1 अन्धकारस्य. 2 अनेकान्तः. 3 पर्वतः ।

493) उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते पदार्थाः पर्ययात्मना ।
ध्रुवा द्रव्यात्मना सर्वे बहिरन्तश्च सर्वदा ॥ १८

494) निःसंदेहविपर्यासपर्यायैः[1] पर्युपासितम्[2] ।
बाल्यादिभिर्निजं देहं पश्य-[illegible]शम् ॥ १९

495) अन्तरात्मानमप्येकं शोकानन्दादिभिर्युतम् ।
समस्तवस्तुविस्तारं शेषमित्थं त्र[illegible]म् ॥ २० ॥ युग्मम् ।

496) कथं क[1]न्तमनेकान्तं दूषयत्येष सौगतः ।
संगता[2]त्संगतं ज्ञानं क्षणिके ऽनात्मके कुतः ॥ २१

497) यथा प्रत्यक्षतः सिद्धं पर्यायमनुमन्यसे ।
द्रव्यं तथानुमन्यस्व[1] तद्वि[2]ना पर्यया न हि ॥ २२

मानते हैं, इस विपरीत प्रकार से दूर रहनेवाला, सूर्यप्रकाश के समान अज्ञानरूप अन्धकार को हटानेवाला, वृक्षसमूह को जैसे जमीन उसी प्रकार सब सिद्धान्तों को आधार देनेवाला और दुर्नय के विलास रूप पर्वत को वज्र के समान समूल नष्ट करनेवाला यह अनेकान्त सिद्धान्त है ॥ १७ ॥

पदार्थ पर्याय स्वरूप से उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी होते हैं। परन्तु द्रव्य स्वरूप से बाह्य– पुद्गल व धर्माधर्मादि जड पदार्थ– और अभ्यन्तर– चेतन जीव – ये सब ही पदार्थ नित्य हैं, अर्थात् द्रव्य स्वरूप से वे सदा अवस्थित रहनेवाले हैं। उनका कभी भी उत्पाद और विनाश सम्भव नहीं है ॥ १८ ॥

जैसे – बाह्य पदार्थों में एक ही अपने शरीर को बाल्य व युवावस्था आदि पर्यायों से संयुक्त सन्देह व विपरीतता से रहित निर्मल ज्ञान के द्वारा निरन्तर देखा जाता है। तथा अभ्यन्तर एक ही आत्मा को शोक व आनन्द आदि पदार्थों से संयुक्त देखा जाता है। इसी प्रकार शेष सब ही पदार्थों को पर्यायस्वरूप से उत्पादव्ययात्मक और द्रव्यस्वरूप से ध्रुवात्मक – तीनों स्वरूप – जानना चाहिये ॥ १९–२० ॥

यह बौद्ध सुन्दर अर्थात् युक्ति युक्त अनेकान्त को किस प्रकार से दूषित करता है ? अर्थात् उसका अनेकान्त को दूषित करके क्षणिक एकान्त का मानना संगत नहीं है। कारण कि वस्तु के संगत (यथार्थ) होने से ज्ञान भी संगत होता है। सो भला वह एकान्त स्वरूप से परिकल्पित क्षणिक और अनात्मक –स्वरूप से रहित– वस्तु में कैसे हो सकता है ? ॥ २१ ॥

हे बौद्ध ! तुम जैसे प्रत्यक्ष से सिद्ध पर्यायों को मानते हो वैसे ही द्रव्य को भी मानो, क्योंकि, उसके विना निराश्रय पर्यायों की संभावना नहीं है ॥ २२ ॥

---

१९) 1 PD पल्लट्टणं. 2 सेवितम्। २१) 1 मनोज्ञम्. 2 हृदयंगमा[illegible], D संयोगात्। २२) 1 जानीहि. 2 द्रव्यम्।

498) सर्वं शून्यं च मन्वानो नात्मानमपि मन्यते ।
वाद्यादीनां क्रमो[1] हन्त लभतामास्पदं क्व नु ॥ २३

499) उक्तं च –
शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः ।
इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥ २३*१

500) उत्पत्त्यनन्तरं नष्टे पदार्थे सर्वथा वृथा ।
तपोनियमदानाद्या बन्धमोक्षौ च दुर्घटौ ॥ २४

501) क्षणेन दातरि क्षीणे भोक्ता दानफलस्य कः ।
शून्यं चेदं[1] कृतध्वंसः स्यादेवं चाकृतागमः ॥ २५

जो माध्यमिक बौद्धविशेष विश्व को शून्य मानता है वह आत्मा को भी नहीं मानता है। ऐसी अवस्था में उसके मत में वादी– सर्व शून्यता को सिद्ध करने वाले– और प्रतिवादी– शून्यतावादका खंडन करने वाले– आदिका क्रम कहाँ स्थान पायेगा ? (अर्थात् शून्यैकान्तके स्वीकार करने पर जब किसीका भी अस्तित्व नहीं रहेगा तब उस शून्यवाद को कौन और किस के प्रति सिद्ध करेगा यह सब विचारणीय है) ॥ २३ ॥

कहा भी है –

मैं शून्य तत्त्व को प्रमाण से सिद्ध करता हूँ ऐसी यदि शून्यवादी प्रतिज्ञा करता है, तो उसका वह सर्व शून्यवाद स्वयं विरोध को प्राप्त होगा । (तात्पर्य यह कि एक ओर विश्व को सर्वथा शून्य मानना और दुसरो ओर उसकी सिद्धि के लिये हेतुपूर्वक अनुमानादि को उपस्थित करना यह परस्पर विरुद्ध है ॥ २३*१ ॥

उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में ही पदार्थ का विनाश मानने पर तप, नियम व दान आदि के व्यर्थ होने का प्रसंग अनिवार्य होगा। तथा वैसी अवस्था में बन्ध और मोक्ष भी सिद्ध नहीं होंगे। (तात्पर्य यह कि आत्मा आदि को सर्वथा क्षणिक मानने पर कर्ता और भोक्ता में अभेद नहीं रह सकता है और तब वैसी अवस्था में तप नियमादि का आचरण व्यर्थ ठहरेगा तथा बन्ध व मोक्षकी व्यवस्था भी नही बन सकेगी) ॥ २४ ॥

(इसका कारण यह है कि) दानादिक करनेवाला तो उसी क्षण में नष्ट हो जानेवाला है, फिर भला उस के फल का भोगने वाला कौन होगा ? इस प्रकार दान की निरर्थकता सिद्ध होगी । और तब ऐसी अवस्था में कृतका नाश– दानादि के करने वाले को उसके फल की अप्राप्ति– और अकृतका अभ्यागम– उस दानादिके न करने वाले को उसके फलको प्राप्ति– ये दोनों दोष अनिवार्य होंगे ॥ २५ ॥

---

(२३) 1 D विवादम् । २५) 1 D दानम् ।

520) दौर्गत्यं[1] यदुदात्तचित्तसुधियो[2] व्याधिव्यथा भोगिनां
दौर्भाग्यं रमणीयरूपरमणीलोकस्य लक्ष्मीवताम् ।
तारुण्ये मरणं जितस्मरवपुःश्रीणां जरा श्रीमतां
नैवेदं समवत्स्यतां[3]विकरुणं[4] कर्माभविष्यन्न चेत् ॥ ४४

521) अनुगुणे[1] विगुणं विगुणे ऽन्यथा[2] परिजने स्वजनेष्टजनादिकम् ।
भवति कर्मणि हन्त शरीरिणां नरपताविव पत्ति[3]जनादिकम् ॥ ४५

522) [illegible]वादविषयं विहाय लोकायतं[1] विषयलोलम् ।
कर्माण्येव मन्यन्ते सामान्येनास्तिकाः सर्वे ॥ ४६

523) संयमभाजो जन[1]मनितपूजन[2]भाजनं जना यशसाम् ।
दृश्यन्ते द्वन्द्वद्वयवियोगिनो[3] योगिनः[4] सुखिनः ॥ ४७

यदि निर्दय कर्म नहीं होता तो जिनका मन उदार और बुद्धि निर्मल है ऐसे पुरुषों का दारिद्र्य नहीं प्राप्त होता, भोगी जन को रोग पीडा नहीं घेरती, सुंदर रूपयुक्त रमणियों को दुर्भाग्य (पतिका वियोग आदि) नहीं प्राप्त होता, धनिकों का तारुण्य में मरण नहीं होता, तथा सुन्दरतासे कामदेव को जीतनेवाले श्रीमान् लोगों को वृद्धावस्था नहीं प्राप्त होती ॥ ४४ ॥

खेद की बात है कि कर्म के होने पर जिस प्रकार राजा के अनुकूल व प्रतिकूल रहते हुए उसके पादचारी सैनिक आदि प्रतिकूल व अनुकूल होते हैं, उसी प्रकार कर्मोदयवश प्राणियों के परिजन (सेवकजन) के अनुकूल होने पर उसके पुत्रादिक स्वजन और इष्ट मित्र आदि विगुण-प्रतिकूल – होते हैं तथा कभी पुत्रादिक स्वजन और इष्टमित्रादि के अनुकूल होने पर परिजन प्रतिकूल होते हैं ॥ ४५ ॥

विषयासक्त लोकायतिक – नास्तिक चार्वाक लोग – कर्म को नहीं मानते हैं । वह अपने वाद का विषय नहीं है । उनको छोडकर अन्य सब ही आस्तिक जन – आत्मा और पर-लोक को मानने वाले – सामान्य से कर्मों को मानते ही हैं ॥ ४६ ॥

संयमका परिपालन करनेवाले सत्पुरुष लोगों के द्वारा की गयी पूजा के और यश के पात्र होते हैं । जो योगीजन द्वन्द्व युगल से – आरम्भ व परिग्रहरूप क्लेशद्वय से – रहित हो चुके हैं, वे लोक में सुखी देखे जाते हैं ॥ ४७ ॥

---

४४) 1 दरिद्रम्, D दुर्गतिः. 2 बुद्धियुक्तस्य. 3 P° समवत्स्यतांविकरुणम्, D अस्यास्यत. 4 निर्दय. । ४५) 1 गुणयुक्ते. 2 अनुगुणम्, D गुणरहिते परिजने सानुकूलं भवति. 3 पदातिजनादिकम् । ४६) नास्तिक-मतान्तरितम् । ४७) 1 D° जोऽजनि. 2 P° जनितपूजना. 3 कथंभूतास्ते. 4 के ते योगिनः ।

524) आरम्भे संरम्भात्परिग्र चाग्रहाद्द्विधा द्वन्द्वः ।
तनुचित्तसंगतानामसंगतैस्त्यक्तसंगानाम् ॥ ४८

525) रागादि पूगापगमात्परमसुखसंगमः शमिनाम् ।
आगमगदितो ऽनुमानसि । विशुद्धबुद्धीनाम् ॥ ४९

526) अनुमीयते ऽत एव हि रागाभावः सदुपशमातिशये ।
संभावनया दाह्याभाव इव हुताशनातिशये ॥ ५०

527) यो यस्येह विरोधी ह स्तस्यादये तदितरस्य ।
नाशो ऽवश्यं वस्त्रे मालिन्यस्यैव शौक्ल्येन ॥ ५१

528) एवं सज्ज्ञानादेः प्रकर्षपर्यन्ततः क्षयो ऽत्यन्तम् ।
क्वचिदपि जीवे ऽविद्यातृष्णादेः संभवत्ये ॥ ५२

शरीर और मन से संगत — शरीरादि बाह्यपदार्थों में अनुरक्त — जनों के आरम्भ विषयक प्रयत्न और परिग्रह विषयक आग्रह से — आसक्ति से — दो प्रकारका द्वन्द्व रहा करता है। किन्तु जो उस परिग्रह की ओरसे निर्ममत्व हो चुके हैं, उनके वह दो प्रकारका द्वन्द्व नहीं रहता है ॥ ४८ ॥

रागादिक दोषों के समूह के नष्ट हो जाने से निर्मल बुद्धि के धारक मुनिजनों को जो उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है उसका वर्णन आगम में किया गया है। तथा वह अनुमान से भी सिद्ध है ॥ ४९॥

इसीलिये जिस प्रकार अग्नि के (उपशमकी) अधिकता में इन्धन के अभाव की संभावना की जाती हैं, उसी प्रकार विद्यमान उपशम की अधिकता में रागादि के अभाव का अनुमान किया जाता है ॥ ५० ॥

जो जिसका विरोधी होता है उसके वृद्धि में अन्य का विनाश देखा जाता है। जैसे शुक्लता से — सफेदी की वृद्धि में — मलिनता का विनाश ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार से किसी जीव में जब सम्यग्ज्ञानादिक गुणों का प्रकर्ष बढते बढते पूर्णावस्था को प्राप्त होता है, तब अविद्या (अज्ञान) व तृष्णा आदि का अतिशय विनाश उसके होता ही है ॥ ५२ ॥

४८) 1 कायमनःप्रधानानाम्. 2 द्वन्द्वः अनिष्टः । ४९) 1 समूह. 2 विनाशात्. 3 पुनः कथंभूतास्ते । ५०) 1 भाव्यतया ।

529) चिरतरकालालीनं[1] कलधौतोपलमलमिव प्रयोगेण ।
झटिति विघटते जन्तोः[2] कर्म ज्ञानादियोगेन ॥ ५३

530) पापस्यापि विलोकयन्ति सुधियो लोकाः फलं दारुणं
चौराणां वधबन्धनं बहुविधं वित्तापहारादिकम् ।
जिह्वाच्छेदनभेदनाद्यपयशो लोके मृषाभाषिणां[1]
नानाकारनिकार[2]मङ्गविगमा[3]द्यन्याङ्गनासंगिनाम्[4] ॥ ५४

531) अर्हच्छ्रीचूडामणिकेवलिकाज्योतिर्मलशास्त्रादेः ।
संवादिनो जिनोक्तादतीन्द्रियोऽप्यागमः सत्यः ॥ ५५

532) एवंविधसिद्धान्तादपि भगवान् साध्यते हि सर्वज्ञः ।
विप्रतिपत्तौ झटिति प्रकटं कूटस्य दुर्दुरूढस्य[1] ॥ ५६

533) अन्योन्याश्रयदूषणं न च भवेत्पूर्वोत्तरोत्सारितं
सर्वज्ञस्य निषेधने[1]ऽपि समतान्येनाश्रयासंभवात् ।
भात्यन्तःकरणे च तत्र वदतां मीमांसकस्तत्कथं
संतानेन विना बुधः स हि परोक्षित्वात्कुतोऽनर्हतः ॥ ५७

जिस प्रकार दीर्घकाल से संश्लेष को प्राप्त हुआ सुवर्ण पाषाण का मैल प्रयोग से – अग्नि के तापसे – शीघ्र ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानादि के संबन्ध से प्राणी का दीर्घ काल से संबद्ध कर्म भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ५३ ॥

विद्वान् लोग पाप के भयानक फल को देखते ही हैं । जैसे – लोक में चोरों को दुसरों के धन आदि के अपहरण से प्राप्त हुआ बहुत प्रकार का वध-बन्धन आदिका दुख, असत्य-भाषियों को जिव्हा का छेदन-भेदन आदि एवं अपकीर्ति, परस्त्रीसेवियों को लिंगच्छेदनादिरूप अनेक प्रकारका अपकार ॥ ५४ ॥

श्रीजिनेश्वर ने कहे हुए सत्य ऐसे अर्हच्छ्रीचूडामणि, केवलिकाज्योतिर्मलशास्त्र आदि निर्दोष शास्त्रों से अतीन्द्रिय आगम भी सत्य है। तात्पर्य – उपर्युक्त शास्त्रों की प्रतीति सत्यरूपा होनेसे जिनेश्वर के मुखसे जो दिव्य ध्वनि निकली थी वह सत्य है ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

उपर्युक्त सिद्धान्त से भी भगवान् सर्वज्ञ की सिद्धि की जाती है । इससे भिन्न मत प्रकट करने पर (भिन्न मत-वाले का) असत्य दुर्नय झट से प्रकट हो जावेगा ॥ ५६ ॥

इस में अन्योन्याश्रय दोष का संभव भी नहीं है । क्योंकि इसका पहले ही उत्तर देकर

---

५३) 1 P °चिरकाला°. 2 जीवस्य । ५४) 1 असत्यवादिनाम्. 2 धिक्कार. 3 अङ्गच्छेदनादि. 4 परस्त्रीभोगिनाम् । ५६) 1 दुर्णयस्य । ५७) 1 D° निषेवने ।

534) ये चेच्छन्त्यपि नेच्छन्ति सर्वज्ञं मानसे सदा ।
तेषामपि स्फुरत्साक्षान्निराकार्यः कथं भवेत् ॥ ५८

535) इत्येवं मानतः सिद्धः सर्वज्ञो दोषवर्जितः[1] ।
स भव्यानुग्रहार्थैव[2] प्रतिपादयति श्रुतम् ॥ ५९

536) लिङ्गा[1]गमानपेक्षं किंचिदन्[2]नीतं वदेत् क्वचित् ।
एवं को ऽपि समस्तं साक्षात्कुर्वन्नहतकर्मा[3] ॥ ६०

537) नैवागमो ऽस्त्यमूलः संबन्धाग्रहणतो न लिङ्गमपि ।
तथ्यमतीन्द्रियमर्थं साक्षाद्विदितं जिनो वदति ॥ ६१

538) गिरां[1] विदन् दोषगुणौ कियन्तौ परोपकाराहित[2]प्रवृत्तिः ।
अन्यो ऽपि धर्मामृतधौतबुद्धिर्न वक्ति पूर्वापरसंविरुद्धम् ॥ ६२

निराकरण किया गया है । सर्वज्ञ भगवान् का निषेध करने के लिये दिया गया आश्रयासिद्ध नामक दोष अन्य आगम से समान है । यदि वह हृदय में प्रकाशित होता है, तो मीमांसक उसे नहीं कैसे कहेगा ? वह ज्ञानी संतान के बिना अर्हतसे अन्य लोगों को कैसे जानेगा (?) ॥५७॥

(सर्वज्ञ को जानने की) जिनकी इच्छा है और जिनकी नहीं उन दोनों के भी मन में प्रत्यक्ष रूपसे स्फुरित होनेवाले सर्वज्ञ का निषेध कैसे किया जा सकता है ? ॥ ५८ ॥

इस प्रकार प्रमाण से दोषरहित सर्वज्ञ सिद्ध होता है । वह भव्य जीवों का अनुग्रह करने के लिये ही श्रुत का प्रतिपादन करता है, अर्थात् भावश्रुत का प्ररूपण करता है ॥ ५९ ॥

जैसे कोई पुरुष लिंग और आगम की अपेक्षा के विना कुछ सत्यार्थ का प्रतिपादन करता है, वैसे ही जिसने समस्त कर्मों को नष्ट कर दिया है ऐसा कोई महात्मा संपूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करनेवाला है ॥ ६० ॥

अमूल आगम नहीं है । तथा बिना संबन्ध ग्रहण किये लिंगज्ञान भी नहीं है । श्री जिनेश्वर अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष से यथार्थ जानकर उनका व्याख्यान करते हैं ॥ ६१ ॥

जो वचनों के कितने ही दोष और गुणों को जानता है, जिस की परोपकार में उत्तम प्रवृत्ति है, तथा जिसकी बुद्धि धर्मरूप अमृत के द्वारा धो दी गयी है – निर्मल कर दी गई है – ऐसा अन्य भी – सर्वज्ञ से भिन्न अल्पज्ञ भी – पूर्वापर विरुद्ध वचन नहीं कहता है ॥ ६२ ॥

---

५९) 1 सर्वज्ञः. 2 उपकाराय प्रसादाय वा । ६०) 1 D चिह्नं. 2 विना. 3 D शुभकर्मा । ६२) 1 वाणीनाम्. 2 D रोपित ।

539) धर्मं विशुद्धमधिगच्छति[1] शुद्धबोधो यः श्रद्दधात्यविधुरो[2] विधिना विधत्ते[3] ।
संबोधयत्यबुधभव्यजनं भवाब्धेरुत्तारकः सकरुणः स गुरुर्गुणाढ्यः ।। ६३

540) तथोक्तम् –
प्राज्ञः[1] प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः[2] प्रव्यक्तलोकस्थितिः[3]
प्रास्ताशः[4] प्रतिभापरः[5] प्रशमवान्[6] प्रागेव दृष्टोत्तरः[7] ।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः[8] परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः[9] ।। ६३*१

541) देवागमगुरुतत्त्वं परीक्षितं पण्डितैरुपादेयम् ।
तापाद्यैरिव काञ्चनमिह वञ्चनभीतचेतोभिः ।। ६४

542) गुरुदेवयोः स्वरूपं निरूपितं प्रक्रमागतं[1] किमपि ।
आगमतत्त्वं प्रकृतं[2] समासतस्तत्[3]समाम्नातम्[4] ।। ६५

जो निराकुल निर्मल ज्ञानी निर्दोष धर्म के स्वरूप को जानता है, उसके ऊपर श्रद्धान करता है, विधिपूर्वक उसका आचरण करता है, ज्ञानहीन भव्य जनों को उपदेश देता है, तथा जो दयार्द्र हो कर उनका संसार-समुद्र से उद्धार करता है, इत्यादि गुणों से युक्त महात्मा को गुरु कहा जाता है ।। ६३ ।। कहा भी है –

जो विद्वान् गणी – आचार्य – समस्त शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता, लोकव्यवहार से परिचित, निःस्पृह, प्रतिभा – नवीन नवीन तर्कणारूप बुद्धि – से सम्पन्न, शान्त, शंका के पूर्व ही उसके समाधान का अन्वेषक, प्रायः करके सब प्रकार के प्रश्नों को सहनेवाला – उनसे उद्विग्न न होनेवाला, प्रभावशाली, दूसरों के चित्त को आकर्षित करनेवाला, परनिन्दा से दूर, अनेक गुणों से विभूषित, तथा स्पष्ट व मधुर भाषण करनेवाला हो, वही धर्मकथा के कहने का अधिकारी – तत्त्व व्याख्याता – होता है ।। ६३*१ ।।

जिस प्रकार मन में अयथार्थताकी आशंका करनेवाले ग्राहक यहाँ सुवर्ण की तपाने आदि उपायों द्वारा परीक्षा कर के उसे ग्रहण किया करते हैं, उसी प्रकार विद्वानों को देव, आगम और गुरु के स्वरूप की परीक्षा कर के ही उन को ग्रहण करना चाहिये ।। ६४ ।।

प्रकरण के अनुसार उन में से गुरु और देवका कुछ स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है। इस प्रकरण में प्रकृत आगम का स्वरूप संक्षेप से कहा गया है ।। ६५ ।।

---

६३) 1 गृह्णाति. 2 अहीनः. 3 धारयति । ६३*१) 1 प्रज्ञासंयुक्तः. 2 सर्वशास्त्रपारंगतः. 3 ज्ञातलोकस्थितिः. 4 प्रकर्षेण निरस्ता आशा येनासौ प्रास्ताशः आशारहितः. 5 बुद्धिमान्, D बुद्धिपरः. 6 उपशमयुक्तः. 7 D प्रथमः उत्तरसमर्थः. 8 D आचार्यः. 9 D वि [व्य] क्ताक्षरः । ६५) 1 पूर्वागतं पूर्वप्रारब्धम्. 2 पूर्वप्रारब्धम्. 3 आगमतत्त्वं. 4 कथितम् ।

543) आगमाधिगमनीयमशेषं[1] निर्दिशन्ति खलु धर्मविशेषम् ।
आगमव्यपगमे[2] हि नियोगाज्जायते सकलधर्मविलोपः ॥ ६६

544) आलोकेन विना लोको मार्गं नालोकते यथा ।
विनागमेन धर्मार्थी धर्माध्वानं[1] जनस्तथा ॥ ६७

545) उच्छिद्यमानो यत्नेन धर्मानुच्छेदवाञ्छया ।
आगमः सति सामर्थ्ये रक्षणीयो विचक्षणैः ॥ ६८

546) श्रेष्ठबुद्धिनरवाहनादिभिर्लेखितं[1] सकलमेव शासनम् ।
पालितं परमतद्विधिर्यथाकारि[2] भव्यनिवहस्य दर्शितः ॥ ६९

547) श्रेयसा[1] क्षितिभुजाप्यनामिका[2]जन्मनि श्रुतविधिर्[3]व्यरच्यत[4] ।
तत्फलं च समङुम्भि[5] विश्रुतं[6] दानतीर्थपरिवर्तनादिकम् ॥ ७०

संपूर्ण धर्म विशेष — श्रावक और मुनियों का मूल व उत्तर गुणादिरूप आचार तथा जीवादिक तत्त्वों का स्वरूप — आगम से जाना जाता है, ऐसा विद्वान कहते हैं । ऐसे आगम का लोप होने पर नियमसे समस्त धर्म का ही लोप संभव है ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार पथिक जन प्रकाश के विना अभीष्ट मार्ग को नहीं देख सकते हैं, उसी प्रकार धर्म के अभिलाषी जन उस आगम के विना धर्म के भी मार्ग को नहीं देख सकते हैं ॥ ६७ ॥

धर्म की परम्परा का नाश न हो, ऐसी अभिलाषा रख कर जिन विद्वानों में उस आगम के संरक्षण करने का सामर्थ्य है उन्हें नष्ट किये जानेवाले उस आगम का प्रयत्न पूर्वक रक्षण करना चाहिये ॥ ६८ ॥

श्रेष्ठ बुद्धि के धारक नरवाहन आदि राजाओं ने संपूर्ण जिनागम को लिखाया है तथा उसका संरक्षण भी किया है । साथ ही उन्हों ने भव्य समूह के लिये उस की उत्कृष्ट विधि को भी दिखलाया है । (नरवाहन राजा का दूसरा नाम भूतबली है । उन्हों ने श्री धरसेन आचार्य के पास आग्रायणीय पूर्वगत पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का अध्ययन किया और तदनन्तर उन्हों ने षट्खण्डागम की रचना की है) [विबुध श्रुतावतार] ॥ ६९ ॥

श्रेयान् राजा ने अनामिका नामक कन्या के भव में श्रुतविधि नामक उपोषण व्रत (१५८ दिनों का) को किया था । उसका उसने दान तीर्थ प्रवृत्ति आदि रूप प्रसिद्ध फल भी प्राप्त किया था ॥ ७० ॥

---

६६) 1 D पठनीयं. 2 विनाशे । ६७) 1 धर्ममार्गम् । ६९) 1 नरवाहनादिभिः समस्त आगमं जयधवला महाधवलादि लिखापितम्. 2 D कृतः । ७०) 1 धर्मस्थापनवाञ्छया. 2 निर्नामिकामवान्तरश्रुतविधिः कृतः. 3 D श्रुतस्कन्धविधिः. 4 रचितः कृतः. 5 प्राप्तम्. 6 D विख्यात ।

548) संधार्याः सपरिच्छदाः[1] श्रुतधराश्चिन्नान्नपानादिना
लेख्यं पुस्तकजातमुत्तमधिया शस्तं च शस्तं[2] मुदा[3] ।
आत्मीयं हिमरश्मिमण्डलतले दत्त्वात्र नामामलं
नानाबन्धनवेष्टनादिविधिना संरक्षणीयं सदा ॥ ७१

549) द्रविणं साधारणमुपकरणीयम[1]त्यादरेण भरणीयम् ।
पुस्तकसंघादीनां निमित्तमापत्तिसंपत्तौ ॥ ७२

550) कुर्वाणा निर्वहणं धर्मस्यानिधनमित्थमिह धनिनः ।
बध्नन्त्यनुबन्धि शुभं निबन्धनं[1] बन्धनविनाशे ॥ ७३

551) तर्कव्याकरणाद्या विद्या न भवन्ति धर्मशास्त्राणि ।
निगदन्त्य[1]विदितजिनमतमिति जडमतयो जनाः केऽपि ॥ ७४

552) द्रव्यानुयोगः सकलानुयोगमध्ये प्रधानोऽभिदधे[1] सुधीभिः ।
तर्कप्रमाणं भणिगद्यते ऽसौ[2] सद्धर्मशास्त्रं ननु[3] दृष्टिवादः[4] ॥ ७५

निर्मलबुद्धि श्रावक को सपरिवार श्रुतज्ञानियों का भोजन-पानादि के द्वारा संरक्षण करना चाहिये । एवं अपनी उत्तम बुद्धि से आनन्दपूर्वक उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शास्त्र समूह को लिखना चाहिये । तथा अपने निर्मल नाम को चन्द्रमण्डल के पृष्ठ पर दे कर अनेक बन्धन और वस्त्र वेष्टन आदि की विधि से उन शास्त्रों का सदा रक्षण करना चाहिये ॥ ७१ ॥

शास्त्र तथा मुनि व आर्यिका आदिरूप चार प्रकार के संघ आदि के ऊपर आपत्ति के आने पर उसके परिहार के लिये साधारण धन एवं उपकार के योग्य उपकरण आदि को पुष्ट करना चाहिये – उनका दान करना चाहिये ॥ ७२ ॥

इस प्रकार से यहाँ धर्म का अखण्ड निर्वाह करने वाले धनिक जन व्यवधान रहित उस पुण्य कर्म को बाँधते हैं, जो पापबन्धका नाश करने में समर्थ होता है ॥ ७३ ॥

कितने जडबुद्धि जन जिन भगवान् के अभिप्राय को न समझने के कारण यह कहते हैं कि तर्क, व्याकरण व ज्योतिष आदिक विद्यायें धर्मशास्त्र नहीं हैं ॥ ७४ ॥

परन्तु उनका वैसा कहना संगत नहीं है, क्योंकि, समस्त – चारों – अनुयोग में द्रव्यानुयोग मुख्य है, ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा गया है । दृष्टिवाद स्वरूप वह द्रव्यानुयोग तर्क प्रमाण को समीचीन धर्मशास्त्र कहता है ॥ ७५ ॥

---

७१) 1 परिवाराः, D मुनयः परिवारसहिताः संधार्याः. 2 D कथितम्· 3 हर्षेण । ७२) 1 D त्यागे समानवृत्ति मेघवत् दातव्यम् । ७३) 1 D मोक्षकारणम् । ७४) 1 कथयन्ति । ७५) 1 कथितः, D धारयामि. 2 द्रव्यानुयोगः. 3 D° नतु दृष्टि°. 4 D पुनः कथं न धर्मवादः ।

553) गणिते[1] धर्मकथायां चरणे द्रव्ये भवेयुरनुयोगाः ।
व्याख्यातानां चतुर्णां तुर्यो[2] वर्यः[3] समाख्यातः ॥ ७६

554) स्वामी समन्तभद्रः श्रीमानकलङ्कदेव इत्याद्याः ।
तर्केण प्रमाणैरपि शासनमभ्युद्धरन्ति स्म ॥ ७७

555) मिथ्यादृष्टिश्रुतमपि सद्दृष्टिपरिग्र[1]हात्समीचीनम् ।
ताम्रं रसानुविद्धं कम्रं[2] किमु काञ्चनं न संभवति ॥ ७८

556) दीप इव शब्दविद्या[1] परमात्मानं च दीपयत्युच्चैः ।
आत्मप्रकाशने ऽपि हि न तथा पुनरन्यशास्त्राणि[2] ॥ ७९

557) तदुक्तम्–
चन्द्रं चुचुम्बिषसि मूढ जिघृक्षसे ऽर्कं ।
द्यां[1] प्रोर्णुनूर्षसि[2] करेण सचन्द्रताराम् ॥
दोर्भ्यां[3] तितीर्षसि[4] समुद्रमगाधपारं ।
यच्छब्दशास्त्रमनधीत्य[5] विवक्षसे ऽर्थान्[6] ॥ ७९*१

गणित, धर्मकथा, चारित्र और द्रव्य इन चार को क्रमशः विषय करने वाले चार अनुयोग हैं । इन कहे हुए चार अनुयोगों में चौथा अनुयोग – द्रव्यानुयोग – श्रेष्ठ कहा गया है ॥ ७६ ॥

स्वामी समन्तभद्र और श्रीमान् अकलंक देव आदि प्रमुख तार्किक आचार्यों ने तर्क से तथा अनुमानादि अन्य प्रमाणों से भी जिन शासन का उद्धार किया है ॥ ७७ ॥

सो ठीक भी है, क्योंकि, मिथ्या दृष्टियों के द्वारा प्ररूपित श्रुत भी सम्यग्दृष्टियों के द्वारा स्वीकार करने पर समीचीन हो जाता है । पारद रससे संबद्ध तांबा क्या मूल्यवान सुवर्ण नहीं बन जाता है ? ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार शब्दविद्या (व्याकरण शास्त्र) दीपक के समान आत्मा और परमात्मा को भी प्रकाशित करती है, उस प्रकार अन्य शास्त्र – मिथ्यादृष्टि प्ररूपित श्रुत – केवल आत्मा को भी नहीं प्रकट करता है ॥ ७९ ॥ कहा भी है ।

शब्द शास्त्र के अध्ययन के बिना जो तुम पदार्थों का विवेचन करना चाहते हो, उससे हम ऐसा समझते हैं कि तुम चन्द्रका चुम्बन करना चाहते हो, सूर्य को ग्रहण करने की इच्छा करते हो, अपने हाथ से चन्द्र और ताराओं सहित आकाशको आच्छादित करने की इच्छा करते

७६) 1 लोकस्थितौ. 2 द्रव्यानुयोगः. 3 P D प्रधानः । ७८) 1 ग्रहणात्. 2 मनोज्ञम् । ७९) 1 द्रव्यश्रुतम्. २ अन्यमिथ्यादृष्टिजनितानि । ७९*१) 1 आकाशम्. 2 पर्णं इच्छसि आकाशम्, D व्योम हस्तेन मापयसि. 3 भुजाभ्यां. 4 तरितुं वाञ्छसि, D तरितुमिच्छसि. 5 P D अपठित्वा. 6 पदार्थान् व्याख्यायसि।

558) व्याकरणालङ्कारच्छन्दःप्रमुखं जिनोदितं मुख्यम् ।
सुगतादिमतमपि स्यात्स्यादङ्कं स्वमतमकलङ्कम् ॥ ८०

559) मुनिमतमपि विज्ञातं[1] न पातकं तनुविरक्तचित्तानाम् ।
यत्[2]सर्वं ज्ञातव्यं कर्तव्यं न त्वकर्तव्यम् ॥ ८१

560) विज्ञाय किमपि हेयं किंचिदुपादेयमपरमपि दूष्यम् ।
तन्निखिलं खलु लेख्यं ज्ञेयं सर्वज्ञमतविज्ञैः ॥ ८२

561) ये लेखयन्ति सकलं सुधियो ऽनुयोगं
शब्दानुशासनमशेषमलङ्कृतीश्च[1] ।
छन्दांसि शास्त्रमपरं च परोपकार-
संपादनैकनिपुणाः पुरुषोत्तमास्ते ॥ ८३

हो । तथा अगाध व अपार समुद्र को अपने दोनों बाहुओं से तरने की इच्छा करते हो । (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार चन्द्र का चुम्बन – स्पर्शन – आदि सर्वथा असंभव है उसी प्रकार व्याकरण के अध्ययन के बिना पदार्थों का व्याख्यान भी सर्वथा असम्भव है) ॥ ७९*१ ॥

व्याकरण, अलंकार व छन्दःशास्त्र आदि जिनेश्वरकथित शास्त्र मुख्य हैं तथा बौद्ध आदि अन्य मत भी जब स्यात् पद से अंकित अर्थात् स्याद्वाद से भूषित होते है तब वे भी स्वमत – जिनमत और निर्दोष होते हैं । (तात्पर्य – बौद्ध व नैयायिकादिकों के शास्त्रों में वस्तु का स्वरूप सर्वथा नित्यानित्यादि रूप से कहा गया है । यदि उसमें स्यात् पद को जोड दिया जावे तो वह भी अनेकान्तात्मक हो जाने से प्रमाणयुक्त होगा, तब उसे जैन मत कहने में कुछ हर्ज – हानि नहीं है) ॥ ८० ॥

जिन सज्जनों का मन शरीर से विरक्त हो चुका है उनके लिये मुनि के मत का जानना भी पाप नहीं है । कारण यह कि जो भी कर्तव्य है उस सबको जान लेना योग्य है, किन्तु अकर्तव्य को जानना उचित नहीं है ॥ ८१ ॥

जो विद्वान् सर्वज्ञ के मत से परिचित हैं उन्हें जो कुछ भी हेय है, जो कुछ उपादेय है और अन्य जो कुछ भी दूषण के योग्य है, उस सब ही ज्ञेय को जानकर लिखना चाहिये ॥८२॥

जो विद्वान् संपूर्ण अनुयोग को, संपूर्ण व्याकरण शास्त्र को, समस्त अलंकार शास्त्रको छन्दःशास्त्र को और अन्य भी शास्त्र को लिखवाते हैं, उन्हें परोपकार करने में अतिशय चतुर पुरुषोत्तम समझना चाहिये ॥ ८३ ॥

८१) 1 P D विज्ञानवम्. 2 यतः कारणात् । ८३) 1 D अलंकारान् ।

562) ते धन्या धनिनस्त एव भुवने ते कीर्तिपात्रं परं
तेषां जन्म कृतार्थमर्थनिवहं ते [1][illegible]म्[2] ।
ते जीवन्तु चिरं नराः सुचरिता जैनं शुभं शासनं
ये मज्जद्गुरुदुः[3]खमाम्बुधिपयस्यभ्युद्धरन्ति स्थिराः ॥ ८४

563) किं किं तैर्न कृतं न किं प्रविहितं[1] पापं प्रदत्तं न किं
के ऽपायाः[2] न निवारितास्तनुमतां[3] मोहार्णवे[4] मज्जताम्[5] ।
नो पुण्यं किमुपार्जितं किमु यशस्[6]तारं न विस्फारितं
सत्कल्याण[illegible]लापकारणमिदं यैः शासनं लेखितम्[7] ॥ ८५

564) निक्षिप्ता वसतौ सतां क्षितिपतेः संपत्प्रमोदास्पदं
भाण्डागारितमामरं[1] स्थिरतरं श्रेष्ठं गरिष्ठं पदम् ।
सत्यं कारितमक्षयं शिवसुखं दुःखाय दत्तं जलं
धन्यैस्तैः स्वधनैरलेखि[2] निखिलं यैर्वाङ्मयं निर्मलम् ॥ ८६

इति सप्तमोऽवसरः ॥ ७ ॥ इति अवसरद्वयेन ज्ञानदानवृष्टिः ॥

जो स्थिर विद्वान् महान् दुःखमाकालरूप समुद्र के जल में डूबते हुए जिनेश्वर के उत्तम शासन का उद्धार करते हैं वे धन्य हैं, वे ही धनिक हैं, वे ही उत्कृष्ट कीर्ति के पात्र हैं, उनका जन्म कृतार्थ है तथा उन को प्रतिदिन धन समूह की प्राप्ति होती है। उत्तम आचार के धारक वे पुरुष दीर्घ काल तक जीवित रहें ॥ ८४ ॥

जिन्होंने उत्तम कल्याण समूह के कारणभूत इस आगम को लिखवाया है, उन्होंने कौन कौन से शुभ कार्य नहीं किये हैं, कौन कौन से पाप नष्ट नहीं किये हैं, कौनसा दान नहीं दिया है, मोहरूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के कौनसे संकटों को दूर नहीं किया है, कौन सा पुण्य प्राप्त नहीं किया है, तथा किस निर्मल यश को लोक में नहीं फैलाया है ? (अर्थात् उन्होंने सब ही उत्तम कार्यों को कर लिया है तथा चिर संचित पाप कर्म को भी नष्ट कर डाला है। इस से उनका निर्मल यश भी लोक में फैला है) ॥ ८५ ॥

जिन्होंने अपने धन के द्वारा समस्त निर्मल आगम को लिखवाया है उन भाग्यशाली महापुरुषोंने हर्ष की कारणभूत राजा की संपत्ति को सज्जनों के घर में रख दिया है — अर्थात् उसके पढने से सत्पुरुषों को श्रेष्ठ राज्यलक्ष्मी प्राप्त हो सकती है। अतिशय स्थिर, श्रेष्ठ व गौरवशाली देवों संबन्धी पद को— इन्द्रादि की विभूति को — भाण्डागार में अवस्थित कर लिया है। अविनश्वर मोक्षसुख को सत्यंकार — बयाना — देकर अपने अधीन कर लिया है। तथा दुःख को जलांजलि दे दी है — उसे सर्वदा के लिये नष्ट कर दिया है ॥ ८६ ॥

इस प्रकार सातवाँ अवसर पूरा हुआ ॥ ७ ॥ इस प्रकार इन दो (६–७) अवसरों के द्वारा ज्ञानदान के फलका व्याख्यान किया।

---

८४) 1 D °वहन्त्वेन्वह°, रक्षन्तु. 2 प्रतिदिनम्, D अनवर्तं[अनवरतं]. 3 D दुःखमकाल। ८५) 1 P D ° प्रविहृतम्, किं किं पापं प्रकर्षेण विशेषेण न हृतम्, D विनाशितम्. 2 उपद्रवा विनाशाः. 3 संसारिणां जीवानाम्, D जीवानां. 4 D मोहसमुद्रे. 5 D ब्रुडताम्. 6 निर्मलं उज्ज्वलं वा. 7 D लिखापितम्। ८६) 1 देवं पदम्. 2 D लिखितम्।

[८. अष्टमो ऽवसरः]

[औषधदानफलम्]

565) ओषधांहतिरितो[1] निवर्ण्यते तस्य वत्सलजनाग्रवर्तिनः ।
ईक्षते ऽक्षयसुखं[3] य एव ना[4] नीरुजास्पदानिबन्धनं धनम् ॥ १

566) जीवितार्थमभयस्य तद्यथा दानमिष्टमशनावबोधयोः ।
भेषजस्य च तदर्थमीरितं तद्विना[1] ननु दया विदूयते[2] ॥ २

567) यस्माद्व्याधिग्लपितवपुषं धर्म्यहर्म्यं हि संघं
रत्नं यद्वद्विगलितधिया चूर्ण्यमानं कुतश्चित् ।
आसक्तश्चेन्मदवशतयोपेक्षते ऽधर्मकल्पो
ऽवैयावृत्त्याद्द्वयमपि महद्धर्म[2]मत्युत्ससर्ज[3] ॥ ३

अब यहाँ से वत्सल जन के मध्य में प्रमुखता को प्राप्त पुरुष के लिये औषध दान का वर्णन किया जाता है। जो पुरुष इस दान को देता है वह अक्षय सुख को देखता है। यह औषध-दान नीरोगता का कारणभूत धन है ॥ १ ॥

जिस प्रकार जीवित–प्राणधारण–के लिये अभय, आहार और ज्ञानका दान अभीष्ट है, उसी प्रकार उस जीवित के लिये औषध का भी वह दान कहा गया है। क्योंकि, उसके विना निश्चय से दया अधूरी रहती है ॥ २ ॥

कारण यह कि जो विषयासक्त हो कर अभिमान के वशीभूत होता हुआ यदि किसी नष्टबुद्धि – मूर्ख के द्वारा किसी कारण से चूर्ण किये जानेवाले रत्न के समान रोग से ग्रस्त शरीरवाले ऐसे धर्म के निवासस्थानभूत संघ की उपेक्षा करता है तो वह अधर्मकल्प – पापिष्ठ के समान – मनुष्य वैयावृत्त्य न करनेसे महान् धर्म को (और संघ को) भी नष्ट करता है ॥ ३ ॥

---

१) 1 औषधांहतिरभयदानम्. "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम । प्रदेशनं निर्वपनमुपसर्जन-मंहतिरित्यमरः." 2 D ज्ञानदानानन्तरम्. 3 D°ईक्ष्यतिक्षयसखम्°, D विनाशमितम्. 4 गृहस्थः, D पुरुषः । २) 1 अभ ग्रदान. 2 हीना भवति, विनश्यते । ३) 1 D कारणात्. 2 P D महाधर्मं. 3 D विनाशितः ।

568) त्यक्ते तत्र[1] निरन्तरं परिहृतं तीर्थेशिनां[2] शासनं
संसारोदधिलङ्घनाकुलजगत्पोतायमानं सदा ।
तस्मात् षोडशकारणेषु पठितं चाभ्यन्तरं तत्तपो[3]
ग्लानाभ्युद्धरणं च कीर्तिकरणं धर्मप्रियैरर्ज्यताम्[4] ॥ ४

569) औदारिकेनापघनेन[1] नूनं शक्यो विधातुं[2] सकलो ऽपि धर्मः ।
तत्[3]सर्वरोगैकसखं सदैव[4] नैवान्यथा[5] तत्प्रतिपाल्यमस्ति ॥ ५

570) रुजासु यावत्क्षमते तदौषधैः परैश्च पथ्यैर्नितरां[1] प्रपाल्यते ।
उपेक्ष्यते जातु[2] न तावदाश्रमैः[3] शरीरमाद्यं[4] खलु धर्मसाधनम् ॥ ६

571) रुजां सहेतापि निजोचितां वपुर्न वज्रकायैकसहां[1] तदीरितम् ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं[2] शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः[3] ॥ ७

इस प्रकार उस महाधर्म स्वरूप वैयावृत्त्य के निरन्तर छोड देने पर उसने जो तीर्थंकरों का शासन – उपदिष्ट वस्तुस्वरूप – संसाररूप समुद्र के लांघने में – उसके पार होने में– उत्सुक विश्व के लिये सदा नाव के समान है उसे भी छोड दिया, ऐसा समझना चाहिये । यही कारण है जो उक्त वैयावृत्त्य को तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध की कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं के मध्य में पढा गया है – निर्दिष्ट किया गया है । अभ्यन्तर तप के अन्तर्गत वह वैयावृत्त्य रोगी साधुओंका उद्धार करने वाला एवं कीर्ति के प्रसार का कारण है । इसलिये धर्मानुरागी जनों को उसका उपार्जन करना चाहिये ॥ ४ ॥

औदारिक शरीर से निश्चयतः संपूर्ण धर्म का पालन करना शक्य है । वह शरीर सदा सर्व रोगोंका अनुपम मित्र है । यही कारण है जो उसके संरक्षण की आवश्यकता होती है । अन्यथा उसके रक्षण की आवश्यकता ही नहीं थी ॥ ५ ॥

जबतक वह शरीर रोगसे मुक्त होने के योग्य है तबतक औषध और पथ्य से उसका पालन जरूर करना चाहिये । किसी भी आश्रम में रहनेवाले उसकी उपेक्षा नहीं करते । क्योंकि शरीर धर्म का प्रमुख साधन है ॥ ६ ॥

शरीर अपने योग्य रोग को ही सह सकता है, वह वज्रसमान दृढ शरीर के द्वारा सह सकने योग्य रोग को ठीक नहीं कहा है । ठीक है – कोमल शिरीष कुसुम भ्रमर के चरण को ही सह सकता है, परन्तु वह पक्षी के पद के भारको नहीं सह सकता है ॥ ७ ॥

४) P D 1 वैयावृत्त्ये. 2 तीर्थंकराणाम्. 3 वैयावृत्त्यम्. 4 उपार्जनीयम् । ५) 1 P D शरीरेण. 2 कर्तुम्. 3 औदरिकं शरीरम्. 4 औषधदानेन विना. 5 औदरिकशरीरस्य । ६) 1 D अतिशयेन. 2 कदाचित्. 3 श्रावकैः, D भव्यैः. 4 औदरिकं शरीरम्. ७) 1 D वज्रकायैकसहां रुजां प्रति तच्छरीरं न ईरितम्. 2 सूक्ष्मं, कोमलम्. 3 पक्षिणः.

572) परीषहाणां सहनं मुनीनां यथा हि धर्मो गृहिणां तथैव ।
योग्योपयोगस्य विहायिताख्यं[1] द्वयं द्वयेषां[2] द्वयसौख्यकारी ॥ ८

573) प्रतिदिवससमुद्यत्क्षुद्[1]व्यथावारणार्थ-
मशनं[2]मिव नियोज्यं भेषजं चापि तद्वत् ।
रुगुपशमनिमित्तं कामसंग्रामधावद्
विदितविजयभाजां संयतानां प्रपुष्टचै ॥ ९

574) यथा कतकसंयोगात्समलं निर्मलं जलम् ।
कार्यार्थिभिः क्रियेतैवं योगिकायो ऽपि भेषजैः ॥ १०

575) रोगैर्हिमैरिव[1] सरःसु[2] सरोरुहाणि[3]
ग्लायत्सु[4] तीर्थगुरुहेतुषु संयतेषु ।
म्लायन्ति तीर्थचरणानि[5] ततो[6] ऽवनाय[7]
तेषां तु भेषजमनेकविधं प्रदेयम् ॥ ११

जैसे परीषहोंका सहना मुनियोंका धर्म है वैसे ही उन के लिये योग्य उपयोगी औषध आदि का देना यह गृहस्थों का भी धर्म है । इस प्रकार ये दोनों धर्म दोनों के लिये इह-परलोक में सुखदायक हैं ॥ ८ ॥

काम के साथ युद्ध करने के लिये दौड कर निश्चित ही विजय को प्राप्त करने वाले संयमी जनों कें पोषणार्थ जिस प्रकार प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाली उनकी भूख की पीडा के दूर करने के लिये आहार की योजना की जाती है, उसी प्रकार उनके रोग की बाधा दूर करने के लिये औषध की भी योजना करना योग्य है ॥ ९ ॥

जिस प्रकार कार्यों की अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य मलिन जल को निर्मली फल के संयोग से निर्मल कर लिया करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन के (रुग्ण) शरीर को औषध के संयोग से नीरोग कर देना भी योग्य है ॥ १० ॥

जिस प्रकार तुषार से तालाबों में कमल मुरझा जाते है उसी प्रकार तीर्थप्रवृत्ति के प्रबल हेतुभूत संयमी जनों में रोगों के कारण तीर्थाचरण – व्रताचरण – मुरझा जाते हैं – नष्टप्राय हो जाते हैं । इसीलिये उनके संरक्षण के लिये उन्हें अनेक प्रकारकी औषधि को देना चाहिये ॥ ११ ॥

---

८) 1 दानम्, D दानाख्यम्. 2 यतीनां गृहस्थानाम्. 3 इहलोकपरलोक । ९) 1 भूख. 2 आहारम् । ११) 1 D प्रालेयैः. 2 P D सरोवरेषु. 3 PD कमलानि. 4 ग्लानेषु, D म्लानेषु सत्सु. 5 धर्मव्रतनियमसंयम-तज्ज्ञानपठनपाठनव्याख्यानसम्यग्दर्शनवृद्धिकारणादि आचरणानि, D धर्मव्रतनियमसंयमानि आचरणानि. 6 ततस्तेषामाचरणानां रक्षणार्थं तेषां तु यतीनां भेषजं नानाप्रकारं देयम्. 7 रक्षणस्य ।

576) जल्पन्ति केचित्समयानभिज्ञा[1] न भेषजादेः फलदायि दानम् ।
कामादिदोषोद्भवकारणत्वादारम्भजत्वात्तदनर्थकारि ॥ १२

577) पापधीप्रसरवारणं[1] दृढं दुर्विदग्धजन[2]चित्तचोरणम् ।
उत्तरं किमपि रच्यते मया सूरिदेवनिवहस्य विश्रुतम् ॥ १३

578) संसारदोषनिचयप्रतिवीक्षणेन
नश्यन्ति योगिनिवहस्य तदुत्थदोषाः[1] ।
व्याघ्रावलोकनभयादिव भुक्तपीतं
याति[2] क्षयं[3] क्षणत एव पशुव्रजस्य[4] ॥ १४

579) जायन्ते यदि मन्मथाद्यवगुणा[1]श्चित्तस्थिता ते[2] नो चिरं
सम्यग्ज्ञानतपःप्रभावाविलसद्योगीन्द्रचेतोभुवि[3] ।
उद्यच्चण्डरुचि[4]प्रतापविभिता[5] घूका[6] वराका यथा
संतप्ते[7] नकुलः[8] स्थितं[9] च सरितां पूरे[10] यथा मूत्रितम्[11] ॥ १५

जैनशास्त्र को न जाननेवाले कितने ही जन ऐसा कहते हैं कि औषधि आदिका देना फलदायक नहीं है । क्योंकि वह कामादि दोषों का हेतु है । तथा चूँकि वह आरम्भ से उत्पन्न होता है इसलिये अनर्थकारक भी है ॥ १२ ॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं इस आशंका का ऐसा कुछ सुदृढ उत्तर रचता हूँ जो पापबुद्धि के फैलाव को रोकनेवाला, दुर्बुद्धि जनों के अन्तःकरण को चुरानेवाला व आचार्यपरम्परा में प्रसिद्ध होगा ॥ १३ ॥

जिस प्रकार व्याघ्र के देखने के भय से पशुसमूह का खाया पीया सब क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसारसंबन्धी दोषसमूह के निरन्तर देखने से साधुसमूह के औषधि आदि से उत्पन्न वे कामादि सब दोष शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । (अतएव उक्त दोषों की आशंका से औषधि आदि के दान को निरर्थक बतलाना युक्तिसंगत नहीं है) ॥ १४ ॥

जिस प्रकार उदित हुए प्रचण्ड सूर्य के प्रताप से भयभीत बेचारे उल्लू दीर्घकाल तक नहीं रहते हैं, सन्तप्त स्थान में नेवला दीर्घकालतक अवस्थित नहीं रहता है, तथा नदियों के प्रवाह में मूत्रजल दीर्घकाल तक नहीं रहता है — शीघ्र ही बह जाता है — उसी प्रकार सम्य-

१२) 1 समयरहिताः । १३) 1 D निवारणं. 2 दुष्टज्ञानिनः । १४) 1 कामोत्था भेषजाहारादिर्वा दोषाः. 2 D गच्छति. 3 D नाशं. 4 D पशुसमूहस्य । १५) 1 दोषाः. 2 अवगुणाः दोषाः. 3 D पृथिव्याम्. 4 सूर्य. 5 भयभीताः. 6 P D उलूकाः. 7 D सूर्येण. 8 सर्पारिः. 9. स्थितं चिरं तिष्ठति न, D निजस्थानं. 10 स्थलरेणुपूरमध्ये । 11 मूत्रितं चिरं न तिष्ठति ।

580) दोषा भविष्यन्ति यतीश्वराणां तैर्भेषजैः पुष्टिमतां[1]मितीदम् ।
ज्ञानं कुतः प्रत्युत[2] मोक्षलक्ष्मीं ते साधयिष्यन्त्यचिरेण किं च ।। १६

581) ब्रह्माण्डशुद्धिरेतेन कुचोद्येन[1] चिकीर्षिता ।
समग्राश्रमसद्दानव्रतजीवितराक्षसी ।। १७

582) तदुक्तम्–
सूक्ष्मेक्षिका[1] तु यद्यत्र क्रियते प्रथमोद्यमे ।
असौ सकलकर्तव्यविप्रलोपाय कल्प्यते ।। १७*१

583) महास्तिकैस्तत्सकलैरभीष्टं वपूंष्यवद्भिः[1] किल नास्तिकैश्च ।
ततो ऽपरैर्देयमिति प्रसिद्धं महाजनो येन गतः स पन्था: ।।१८

ग्ज्ञान के तथा तपश्चरण के प्रभाव से सुशोभित मुनीन्द्र जन के अन्तःकरणरूप भूमि में यदि वे कामादि दोष उत्पन्न भी होते हैं, तो वे दीर्घकाल नहीं रह सकते हैं ।। १५ ।।

उन औषधियों के द्वारा पुष्ट हुए मुनीश्वरों के दोष उत्पन्न होते हैं, ऐसा ज्ञान आपको कहाँ से हुआ ? कारण कि वे मुनीन्द्र तो इसके विपरीत शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध करनेवाले हैं ।। १६ ।।

शंकाकारने ऐसी कुशंका के द्वारा उस लोकशुद्धि के करने की इच्छा की है जो कि समस्त आश्रमों, समीचीन दान एवं व्रतों के जीवित को नष्ट करने के लिये राक्षसी के समान है -- उन सब को समूल नष्ट करनेवाली है ।। १७ ।। सो ही कहा है–

यदि यहाँ प्रथम प्रयत्न में ही सूक्ष्मता से विचार किया जाता है, तो वह सब ही करने योग्य कार्यों के विनाश के लिये होगा । अभिप्राय यह है कि दानादि में प्रवृत्त होना यह धर्माचरण की प्रथम अवस्था है । इसलिये यदि इसके विषय में भी इतनी गहराई से विचार किया जाता है, तो इस से आगे का सब ही धर्म का मार्ग नष्ट हो जावेगा ।। १७*१ ।।

जो अतिशय आस्तिक हैं उन सभी को यह दानादि रूप सत्प्रवृत्ति अभीष्ट है । तथा शरीर की रक्षा करनेवाले – जो अन्य नास्तिक जन हैं वे भी कहते हैं कि दान देना चाहिये । जिस मार्ग से महापुरुष जाते हैं – जैसा वे आचरण करते हैं – उसी मार्ग को समीचीन समझकर ग्रहण करना चाहिये, यह वाक्य प्रसिद्ध भी है ।। १८ ।।

१६) 1 यतीनाम्. 2 P D अधिका । १७) 1 कुत्सिताक्षेपेणाद्येन, D कुत्सिताक्षेपेण । १७*१) 1 D दृष्टिः । १८) 1 रक्षद्भिः ।

584) श्रीधर्मनामनगरे च महत्तरेण[1]
धर्मप्रियक्षितिपतेः सुपरीक्षितश्च ।
क्षीराद्यमुख्यमशनं मदनादिहेतु–
स्त्यक्त्वा तपोधिनिवहो हि महेरकेण[2] ॥१९

585) राजा तु ज्ञातवृत्तान्तः क्षीराद्यमदीदपत्[1] ।
माराद्यर्थे[2] न तेषां तन्न[3] गुणार्थे महेरकम् ॥ २० । युग्मम् ।

586) नाहारभैषजाद्यं प्रायो मीनध्वजादिदोषार्थम्[1] ।
आहार[2]भीपरिग्रहमैथुनसंज्ञाः स्वभावजा यस्मात् ॥ २१

587) न हि स्वार्थं समुद्दिश्य प्रतिगृह्णन्ति साधवः ।
दातुरेवोपकाराय गृह्णन्ति सुसमाहिताः[1] ॥ २२

588) शिवधर्मे तदुक्तम् –
सिंहो बली हरिणशूकरमांसभक्षी
वर्षात् प्रियां प्रभजते हि किलैकवारम् ।
पारावतः खरशिलाकण[1]भक्षणेन
कामी भवत्यनुदिनं बत को ऽत्र हेतुः ॥ २२*१

श्रीधर्मनामक नगर में धर्मप्रिय नामक राजा के महेरक नामक महत्तर (प्रधान) ने खीर आदिका आहार कामादिविकारका कारण है, ऐसा समझकर उस के दान का त्याग करके तपस्वि समूह की परीक्षा की । परन्तु राजा को जब यह ज्ञात हुआ तब उसने महेरक से उक्त खीर आदि को तपस्वियों के लिये दिलवाया । ये खीर आदि भोज्य पदार्थ उनके न कामादि विकार के लिये होते हैं और न लाभ के लिये भी होते हैं, ऐसा राजाने कहा ॥ १९–२० ॥

आहार और औषध आदि प्रायः कामविकारादि दोष के कारण नहीं हैं । कारण कि आहार, भय, परिग्रह और मैथुन ये चार संज्ञायें (अभिलाषायें) स्वाभाविक हैं ॥ २१ ॥

मुनि स्वार्थ के उद्देश से आहार को नहीं ग्रहण करते हैं, किन्तु वे समाधि अथवा मूलगुणों आदि में तत्पर रहकर दाता के ऊपर उपकार करने के लिये ही उसे ग्रहण करते हैं ॥ २२ ॥ शिवधर्म में कहा गया है –

हरिण और शूकर के मांस को खानेवाला बलवान सिंह वर्ष में एक बार ही सिंहिनी के साथ संभोग करता है । परन्तु खेद है कि कबूतर तीक्ष्ण शिलाओं के कणों (कंकडो) के भक्षण से प्रतिदिन काम से युक्त होता है, इसमें क्या कारण है ? ॥ २२*१ ॥

१९) 1 PD मन्त्रिणा श्रेष्ठिना वा. 2 माहिगी तया, नीरसेन भुक्त :[?] । २०) 1 दापयामास. 2 कामादि. 3 क्षीराद्यम् । २१) 1 कामादिदोषार्थम्, Dकन्दर्पः. 2 भयम् । २२) 1 D सावधानाः । २२*१) 1 काकर पाथर [?] ।

589) संपद्यते च कश्चिद्दोषो यदि लेशतो महामुनिषु ।
अ .ानविलासो ऽसौ सुचेतसा चैवमालोच्यम् ॥ २३

590) जातो[1] महर्षिनिवहेषु तपो ऽमलेषु
चन्द्राङ्कककल्पमलमो णवजितो ऽपि ।
आलोकते[3] पिबति नैव चकोरवच्च[4]
पी. षमोचिकरकल्पगुणां [5] ॥ २४

591) प्रसृतैर्गुणैरनेकैर्व्याप्तासु तपोभृतां तरां तनुषु ।
अवकाशं न लभन्ते दोषा घूका इव दिनेषु ॥ २५

592) तदुक्तम्--
शम .खशालितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः[1] ।
स्थलमपि दहति झषाणां[2] किमत्र पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ २५*१

यदि महामुनियों में कुछ थोडा-सा दोष उत्पन्न होता है, तो वह अज्ञान का विलास है, ऐसा विचारशील मनुष्य को विचार करना चाहिये ॥ २३ ॥

तप से निर्मल महर्षियों के समूह में चन्द्र के कलंक समान बाहर नहीं फेंक देनेवाला दोष यद्यपि उत्पन्न हो गया तो भी चकोर पक्षी जैसे चन्द्र के कलंक को न देखकर, अमृत को बाहेर छोडने वाली उसकी किरणों को ही ग्रहण करता है, वैसे महामुनियों के अमृतसमान गुण को व्रती ग्रहण करें ॥ २४ ॥

विस्तार को प्राप्त हुए अनेक गुणों से व्याप्त तपस्वियों के शरीर में दोष इस प्रकार से स्थान को प्राप्त नहीं कर पाते जिस प्रकार कि उल्लू दिन में अवकाश को नहीं प्राप्त कर पाते ॥ २५ ॥ कहा भी है –

जिन साधुओं का मन शांतिसुख से समभ्यस्त है उन को जब आहार भी अप्रिय लगता है, तब भला उन्हें काम – विषय भोगादिक – क्या प्रिय लग सकते हैं ? कदापि नहीं । ठीक है— मछलियों के शरीर को जब पृथ्वी भी संतप्त करती है तब फिर महान् अंगार का तो कहना ही क्या है ॥ २५*१ ॥

२४) 1 D जातं. 2 सदृशदोष, D चन्द्रकलङ्कवत्. 3 D तथा उत्तमजनाः गुणान् आलोकयन्ति ननु गृह्णन्ति. 4 D यथा चकोरः विषपानं न करोति अमृतं पिबति. 5 सदृश । २५*१) 1 P D अभिलाषाः 2 P D मत्स्यानाम् ।

593) आरम्भजत्वम पे यद्गदितं तु तत्र
वच्मो वयं ननु[1] निराक्रियते ऽत्र[2] हिंसा ।
आरम्भतो ऽपि न हि यत्नवतां समस्ति[3]
सन्तस्ततो वितरणे[4] सततं[5] यतन्ताम्[6] ॥ २६

594) आरम्भतो यदि कुतो ऽप्युदयेत हिंसा
बन्धश्चिरं स्थितिमुपैति न सो ऽसुमत्सु[1] ।
सद्दर्शनेषु नयनेष्विव रेणुजात-
मित्यादिकं प्रवचने सविशेषमुक्तम् ॥ २७

595) संघस्य निरारम्भा मुनयो ऽपि चिकित्सितं[1] वितन्वन्ति ।
किमुतान्ये किंचान्यत्प्राणावायोक्तिरपरथा[2] विफला ॥ २८

शंकाकार ने जो यह भी कहा है कि, दान चूंकि आरम्भजनित है, अतएव वह हिंसा का कारण होने से हेय है । उसके उत्तर में हम कहते हैं व निश्चित ही उस हिंसा का निराकरण करते हैं । जो प्रयत्नवान् पुरुष सावधानी से आरम्भकार्यको किया करते हैं वे आरंभ से भी उस हिंसा दोष के भागी नहीं होते हैं । इसीलिये सत्पुरुषों को निरन्तर उस दान के विषय में प्रयत्न करना चाहिये ॥ २६ ॥

यदि किसी आरंभ से हिंसा उत्पन्न होती है तो सम्यग्दृष्टि प्राणियों में उससे उत्पन्न हुआ कर्म का बन्ध दीर्घ काल तक इस प्रकार नहीं स्थित रहता जिस प्रकार कि निर्मल नेत्रोंवाले प्राणियों के नेत्रों में गया हुआ धूलिका कण दीर्घ काल तक स्थित नहीं रहता, ऐसा प्रवचन में विशेषता पूर्वक कहा गया है ॥ २७ ॥

आरंभत्यागी मुनि भी संघ की चिकित्सा करते हैं अर्थात् रोग की परीक्षा कर के तदनुकूल औषधादिक की योजना करते हैं । फिर भला गृहस्थों के विषय में तो कहना ही क्या है — उन्हें तो वह करना ही चाहिये । दूसरे यदि ऐसा न माना जाय तो फिर प्राणावायपूर्व का विवेचन सब विफल होगा — प्राणावायपूर्व में जो संपूर्ण चिकित्सा विधि का सविस्तर वर्णन है वह व्यर्थ सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

२६) 1 D भो. 2 D दाने. 3 P°समास्ति°. 4 दाने. 5 निरन्तरम्. 6 प्रयत्नं कुरुताम् । २७) 1 प्राणिषु । २८) 1 D ऊ [औ]षधं. 2 D आत्मीया उक्तिर्विफला निषेधने ।

596) वचो न वन्ध्यं[1] वचनेश्वराणां[2] परार्थनिर्वर्तितवाङ्मयानाम्[3] ।
यथा तथा नैव वृथा यथाम्भो[4] जलदमुक्तं[5] धरणौ[6] सदापि ॥ २९

597) पद्मनाभ[1]जनने[2] गुरुभक्तिभाजा धर्मप्रतापयशसां सतताश्रयेण ।
चन्द्रप्रभेण[3] गुणिनां गदखेदितानां[4] दिव्यौषधादिभिरुपास्ति[5]रकारि[6] नित्यम् ॥

598) एतदुपलक्षणम् –

वैयावृत्त्यं सर्वसर्वज्ञदेवैर्भक्त्याकारि प्राग्भवे संयतानाम् ।
व्याधिव्रातैर्ग्लानितानां यथावत् तत्[1]संपन्नं तीर्थकृद्गोत्रभूत्यै[2] ॥ ३१

599) एतत्कारुण्यसर्वस्वमेतद्वात्सल्यजीवितम् ।
आगमज्ञत्वमूलं च यदेतद्ग्लानपालनम् ॥ ३२

600) पिष्टपेषणकल्पो ऽयमाक्षेपो[1] यदि वा कृतः ।
उत्तरं तु मया दत्तमिव चर्वितचर्वणम् ॥ ३३

जिन्होंने परोपकार के लिये आगम की रचना की है ऐसे जिनेन्द्र व गणधरादि का वचन इस प्रकार व्यर्थ नहीं है, जिस प्रकार कि पृथ्वी पर मेघों के द्वारा छोडा गया पानी व्यर्थ नहीं होता है ॥ २९ ॥

निरन्तर धर्म, प्रताप और कीर्ति के आश्रय तथा गुरुओं में भक्ति रखने वाले चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ने पद्मनाभ राजा के भव में रोग से पीडित गुणीजनों को दिव्य औषधि आदि दे कर उनकी उपासना की थी ॥ ३० ॥

यह उपलक्षण है। इस से यह समझना चाहिये कि अन्य भी अनेक मुनिराजों ने संघ को औषधादिक दे कर उसकी उपासना की भी है, इसी को आगे स्पष्ट करते हैं –

सब ही सर्वज्ञ तीर्थंकरोंने पूर्व भव में रोग समूह से अशक्त हुए संयतों की जो भक्ति से यथायोग्य वैयावृत्ति की थी, वह तीर्थंकर नामकर्मोदयजनित समवसरणादि विभूति का कारण हुई ॥ ३१ ॥

रोगपीडित मुनि आदिकों का रक्षण करना – उन का रोग दूर करना, यह दया का सर्वस्व, धर्मवात्सल्य का प्राण और आगम ज्ञान का मूल – प्रधान कारण – है ॥ ३२ ॥

अथवा यह जो आक्षेप – आशंका – की गई है वह पिसे हुए को पुनः पिसने के समान

२९) 1 P D विफलम्. 2 जिनेश्वराणाम्. 3 D परार्थनिर्मापितवाणीनाम्. 4 D जलं. 5 मेघमुक्तम् 6 भुवि । ३०) 1 [राजा] 2 जनने भवे, D जन्मनि. 3 पद्मनाभभवे चन्द्रप्रभतीर्थंकरेण, D अष्टमतीर्थंकरदेवेन. 4 रोगपीडितानाम्. 5 सेवा. 6 कृता । ३१) 1 वैयावृत्त्यम्. 2 D निमित्तम् । ३३) 1 प्रच्छन्नं प्रश्नम् ।

601) यस्मादिदं विशेषाद् बुधजनहृदयहारि निःशेषम् ।
पूर्वं मयैव निगदितं दान[1]समर्थनावसरे ॥ ३४

602) कियन्तो ऽन्ये न कथ्यन्ते पुण्यभाजो जिनागमे ।
साधुरोगांश्चिकित्स्य लेभिरे[1] कमलाममलम्[2] ॥ ३५

603) भग्नं समारचयते सकलं स कृत्यं
संजीवयत्यपि मृतं स नरप्रधानः ।
आपद्गतं च परिपाति[1] स एव नूनं
यः संचिकित्सति गणं[2] गदपीडिताङ्गम्[3] ॥ ३६

604) चारित्राचरणप्रणाशनिपुणान्[1] क्लीबत्वसंदीपकान्
रोगौघान् समपाकरोति[2] विविधैः पथ्यैस्तथा भेषजैः ।
लोकार्च्यैर्नरदेवसौख्यममलं लब्ध्वा जगत्पूजितो
धन्यः श्रीजयसेनसूरिविनुतं नीरोगधामाञ्चति[3] ॥ ३७

अष्टमो ऽवसरः ॥८ ॥

व्यर्थ है और उसका उत्तर भी जो मैंने दिया है वह चबाये हुए को पुनः चबाने के समान है॥३३॥

कारण यह है कि विद्वान् जनों के हृदय को हरनेवाला — उसे प्रफुल्लित करनेवाला — यह सब ही कथन मैं पूर्व में ही दान के समर्थन के प्रकरण में विशेषरूप से कर चुका हूँ ॥ ३४ ॥

जिन्होंने मुनियों के रोगों की चिकित्सा कर अतिशय ऐश्वर्य को प्राप्त किया है ऐसे इतर भी कितने ही पुण्यवान् पुरुषों का जिनागम में कथन किया गया है । उनका कथन हम यहाँ नहीं करते हैं ॥ ३५ ॥

जो रोग से पीडित मुनिसंघ को औषध दान दे कर उसे रोगरहित करता है वह पुरुष प्रमुख टूटे हुए सब कार्य को जोड कर पूर्ण करता है, मृत मनुष्य को जीवित करता है, तथा वह विपत्ति में पडे हुए का निश्चय से रक्षण करता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

जो स्वयं अथवा अन्य जनों के द्वारा चारित्र के आचरण के नष्ट करने में चतुर व नपुंसकता को — कायरता को — उत्तेजित करने वाले रोग समूहों को अनेक प्रकार के अनुकूल आहारादि तथा औषधियों के द्वारा नष्ट करता है वह धन्य पुरुष लोक पूजित होता हुआ मनुष्य तथा देवों के निर्मल सुख को प्राप्त कर के श्री जयसेनसूरि से प्रशंसित रोगरहित धामको — मोक्ष को — प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इस प्रकार अष्टम अवसर समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

३४) 1 दान, D संक्षेपदानसमर्थनावसरे । ३५) 1 प्राप्तवन्तः. 2 लक्ष्मी । ३६) 1 रक्षति. 2 मुनि. समूहम्. 3 रोगपीडिताङ्गम् । ३७) 1 विनाशप्रवीणान्. 2 सम्यग्विनाशयति. 3 प्राप्नोति, D मोक्षं गच्छति ।

[९. नवमो ऽवसरः]

[सम्यक्त्वोत्पत्तिप्रकाशनम्]

605) न्यवेदि[1] दानं द्वयलोक[2]सौख्यदं निगद्यते शीलमदस्तथाविधम् ।
भवन्ति यस्या[3]चरणान्निरन्तरं त्रिलोकचूडामणयः परं नराः ॥ १

606) शीलं विनिर्मलकुलं सहगामिबन्धुः
शीलं बलं निरुपमं धनमेव शीलम् ।
पाथेय[1]मक्षयमलं [illegible] सा
साक्षादियद्गुणमिति प्रवदेज्जिनेन्द्रः ॥ २

607) भवति यतः[1] पुरुषार्थः[2] साध्यः सर्वस्य स[3]त्स्वरूपं तु ।
[illegible]म्यगवबोधविद्धं [4]व्रतमिह पुरुषार्थसिद्ध्युपायो ऽस्ति ॥ ३

इस लोक और परलोक में सुख देनेवाले दानका विवेचन किया जा चुका है। अब यहाँ उभयलोक में सुखप्रद उस शील को कहता हूं, जिसके निरन्तर आचरणसे पुरुष निरन्तर त्रैलोक्य के चूडामणि (शिरोभूषण) के समान उत्कृष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

शील मनुष्यका निर्दोष कुल है, वह उसके साथ जानेवाला बन्धु है – मित्र है – शील अनुपम बल है, शील धन ही है तथा वह कभी समाप्त न होनेवाला संबल (नाश्ता) है। वह प्राणियों की निर्बाध रक्षा करता है। उसमें साक्षात् इतने गुण हैं, ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥ २ ॥

जिस से सब प्राणियों को पुरुषार्थकी – मोक्ष की, जो कि आत्मा का स्वरूप है, सिद्धि होती है, वह सम्यग्ज्ञान से संबद्ध व्रत है और वह यहाँ पुरुष के प्रयोजनभूत मोक्ष की सिद्धि का कारण है ॥ ३॥

१) 1 अकथि. 2 इ[illegible]लोकपरलोक. 3 शीलस्य । २) 1 संबलम् । ३) 1 शीलतः. 2 [illegible]; अथवा मोक्षः. 3 पुरुषार्थ. 4 शीलव्रतम् ।

608) सर्वं[1] देशाच्च सामान्याद्व्रतं शीलमितीरितम् ।
द्वैधं विशेषतो ऽदः[2] स्याद्वक्ष्ये स्वावसरं क्रमात् ॥ ४

609) चण्डालो ऽपि चतुर्वेदो यदाचरणतो[1] भवेत् ।
अश्मेव[2] हेम तत्पाल्यं शीलं सर्वप्रयत्नतः ॥ ५

610) सर्वज्ञवीतरागेण भुवनानुग्रहाय[1] यत्[2] ।
अनुष्ठानं निधानं हि मुक्त्यै तद्[2]गदितं प्रमा[3] ॥ ६

611) तदुक्तम् —

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥ ६*१

612) उच्चावचप्रसूतीनां[1] सत्त्वानां सदृशाकृतिः ।
य आदर्श इवाभाति स एव जगतां पतिः ॥ ६*२

सामान्य से शीलका अर्थ व्रत होता है । वह सर्व (महाव्रत) और देश (अणुव्रत) के भेदसे दो प्रकार का कहा गया है । इनका वर्णन मैं विशेष रूपसे अपने अवसर के अनुसार करूँगा ॥ ४ ॥

जिसके आचरण से सुवर्णपाषाण की सुवर्णरूपता के समान चाण्डाल भी चतुर्वेदी– चार वेदों का ज्ञाता हो जाता है । उस शीलका पालन महान् प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये ॥ ५ ॥

जो अनुष्ठान– व्रताचरण– रूप भण्डार समस्त लोक का उपकार करनेवाला है, उसे सर्वज्ञ वीतराग देव ने मुक्ति का कारण कहा है, जो प्रमाणभूत है ॥ ६ ॥

वही कहा है–

अज्ञानी के उपदेश करने में विपरीतता या प्रतारणा की आशंका करने वाले सत्पुरुष इसके लिये उसके कथन को भक्तिपूर्वक स्वीकार करने के लिये किसी ज्ञानवान् को खोजा करते हैं ॥६*१॥

जो ऊँच व नीच उत्पत्ति (अथवा उक्तियों) वाले प्राणियों की समान आकृतियुक्त दर्पण के समान सुशोभित होता है वह तीनों लोकों का स्वामी आप्त होता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दर्पण ऊंच व नीच विविध प्रकार के प्राणियों की आकृति को समान रूपसे

४) 1 महाव्रताणुव्रतात्. 2 एतच्छीलम् । ५) 1 शीलस्य. 2 पाषाणात् सुवर्णवत् । ६) 1 प्रसादाय. 2 शीलम्. 3 प्रमाणम् । ६*२) 1 उत्कृष्टहीनोत्पत्तीनां जीवानां समानाकृतिः ।

613) यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चरित्रे मुक्तिकारणे ।
एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः[1] सो ऽनुमतः सताम् ॥ ६*३

614) स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति स्वदोषैर्दूष्यतां जनः ।
रोषतोषौ वृथा तत्र[1] कुरुधौतायसोरिव[2] ॥ ६*४

615) द्रुहिण[1]ाधोक्षज[2]ेशान[3]शाक्य[4]सूर[5]पुरस्सराः ।
यदि रागाद्यधिष्ठानं[6] कथं तत्र[7]ाप्तता[8] भवेत् ॥ ६*५

616) रागादिदोषसंभूतिरुक्तामीषु[1] तदागमे ।
सतो ऽसतो ऽन्यदोषस्य गृहीतौ[2] पातकं महत् ॥ ६*६

617) एकान्तः शपथश्चेति वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।
अन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥ ६*७

ग्रहण करता है– न वह ऊँच से अनुराग करता है और न नीच से द्वेष ही करता है– इसी प्रकार जो सचराचर विश्व को समान रूपसे ग्रहण करता हुआ – जानता हुआ– किसी से राग द्वेष नहीं करता है उस वीतराग सर्वज्ञ को आप्त समझना चाहिये ॥६*२॥

आत्मा, आगम, जीवादिक तत्त्व और मोक्ष के कारणभूत चरित्र के विषय में जिसकी एक वाक्यता से वृत्ति है, अर्थात् इन विषयों का जिसका उपदेश पूर्वापर विरोध से रहित होता है उसे सज्जनों में– गणधरादि महर्षियोंने– आप्त माना है ॥६*३॥

प्राणी अपने गुणों से प्रशंसा योग्य और अपने दोषों से निन्दा के योग्य होते हैं। इसलिये सुवर्ण और लोह के समान गुणों व दोषों से संयुक्त उन दोनों के विषय में क्रोधित और हर्षित होना व्यर्थ है ॥६*४॥

ब्रह्मदेव, विष्णु, महादेव, बुद्ध और सूर्य इत्यादि देव कहे जानेवाले यदि रागद्वेषों के आश्रय हैं– उन से व्याप्त हैं– तो उन में आप्तता–सर्वज्ञता–कैसे हो सकती है ? ॥६*५॥

इन देवों में रागादि दोषों की उत्पत्ति उनके आगम में कही गयी है। विद्यमान अथवा अविद्यमान अन्यके दोष के ग्रहण करने में बडा पातक होता है ॥६*६॥

वस्तु स्वरूप के ग्रहण में ' यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है, इस प्रकार का एकान्त (दूराग्रह) और सौगन्ध ये दोनों ही निरर्थक हैं। क्योंकि सत्पुरुष अभ्यन्तर तत्त्वको – आत्म स्वरूप को– दूसरे के ज्ञान मात्र से ही स्वीकार नहीं करते हैं ॥ ६*७॥

६*३) 1 सर्वज्ञः । ६*४) 1 जने. 2 सुवर्णलोहयोर्द्वयोरिव । ६*५) 1 ब्रह्मा. 2 विष्णुः. 3 ईश्वरः. 4 बुद्धः. 5 सूर्यः. 6 D °द्यधिष्ठानाः, मूलम्. 7 द्रुहिणादिषु. 8 सर्वज्ञता । ६*६) 1 द्रुहिणादिषु. 2 सति.

618) दाहच्छेदकषा[1]शुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ।
तदाहुः सुधियस्तत्त्वं रहः[2]कुह[3]कवर्जितम् ॥ ६*८

619) ग्रहगोत्रगता ऽप्येष पूषा[1] पूज्यो न चन्द्रमाः ।
अविचारिततत्त्वस्य जन्तोर्वृत्तिर्निरङ्कुशा ॥ ६*९

620) आप्तः स्या[1]न्मनुजः कथं भवतु वा[2] तत्त्वावबोधः कुत-
स्तीर्थेशात्परतो ऽस्य तस्य परतश्चेषानवस्थालता ।
तद्भावं[3] तदभावमिच्छय यदि स्वीकृत्य एकस्तदा
चारो नेतरजीवव ्गवतां[4] कण्ठारवाणामिवं[5] ॥ ७

इसका भी कारण यह है कि अग्नि में तपाना, काटना और कसौटी पर घिसना इन उपायों से सुवर्ण की निर्मलता के निश्चित होनेपर फिर उसके लिये सौगन्ध खाने की क्या आवश्यकता रहती है ? इसलिये उत्तम बुद्धिवाले विद्वान् जो वस्तुस्वरूप एकान्त और प्रतारणा से रहित हो, उसे तत्त्व कहते हैं ।। ६*८।।

जिस प्रकार सूर्य ग्रह और गोत्र (सूर्यवंश) से अनुगत है उसी प्रकार चन्द्र भी ग्रह व गोत्र से अनुगत है । फिर भी लोगों के द्वारा सूर्य की तो पूजा की जाती है, परन्तु चन्द्र की पूजा नहीं की जाती है । सो ठीक भी है, क्योंकि, तत्त्वविचार से रहित प्राणी की प्रवृत्ति बेरोक-टोक हुआ करती है ॥६*९॥

यहाँ वादी कहता है कि तुम (जैन) जो मनुष्य को आप्त मानते हो सो यह कैसे संभव है ? अर्थात् मनुष्य को– जो कि स्वभावतः अल्पज्ञ व रागी-द्वेषी है – आप्त मानना उचित नहीं है । दूसरे यदि मनुष्य को भी आप्त मान लिया जाय तो यह भी विचारणीय होगा कि उसको तत्त्वज्ञान कहाँ से प्राप्त होता है । इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय की उसे तत्त्वज्ञान तीर्थंकरसे प्राप्त होता है, तो पुनः यही प्रश्न खडा रहेगा कि उस तीर्थंकर को भी वह तत्त्वज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ । इस पर यदि यह कहा जाय कि उसे अन्य तीर्थंकर से तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ तो इस प्रकार से उक्त प्रश्नोत्तरोंका पर्यवसान न होने से अनवस्था दोष अनिवार्य होगा । अतएव यदि किसी एक को तत्त्वज्ञ स्वीकार कर के आप्त के सद्भाव और अन्यान्य तीर्थंकरों के अभाव को स्वीकार करते हो तो निर्वाह हो सकता है, क्योंकि सिंहों के समान आप्तों की – ईश्वरों की – सन्तति मानना योग्य नहीं है । और तब वैसी

६*८) 1 कशआघंण, D कसोटी. 2 एकान्त. 3 P D कपट । ६*९) 1 सूर्यः D भानु । ७) 1 D भवेत्. 2 D आप्तो मनुजो भवति तदा तत्त्वावबोधे कुतः. 3 D आप्तस्य सद्भावस्य अभाव इह यदि. 4 सर्वज्ञानाम्. 5 सिंहानामिव., D अपरश्वापदवृन्दसमानो कण्ठीरवो न यथा तथा सर्वज्ञसमानो अपरो न ।

621) कौतस्कुतो ऽस्ति नियमस्तदियत्त्वकारी[1]
तेषामिदं विवदतामपि नः[2] समं यत् ।
आप्तो बभूव कपिलो ऽपि मनुष्य एव
शौद्धोदनिः[3] कणचरो ऽपि च जैमिनिश्च[4] ॥ ८

622) तदुक्तम्—
यश्चोभयोः समो दोषः परिहारो ऽपि तत्समः ।
नैकः पर्यनुयोज्यः[1] स्यात्तादृगर्थविचारणे ॥ ८*१

623) तेषां तु नो[1] ऽपि समयाप्ति... त्व... टु —
जन्मान्तरोत्थित...द्धिविरागयोगात् ।
ध्यानाग्नितो विमलतामुपयाति जीवे
विश्वप्रकाशिमहिमा द्युमणेरिवास्ति[2] ॥ ९

अवस्था में उक्त आप्त की इतनी संख्या का — चोवीस तीर्थंकर की संख्या का नियम कहां से बन सकता है ? अर्थात् वह असंगत होगा। वादी की इस आशंका के उत्तर में यहाँ यह कहा जा रहा है कि जो वादीजन इस प्रकार का विवाद करते हैं, उनका यह आक्षेप हमारे समान ही है। जैसे हमने मनुष्य को आप्त माना है वैसे ही उक्तवादी जनों ने भी उसे मनुष्य ही माना है। यथा—सांख्यों के यहाँ जिस कपिल को आप्त माना गया है वह भी मनुष्य ही था इसी प्रकार शुद्धोदनका पुत्र बुद्ध, नैयायिकों का अभीष्ट आप्त कणाद और मीमांसकों को अभिमत जैमिनी ये सभी मनुष्य ही थे ॥७—८॥

वही कहा भी है—

वादी और प्रतिवादी दोनों के मध्य जो दोष समान होता है उसका परिहार भी समान ही होता है। ऐसी परिस्थिति में किसी एक के ही ऊपर आक्षेप करना उचित नहीं है ॥ ८*१॥

उपर्युक्त सांख्यादिक वादियों के यहाँ और हमारे यहाँ भी जो जीव समयानुसार तत्त्वका उपदेशक — आप्त—होता है वह पूर्व जन्म में उत्पन्न हुई विशुद्धि एवं वैराग्य के सम्बन्ध से ध्यानरूप अग्नि के निमित्त से निर्मलता को प्राप्त होने पर सूर्य के समान समस्त लोक को प्रकाशित ... माहात्म्य (सर्वज्ञता) से संयुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

८) 1 इयत्त्वनियमकारी, D निश्चयकारी. 2 D अस्माकं. 3 D बौद्धः. 4 D भिक्षोजातःसि (?) ८*१) 1 उपालम्भः. 2 D भवेत् । ९) 1 अस्माकम्. 2 P D सूर्यस्य ।

624) तदुक्तम्–

तत्त्वभावनयोद्भूतं जन्मान्तरसमुत्थया ।
हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥९*१

625) दृष्टादृष्टमवैत्यर्थं[1] रूपवन्तं तथावधिः ।
श्रुतेः श्रुतिसमाश्रेयं क्वासौ गुर्वपेक्षताम् ॥ ९*२

626) कस्याज्ञात्क्षपयति तमः सप्तसप्तिः[1] प्रजानां
छायाहेतोः पथि विटपिनां[2] अञ्जलिः केन बद्धः ।
अभ्यर्थ्यन्ते[3] जलकणमुचः[4] केन वा वृष्टिहेतो–
र्जात्यैवायं[5] कलिलक्षपणः[6] स्वात्मनिर्बाधबोधः[7] ॥ १०

627) इति प्रसिद्धमे–

उपाये सत्युपेयस्य[1] प्राप्तेः का प्रतिबन्धता[2] ।
पातालस्थं जलं यन्त्रात्कुम्भस्थं[3] क्रियते यतः ॥ १०*१

वही कहा है–

पूर्व जन्म में प्राप्त हुई जीवादि तत्त्वोंकी भावना से तीर्थंकरों के ये तीन उत्तमज्ञान जन्मसे ही होते हैं । इनसे उन्हें हित और अहित का विवेक होता है । इन में मतिज्ञान से वे प्रत्यक्ष और परोक्ष पदार्थों को अवधिज्ञान से रूपी पदार्थों को और श्रुतज्ञान से द्वादशांग श्रुत में कहे हुए आचारादिकों को जानते हैं । इसोलिये उन्हें तत्त्वज्ञान के लिये अन्य गुरु आदि की अपेक्षा कहाँ से होती है ? अतएव उक्त अनवस्था दोष सम्भव नहीं है ॥ ९*१–२ ॥

सूर्य किसकी आज्ञा से प्रजाजन के अन्धकार को नष्ट करता है । मार्ग में छाया के लिये वृक्षों को हाथ किसने जोडे हैं । तथा वृष्टि के लिये जलकणों को छोडनेवाले मेघों से प्रार्थना किसने की है? अर्थात् किसीने भी नहीं की । तीर्थंकरों को जन्म से ही पापनाशक और बाधारहित आत्मज्ञान होता है ॥ १० ॥

इस विषय में ये श्लोक प्रसिद्ध हैं –

उपाय के होनेपर उपेय की–जो वस्तु हम चाहते हैं उसकी – प्राप्ति होने में कोई

९*२) 1 जानाति. १०) 1 D सूर्यः. 2 वृक्षाणाम्. 3 प्रार्थ्यन्ते. 4 P D मेघाः. 5 स्वभावेन. 6 पापभक्षणः, D पापनाशकः. 7 आत्मनः स्वभावजनितज्ञानः । १०*१) 1 कार्यसिद्धिप्राप्तेः. 2 का निरोधता, को निषेधः, D निषेधता । ३ मृत्तिकाभाजनस्थम् ।

628) अश्मा[1] हेम[2] जलं[3] मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षिति[4]र्मणिः ।
तत्तद्धेतुतया भावा[5] भवन्त्यद्भुतसंपदः ॥ १०*२

629) सर्गावस्थितिसंहारग्रीष्मवर्षा[1]तुषारवत् ।
अनाद्यनन्तभावो ऽयमाप्तागमसमाश्रयः ॥ १०*३

630) स्वर्णानीव ह्यसंख्यानि धातवः[1] शुद्धियोगतः ।
भवन्त्याप्ता हि दृष्टेष्टा[2]विरोधाभावतो नराः ॥ ११

631) श्रुतसर्वज्ञसंताना ऽनादिर्बीजाङ्कुरादिवत्[1] ।
मूलस्य तत्क्षयकरी नास्मादनवस्था न दूषणम् ॥ १२

632) तदुक्तम् –

प्रतिबन्ध (बाधा) नहीं होता । क्योंकि, यन्त्र के द्वारा पातालका भी पानी अपने हाथ में कर लिया जाता है ॥ १०*१ ॥

विभिन्न प्रकार के योग्य निमित्तों को प्राप्त कर के पदार्थ आश्चर्यजनक सम्पत्ति, स्वरूप परिणत हुआ करते हैं । जैसे– अनुकूल निमित्त को पाकर पत्थर सोना बन जाता है, जल मोती बन जाता है, वृक्ष अग्नि बन जाता है और पृथिवी मणि बन जाती है ॥ १०*२॥

उत्पत्ति, अवस्थान और विनाशयुक्त ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतुओं के समान पदार्थों का यह अनादि अनन्त स्वभाव आप्त व आगम का आश्रित है– उनके आश्रय से जाना जाता है ॥१०*३॥

जिस प्रकार शुद्धि के सम्बन्ध से पाषाणरूप धातुएँ असंख्यात सुवर्ण हो जाती हैं, उसी प्रकार शुद्धि के सम्बन्ध से– तपश्चरण जनित निर्मलता के आश्रय से– मनुष्य आप्त हो जाते हैं, इस में न तो प्रत्यक्षसे बाधा आती है और न अनुमान के भी बाधक होने की संभावना है ॥ ११ ॥

आगम और सर्वज्ञ की परम्परा–सर्वज्ञ से आगम की उत्पत्ति और आगम से सर्वज्ञ की उत्पत्ति इस प्रकार की यह निरन्तर परम्परा– बीज और अंकुर आदि के समान अनादि है । इसलिये अनवस्था मूलतत्त्वका नाश करनेवाली नहीं है और वह दूषण यहाँ लागू नहीं होता ॥ १२ ॥

सो ही कहा गया है–

१०*२) 1 P D पाषाणः. 2 स्वर्णम्. 3 शुक्तिजलं मुक्ताफलं भवति. D जलं मुक्ताफलं. 4 पृथ्वी 5 पदार्थाः । १०*३) 1 उत्पादध्रौव्यव्ययस्वरूपम्. D °स्वर्गावस्थिति ° स्वर्गे स्थितिः पुनः संहारो यथा केनापि न कृतं तथा आप्तश्रुतः । ११) 1 D पाषाणाः. 2 प्रत्यक्ष । १२) 1 D यथा सर्वज्ञस्तथा श्रुतं बीजवृक्षवत् ।

नियतं न बहुत्वं चेत्कथमेते तथाविधाः ।
तिथितारा... ग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मताः ॥ १२*१

633) इत्यादिभिः प्रागपि सूचिताभिः सुयुक्तिभिर्देववरं[1] विचिन्त्य ।
तत्पादपङ्कजयानपात्रमाश्रित्य ... भवाम्बुराशिम् ॥ १३

634) अत्र व्यतिरेकेणोक्तम्–
ये ऽविचार्य परं देवं रुचिं तद्वाचि कुर्वते ।
ते ऽन्धास्तत्स्कन्ध[1]... वाञ्छन्ति ...गतिम्[2] ॥ १३*१

635) जीवानां हि क्वचित्क्षेत्रे यथा मन्दकषायता ।
तथा देष्टुर्विशुद्धत्वे[1] देशनायाः सुबुद्धता ॥ १४

636) वाणी साध्व्यप्यसाध्वी[1] स्यात्पात्रदोषेण[2] दुग्धवत् ।
उच्चैः सेवनमस्याः[3] स्यात्तीर्थप्राप्तं पयो यथा ॥ १५

यदि बहुतपना नियत नहीं होता तो ये तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र और पर्वत आदि पदार्थ उस प्रकार के – बहुत – कैसे माने गये हैं ? इस से एकत्व के समान बहुत्व भी अवश्य सिद्ध है, यह निश्चित होता है ॥ १२*१॥

इन को आदि लेकर जो उत्तम युक्तियाँ पूर्व में भी निर्दिष्ट की जा चुकी हैं, उन से देवों में श्रेष्ठ आप्त का विवेचन – विचार – कर के जो भव्य उस के दोनों चरणकमलरूप नौका का आश्रय लेते हैं, वे ही संसाररूप समुद्र को पार करते हैं । संसार के दुःखों से छूटकर मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥

यहाँ व्यतिरेक स्वरूप से कहा गया श्लोक—

जो उत्तम देव के विषय में विचार न करते हुए उसके वचन में रुचि (श्रद्धा) रखते हैं वे अन्धे अन्धे के (अथवा उस अविचारित देव के) कन्धे पर हाथ रख कर सद्गति की प्राप्ति की इच्छा करते हैं, जो सर्वथा असंभव है ॥१३*१॥

जैसे किसी विशिष्ट क्षेत्र में जीवों में मंद कषायता होती है वैसे ही उपदेशक की विशुद्धि से – उस के परिणामों के राग द्वेष व मिथ्यात्व से रहित होने से – उस के उपदेश में सुबुद्धता होती है ॥ १४ ॥

जिस प्रकार आश्रयभूत वर्तन के दोष से मधुर दूध विकृत हो जाता है, उसी प्रकार

---

१३) 1 P D सर्वज्ञम्. 2 विचारयित्वा । १३*१) 1 D अन्धस्य. 2 ... । १४) 1 सम्यक्त्वनिर्मलत्वे । १५) 1 वाणी शुद्धापि कुमनुष्ये कुपात्रे श्रिता अशुद्धा भवति, यथा कुभाजने पतितं शुद्धं दुग्धं अमधुरं भवति. सा वाणी उच्चैः उच्चस्थानेषु पात्रेषु श्रिता शुद्धा भवति तीर्थप्राप्तजलवत्. 2 D भवेत्. 3 D °सेव नमस्या°, नमस्करणीया ।

637) आप्ता[1] अतीन्द्रियदृशो यदि नापि सन्ति
सन्त्येव संप्रति[2] तथापि हि तत्प्रकाशाः[3] ।
येषां परोक्षवरयुक्तिषु संविभान्ति[4]
प्रत्यक्षवत् त्रिजगति प्रतिबद्धभावाः[5] ॥ १६

638) तदुक्तम्–

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये[1]
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ॥ १६*१

आश्रयभूत वक्ता के सदोष होने से समीचीन वाणी भी विकृत हो जाती है। तथा जिस प्रकार गंगा आदि तीर्थ को प्राप्त हुआ जल अतिशय सेवनीय होता है उसी प्रकार तीर्थंकर आदि सुयोग्य वक्ता के आश्रित हुई वह वाणी भी अतिशय आराधनीय हुआ करती है ॥ १५ ॥

यद्यपि इस समय अतीन्द्रिय वस्तुओं के जानने–देखने वाले आप्त नहीं भी हैं, तो भी उन के समान महापुरुष आज भी इस जगत् में विद्यमान हैं। जिनकी परोक्ष निर्दोष युक्तियों में त्रिकालवर्ती जीवादिक पदार्थ प्रत्यक्ष के समान झलकते हैं, अर्थात् अपनी निर्दोष युक्तियों से वे उत्पाद व्यय व ध्रौव्युक्त पदार्थों का ऐसा सुन्दर विवेचन करते हैं कि जिसको सुनकर हम लोग मानो उनको प्रत्यक्ष देख रहे हैं, ऐसा भास होने लगता है ॥ १६ ॥

वही कहा है–

जिस प्रकार कुलपर्वत मोह (स्वार्थ) से रहित हो कर पृथिवी को धारण करते हैं, उसी प्रकार जो मोह से रहित हो कर पृथिवी को धारण करते हैं– पृथिवीतलपर स्थित समस्त प्राणियों का उद्धार करते हैं। जिस प्रकार समुद्र असंख्य रत्नों के भण्डार होकर भी कभी उनकी इच्छा नहीं करते हैं उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नों के आश्रय होकर भी धन की अभिलाषा कभी नहीं करते हैं। तथा जिस प्रकार व्यापक आकाश अनन्त पदार्थोंको आश्रय दे कर भी उनसे स्पृष्ट–संश्लिष्ट–नहीं होता है, उसी प्रकार जो व्यापक–महान्–होनेसे लोक के समस्त प्राणियों को आश्रय देते हुए भी उनसे स्पृष्ट–लिप्त–नहीं होते हैं। ऐसे कितने ही ये महापुरुष प्राचीन महर्षियों के अन्तिकचर–निकटवर्ती शिष्य– आज भी (वर्तमान काल में भी) विद्यमान हैं ॥ १६*१॥

---

१६) 1 केचन त्वनः D °आप्ता अतीन्द्रिय°, तिष्ठतु. 2 अधुना. 3 ... पदार्थाः, D हितप्रकाशकाः. 4 शोभन्ते. 5 पदार्थाः । १६*१) 1 आलय ।

639) प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः[1] प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥ १६*२

640) मुख्योपचारविवृतस्वपराग्रहो य-
स्तीर्थं प्रवर्तयति निश्चयनीतिवेदी[1] ।
शिष्यावबोधनकृते व्यवहारदर्शी
भूतार्थबोधविधुरो[3] हि सर्वः समग्रः[4] ॥ १७

641) यो वेत्ति वा दिशति वा व्यवहारमेव
तस्यास्ति देशनविधिर्न मतो नितान्तम्[1] ।
अज्ञातनिश्चयनयस्य स एव सत्यः
सिंहाविदः पृथुकं[2] एव यथास्ति सिंहः ॥ १८

जो विद्वान गणी—आचार्य—समस्त शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता लोकव्यवहार से परिचित, निःस्पृह, प्रतिभा—नवीन नवीन तर्कणारूप बुद्धि—से सम्पन्न, शांत, शंका के पूर्व ही उसके समाधान का अन्वेषक, प्राय: कर के सब प्रकार के प्रश्नों को सहनेवाला — उनसे उद्विग्न न होनेवाला, प्रभावशाली, दूसरों के चित्त को आकर्षित करनेवाला, परनिन्दा से दूर, अनेक गुणों से विभूषित, तथा स्पष्ट व मधुर भाषण करनेवाला हो वही धर्मकथा के कहने का अधिकारी—तत्त्व व्याख्याता — होता है ॥ १६*२॥

जो मुख्य (निश्चय) और उपचार (व्यवहार) के आश्रित विवरणों से स्व और पर को ग्रहण करनेवाला है, अर्थात् जो निश्चय नय के अनुसार आत्मस्वरूपको ग्रहण करता है तथा व्यवहार नयके अनुसार पर पदार्थों को ग्रहण करता है वह निश्चय नय से परिचित होकर धर्मतीर्थका प्रवर्तन करता है तथा व्यवहार को देखता हुआ तदनुसार शिष्यों को प्रबोधित करता है। लोक में अधिकतर सब ही संसारी प्राणी यथार्थ ज्ञानसे विमुख हैं — निश्चय को छोड़कर एक मात्र व्यवहार में निरत हैं ॥ १७ ॥

जो केवल व्यवहारको ही जानता है और उसका ही उपदेश करता है, उसे शिष्योंको उपदेश देने का अधिकार सर्वथा नहीं माना गया है। क्योंकि जिसको निश्चय नय का ज्ञान

१६*२) 1 प्रज्ञायुक्तः. 2 आशारहितः । १७) 1 व्यवहार. 2 P °विवृतास्वपराग्रहो. 3 P D रहितः. 4 D संसारः । १८) 1 अतिशयेन. 2 बालकः सिंहः, D बालकस्य सिंहनाम स एव सिंहः ।

642) यो निश्चयं च व्यवहारमस्मा[illegible][1] प्रबुध्य[2] माध्यस्थ्यमुपाश्रयेत ।
सूरिश्च शिष्यश्च स [illegible]शनायाः प्राप्नोति तत्त्वेन फलं विशालम् ॥ १९

643) दृष्टे[1] हि दर्शनवचांस्य[2]नुमानमेये
पूर्वापरमव[illegible]त्यवि[illegible]धिते ऽर्थे ।
ऐति[3][illegible]ऽस्ति सदा प्रमाणं
तद्बाध्य[4]गीर्भवति मत्तवचः[5]समाना ॥ २०

644) त्रैकाल[illegible] [illegible]वर्गपदार्थानखिलानपि ।
ग्रा[illegible]त्याज्यतयागादि[1] गमयन्[2] परमागमः ॥ २१

645) [illegible]तिप्रविलयास्तदा[illegible]भिन्नदे[1] ।
वार्धे[2]र्यथोर्मिनिचया वि[3]लय [illegible]
एकान्ततः क्षणिकशाश्वतप[illegible]पाते[4]
वन्ध्या[5]दयः खलु गलन्ति कथाकलापाः ॥२२

नहीं है वह व्यवहार को ही सत्य इस प्रकार माना करता है । जिस प्रकार की सिंह को न जाननेवाला कोई पुरुष 'यह बालक सिंह है' ऐसा कहने पर किसी बालक को ही सिंह समझता है ॥ १८ ॥

इस कारण जो आचार्य और शिष्य निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर उनके विषय में मध्यस्थ वृत्ति का आश्रय लेते हैं – उनमें से किसी एकका ही आश्रय नहीं लेते हैं किन्तु विवक्षावश यथास्थान उन दोनोंका ही उपयोग किया करतें हैं वे वास्तव में देशना के देने व सुनने के महान् फल को प्राप्त करते हैं ।। १९ ॥

पूर्व विषय की और उत्तर विषय की जो निर्दोष युक्तियाँ उनसे अविरुद्ध सिद्ध हुए जीवादिक पदार्थ देखने पर तथा उनका वचन से खुलासा करने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तथा उनका स्पष्टीकरण किया जाता है । तथा उनका अनुमान के द्वारा निश्चय करते हैं । इन विषयों के प्रतिपादक गुरु हमको शरण हैं । इन पदार्थों के प्रमाणों को बाधित करनेवाली भाषा मत्त मनुष्य के वचन समान है ॥ २० ॥

जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी धर्म, अर्थ, काम व मोक्षरूप चार पुरुषार्थ के साधनभूत समस्त ही जीवादिक पदार्थों को ग्राह्य (उपादेय) और त्याज्य स्वरूपसे ज्ञान करने वाला हैं, उसे श्रेष्ठ आगम कहते हैं ॥ २१ ॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये धर्म वस्तु से इस प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार कि

---

१९) 1 व्यवहारात्, D सर्वज्ञकथितात्. 2 प्रकर्षेण ज्ञात्वा । २०) 1 D कथिते. 2 D जिनवचांसि. 3 P° ऐतेह्य. 4 तस्य बाधाकरः, D प्रमाणबाधिता वाणी. 5 D उन्मत्तवचः । २१) 1 D धर्मार्थकाम-मोक्ष. 2 D जानन् । २२) 1 उत्पादध्रौव्यव्ययास्तैरभिन्नाः पदार्थाः, D ध्रुवव्ययोत्पत्त्यादयः पदार्थाः. 2 समुद्रस्य. 3 P D°निचयाद्विल°.4 एकान्ते क्षणिके शाश्वते पक्षे. 5 निष्फलाः, D आश्रवबंधादयो क्रियाः ।

तत्र चतुर्वर्गपदार्थास्तावज्जीवमुख्यतया निरूप्यन्ते–

646) स्पर्शरूपरसगन्धवर्जितः[1]
पूरुषो[2] ऽस्ति गुणपर्ययान्वितः ।
ध्रौव्यजन्मविलयैः समाहितो
विश्वरूपपरिणाममालितः[3] ॥ २३

647) ज्ञानांशैर्विविधैः सदा परिणमन् सो ऽनादिसंतानतो
भागानां[1] स्वचितो[2] भवेन्नियमतः कर्ता च भोक्ता प्रभुः ।
चैतन्यं स[3]कलविकल्पगहनैर्हीनं यदा प्राप्नुयात्
विज्ञेयः पुरुषार्थसिद्धि[4]सहितः स[5]म्पूर्णभावैस्तदा ॥ २४

648) तदुक्तम्–
प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यत कर्मणा ।
एतयोः[1] प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः[2] ॥ २४*१

समुद्र के तरंगसमूह नाश और उत्पत्तिसे समुद्र से अभिन्न हैं । सर्वथा क्षणिक और नित्य पक्ष को स्वीकार करने पर बन्ध्या आदि (?) कथासमूह नष्ट हो जाते हैं – वन्ध्यासे पुत्रोत्पत्ति के समान एकान्त से सर्व जीवादि पदार्थों की सिद्धि कथायें व्यर्थ होती हैं ॥ २२ ॥

उन में जीवको मुख्यतासे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कारणभूत जीवादिक पदार्थों का निरूपण किया जाता है –

स्पर्श, रूप रस, और गन्ध से रहित, गुण व पर्यायों से सहित, ध्रौव्य उत्पाद और नाश से समन्वित तथा विश्वरूप परिणामों से सुशोभित ऐसा पुरुष (जीव) है ॥ २३ ॥

वह जीव अनादि परम्परा से परिणममान अनेक प्रकार के ज्ञान के भागों से–उसकी पर्यायों से निरन्तर परिणत होता हुआ नियम से स्वकीय चेतन्य के भागोंका आत्मपरिणामों का कर्ता, भोक्ता और स्वामी है । जब वह समस्त विकल्परूप वनसे रहित चैतन्य भाव को प्राप्त कर लेता है, तब संपूर्ण भावों से सम्पन्न उस को पुरुषार्थ सिद्धि से–आत्मा के प्रयोजनीभूत मोक्ष की प्राप्ति से– सहित जानना चाहिये ॥ २४ ॥

वही कहा भी है–

जिस प्रकार नोका और मल्लाह (उसको चलाने वाला) इन दोनों में परस्पर प्रेरकता

२३) 1 मिलित, D संसारी जीवः स्पर्शरूप इत्यादि युक्त. 2 आत्मा. 3 शोभितः, D असंख्यात-परिणामयुक्तः । २४) 1 शुभाशुभकर्मभेदानाम्. 2 D निजज्ञानस्य. 3 D केवलज्ञानाभे[illegible]. 4 शरीरस्यान्तः अन्तःशरीरं तस्मात् मोक्षसिद्धिर्यदा भवति. 5 D शुद्धभावः । २४*१) 1 जीवकर्मणोर्द्वयोः. 2 नौनिर्यापकयोः ।

649) मन्त्रवन्नियतो[1] ऽप्येषो[2] ऽचिन्त्यशक्तः स्वभावतः ।
अन्तःशरीरतो[3] ऽन्यत्र[4] न भावो ऽस्य प्रमान्वितः[5] ॥ २४*२

650) धर्माधर्मौ तथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ।
अजीवाख्यास्त एव स्युर्विविधैः पर्ययैर्युताः[1] ॥ २५

651) गतिस्थिती अरोधं[1] च वस्तुष्वपि परीणतिम्[2] ।
क्रमाद्वर्णादिरूपो ऽणुः[3] कायादीनुपकुर्वते[4] ॥ २६

652) कायवाङ्मनसां कर्म शुभाशुभविभेदतः ।
आस्रवो मुख्यरूपेण[1] गौणः[2] पौद्गलिको ऽकथि[3] ॥ २७

है–नौका मल्लाह को प्रेरित करती है और मल्लाह नौका को प्रेरित करता है— उसी प्रकार जीव और कर्म इन दोनों में परस्पर प्रेरक स्वभाव के अनुसार जीव कर्म को प्रेरित करता है। और कर्म जीव को प्रेरित करता है। इस प्रकार इन दोनों का अन्य कोई तीसरा प्रेरक नहीं है ॥ २४*१ ॥

यह जीव मन्त्र के समान नियत होकर भी स्वभाव से अचिन्तनीय शक्ति से संयुक्त है उसका सद्भाव शरीर को छोडकर और कहीं पर भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। वह लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशी होकर भी समुद्घातको छोडकर निरन्तर प्राप्त हुए शरीर के भीतर ही अवस्थित रहता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मन्त्र मान्त्रिक को छोडकर अन्यत्र नहीं रहकर भी अचिन्त्य शक्ति से विषनाशक अपूर्व सामर्थ्य से– संयुक्त होता है, उसी प्रकार शरीर के भीतर अवस्थित यह जीव भी मुक्तिप्राप्तिरूप अपूर्व शक्ति से संयुक्त है ॥२४*२॥

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच द्रव्य अजीव द्रव्य हैं और वे अनेक प्रकार की पर्यायों से युक्त हैं ॥ २५ ॥

उक्त पाँच अजीव द्रव्यों में क्रम से धर्म, द्रव्य, जोव और पुद्गलों की गति, अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति, आकाशद्रव्य उन के न रोकने रूप अवकाशदान और कालद्रव्य जीवादि वस्तुओं में नूतन जीर्णादि परिणतिस्वरूप उपकारों को करता हैं। वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों से युक्त अणु पुद्गल द्रव्य शरीरादिरूप उपकार को करते हैं ॥ २६ ॥

शरीर,वचन, और मनकी जो शुभ और अशुभ क्रिया होती है उसे मुख्य रूप से आस्रव

२४*२) 1 D यथा मन्त्र अनन्तशक्तिप्रभावः तथा जीवः. 2 आत्मा जीवो वा. 3 D °अतःशरीर,° शरीरभावः पुद्गलस्य. 4 अतः कारणात् शरीरतोऽन्यत्र भिन्न अस्य शरीरस्य भावो जीवो न भवति प्रमाणतः. 5 प्रमाणतः । २५) 1 पर्यायान्विताः । २६) 1 गतिस्थिती द्वे धर्माधर्मयोः अरोधम् अवकाशम् आकाशस्य, D अवकाशं. 2 कालस्य परिणतिः, D नवजीर्णतां. 3 परमाणुः. 4 उपकारं करोति । २७) 1 भावाश्रयरूपेण [illegible]मः. 2 द्रव्याश्रयः कर्माणु.... 3 कथितः ।

653) परिणमतां स्वयमेषां कर्माणुप्राणिनामयं बन्धः ।
बीजाङ्कुरवदनादिस्तिलतैलवदादिमान् कथंचित्स्यात्[1] ॥ २८

654) एतेन[1] ब[2] [illegible] र्तामूर्तादिबन्धचोद्यानि[3] ।
अपसारितानि दूरं भावानां [illegible] क्तत्वात् ॥२९

655) स्वैर्भावैः[1] परिणामिन[2]श्चितिमयै[3]र्नित्यं स्वयं चेतितुः[4]
कर्मत्वं विभिदेलिमा[5] अपि तरां गच्छन्ति ही पुद्गलाः ।
अध्वन्यस्य[6] धराध्वनामिव कुलं बन्धुत्ववज्जन्मिना–
मेकत्वं गतवद्विभाति हि पुमा[7]नाबालिशानां[8] ततः ॥ ३०

(भावास्रव) कहते हैं, और जो कर्मद्रव्य आत्मा में आता है उसे पौद्गलिक (द्रव्य) आस्रव कहते हैं, जो गौण आस्रव है ऐसा आगममें कहा गया है । तात्पर्य – शरीर, वचन और मन की चंचलता से आत्मा के प्रदेशों में जो चंचलता होती है, उसे मुख्य आस्रव अर्थात् भावास्रव कहते हैं । तथा उनकी चंचलतासे आत्मा के प्रदेशों में जो अनन्तानन्त कर्मपरमाणु समूह आता है उसे गौण आस्रव अर्थात द्रव्यास्रव कहते हैं ॥ २७ ॥

स्वयं परिणमन स्वभाववाले इन कर्मपरमाणुओं और प्राणियों का परस्पर एकक्षेत्राव–गाहरूप जो संबन्ध होता है वह बन्ध कहलाता है । वह बीज और अंकुरकी परम्परा के समान कथंचित्–अनादि और तिल व तेलके समान कथंचित्–सादि भी है ॥ २८ ॥

उपर्युक्त कथनसे 'बन्धके योग्य पौद्गलिक कर्म मूर्तिक और बाँधनेवाला जीव जब मूर्तिक है तब उनमें परस्पर बन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् वह असम्भव है' इत्यादि आशंकाओंका निराकरण किया गया समझना चाहिये। कारण कि जीव में और कर्मरूप बनने–वाले पुद्गलों में अनन्त शक्ति है, जिससे कर्म और आत्मा परस्पर बद्ध होते हैं । आगम में आत्मा को अनादि कर्मबन्धन पर्यायकी अपेक्षासे कथंचित् मूर्तिक और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षासे अमूर्तिक माना गया है । इसलिये आत्मा के साथ पौद्गलिक कर्मों के बन्धन में कोई विरोध नहीं है ॥ २९ ॥

यह आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप भावों–रागद्वेषादि परिणामों–से निरन्तर स्वयं ही परि–णत होता रहता है और तब उस अवस्थामें उससे पृथग्भूत पुद्गल उसके साथ संबद्ध होकर कर्मरूपताको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार आत्मासे उन कर्म पुद्गलोंके पृथक् होनेपर भी अज्ञानी

२८) 1 D भवेत । २९) 1 D प्रकारेण. 2 पुद्गल. D जीवः कर्ता. 3 दूरीकृतानि । ३०) 1 भावकर्मस्वरूपैः. 2 जीवस्य.. 3 °चिन्मयैर्नि°, D °चिनुमयै° °चेततुः,° जीवस्य, D आत्मनः. 5 भेदं विभिन्नं गच्छन्ति, D भिन्ना अपि पुद्गलाः कर्मत्वं प्रणमन्ति. 6 पथिकस्य., D पथिकस्य गच्छत धरां मार्गो भवति यथा. 7 पुरुषः आत्मा. 8 अनादिअज्ञानिनाम् ।

656) प्रतिभासः[1] ससंतानो[2] भवबीजं प्रजायते ।
क्षीरनीरवदेकत्वज्ञानवन्निर्विवेकिनाम्[3] ॥३१

657) तदुक्तम्–

रज्जुर्नास्ति[1] भुजङ्गः श्वासं कुरुते[2] च मृत्युपर्युक्तम्[3] ।
भ्रान्ते[illegible] शक्तिर्न विवेक्तुं शक्यते विकलैः ॥ ३१*१

658) भ्रमीभवन् हृष्यति मूर्च्छति क्वचित् क्वचिद्विषीदत्यपि विश्वसित्यपि ।
परस्वरूपे[1] ऽहमिति प्रबोधभाक्[2] यथा नटः संश्रितभूमिकान्तरः[3] ॥ ३२

जनों को वह आत्मा उक्त कर्मपुद्गलों के साथ अभेदरूपता को प्राप्त हुआ ऐसें प्रतीत होता है। जैसे कि पथिक (यात्री) को मार्गके पृथिवीसे भिन्न होने पर भी वह उससे अभिन्न प्रतीत होता है। तथा संसारी प्राणियों को जैसे कुल के बन्धुत्वसे भिन्न होने पर भी वह उन्हें उससे अभिन्न प्रतीत होता है ॥ ३०॥

जैसे विवेकरहित मनुष्यों को दूध ओर पानी के भिन्न होने पर भी उनमें एकरूपताकी प्रतीति होती है, वैसे ही विवेकहीन बहिरात्मा प्राणियों को जीव से कर्म के भिन्न होने पर भी उनमें अभेद की प्रतीति हुआ करती है। यही प्रतिभास संतानरूप से उनके संसार का कारण होता है ॥३१॥ वही कहा भी है—

रस्सी सर्प नहीं है, (परंतु उसे देख नेपर बुद्धिविहीन लोग सर्प की भ्रान्तिसे) अन्तिम निःश्वास छोडते हैं। भ्रान्ति में बडी शक्ति है। उसका विचार अज्ञानी जन नहीं कर सकते हैं ॥३१*१॥

यह जीव भ्रान्त होकर किसी पदार्थ में हर्षयुक्त होता है, किसी को देखकर भय से मूर्च्छित होता है, किसी को देखकर खिन्न होता है और किसी में विश्वास भी करता है। पर पदार्थों में 'ये मेरे हैं और मैं उनका हूँ' ऐसा विपरीत ज्ञान होने से वह नट के समान भिन्न भिन्न भूमिका (वेष और अवस्था को) धारण करता है ॥ ३२ ॥

३१) 1 अज्ञानिनां ज्ञानम्. 2 कर्मबन्धः. 3 P °ज्ञानवान्। ३१*१) 1 P ° रज्ज्वा. 2 उच्छ्वसिति°. 3 P °पर्यक्तम्। ३२) 1 हृष्यति मूर्च्छति इत्यादि. 2 कुज्ञानसेवकः. 3 D नटवत् संसारे रूपं धरति।

659) संबन्धो हि यथा[1] भवन्नपि मलैः सौवर्णधातोर्यथा
किंतूपायभराद्गलत्यपि ततः स्वर्णं ध्रुवं तिष्ठति ।
तद्वत्तात्त्विकस्वस्वरूपभरतो निर्भासमानः[2] प्रभु[3]–
र्विश्लिष्यन्ति तथा तथा समयतो ऽन्तः कर्मजालान्यपि ॥ ३३

660) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशतः स्याच्चतुर्विधो ऽसौ[1] हि ।
सादिरनादिः[2] सान्तो[3] भव्ये ऽभव्ये त्वनादिपर्यन्तः ॥ ३४

661) स्वात्मन्यवस्थानं खलु संवरः परो ऽपरः समित्यादिविशुद्धिबन्धुरः ।
अथैकदेशेन समग्रकर्मणां[1] जरा[2]स्ति या सा नितरां तु निर्जरा ॥ ३५

662) सहजो ऽर्थंगजीवस्य[1] स्यान्[2]मोक्षो ऽन्तर्मलक्षयात् ।
नाभावो[3] नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्[4] ॥ ३६

जिस प्रकार सुवर्णरूप धातुका कीट व कालिमा आदि मलोंके साथ संबद्ध हो कर भी वह उपायोंकी अधिकतासे नष्ट हो जाता है और तब निश्चयसे शुद्ध सुवर्ण शेष रह जाता है। उसी प्रकार सामर्थ्यशाली आत्मा जब अपने स्वरूप की अतिशयता से युक्त होकर प्रतिभासमान होता है, तब कर्मसमूह भी समय के भीतर उस आत्मासे पृथक् हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

वह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। भव्यों में यह बंध सादि और अनादि हो कर सान्त है तथा अभव्यमें वह अनादि अनन्त है ॥ ३४ ॥

अपनी आत्मा के स्वरूप में स्थिर होना–बाह्य पदार्थों से हटकर आत्मस्वरूप में आत्मा को स्थिर करना–यह उत्कृष्ट संवर है। और समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह–जय एवं चारित्र की निर्दोषता से जो संवर होता है, उसे दूसरा संवर–अपेक्षाकृत हीन संवर–जानना चाहिये। संपूर्ण कर्मोंका एकदेश रूपसे आत्मा से अतिशय पृथक् हो जाना यह निर्जरा है ॥ ३५ ॥

परमार्थभूत आत्मस्वरूप में अवस्थित जीव की अभ्यन्तर कर्ममल के क्षय से जो अवस्था होती है वही उसका स्वाभाविक मोक्ष है। उस समय, जैसी की बौद्धों के द्वारा कल्पना की गई है, न तो प्रदीप निर्वाणवत् चैतन्य का अभाव ही हो जाता है, न वैशेषिक परिकल्पित अचेतनता–बुद्ध्यादि नौ आत्मविशेष गुणोंका विनाश–होता है और न सांख्यसंमत निरर्थक–ज्ञेयावबोध रहित–भी चैतन्य होता है ॥ ३६ ॥

३३) 1 P D तथा. 2 आत्मा, D देदीप्यमानः. 3 P D भिन्नानि भवन्ति । ३४) 1 संबन्धः. 2 P °सादि च नादिः. 3 अन्तसहितः । ३५) 1 D अष्टकर्मणां एकदेशनिर्जरा. 2 बकना, D कर्मरसा जीर्णा भवन्ति । ३६) 1 स्वरूपनिष्ठस्य. 2 D भवेत्. 3 D केचन मतयः वदन्ति जीवस्याभावो मोक्षदीपनिर्वाणवत्. 4 अनर्थकं चैतन्यं कर्मसंयुक्तं समलं चैतन्यम् ।

663) यद्यद् भवसुखहेतोरभिलक्ष्यं पुण्यमाह तद् द्विविधम् ।
इतरत्पाप[2] द्वयमिति पश्यत्य तमेव तद्विद्यः ॥ ३७

664) उक्तं च –

यदभिरुचितमस्मै[1] मन्यते तद्धि पुण्यं
यदनभिरुचितं तु प्राह तत्पापमन्धः[2] ।
विलसति सदा तद्द्वैतमद्वैतमेव
स्फुरति हृदयगर्भे तावकं यस्य तेजः ॥३७*१ । पदार्था नव ।

665) जिहासतां[1] संसृतिडाकिनीमतो निरस्य दूराद्विपरीतमाग्रहम् ।
व्यवस्य[2] सम्यङ्निजबीजमङ्गिनामुपायतैषा[3] पुरुषार्थसिद्धये ॥ ३८

जो जो–अहिंसा व सत्य संभाषण आदि–अनुष्ठान सांसारिक सुख के हेतुरूपसे अभिलक्षित होता है, उसे पुण्यस्वरूप के ज्ञाता पुण्य कहते हैं । इस से विपरीत जो हिंसा व असत्य भाषण आदि– दुख के हेतु स्वरूपसे लक्षित होता है उसे पाप जानना चाहिये । इस प्रकार व्यवहारसे ये दो हैं । परन्तु तत्त्वज्ञानी जीव इस पुण्य–पापके द्वित्व को न देखकर वह उन दोनों से रहित एकमात्र (अद्वितीय) आत्मा को ही देखता है ॥ ३७ ॥ वही कहा भी है –

जो इसके लिये रुचिकर प्रतीत होता है उसे अज्ञानी जीव पुण्य मानता है तथा जो उसे रुचिकर नहीं प्रतीत होता है उसे वह पाप कहता है। उसकी दृष्टि में यह पुण्य–पापका द्वैतभाव निरन्तर विलसित रहता है, किन्तु हे भगवन् जिस भव्य जीव के अन्तःकरण में आपका प्रभाव प्रस्फुरित है, जो आप्त आगम व पदार्थका यथार्थ श्रद्धान करता है–उसके हृदय के भीतर अद्वैत ही प्रकाशमान होता है ॥३७*१ ॥ इस प्रकार जीवादि नौं पदार्थोंका कथन समाप्त हुआ ।

जो प्राणी संसाररूप पिशाच से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें विपरीत आग्रह को– परपदार्थों में आत्मबुद्धि को– छोडकर भली भांति निजबीज का – मोक्षपदकी प्राप्ति के बीजभूत रत्नत्रय का– निश्चय करते हुए पुरुषार्थ सिद्धि के लिये यह– आगे कही जानेवाली मुनीन्द्रवृत्तिरूप–उपाय करना चाहिये ॥ ३८ ॥

३७) 1 पुण्यपदार्थम्. 2 पापपदार्थम् । ३७*१) 1 अन्याय. 2 अज्ञः । ३८) 1 त्यक्तुमिच्छूनाम्. 2 ज्ञात्वा सम्यग्दर्शनबीजम्, D ज्ञात्वा. 3 मुनीशिनां वृत्तिः ।

666) अनाप्तपूर्वं[1] श्रयतामिदं पदं करम्बिता[2]चारपराङ्मुखी सदा ।
मुनीशिनां वृत्तिरलौकिकी भवेन् महाविरत्या प्रविभासिता [illegible] या ॥ ३९

667) कामं[1] समस्तविरतिं[2] [illegible][3] तां यो
धर्तुं स[4] [illegible]रितमाहबला[illegible] ।
तस्यैकदेशविरतिः[5] प्रतिपाद[illegible]
प्रक्षिप्य बीज[6]मिदमन्तरनन्तशक्तिम्[7] ॥ ४०

668) विमुक्तिसिद्ध्यै गृहधर्ममादिशेदनुद्दिशन्[1] यो मुनिधर्ममादितः ।
अमुष्य[2] सर्व[illegible]ागम पशोः प्रदर्शिता[3] दुस्सहनिग्रहस्थितिः ॥ ४१

669) व्यत्यया[1][illegible] वदनन विनेयं[2] [illegible]त्सहन्तमपि दूरमतीव
मन्यमानमपदे ऽपि हि तृप्तं स्वं[3] प्रतारयति देशकपाशः[4] ॥४२

जिस मोक्षपद को कभी पूर्व में नहीं प्राप्त किया गया है, उसका आश्रय लेनेवाले मुनीन्द्रजनों की प्रमादमिश्रित हीन आचरण से सदा विमुख रहनेवाली वृत्ति (अनुष्ठान) अलौकिक– लोकातिशायिनी – ही होती है । इस असाधारण वृत्ति का प्रादुर्भाव महाविरति से –हिंसादि पापों की पूर्णतया निवृत्ति से होता है ॥ ३९ ॥

जो महाव्रतों के स्वरूप को अतिशय सुनकर भी चारित्रमोह के प्रबल उदय से उनके धारण करने में समर्थ नहीं होता है, उसके अन्तःकरण में अनन्तशक्तिस्वरूप इस बीजका प्रक्षेप कर के एकदेशविरति के अहिंसाणुव्रत आदि पंचाणुव्रतों के स्वरूपका व्याख्यान करना चाहिये ॥ ४० ॥

जो गुरु मोक्षप्राप्ति के लिये प्रथमतः मुनिधर्म का उपदेश न करके गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है उस पशुको– अज्ञानी उपदेशक को– सर्वज्ञ के महागम में दुस्सह निग्रहस्थान निर्दिष्ट किया गया है ॥ ४१ ॥

इसका कारण यह है कि जो शिष्य अतिशय दूरवर्ती पद– मुनिधर्म –के लिये उत्साहित हो रहा था वह इस क्रमविपरीत उपदेश से अपद में– श्रावक धर्मरूप हीन पद में– संतुष्ट हो कर उसे ही स्वीकार कर लेता है । इस प्रकार वह निकृष्ट उपदेष्टा अपने उस शिष्य को प्रतारित करता है– मुनिधर्म से वंचित करता है ॥ ४२ ॥

३९) 1 अलब्धपूर्वम्, D अप्राप्तपूर्वं. 2 मिश्रिता, D मिश्राचारतः अपरा सम्यग्दृष्टिः । ४०) 1 अतिशयेन, D अत्यर्थं. 2 प्रथमं मोक्षाय महाव्रतं कथनीयं. 3 प्रश्रूय ताम्. 4 समर्थः, D धारितुं, न शक्यः. 5 तस्याणुव्रतं स्यात्. 6 सम्यक्त्वपूर्वकं बीजम्. 7 रत्नत्रयात्मकं निश्चयधर्मं । ४१) 1 कथयन्. 2 अस्य, D यः प्रथममणुव्रतं कथयति स आगमं न जानाति तस्य मुनेर्महादण्डो भवति. 3 P°प्रदर्शितो । ४२) 1 P°दानादि, D [illegible]कथनेन. 2 P D शिष्यं प्रति. 3 आत्मानम्. 4 उपदेशक, D कुत्सित [त्सि] तदेशकः ।

670) दृष्टिबोधचरणत्रयात्मको मार्ग[1] आलयनिवासिना[2] सदा ।
एक एव विकलो[3] व्युपास्यते चात्मशक्तिमनिगूहता[4] सता[5] ॥ ४३

671) तस्य तरोरिव मूलं प्रासादस्येव गर्तपूरश्च[1] ।
बीजमिव चाङ्कुराणां मूलं सम्यक्त्वमित्याहुः[2] ॥ ४४

672) यत्तत्त्वानां तीर्थनाथोदितानां मूढत्वाद्यैः[1] सर्वदोषैर्विमुक्तम् ।
श्रद्धानं तन्निश्चयात्स्वस्वरूपावस्थानं वा निर्मलं[2] निश्चलं वा[3] ॥ ४५

673) ये दानवादिविसरस्य[1] बधप्रधाना
ये शस्त्रसंभृतकराः करुणासुदूराः ।
ये मूर्तरागमयमूर्तितया प्रतिष्ठा[2]
ये दुःखिनः[3] स्वचरितात् परदुःखदा[4]श्च ॥ ४६

गृह में निवास करनेवाले श्रावक को अपनी शक्ति को न छिपाते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप जो एक मोक्षमार्ग है उसका पूर्णरूपसे ही आश्रय करना चाहिये ।। ४३ ।।

जिस प्रकार वृक्षका आधार उसकी मूल (जड) है, गृहका आधार उसकी नींव है और अंकुरों का आधार बीज है, उसी प्रकार रत्नत्रय स्वरूप उस मोक्षमार्ग का आधार– मूल-कारण वह सम्यक्त्व है ।। ४४ ।।

तीर्थंप्रणेता जिनेन्द्रों के द्वारा उपदिष्ट जीवादि तत्त्वों का जो तीन मूढता आदि सब (पच्चीस) दोषों से रहित निर्मल व निश्चल श्रद्धान होता है उसे अथवा आत्मस्वरूप में अवस्थान को निश्चय से सम्यग्दर्शन समझना चाहिये । (अभिप्राय यह हैं कि, जीवादि सात तत्त्वों के यथावत् श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा आत्मपर विवेक को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं ।। ४५ ।।

जो दानवादि समूह का बध करने में प्रधान हैं, जिन के हाथों में शस्त्र विद्यमान हैं, जो करुणा से बहुत दूर–निर्दय– हैं, जो मूर्तिमान रागमय मूर्तिस्वरूप से अवस्थित हैं, तथा जो अपने आचरण से स्वयं दुःखी हैं और दूसरों को भी दुःख देते हैं उन्हें देव समझकर उनकी

४३) 1 D मोक्षमार्गः. 2 गृहनिवासिना, D उपासकेन. 3 D मनोज्ञ, 4 D अनाच्छा[दित]वता. 5 सत्पुरुषेण । ४४) 1 नीव, अधिष्ठानम्. 2 D कथयन्ति । ४५) 1 त्रिमूढादिः. 2 D सम्यग्दर्शनं. 3 P D° श्चलं च° । ४६) 1 जीवसमूहस्य बधदक्षाः, D समूहस्य. 2 प्रधानाः. 3 स्थिताः. 4 D कुत्सितदेवाः ।

674) धात्री तथापं इति पावकवा[?]वृक्षाः
प्रायेण पुष्करमपीह विचेतनाश्च ।
खातावगाहपरिदाहपरिश्रमाप-
नोदच्छि[?]ाद्यनुगुणाः किल देवभावात् ॥ ४७

675) एषामुपास्तिनिरता भुवि देवमूढा-
श्चित्रं किमत्र यदमी न विचेतनाः स्युः ।
निःशेषदोषगुण[?]तिपूर्तिमत्त्वं
देवत्वमित्युपहता हि धियैतया तत् ॥ ४८

676) सूर्यार्घो ग्रहसंक्रमादिसमये स्नानं च दानं जपो
गोपृष्ठान्तवटादिभूरुहमतिर्गोमूत्रसेवादिकम् ।
पञ्चत्वाप्तजलादिदानसमयः पिण्डप्रदा[?]त्
स्वानेकान्वयतारणं पशुवधश्चण्ड्यादिदेव्याः पुरः ॥ ४९

उपासना करने में जो आसक्त हैं, उनको तथा जो पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वृक्ष आकाश ये सब जो प्रायः अचेतन– स्थावर एकेन्द्रिय–हैं उनको भी क्रमसे खात (खाई या खोदना,) स्नान, जलाना, परिश्रम को दूर करना और छेदा जाना आदि (स्थान देना) गुणों से विशिष्ट होने के कारण देव समझकर इनकी उपासना करनेवाले को भी देवमूढता में तत्पर समझना चाहिये । समस्त दोषों से मुक्त होकर जो गुणों से परिपूर्ण हो वह देव होता है, इस प्रकारकी बुद्धि से शून्य होने के कारण उपर्युक्त देवमूढता में प्रवृत्त रहने वाले वे यदि अचेतन नहीं है तो इस में क्या आश्चर्य है ? अर्थात् ऐसे अज्ञानी प्राणियों को जड ही समझना चाहिये ॥ ४६–४८ ॥

सूर्य को अर्घ्य देना, मकर संक्रान्ति आदि के समय स्नान, दान और जप करना गायकी पूँछ के अन्तर्भाग को नमस्कार करना, वट व पीपल आदि वृक्षों को पूजना, गोमूत्र आदिका सेवन करना, मरे हुए बन्धु आदिकों को जलादि देना, पिण्डदान से अपने अनेक संबन्धीजनों का उद्धार करना, चंडी आदि देवताओं के आगे पशुवध करना तथा पितृतर्पण

४७) 1 P D जल. 2 गगनम् । ४८) 1 पृथ्वीजलतेजःपवनवनस्पतिगगनदेवानाम्. 2 सेवा. 3 देवमूढाः. 4 एकेन्द्रियाः. 5 P D भवेयुः. 6 पूरम् । ४९) 1 चन्द्रसूर्यग्रहणादि, D संक्रान्तिदिने, 2 मृत्युप्राप्ते सति. 3 D अग्र ।

677) पित्रादितर्पणमायं पापश्रुतिसमाश्रयम्[1] ।
इत्थं समयमूढत्वं[2] कियद्वा विवृणोम्यहम् ॥ ५० ॥ युग्मम् ।

678) अज्ञलोक[1]बहुताप्रवर्तितं तीर्थकादिगमनोत्सवाश्रयम् ।
एकगो ऽनुगतगोसमूहवद् यत्स्वयं तदनुवर्तनं मुधा[2] ॥ ५१

679) आपगा[1]नदसमुद्रमज्जनं[2] शस्त्रशैलतरुरत्नसेवनम् ।
स्थाणु[4]देहलिकुट्[5]यादिपूजनं लोकमूढमिति कथ्यते कियत् ॥ ५२ । युग्मम् ।

680) एते देवाः समयविहिता ईदृशाश्च क्रिया वा
मुग्धैर्लोके[1] रचितकुहका[2] मुक्तिपर्यन्तसौख्यम् ।
चेद्यच्छेयुः[3] परिणतधियां कायपर्यन्तकष्टं[4]
योगाभ्यासो भवति हि वृथा सुप्रियद्रव्यदानम् ॥ ५३

681) वालुकानिचयपीडनं यथा सर्वदारिपरिमन्थनं यथा ।
ऊषरे च विविधा कृषिर्यथा क्लेशिकेषु[1] हि तथा वृथा क्रिया ॥ ५४

आदि करना, इत्यादि कार्य जो पापश्रुति (वेदादि) के आश्रय से किये जाते हैं उनको समय मूढता के अन्तर्गत समझना चाहिये। इस प्रकार की समयमूढता का वर्णन मै कहाँ तक कर सकता हूँ ॥ ४९–५० ॥

जिस प्रकार एक गाय जिधर जाती है उधर उस के पीछे अन्य गायों का समूह चल पडता है, उसी प्रकार गतानुगतिक रूप से जो अनेक अज्ञानियों के द्वारा प्रवर्तित तीर्थ गमनादि के आश्रित कार्य किये जाते हैं वे तथा नदी, नद एवं समुद्र में स्नान करना, तलवार आदि शस्त्र, हिमालयादि पर्वत, एवं रत्नों की आराधना करना, और शिवलिङ्ग, देहली और घट आदि की पूजा करना, इत्यादि कार्य जो देखादेखी धर्म समझकर किये जाते हैं उनको लोकमूढता कहा जाता है। उनका कितना वर्णन किया जा सकता है ? ॥ ५१–५२ ॥

अन्य शास्त्रों में कहे हुए ये देवता और मूर्ख जनों के द्वारा रचित इन्द्रजाल आदि के समान भ्रमको उत्पन्न करने वाली इस प्रकारकी क्रियायें यदि मुक्ति तक के सुख को दे सकती हैं, तो फिर निपुण पुरुषों का शरीरनाशक कष्ट, योगाभ्यास और प्राणप्रिय द्रव्यका दान, यह सब निरर्थक ही सिद्ध होगा ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार वालुका को घानी में पीलना, पानी का मन्थन करना और ऊबर

५०) 1 D पापशास्त्रश्रवणं. 2 D अनमेदनसमयमूढ । ५१) 1 D अज्ञानलोक. 2 वृथा, D वृथा सर्वं निष्फलं मूढत्रयम् । ५२) 1 नदी. 2 स्नान बुडनं वा, D बुडनं. 3 सूर्यकान्तादि. 4 ईश्वरलिङ्ग. 5 घटादि, D उर्षली इति लोके । ५३) 1 P °मुग्धैर्लोकैः. 2 पाखण्ड, D रचितवक्रता. 3 ददन्ति. D यदि चेत् मुक्तिपर्यन्तं सौख्यं ददति तदा मोक्षनिमित्तं तदादि कथं क्रियते. 4 पञ्चाग्नि–पत्रफलभोजनादि–अनशन ५४) 1 मिथ्यादृष्टिषु ।

682) चन्द्रसूर्यपरिवेषसूक्तितः[1] पूर्यते न कवलैर्मुखं यथा।
देव इत्यपि तथोक्तितो न वा दुःखदूरमवगम्यते सुखम् ॥ ५५

683) तत्त्वे संक्रामिता[1] भक्तिः शुभारम्भाय भाव्यते।
न लोष्टे रत्नभावो हि रत्नभूतिं प्रभासयेत् ॥ ५६

684) अथापि तुषकण्डनाल्लभत एव कश्चित्कणा-
नथोषरकृषिक्रिया जनयते फलं दैवतः।
जलोन्मथनवालुकापरिणिपीडनं भाव्यते
फलाय न तु जातुचिद्भवति काप्यमीषु[1] क्रिया ॥ ५७

685) अपि च –

भूमि में–जो कि उपजाऊ नहीं हैं– अनेक प्रकार की खेती करना ये कार्य व्यर्थ हैं उसी प्रकार उपर्युक्त क्लेश देनेवाले कार्यों में प्रवृत्त करना भी व्यर्थ जानना चाहिये ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार 'चन्द्रपरिवेष' व 'सूर्यपरिवेष' ऐसा कहने से मुख कभी ग्रासों से पूर्ण नहीं होता है उसी प्रकार 'देव' ऐसा कहने मात्र से भी दुख को दूर करनेवाला सुख नहीं प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि परिवेष शब्द का अर्थ परोसना होता है तथापि प्रकृत में 'चन्द्र-सूर्य परिवेष' से चन्द्रमण्डल व सूर्यमण्डलरूप अर्थ अभीष्ट है, अतः इस प्रकार के द्व्यर्थक शब्दोच्चारणसे जिस प्रकार कभी कुक्षिका पूर्ण होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार देव कहे जाने मात्र से काली व चण्डी आदि कुदेव कहीं जिनदेव के समान दुख को दूर नहीं कर सकते हैं ॥ ५५ ॥

यथार्थ तत्त्व में–सच्चे देव गुरु और शास्त्र में – की गई भक्ति शुभारंभ के लिये – पुण्यप्राप्ति के लिये– होती है। सो ठीक है – मट्टीके ढेलेमें किया गया रत्नका संकल्प कुछ रत्न के वैभव को नहीं प्रगट कर सकता है। तात्पर्य– जैसे यथार्थ रत्नोंकी प्राप्तिसे जन समृद्ध होते हैं वैसे ही परमार्थभूत देव, गुरु व शास्त्र की भक्तिसे पुण्य की प्राप्ति होती है ॥ ५६ ॥

भूसाके कुटनसे किसीको तंदुलकणों की प्राप्ति भले हो सके, क्षारभूमि में बीज के बोनेसे दैव-वशात धान्य की प्राप्ति सम्भव हो सके, पानी का मन्थन करनेसे किसी को मक्खन मिल सके, तथा वालुकाके पीलने से किसी व्यक्तिको तैल की प्राप्ति भी सम्भव हो सके। परन्तु कुदेवादि की आराधना, वन्दना एवं यात्रादिक करने से कभी कुछ भी फल नहीं प्राप्त हो सकता है। ये सब क्रियायें संसारपरिभ्रमण की कारण हैं ॥ ५७ ॥

इसके अतिरिक्त–अन्य के निमित्त, आग्रह के वश अथवा लोकव्यवहार के लिये भी की

५५) 1 मण्डलात्। ५६) 1 करणीया। ५७) 1 क्लेशिकेषु।

परार्थमुपरोधाद्वा[1] ला..यात्रार्थमेव वा ।
उपासनम्[2]मीषां[3] स्यात्सम्यक्त्वविहानये[4] ॥ ५८

686) तदुक्तम्—

स्पर्शो ऽमेध्यभुजां[1] गवामघहरो[2] वन्द्या विसंज्ञा द्रुमाः[3]
स्वर्गश्छागवधाद्धिनोति[4] च पितॄन् विप्रोपभुक्ताशनम्[5] ।
आप्ताः[6] छद्मपराः सुराः शिखिहुतं प्रीणाति देवान् हवि[7] —
रित्थं फल्गु[8] च दुर्जयं च जगति व्यामोहविस्फूर्जितम् ॥ ५८*१

687) तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्को ऽपि सर्वथा ।
मिश्रत्वेनानुमान्यो ऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥५८*२

688) न स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहासु[1] जिनागमे ।
स्वत एव प्रवृत्तानां तद्[2]धितो ऽनुग्रहो[3] मतः[4] ॥ ५८*३

जानेवाली इनकी उपासना—भक्ति—सम्यग्दर्शन की हानि का—उसके विनाश का—कारण होती है ॥५८॥ सो ही कहा है—

जो गायें अपवित्र विष्ठाका भक्षण किया करती हैं उनका स्पर्श पाप को नष्ट करता हैं, चेतना शून्य-विशेष विचार से रहित पीपल आदि वृक्ष वन्दनीय हैं, बकरों के वध से स्वर्ग प्राप्त होता है, श्राद्धकर्म में ब्राह्मणों के द्वारा उपभुक्त भोजन पितरोंको—मृत माता—पिता आदि पूर्वजोंको—तृप्त करता है, कपट में निरत रहनेवाले देव आप्त हैं, तथा अग्नि में होमा गया घृत आदि हवनीय द्रव्य देवताओंको प्रसन्न करता है, इस प्रकार की यह घोषणा मूर्खताके वश की जाती है जो कि निरर्थक व लाभहीन है—(तात्पर्य यह कि उपर्युक्त सब कथन मूढ मिथ्यादृष्टियों के द्वारा किया जाता है, जो भोले प्राणियों को धर्ममार्ग से च्युत करनेवाला है ॥ ५८*१ ॥

यद्यपि इस मूढबुद्धि को दूर करना अभीष्ट है तो भी यदि कोई मूढ इस प्रकार की मूढता को पूर्ण रूप से नहीं छोडना चाहता है, तो उसे मिश्रपने से अनुमति करना चाहिये । कारण यह की यदि उसे मिश्रपनेसे मान्य नहीं किया जायेगा तो सर्वनाश की सम्भावना है, जो सुन्दर नहीं कही जा सकती है ॥ ५८*२ ॥

प्राणियों को दुष्प्रवृत्तियों में तत्पर रहने के लिये स्वयं प्रेरणा नहीं करनी चाहिये ।

५८) 1 परनिमित्तात्. 2 सेवनम्. 3 पिप्पलादीनाम्. 4 विनाशाय । ५८*१) 1 गवां गूथभक्षकाणाम्. 2 पापहरः. 3 एकेन्द्रियाः पिप्पलादयः D पिप्पलादयः. 4 D घृ [तृ] प्ति प्राप्नोति. 5 विप्रभुक्तमाहारम्. 6 सर्वज्ञाः. 7 घृतादिवस्तु होमयोग्यम्. 8 असत्यम् । ५८*३) 1 दुष्टाशासु. 2 तेषाम्. 3 प्रसादः. 4 D कथितः ।

689) रूपं[1] मन्मथहृन्मथं[2] कुलमलंकारो ऽपि मे[3] भूतले
जातेर्जातिकली मषी धनपतिर्[4]भोग्ये धने किंकरः।
सर्वज्ञो ऽप्यबुधो ऽस्ति बुद्धिविभवाच्छिल्पात्[5]सरस्वत्यपि
भीमो[6] मे बलतो ऽबलीति[7] तपसः ख्यातास्तपस्वीशिनः ॥ ५९

690) असकृन्मद[1]कुद्दालीमाददते दृष्टिकन्द[2]दलनार्थम्।
इत्थं व्यर्थकथायां मिथ्याहंकारकुथितनराः ॥ ६० ॥ युग्मम्

691) मिथ्यादृष्टिज्ञानं चरणममीभिः[1] समाहितः पुरुषः।
दर्शनकल्पद्रुमवनवह्निरिवेदं त्वनायतनमुज्झ्यम्[2] ॥ ६१

692) देवतत्त्वगुरवो नु तादृशा[1] ईदृशा इति नु चञ्चलां धियम्।
वायुवेगधुतपत्रसंनिभं[2] शङ्कनं तु निगदन्ति सज्जनाः ॥६२

यदि वे जिनागममें स्वतः प्रवृत्त होते हैं तो जिनागमकथित देव, गुरु व शास्त्रका स्वरूप कह-कर उनका हित करना अनुग्रह माना गया है ॥ ५८*३ ॥

मेरा रूप कामदेव के हृदयको पीडा देने वाला है, मेरा कुल इस भूतल में अलंकार स्वरूप है, मेरी जाति अन्य जातिको मलिन करनेवाली मषी (स्याही) के समान है, मुझे जो भोग्य धन प्राप्त हुआ है उसके लिये कुबेर भी मेरे सामने किंकर– आज्ञाकारी सेवक – के समान है, मेरे बुद्धिवैभव के सामने सर्वज्ञ भी मूर्ख है, मेरे शिल्पके सामने सरस्वती भी मूर्ख है, मुझ में जो बल है, उसके आगे भीम भी निर्बल है, तथा मेरे तप से तपस्वियों के अधिपति प्रसिद्ध हुए हैं इस प्रकार झूठे अभिमान से नष्ट हुए मनुष्य निरर्थक कथा वार्ता में सम्यग्दर्शन रूप धर्म की जड को उखाडने के लिये निरन्तर गर्वरूप कुदाली को ग्रहण किया करते हैं (तात्पर्य, सौन्दर्य, कुल एवं जाति आदिका गर्व करने से सम्यग्दर्शन का नाश होता है। अतः गर्व नहीं करना चाहिये) ॥ ५९–६० ॥

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक पुरुष ये छह अना-यतन– धर्म के अस्थान– हैं। ये सम्यग्दर्शनरूप कल्पवृक्ष को भस्म करने के लिये दवाग्नि के समान हैं। अतः इन को छोडना चाहिये ॥६१॥

देव, जीवादि तत्त्व और गुरु ये जैसे कि आगम में निर्दिष्ट किये गये हैं, वैसे ही हैं

---

५९) 1 अष्टमदाः– १ रूपस्य २ कुल ३ जाति ४ धन ईश्वर ५ बुद्धि ज्ञान ६ शिल्प ७ बल ८ तपः. 2 D चित्तमथकं. 3 D मम कुलं. 4 कुबेरः. 5 शिल्पविज्ञानशिल्पादिज्ञानात् D विज्ञानात्. 6 भीमः पाण्डवः. 7 इति अष्टमदाः। ६०) 1 निरन्तरमदयुक्तम, D वारंवारं 2 सम्यग्दर्शनकन्द। ६१) 1 मिथ्यादृष्टि-ज्ञान-चरणैः=३ मिथ्यादर्शनादि=३ तद्वन्तः नराः=६ अनायतन, D अष्टमदैः. 2 त्याज्यम्। ६२) 1 D यादृशा जिनशासने तादृशाः परमते. 2 D °सन्निभां°।

693) दुष्करव्रतविहायिता[1]दिकाभिमिता[illegible]तनुभोगजन्मनाम् ।
एधसा[2]मगुरुविक्रया[3]द्यथा प्रार्थनं प्रकथयन्ति काङ्क्षणाम् ॥ ६३

694) नग्नत्वमलिनिमादौ[1] मुन्यादितनुस्थिते[2] मनःकुत्सा ।
द्रव्ये च पुरीषादौ विचिकित्सा[3] दुरभिणि[4] प्रोक्ता ॥६४

695) कमनीयमकमनीयं[1] किमपि न माध्यस्थदर्शिनः पुंसः ।
परिणममानं द्रव्यं तथान्यथा[2] रागिणो[3] घटते ॥ ६५

696) कष्टकल्पन[1]मथापि विज्ञतां
डामरं[2] किमपि वीक्ष्य दुर्दृशाम्[3] ।
प्रीयते मनसि हृष्यति स्फुटं
यत्प्रशंसनमवादि तद्बुधैः ॥ ६६

या इस प्रकार के–अन्य मत में निर्दिष्ट स्वरूपवाले – हैं, इस प्रकार वायु के वेग से इधर-उधर उडते हुए पत्ते के समान जो चंचल बुद्धि होती है उसे सज्जन शंका नामका दोष कहते हैं ॥ ६२ ॥

जैसे अज्ञानतावश अगुरु नामक अतिशय सुगंधिक चंदन बेचकर उससे लकडियों की इच्छा की जाती है वैसे दुर्धर व्रतों के परिपालन और दान आदिक उत्तम कार्यों से सुन्दर शरीर और इन्द्रिय भोगों से उत्पन्न होनेवाले सुख की इच्छा करना, यह कांक्षा दोष है ॥ ६३ ॥

मुनि आदि संयमी जनों के शरीर से संबद्ध नग्नपना व मलिनता तथा विष्ठादिक दुर्गन्ध वस्तुओं को देखकर मन से ग्लानि करना, उसे विचिकित्सा नामक दोष कहते हैं ॥ ६४ ॥

जो सत्पुरुष मध्यस्थता को देखता है– अभीष्ट वस्तु से राग और अनिष्ट वस्तु से द्वेष नहीं करता है – उसके लिये स्वभावतः परिणमन करनेवाली कोई भी वस्तु न रमणीय प्रतीत होती है और न घृणास्पद भी। किन्तु इसके विपरीत जो रागी, द्वेषी पुरुष है उसे कोई वस्तु यदि रमणीय प्रतीत होती है तो कोई घृणास्पद भी ॥ ६५ ॥

मिथ्या दृष्टियों के द्वारा सहन किये जाने वाले कष्ट की कल्पना कर के तथा उनकी विद्वत्ता अथवा भयानक तप आदिको देखकर मन में प्रेम और हर्ष उत्पन्न होना उसे विद्वान् लोगों ने स्पष्टतया अन्यदृष्टिप्रशंसा दोष कहा है ॥ ६६ ॥

---

६३) 1 दानात्, D दानादि. 2 इन्धनानाम् प्रार्थनम्. 3 P D °विक्रयाद् । ६४) 1 मलिनिमाप्रभृति. 2 यत्यादौ शरीरस्थिते मले, 3 घृणा, D जुगुप्सा. 4 दुष्टैः । ६५) 1 मनोज्ञम्. 2 कमनीयादिविचारणा. 3 D रागिणो हर्षं कुर्वन्ति । ६६) 1 पञ्चाग्निनादिसाधनी. 2 मिथ्याज्ञानादि. 3 मिथ्यादृष्टीनाम् ।

697) उक्तकष्टगुणसंगि[1] दुर्दृशो[2] वातकीव[3] पुरतो जनं[4] जनम् ।
स्तौति साभिनय[5]मुद्गिरन्गुणान् यद्वदन्ति तमिमं तु संस्तवम् ॥ ६७

698) अनायतनशुश्रूषा सदायतनवर्जनम् ।
कुदेवालिङ्गिपाखण्डप्रतिसेवा त्रयस्त्विमे[1] ॥ ६८

699) सद्दृष्टयः किमपि कारणमाकलय्य
मन्त्राद्यमाहव[1]निकृष्टफलप्रदायि ।
मौग्ध्यान्धकारितधियो विधुराः स्वभावे
यद्याचरन्ति तदिमे ऽपि मला भवन्ति ॥ ६९ । युग्मम्

700) तदुक्तम्–

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ ६९*१

701) एकमेव हि मिथ्यात्वं सदा दोषानिमान् प्रति ।
पितृमातृयते[1] किं च सुकुटुम्बिसुहृद्यते ॥७०

उन्मत्त (पागल) मनुष्य के समान जो उपर्युक्त कष्ट सहने वाले मिथ्यादृष्टि के गुणों की प्रत्येक व्यक्ति के आगे अभिनय (हाव-भाव) पूर्वक वचन से स्तुति की जाति है, उसे अन्यदृष्टिसंस्तव दोष कहते हैं ।। ६७ ।।

छह अनायतनों की सेवा करना, धर्म के स्थानभूत जिनदेव, निर्ग्रन्थगुरु, शास्त्र एवं तद्भक्तों का त्याग करना, तथा कुदेव, कुगुरु व पाखण्डपूर्ण आचरण की सेवा करना ये तीन तथा जिनकी बुद्धि मूर्खतावश अज्ञान अन्धकार से दूषित हुई है तथा जो आत्मस्वभाव से विमुख हुए हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जन किसी भी कारण का विचार कर के युद्ध में कुछ निकृष्ट फल देने वाले मिथ्यादृष्टियों के मन्त्रादिकों का यदि उपयोग करते हैं, तो वे भी सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं ।। ६८–६९ ।। वही कहा है–

तीन मूढता, जाति व कुल आदि विषयक आठ मद, छह अनायतन और शंकादिक आठ दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं ।। ६९*१।।

अकेला मिथ्यात्व ही उपर्युक्त सब दोषों के माता पिता के समान तथा वह उनका

---

६७) 1 निन्द्यगुण. 2 मिथ्यादृष्टिनः. 3 वातूलः D वातरोगी वातूलवत्. 4 D वैद्यजनं. 5 सविनयम्. ६८) 1 इमे त्रयः १ अना०शुश्रूषा. २ आयतनत्यागी. ३ कुदेव-पाखण्ड-कुलिङ्गसेवी। ६९) 1 संग्रामादिजयः । ७०) 1 मातापितावद् भाति ।

702) ऐकान्तिकादिभेदया[1] किल पञ्चधोक्तं
तत्सप्तधापि[2] कथितं भवतादनन्तम् ।
सर्वज्ञनाथमतदूरितजीवभावे
सर्वे पदा इव पदे[3] करिणः प्रविष्टाः ॥ ७१

703) नित्यो ऽनित्यो जडो वात्मा कर्ता ऽकर्ता ऽगुणो गुणी ।
एको ऽनेको जगद्व्यापी सूक्ष्मो ऽकर्मा सकर्मकः ॥ ७२

704) नान्यादृशं[1] जगन्नित्यमेवं[2] प्रायो नृणां मतिः ।
सम्यक्प्रौढिमुपारूढा मतमैकान्तिकं जिनैः ॥ ७३

705) ऊर्ध्वत्वमत्र भवलोक्य विशिष्टदेशे
स्थाणोर्[1]नरस्य खलु नीडजनीड[2]मुख्यान्[3] ।
पादादिकानवयवान्नियतं विशेषात्
संशेते[4] एव हि यथा पुरुषो विदूरात् ॥ ७४

कुटुम्बी और मित्र जैसा भी है ॥ ७० ॥

वह मिथ्यात्व ऐकान्तिक आदि– एकान्त, संशय, अज्ञान, व्युद्ग्राहित और विनय– के भेद से पाँच प्रकार का अथवा सात प्रकारका कहा गया है। विशेष रूप से उसके अनन्त भेद भी हो सकते हैं। सर्वज्ञ के द्वारा निर्दिष्ट मत से जो जीवका परिणाम दूर–विमुख–रहता है उसका नाम मिथ्यात्व है। जिस प्रकार हाथी के पाँव में अन्य सब पाँव समाविष्ट होते हैं, उसी प्रकार उक्त स्वरूपवाले मिथ्यात्वके भीतर सब ही पद– अतत्त्व श्रद्धान विशेष– प्रविष्ट होते हैं ॥ ७१ ॥

आत्मा सर्वथा नित्य ही है, अनित्य ही है, जड ही है, कर्ता ही है, अकर्ता ही है, गुण-रहित ही है, गुणी ही है, एक ही है, अनेक ही है, जगत् को व्याप्त करनेवाला– सर्वव्यापक ही है, सूक्ष्म ही है, अकर्मा – पाप और पुण्य से रहित– ही है, अथवा सकर्मक– उन से सहित-ही है, इन से भिन्न स्वभाव वाला नहीं हैं, ऐसी जो प्रायः मनुष्यों की धृष्ट बुद्धि दुराग्रह से परिपूर्ण होती है उसे जिनेश्वरों ने ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा है ॥ ७२–७३ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य, मनुष्य और ठूंठ में समान रूप से पायी जानेवाली केवल ऊंचाई मात्र को दूर से देखकर विशेष रूप से मनुष्य के पांव आदि अवयवों और ठूंठ में अव-

---

७१) 1 भेदेन, D नामानः. 2 मिथ्यात्वम्. 3 D यथा सर्वे पदा हस्तिनः पदमध्ये [प्रविष्टाः तथा जिनम] तमध्ये सर्वे कुमताः । ७३) 1 D नित्यमिथ्यादृष्ट. 2 D एकान्तेन । ७४) 1 PD स्थाणो वा पुरुषो वा. 2 नीडज पक्षी. 3 नीडजपक्षी गृहं घूसलं प्रभृतीन्. 4 संदेहं करोति ।

706) समग्रव्यवहारेषु तथा दूरतरं नरः।
संशेते[1] परमार्थे यत्तत्सांशयिकमुच्यते ॥ ७५ । युग्मम्

707) तदुक्तम्–

सरसि बहुशस्ताराच्छायां दशन्[1] परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशासु[2] विचक्षणः।
न दशति[3] पुनस्ताराशङ्की दिवापि सतोत्पलं[4]
कुहकचकितो[5] लोकः सत्ये ऽप्यपायमवेक्षते ॥ ७५*१

708) न हि वमति यथोर्ध्वं नोत्सृजेदप्यधस्ता[1]–
दतिरुजितशरीरो मूढया ना विषूच्या[2]।
अहितहितविचारे ऽप्याचरेद्यत्तथैव
[3]प्रणिगदितमिदं तन्मूढमुच्छिन्नमोढ्यैः[4] ॥ ७६

स्थित पक्षी व उन के घोंसले आदि का परिज्ञान न हो सकने से 'यह पुरुष है या ठूंठ है' ऐसा सन्देह करने लगता है उसी प्रकार समस्त व्यवहार में परमार्थ के– मोक्षमार्ग के– विषय में अतिशय दूरवर्ती होने से जीव को जो 'आगम में जो तपश्चरण आदि से अनेक ऋद्धियों की सिद्धि व मोक्षसुख की प्राप्ति निर्दिष्ट की गई है वह क्या यथार्थ है अथवा यों ही क्लेश जनक है' इत्यादि प्रकार का संदेह हुआ करता है, उसे सांशयिक मिथ्यात्व कहा जाता है ॥ ७४-७५॥

सांशयिक मिथ्यात्वी को सत्य में भी विश्वास नहीं रहता है इसका दृष्टान्त से खुलासा–

रात्रि में तालाब के भीतर कुमुद (रात्रीविकासी कमल) के नाल को ढूंढने वाला चतुर हंस चूंकि अनेक बार ताराओं के प्रतिबिंब को कुमुद समझकर खाने के लिये दौडता हुआ प्रतारित हुआ है– ठगा गया है। इसी से वह दिन में भी उन्हीं ताराओं की शंका से दिन–विकासी उत्तम कमल को भी नहीं खाता है। सच है– कपट से डरा हुआ मनुष्य सत्य में भी अनर्थ को देखा करता है ॥ ७५*१॥

जिस प्रकार मूढ विषूची (अजीर्ण विशेष) रोग से अतिशय पीडित शरीरवाला मनुष्य न वमन करता है और न विरेचन भी करता है – गुदद्वार से भी मल निकालता है।

७५) 1 संदेहं करोति, D व्यवहारेषु निश्चयेषु संशयं करोति। ७५*१) 1 P D खण्डयन्. 2 रात्रिषु. 3 P D खण्डयति. 4 कमलम्. 5 कपटयुक्तपुरुषः। ७६) 1 न विरेचयति. 2 रोगशरीर. 3 कथितम्. 4 जिनैः।

709) जात्यन्धकस्य मुकुटं किल लौहमेव
हैमं न्यवेदि निभृतैश्च तथेति तस्य ।
तत्त्वं तथा[1] समधिगच्छति यत्तु दैवात्
व्युद्ग्राहितं गदितमेतदनिन्द्यबोधैः[2] ॥ ७७

710) निन्द्यो न कश्चिदिह वन्द्यतमस्तु सर्वो
देवो ऽसुरश्च जननी च जनी च सा स्यात्[1] ।
इत्थं विमुग्धमतितत्त्वमनात्मनीन-
मेतत्तु वैनयिकमभ्यधितादिदेवः ॥ ७८

711) जीवानां सहजा भवन्ति हि यथाहारादिसंज्ञा दृढा
नीरूपं परमाणुभिर्विरहितं द्रव्यं समग्रं यथा ।
तद्वत्कुत्सिततत्त्वदेवगुरुषु स्वाभाविकी शेमुषी
यत्तद्दुस्तरमीरितं जिनवरैः साक्षाद् गृहीतेतरम् ॥ ७९

उसी प्रकार अहित और हित के विचार में जो आचरण किया जाता है, अर्थात् जिस से जीव को हित और अहित का ज्ञान नहीं होता है. ऐसा जो मिथ्यात्व भाव होता है, उसे मूढ भाव को नष्ट करनेवाले जिनेश्वरों ने मूढ मिथ्यात्व (अज्ञान) कहा है ॥ ७६ ॥

किसी जन्मान्ध राजकुमार का मुकुट लोहेसे ही बनाया गया था, परन्तु विनीत जन उसे सुवर्ण का ही बतलाते थे । तथा वह राजपुत्र भी उनके कहने से उसे सुवर्ण का ही मानता था । इसी प्रकार से जो दुसरों के कहने से दैववश वस्तुस्वरूप को अन्यथा समझता है, यह व्युद्ग्राहित मिथ्यात्व है। ऐसा प्रशंसनीय ज्ञानवाले जिनेश्वरों ने कहा है ॥ ७७ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष यह मानता है कि यहाँ निन्दनीय कोई भी नहीं हैं, किन्तु चाहे देव हो या असुर (दैत्य) हो और चाहे माता हो या पुत्र वधू भी क्यों न हो, ये सब ही समान रूप से अतिशय वंदनीय हैं, इसी प्रकार मूढबुद्धि पुरुषका जो तत्त्व है-देव-कुदेव एवं सद्गुरु-कुगुरु आदि में कुछ भेद न करके सब को समान रूप से विनय करना है-इसे भगवान् आदि जिनेन्द्रने वैनयिक मिथ्यात्व कहा है, जो आत्मा का अहित करनेवाला है ॥ ७८ ॥

जैसे प्राणियों के आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार दृढ संज्ञायें- अभिलाषायें-स्वभाव से ही होती हैं, तथा जैसे परमाणुओं को छोडकर अन्य संपूर्ण आत्मा व आकाशादि द्रव्य नीरूप हैं । स्पर्श, रस, गंध व वर्ण गुणों से स्वभावत: रहित हैं, वैसे ही कुत्सित तत्त्व, देव एवं गुरु में जो स्वाभाविक बुद्धि होती है उसे साक्षात् जिनेन्द्र देव ने गृहीतेतर-बिना परोप-

---

७७) 1 PD यथा. 2 P °दनिन्दबोधैः, केवलज्ञानिभिः । ७८) 1 P°साम्यात्. 2 P °मतिमत्त्व°।

712) इत्थं पानीयदानं हुतवहहवनं तर्पणं स्यात्पितॄणा-
मित्थं वा द्वादशाहो मृतवति स्वजने मेलनं यात्पितॄणाम् ।
गौरेका तीर्थदेवव्रतगणनिलयस्तत्प्रदानं विधाना-
दित्याद्यन्योपदेशात्प्रभवति कुमतं यच्च तद् ग्राहितं स्यात् ॥ ८०

713) ऐकान्तिकाच्चन्द्रमतिर्[1]यथा सन्यशोधरः संशयतो ऽथ मौढ्यात् ।
एकेन्द्रियाद्यास्तदसंज्ञिनश्च व्युद्ग्राहि[2]ताः पञ्च कुदर्शनानि ॥ ८१

714) स्वाभाविकाच्छम्भुहरिद्विषन्तो
विद्याधराः के ऽपि च के ऽपि देवाः ।
रत्नत्रयाश्चर्यविलोकिनो ऽपि
परिष्वजन्ते[1] न च तत्[2]यजन्ति ॥ ८२ । युग्मम्

715) सुभौमो ग्राहिताद्भुजे[1] श्वभ्रे[2] शं[3] चक्रलाञ्छनः ।
उक्तं महागमे ऽपीत्थं प्रायोवृत्त्या निदर्शनम्[4] ॥ ८३

देश के चला आया-(अगृहीत) मिथ्यात्व कहा है, जो दुस्तर है- कष्ट से नष्ट होनेवाला है ॥ ७९ ॥

इसी प्रकार पानी देना, अग्नि में हवन करना, पितरों को तर्पण करना, किसी स्वजन के मरनेपर बारहवें दिन में पितरों का मेलन करना, तथा एक गायको सब तीर्थ, देव व व्रतसमूह का घर मानकर योग्य विधि से देना इत्यादिक उपदेश से जो कुमत-मिथ्यात्व-उत्पन्न होता है उसको ग्रहित मिथ्यात्व जानना चाहिये ॥ ८० ॥

चन्द्रमति- यशोधर की माता - ऐकान्तिक मिथ्यात्व से यशोधर राजा संशय मिथ्यात्व से एकेन्द्रिय आदि पाँच प्रकार के मूढ प्राणी मिथ्यात्व के व्युद्ग्राहित (वश) हुए हैं ॥ ८१ ॥

शंभू, हरि (नारायण) प्रतिशत्रु, कोई विद्याधर और कितने ही देव ये स्वाभाविक अगृहीत-मिथ्यात्व के वशीभूत होकर रत्नत्रय के माहात्म्य को देखते हुये भी मिथ्यात्व का ही आलिंगन करते हैं, उसका त्याग नहीं करते हैं ॥ ८२ ॥

चक्रवर्ती सुभौम गृहीत मिथ्यात्व के वश होकर नरक में सुख को प्राप्त हुआ इस प्रकार महागम में बहुत कर के ये उदाहरण कहे गये हैं ॥ ८३ ॥

८१) 1 P°एकान्तिकाद्वकमतिर्यथा. 2 ग्राहिणः । ८२) 1 स्वीकुर्वन्ति. 2 मिथ्यात्वम् । ८३) 1 सेवितवान. 2 नरके. 3 सौख्यम्. 4 दृष्टान्तम् ।

716) अन्तरङ्गपरिणामं न विश्ववेदी[1] विबुध्यते ।
निदर्शयन्तु विद्वांसो[2] विज्ञायेति यथायथम् ॥ ८४ । युग्मम्

717) भङ्ग्यन्तरेणोक्तं सप्तधा-

एक्केक्को तिण्णि जणा दो दो य ण इच्छए[1] तिवग्गो य ।
एक्को तिण्णि ण इच्छइ सत्त वि पावंति मिच्छत्तं ॥ ८४*१

718) आसीदिसदं किरियाणं[1] अकिरियाणं च होइ चुलसीदी ।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥ ८४*२

719) अनन्तमुक्तं यथा[2]–

जावदिया वयणवहा तावदिया होंति चेव णयभंगा ।
जावदिया णयवादा तावदिया होंति (चेव) परसमया ॥ ८४*३

720) श्वभ्रतिर्यङ्नृदेवेषु भूतभाविभवन्ति सः ।
वृणीते[1] सर्वदुःखानि मिथ्यात्वं यस्य मानसे ॥ ८५

अन्तरंग परिणामों को तो सर्वज्ञ ही जानता है । विद्वान् यथायोग्य जानकर दृष्टान्त के रूप में दिखलावें ॥ ८४ ॥

प्रकारान्तर से भी मिथ्यात्व के सात भेद होते हैं । तीन जन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में से किसी एक को स्वीकार नहीं करते हैं । इसी प्रकार अन्य तीन जन उनमें से दो दो को– स्वीकार नहीं करते हैं । तथा एक जन उन तीनोंको ही स्वीकार नहीं करता है । इस प्रकार ये सातों जन मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं ॥ ८४*१ ॥

मिथ्यात्व के बहुत भेद भी कहे गये हैं– क्रियावादि मिथ्यात्वियों के एक सौ अस्सी (१८०), अक्रियावादियों के चौरासी (८४) अज्ञानियों के सडसठ (६७) और वैनयिक मिथ्यात्वियों के बत्तीस (३२) भेद हैं ॥ ८४*२ ॥

उसके अनन्त भेद भी कहे गये हैं जितने वचन के मार्ग हैं उतने ही नय के मार्ग हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं ॥ ८४*३॥

जिस जीव के मन में मिथ्यात्व अवस्थित है वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों में प्राप्त होनेवाली नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव पर्यायों को प्राप्त करके सब

---

८४) 1 सर्वज्ञः. 2 पण्डिताः । ८४*१) 1 P °इच्छइ° । ८४*२) 1 D°किरियाण, 2 Only in P ।
८५) 1 स्वीकुरुते ।

721) मिथ्यात्वोत्कर्षतो नष्टे नेत्रे संघश्रियो ऽप्यसौ ।
प्राप्तकालो मरीचिश्च बभ्राम सुचिरं भवे ॥ ८६

722) मिथ्याभावप्रभवविभवात् संविभाव्येति दोषान्
नानादुःखप्रणयनसहान् विश्वविश्वासभाजाम् ।
आधिव्याधीनिव मृतिमिव त्यक्तुमीहध्वमेतान्
मुग्धा माध्वं जयमुनिमहो आश्रयध्वं समृद्धयै ॥ ८७

इति श्री-सूरि-श्री- जयसेनविरचिते धर्मरत्नाकरनामशास्त्रे
सम्यक्त्वोत्पत्तिप्रकाशकवर्णनो नाम नवमो ऽवसरः ॥ ९ ॥

दुःखों का स्वीकार करता है-अनेक प्रकार के कष्टों को सहता रहा है, सहेगा और सह रहा है ॥ ८५ ॥

मिथ्यात्व के उत्कर्ष से- उसकी प्रबलता से-संघश्री के दोनों नेत्र नष्ट हो गये और वह मरकर दीर्घकाल तक संसार में घूमता रहा। तथा भरत के पुत्र मरीचीने भी उसी मिथ्यात्व के उत्कर्ष से मरकर दीर्घ काल तक संसार में भ्रमण किया ॥ ८६ ॥

मिथ्यात्व भाव से उत्पन्न हुए वैभव से लोक के विश्वास के भाजनभूत प्राणियों को अनेक दुःखोंको उत्पन्न करने में समर्थ ऐसे दोष होते हैं, ऐसा विचार कर के मानसिक व्यथा व रोग तथा मरण के समान इन दोषोंका त्याग करने के लिये इच्छा करना चाहिये। हे मूढ जन, गुण समृद्धि के लिये जयमुनि का आश्रय ग्रहण करो ॥ ८७ ॥

इस प्रकार नौवाँ अवसर समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

८७) 1 P °इति नवमोवसर ।

[१०. दशमो ऽवसरः]

[सम्यक्त्वाङ्गनिरूपणम्]

723) त्रिसमयविषयत्रिजगद्गृहप्रदीपप्रबोधहेतुर्या ।
कर्मैधानलचरणप्रसूरियं पातु मां दृष्टिः ॥ १

724) निसर्गाज्जायते भव्ये ऽधिगमाद्दर्शनं क्वचित् ।
संज्ञिपर्याप्तपञ्चाक्षे काललब्ध्यादिभागिनि ॥ २

जो दृष्टि– सम्यग्दर्शन– तीनों कालों को विषय करनेवाले तीन लोकरूप गृह को प्रकाशित करने में उत्कृष्ट दीपक का काम करनेवाले सम्यग्ज्ञान का कारण है तथा जो कर्म रूप इन्धन को अग्नि के समान भस्म करनेवाले सम्यक् चारित्र का उत्पादक है वह सम्यग्दर्शन मेरा रक्षण करे ॥ १ ॥

वह सम्यग्दर्शन काललब्धि आदि को प्राप्त कर लेनेवाले किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त भव्य जीव के निसर्ग से–परोपदेश के विना–अथवा अधिगम से–परोपदेशपूर्वक–उत्पन्न होता है। तात्पर्य–गुरु के उपदेश के विना जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन तथा हितैषी गुरु आदि के सदुपदेश से जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस जीवको हिताहित का विचार होता है तथा जो शिक्षा, आलाप और उपदेश आदि को ग्रहण कर सकता है उसे संज्ञी कहते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। जिस जीवकी ये पर्याप्तियाँ पूर्ण हो चुकती है वह पर्याप्त कहलाता है। इस प्रकार जो जीव भव्य होता हुआ पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्त है वही सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य होता है ॥ २ ॥

---

१) 1 इन्धनं. 2 उत्पत्ति. 3 सम्यग्दर्शनम् ।

725) पुद्गलार्धपरावर्तादूर्ध्वं मोक्षगती[1] पुमान् ।
त्रिकोटिकोटिमध्ये हि स्थापितेष्वष्टकर्मसु ॥ ३

726) अन्तरेऽत्र परिणाम[illegible]द्धितोंऽहः[1]स्थितिं दहन् ।
वर्धमानो[2]ऽनिशं शुद्धया ह्यनन्त[illegible]णया[3]ग्रणीः ॥ ४

727) शस्ताशस्तप्रकृतिजरसवर्धनहानिकृत् करोत्य[illegible]म् ।
स्थित्यनुभागोच्छित्त्यै[1] करणं तदधःप्रवृत्तिकं नाम ॥ ५

728) अनन्तगुणया शुद्धया बध्नन् कर्माथ केवलम् ।
स्वल्पस्थितिरसो[1]च्छित्त्यै[2] ततोऽपूर्वं[3] करोति सः[4] ॥ ६

729) अवदात[1]परीणामहेतवे चानिवृत्तिकम् ।
एषामन्तर्मुहूर्तो हि कालः प्रत्येकमीरितः ॥ ७

730) आद्यन्तरान्तराख्येन [illegible]रणेनापवर्तयेत् ।
अन्तर्मुहूर्ततो मिथ्या[illegible]नुबन्धिनः ॥ ८

अर्धपुद्गल परावर्तन कालके पश्चात्(भीतर)मोक्षको प्राप्त होनेवाला श्रेष्ठ भव्य जीव आठों (सात) कर्मोंको तीन कोडाकोडि (?) (अन्त: कोडाकोडि) के भीतर स्थापित करके इस बीचमें परिणामोंकी विशुद्धिसे पापकर्मोंकी स्थिति को भस्म करता हुआ उत्तरोत्तर अनन्त गुणी विशुद्धिसे निरंतर वृद्धिगत होता है। उस समय वह स्थिति और अनुभाग को हीन करने के लिये प्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभाग की वृद्धि और अप्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागकी हानिको करनेवाले जिस प्रथम करण को करता है उसका नाम अधःप्रवृत्तकरण है। तत्पश्चात् कर्मको केवल बांधता हुआ वह अनन्तगुणी विशुद्धिसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत होकर कर्म की शेष रही अतिशय स्तोक-स्थिति और अनुभाग को क्षीण करने के लिये दूसरे अपूर्वकरण को करता है। इसके पश्चात् वह निर्मल परिणामोंके निमित्त तीसरे अनिवृत्तिकरणको करता है। इन तीनों करणोंमें प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र कहा गया है। अनिवृत्तिकरण कालका संख्यात बहुभाग जाकर अन्तरनामक करण के द्वारा– जिसके कि द्वारा मिथ्यात्व प्रकृतिकी अधस्तन व उपरिम स्थितियोंको छोडकर मध्य की अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियोंके निषेकोंका परिणाम विशेषसे अभाव किया जाता है–अन्तर्मुहूर्तमें मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी चतुष्टयका अपवर्तन करता है। उस समय वह उक्त अनन्तानुबन्धी

३) 1 मोक्षज्ञात्वा । ४) 1 पापम्. 2 गुणी वर्धमानः सन्. 3 बुद्धया । ५) 1 विनाशाय । ६) 1 अनुभाग. 2 विनाशाय. 3 करणम्. 4 स जीवः । ७) 1 निर्मलम् उज्ज्वलं वा ।

731) मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं[1] सम्यक्त्वान्वर्थनामभिः ।
भिन्नं मिथ्यात्वमुक्तैस्तैः प्रशमय्य क्रुधादिभिः[2] ॥ ९

732) अन्तर्मौहूर्तिकं लाति[1] दर्शनं प्रथमं[2] ततः ।
पृष्ठतो ऽस्यै[3]ति मिथ्यात्वं दिनास्तस्य[4] तमो यथा ॥ १०

733) ततो ऽनु वेदकं लाति सम्यक्त्वं को ऽपि वेगतः ।
क्षायिकं को ऽपि शुद्धात्मा नात्र कालो नियम्यते ॥ ११ । कुलकम्

734) तदनु यदि क्षपयित्वा ता[1] लाति क्षायिकं तदा ज्ञेयम् ।
उदयक्षयसदुपशमे षण्णां शुद्धोदये मिश्रम् ॥ १२

735) तुर्यादारभ्य[1] सर्वेषु[2] गुणेषु क्षायिकं विदुः[3] ।
शमान्तेषु[4] तदाद्यं[5] स्याद्वेदकं[6] चतुर्षु[7] स्थितम् ॥ १३

क्रोधादिकों के साथ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सार्थक नामों से खण्डित—इन तीन भेदरूप किये गये—मिथ्यात्व (दर्शनमोह) को उपशमाकर अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितिवाले प्रथम (औपशमिक) सम्यग्दर्शन को ग्रहण करता है। इसके पश्चात् जैसें सूर्य के अस्त होने पर अन्धकार प्राप्त होता है वैसे ही उस सम्यग्दर्शन के नष्ट हो जाने पर पुन्हा मिथ्यात्वको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् कोई भव्य जीव शीघ्र ही वेदक सम्यग्दर्शनको और कोई विशुद्ध जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेता है। इन सम्यग्दर्शनों के ग्रहण करने में कोई कालका नियम नहीं है॥ ९–११

यदि कोई शुद्धात्मा भव्य दर्शनमोहकी सम्यक्त्वादि तीन प्रकृतियों और चार अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय करता है तो उस समय उस के क्षायिक सम्यग्दर्शन जानना चाहिये। तथा चार अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदय, क्षय व सदवस्थारूप उपशम— और शुद्ध—सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेपर मिश्र— क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन— जानना चाहिये ॥ १२ ॥

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर चोदहवें गुणस्थान तक सब गुणस्थानों में सम्भव है। पहिला औपशमिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से लेकर शमान्त गुणस्थानों में—उपशान्तकषाय गुणस्थान तक आठ गुणस्थानोंमें—सम्भव है। तथा वेदक सम्यग्दर्शन चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त सम्भव है ॥ १३ ॥

९) 1 सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रकृति. 2 क्रोधादिकषायैः । १०) 1 गृह्णाति. 2 प्रथममुपशमम्. 3 दर्शनस्य. 4 सूर्यास्तस्य । १२) 1 प्रकृतीः । १३) 1 चतुर्थगुणस्थानात्. 2 गुणस्थानेषु सर्वेषु. 3 कथयन्ति. 4 शमान्तेषु. अस्य को ऽर्थः—चतुर्थगुणस्थानादेकादशोपशमगुणस्थानपर्यन्तम्. 5 आद्यम् उपशमसम्यक्त्वम्. 6 वेदकं चतुर्थगुणस्थानात् सप्तमपर्यन्तम्. 7 चतुर्गुणस्थानेषु भवति ।

736) साधनं द्वितयं तेषु[1] साध्यं क्षायिकमुच्यते ।
लघ्वीं स्थितिं समस्तानां[2]मन्तर्मौहूर्तिकीं विदुः[3] ॥१४

737) ज्येष्ठा[1]माद्यस्य[2] तामेव[3] द्वे षट्षष्टी त्रयाणा[4]मपि ।
वेदकस्य[5] त्रयस्त्रिंशत्सागराणां जगुः[6] पराम्[7] ॥ १५

738) पूर्वकोटिद्वयेनामा क्षायिकस्येषदूनिकाम् ।
भवतो ह्यक्षयस्यास्य प्रत्यक्षे केवलेशिनाम् ॥ १६ । युग्मम्

739) तदुक्तम्–
वचनैर्हेतुभिर्युक्तैः सर्वेन्द्रियभयावहैः ।
जुगुप्साभिश्च बीभत्सैर्नैवं क्षायिकदृक्[1] चलम् ॥ १६*१

740) पढमं पढमं णियदं पढमं बिदियं च सव्वकालेसु ।
खाइयसम्मत्तं पुण जत्थ जिणा केवली काले ॥१६*२

उक्त तीन सम्यग्दर्शनोंमें औपशमिक और क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यग्दर्शन ये दो साधन तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन साध्य कहा गया है । इन तीनों सम्यक्त्वोंका लघु (जघन्य) काल अन्तर्मुहूर्तमात्र कहा गया है ॥ १४ ॥

उत्कृष्ट स्थिति प्रथम (औपशमिक) सम्यक्त्वकी पूर्वोक्त अन्तर्मुहूर्त मात्र ही समझना चाहिये । वेदक सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति दो छयासठ-(१३२) सागर प्रमाण है । क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति दो पूर्व कोटि अधिक तैंतीस सागर में कुछ–दो अन्तर्मुहूर्त व (आठ वर्ष) कम है । यह स्थिति संसारकी अपेक्षा से कही गई है । वैसे वह अविनश्वर है जो केवलियोंके प्रत्यक्ष है ॥१५–१६॥

सो ही कहा है ।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि सब इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले युक्तियुक्त वचनोंसे, घृणा या निन्दासे तथा भयानक दृश्योंसे भी विचलित नहीं होती है । तात्पर्य यह कि क्षायिक सम्यक्त्वक उत्पन्न हो जानेपर कितनी ही प्रतिकूल सामग्री क्यों न उपस्थित हो, किन्तु वह कभी नष्ट नहीं होती है ॥ १६*१ ॥

प्रथम –औपशमिक सम्यक्त्व प्रथम नियत है, अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सर्व प्रथम वह औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है– अन्य क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्वों में से कोई

१४) 1 तेषु त्रिषु सम्यक्त्वेषु मध्यं द्वितीयं वेदकोपशमं साधनं क्षायिकं साध्यम्. 2 त्रयाणां सम्यक्त्वानाम. 3 जानीहि । १५) 1 उत्कृष्टां स्थितिम्. 2 उपशमसम्यक्त्वस्य. 3 तां पूर्वोक्तां अर्धपुद्गलावर्तस्थितिम्. 4 त्रयाणां सम्यक्त्वानाम्. 5 क्षायिकस्य. 6 कथयन्ति. 7 उत्कृष्टाम् । १६*१) 1 क्षायिकदर्शनम् ।

741) उपशमकरो दृङ्मोहस्याखिलासु गतिष्विति
क्षपयति पुनः कर्मावन्यं स यः समभूद्भुवी ।
नयति हि पुनर्निष्ठामेतां विना नियमं सदा
क्वचिदपि न वा मिश्रस्योक्तो जिनैर्नियमो भवेत् ॥ १७

742) तत्त्वास्तिकायषड्द्रव्यपदार्थविनिवेदकः ।
प्रमाणनयनिक्षेपैः सूरिर्[1]दर्शनकारणम् ॥ १८

743) बाह्यानि कारणान्येवंप्राया[1]ण्युक्तानि दर्शने
आन्तराणि शमादीनि कथितानीह कर्मणाम् ॥ १९

744) उक्तं च–

नहीं होता। प्रथम और द्वितीय औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यक्त्व सब ही काल में हो सकते हैं– उन के लिये कोई कालका नियम नहीं है। किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व जिस काल व क्षेत्रमें केवली जिन विद्यमान हों उसी काल में व क्षेत्र में उत्पत्ति के उन्मुख होता है ॥ १६*२ ॥

दर्शनमोहका उपशम करनेवाला जीव सब (चारों) गतियों में सम्भव है। जो जीव कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ है वही दर्शनमोहका क्षय करता है– अन्यत्र उस दर्शन मोह के क्षय की सम्भावना नहीं है। अभिप्राय यह है कि कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ जीव ही केवली के सान्निध्य में दर्शनमोह के क्षय को प्रारम्भ करता है। परन्तु निष्ठापन (पूर्णता) उसका अन्यत्र भी सम्भव है, उसके लिये कोई गति आदिका नियम नहीं है। जिनेश्वरोंने क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका किसी क्षेत्रादि की अपेक्षासे नियम नहीं कहा है, वह सर्वत्र उत्पन्न हो सकता है ॥ १७ ॥

जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व, जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये पांच अस्तिकाय, तथा इनके साथ कालद्रव्यको लेकर षट्द्रव्य एवं पूर्वोक्त सप्त तत्त्वों में पुण्य व पाप मिलाकर नौ पदार्थ, इनका उपदेश जो प्रमाण, नय और निक्षेपके आश्रय से करता है वह गुरु सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण होता है। इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति में बाह्य कारण कहे गये हैं। तथा उसके अन्तरंग कारण कर्मोंके– दर्शन मोह की तीन और अनन्तानुबन्धी चतुष्टय इन सात प्रकृतियोंके – उपशम आदि कहे गये हैं– ॥ १८–१९ ॥

कहा भी है

---

१८) 1 आचार्यः । १९) 1 D° णान्येव प्रायाणि ।

आसन्नः भ्व्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्यो ऽप्युपदेशकादिश्च ॥ १९*१

745) अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ १९*२

746) सरागं[1] शमसंवेगानुकम्पास्तिक्यलक्षितम् ।
आत्मशुद्धिकरं ज्ञेयं वीतरागं तु दर्शनम् ॥ २०

747) गूढशक्तिरतीन्द्रिया कलयितुं पुंसः स्फुटं पार्यते
संभोगे भर्णाजनेन तनयोत्पत्त्या विपद्धैर्यतः ।
प्रारब्धोद्वहनादिभि[1]श्च नियतं तद्वच्छमाद्यैस्तु तैः
सम्यग्दर्शनमात्मरूपमपि सन्निर्णीयते प्राणिनाम् ॥ २१

748) उक्ताः प्रशमाद्याः —

आसन्नभव्यता—कुछ ही भवों में निर्वाण प्राप्ति की योग्यता, कर्महानि—सम्यक्त्व के प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व आदि कर्म प्रकृतियों का यथासम्भव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम, संज्ञित्व—शिक्षा, क्रिया व आलापादि ग्रहण की योग्यता, और परिणामों की निर्मलता, ये सम्यक्त्व की उत्पत्ति में अन्तरंग कारण तथा गुरु का उपदेश आदि—जातिस्मरण व जिनप्रतिमादर्शन आदि—बाह्य कारण हैं ॥ १९*१ ॥

इष्ट और अनिष्ट जब अबुद्धिपूर्वक प्रयत्न के विना ही होते हैं, तब वे अपने दैवसे—दैवकी प्रधानता और पुरुषार्थ की गौणता से—होते हैं, ऐसा समझना चाहिये । और जब वे इष्टानिष्ट बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने पर होते हैं तब वह अपने पौरुषसे—पुरुषार्थ की प्रधानता और दैव की गौणता से —होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १९*२ ॥

वह सम्यक्त्व सराग और वीतरागके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें जो सम्यक्त्व प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चिन्हों से पहचाना जाता है वह सराग सम्यग्दर्शन है। तथा जो आत्मशुद्धि मात्रको करनेवाला सम्यक्त्व वीतरागके —उपशान्तमोहादि गुणस्थानवर्ति जीवोंके —होता है उसे वीतराग सम्यग्दर्शन जानना चाहिये ॥ २० ॥

स्त्रीके साथ संभोग करने से होनेवाले पुत्र की उत्पत्ति से, विपत्तिसमय में धैर्य धारण करने से तथा प्रारब्ध कार्य के निर्वाह आदिक हेतुओं से जिस प्रकार पुरुषकी अतीन्द्रिय (अदृश्य) शक्ति स्पष्ट जानी जाती है, उसी प्रकार आत्माका स्वरूपभूत वह प्राणियोंका सम्यग्दर्शन भी उक्त प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य आदि हेतुओं से निश्चय से जाना जाता है ॥ २१ ॥

प्रशम आदि गुण इस तरह कहे गये हैं ।

२०) 1 सम्यक्त्वम् । २१) विवाहादि ।

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम्[1] ।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥ २१*१

749) शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात्[1] ।
स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥ २१*२

750) सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते[1] ॥ २१*३

751) आप्ते[1] श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंस्तुतम् ।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥ २१*४

752) बहुधोक्तम्–
आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भव[1]मवपरमावादिगाढं[2] च ॥ २१*५

रागद्वेषादि दोषोंकी ओर से चित्तवृत्तिको हटाना इसे विद्वान् लोग प्रशम कहते हैं । वह संपूर्ण व्रतोंका अलंकार है–उन्हें विभूषित करनेवाला है ॥ २१*१ ॥

शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक अकस्मात् प्राप्त होनेवाले— दुःखों के उत्पादक ऐसे स्वप्न व इन्द्रजाल के सदृश संसार की ओर से जो भय होता है उसे संवेग कहा जाता है ॥२१*२ ॥

सबही प्राणियों के विषय में जो अन्तःकरण में दया का भाव रहता है उसे दयालु जन धर्म का उत्तम मूल–आधारभूत अनुकम्पा कहते हैं । वह अनुकम्पा धर्मरूप वृक्ष की उत्कृष्ट जड के समान है ॥२१*३॥

रागद्वेषादि दोषों से रहित देव, उसके द्वारा कहा हुआ आगम, अहिंसादि व्रत तथा जीवादि तत्त्व, इनके अस्तित्वविषयक जो चित्त में प्रशस्त दृढता होती है उसे आस्तिकों ने आस्तिक्य गुण कहा है । वह आस्तिक्य गुण मुक्ति को युक्ति से धारण करनेवाले – युक्ति-पूर्वक मुक्ति के विषय में आस्था रखनेवाले मनुष्य में रहता है ॥ २१*४ ॥

बहुधा कहा गया है–

आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व, संक्षेप-सम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व, इस प्रकार सम्यग्दर्शन के ये दस भेद हैं ॥ २१*५॥

२१*१) 1 निग्रहणम्. 2D कथयन्ति । २१*२) 1 P° मानसानां तु वेदना, D कथ्यते । २१*४) 1 सर्वज्ञे । २१*५) 1 उत्पन्नम्. 2 अवगाढं परमावगाढं सम्यक्त्व ।

अस्यार्थः– भगवदर्हत्प्रणीतागमानुज्ञा आज्ञा । रत्नत्रयविचारसर्गो[1] मार्गः । पुराणपुरुषचरितश्रवणाभिनिवेश उपदेशः । यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम् ! सकलसमयदलसूचनाव्याजं बीजम् । आप्तश्रुतव्रतपदार्थसमासालापोपक्षेपः[2] संक्षेपः । द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकभेदविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः । प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः । त्रिविधस्यागमस्य[3] निःशेषतो ऽन्यतमदेशावगाहावलीढमवगाढम् । अवधिमनःपर्ययकेवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावगाढम् ।

इसका अर्थ

१) भगवान अरहंत के द्वारा उपदिष्ट आगम की अनुमोदना करने का नाम आज्ञा है । उस आज्ञा के निमित्त से जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहा जाता है ।

२) रत्नत्रय विषयक विचार की उत्पत्ति का नाम मार्ग व उससे होनेवाली तत्त्वरुचि को मार्गसम्यक्त्व जानना चाहिये ।

३) शलाकापुरुषों के चरित्र के सुनने के अभिप्रायका नाम उपदेश और उससे होनेवाली तत्त्वरुचि का नाम उपदेशसम्यक्त्व है ।

४) जो मुनिधर्म के निरूपणका पात्र है उसे सूत्र और उसके आश्रयसे होनेवाले श्रद्धान को सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं ।

५) समस्त आगमांशों का सूचक जो पद है उसका नाम बीज है । तथा उस के आश्रय से जो तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न होती है उसे बीजसम्यक्त्व समझना चाहिये ।

६) आप्त, श्रुत, व्रत, और पदार्थ के संक्षेपरूप कथन के प्रयत्नका नाम संक्षेप व उससे होने वाले तत्त्व श्रद्धान का नाम संक्षेपसम्यक्त्व है ।

७) बारह अंग, चौदह पूर्व और प्रकीर्णक इन भेदों में विस्तीर्ण श्रुत के अर्थ के समर्थक प्रस्तार का नाम विस्तार है तथा उससे जो तत्त्वरुचि होती है उसका नाम विस्तारसम्यक्त्व है

८) जो प्रवचन के विषय में अपने को ज्ञान कराने में समर्थ अर्थ है उसके आश्रय से होनेवाली तत्त्वरुचि को अर्थसम्यक्त्व जानना चाहिये ।

९) केवली, श्रुतकेवली और आरातीय आचार्य विरचित तीन प्रकार के आगम में पूर्णतया किसी एक का परिशीलन करने से जो तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न होती है उसका नाम अवगाढसम्यक्त्व है ।

१०) अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञानसे अधिक पुरुष के प्रत्यय से जो सम्यक्त्व होता है वह परमावगाढसम्यक्त्व कहा जाता है ।

गद्यम्) 1 PD प्रधान:. 2 PD संकोचः आक्षेपः. 3 परमागम–शब्दागम-युक्त्यागमरूपस्य ।

753) श्रद्धातृपरिणामानां[1] श्रद्धेयानां विभेदतः ।
असंख्य तमनन्तं च सम्यक्त्वं यतयो जगुः[2] ॥ २२

754) संख्यातं वाप्यसंख्यातमनन्तं वस्तुदर्शनम् ।
द्रव्यजातं[1] यथाकाशे विशति त्रिविधे (?) ऽखिलम् ॥ २३

755) श्रेणिकक्षितिपतिर्यथा वहन् क्षायिकं तदनु रेवती परम् ।
आदिराजतनुजाः सुदर्शनाच्छिश्रियुः[1][2] शिवपदं क्षणादपि ॥ २४

756) ये मिथ्यात्वकुलोद्भवा बहुविधा दोषाः पुरा वर्णिता –
स्तत्कन्दक्षपणक्षमान्[1] पुरुगुणान्[2] निःशङ्कितत्वादिकान् ।
सम्यग्दर्शनचक्रवर्तिपदवीसंवृद्धिसेवानुगान्
सेवध्वं सततं यदीच्छथ[3] सुखं संसारदूरं[4] नराः[5] ॥ २५

757) परोक्तस्वोक्तश्लोकैर्निःशङ्कितत्वादयः कथ्यन्ते । यथा–

श्रद्धा करनेवाले के परिणाम और उस श्रद्धा के विषयभूत जोवाजीवादि तत्त्व इनके भेदों से उस सम्यक्त्व के असंख्यात और अनन्त भी भेद होते हैं ऐसा मुनिजनोंने कहा है ॥ २२ ॥

उस सम्यग्दर्शन के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद रह सकते है, क्योंकि उसका विषयभूत तीन प्रकारका द्रव्यसमूह अनन्त आकाश में निश्चय से रहता है ॥ २३ ॥

श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्व को धारण कर मोक्षपदको प्राप्त हुआ है । तत्पश्चात् रेवती रानी भी उस उत्कृष्ट सम्यक्त्व को धारण कर मुक्तिपदको प्राप्त हुई है । भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भी उस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से क्षण में मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ॥ २४ ॥

हे भव्य जनो ! यदि तुम संसार से दूरवर्ती सुख को–निर्बाध मुक्तिसुख को– प्राप्त करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन के अंगभूत निःशंकितत्त्व आदि महान् गुणों की निरन्तर आराधना करो । कारण कि ये गुण मिथ्यात्वके संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले जिन बहुत प्रकार के दोषों का ऊपर वर्णन किया गया है उनके निर्मूल करने में समर्थ होते हुए सम्यग्दर्शनरूप चक्रवर्ती पदवी के संवर्धन के लिये सेवक समान हैं– उस सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करके उसे संसार परंपराके विनष्ट करने में समर्थ करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

अन्य आचार्य कथित व स्वरचित श्लोकों से उन निःशंकितत्वादि गुणोंका वर्णन किया जाता है–

२२) 1 D उत्तममध्यमजघन्यानां. 2 D कथयन्ति । २३) 1 द्रव्याणां समूहम्, D षड्द्रव्यसमूहं । २४) 1 शोभनसम्यक्त्वात्, D पुत्राः अरहंतदर्शनात्. 2 शिवपदं समाश्रिताः । २५) 1 तेषां दोषाणाम्. 2 कान्दकान्. 3 यूयं यदि इच्छथ. 4 मोक्षसुखम्. 5 हे नराः ।

स[illegible]लमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं व[illegible]जातमखिलज्ञैः[1] ।
तं[2]नान्यथेति मनुते यो ऽसौ निःशङ्कितो भवति ॥ २६

758) एककस्य मम नास्ति रक्षको व्याधितस्य मरणे व्रतक्षतौ[1] ।
विष्टपे[2] य इति नो विचिन्तयेत् तं वदन्त्यभयशङ्कितं[3] जिनाः ॥ २७

759) अर्हन्नेव भवेद्देवस्तत्त्वं तेनोक्तमेव च ।
व्रतं दयाद्यमेव [illegible] यो ऽन्यो ह्यशङ्कितः ॥ २८

760) चार्वाकादिमतप्रकाशिनि महास्याद्वादनिर्णाशिनि
वादिच्छद्मनि[1] नाकसद्मनि[2] समासंमो[illegible] न ।
रूपाप्यायिनि[3] [illegible]र्वजन्मजमहावैरानुबन्धायिनि
निःशङ्को ऽगददुत्तरं नृपपति[4]र्वज्रायुधाख्यो[5] यथा ॥ २९

761) विज्ञाय तत्त्वं प्रविलोक्य शत्रून्[1] दृष्ट्वा स्वयं पात्र[2]मुपस्थितं च ।
दोलायमानो हृदि जायते यो रिक्तो ह्यसावत्र परत्र च स्यात्[3] ॥ ३०

सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रने इस समस्त वस्तुसमूह को जो अनेकान्त स्वरूप कहा है वह अन्यथा–मिथ्या– नहीं है ऐसा जो मानता है वह निःशंकित अंगका धारक है ॥ २६ ॥

मै अकेला व रोगसे पीडित हूँ । मरण समय में तथा व्रत के नाश के समय में इस जगत में मेरा कोई रक्षक नहीं है, ऐसा जो मन में विचार नहीं करेगा–करता है उसे जिन भगवान् भयशंका से रहित करते हैं ॥ २७ ॥

इस जगत् में अरहन्त ही देव और उनके द्वारा निर्दिष्ट स्वरूप ही तत्त्व है, और दया जिस में मुख्य है वही व्रत मोक्षप्रद है, ऐसा जो अन्य मानता है वह शंका से रहित है– निःशंकित अंगका धारक है ॥ २८ ॥

जो स्वर्गवासी कुटिलवादी देव, चार्वाक आदि मतों को प्रकाशित करनेवाला महान् स्याद्वादका नाशक, सभा को मुग्ध करनेवाला, सौन्दर्य से सन्तोषजनक और पूर्वजन्म में प्रादुर्भूत वैर से संबद्ध था, उसके आनेपर वज्रायुध नाम के राजाने निःशंक हो कर उसे उत्तर दिया ॥ २९ ॥

तत्त्वको जानकर भी जो शत्रुओं को एवं स्वयं उपस्थित हुए पात्र को देखकर मन में शंकित होता है, वह इस लोक में और परलोक में भी रिक्त ही रहता है । (उसे न तो इस लोक में [illegible] कुछ फल प्राप्त होता है और न परलोक में भी) ॥ ३० ॥

---

२६) 1 PD सर्वज्ञैः. 2 वस्तुजातम् । २७) 1 उपसर्गो, D सत्यां. 2 त्रिभुवने. 3 निःशंकितम् । २९) 1 वादमिषे. 2 देवतागृहे चैत्यालये इत्यर्थः. 3 रूपेण सुखदायिनि, D व्यापके. 4 कश्चिद् राजा. 5 इन्द्रः । ३०) 1 D कर्मशत्रून्. 2 D पात्रं प्रति दानं न ददाति स एवास [रि]क्तः. 3 D भवेत्।

762) मुनेर्विद्यां[1] वणिक्प्राप्य[2] शिक्ये[3] चारुह्य शङ्कितः ।
चौरस्तु तां[4] वशीकृत्य निःशङ्कः प्राप त[5]त्फलम् ॥ ३१

763) इह[1] महाविभवादिकमक्षयं परभवे धनदत्वमुपेन्द्रताम्[2] ।
क्षितिपतित्वसुरेश्वरतादिकमभिलषेन्[3] कुदर्शनकौतुकम् ॥ ३२

764) हस्ते चिन्तामणिर्यस्य प्राङ्गणे कल्पपादपः ।
कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥ ३३

765) उदश्विता[1] स[2] माणिक्यं चक्रिराज्यं किलाटकैः[3] ।
विक्रीणीते स सम्यक्त्वाद्य इच्छेद्भवजं सुखम् ॥ ३४

766) निःशेषकामितसुखप्रतिदानदक्ष-
स्थाने निराकुलतया ननु चित्तवृत्तिः ।
यस्यास्ति तं नरमणि समुपाश्रयन्ते
सर्वाः श्रियो जलनिधिं तु यथा स्रवन्त्यः[1] ॥ ३५

(धरसेन नामक) वैश्य किसी मुनिराज से (आकाश गामिनी) विद्याको लेकर शंकित होने के कारण सींके पर चढकर भी उस विद्या को प्राप्त नहीं कर सका । परंतु निःशंक अंजन-चोरने उस विद्या को अपने अधीन करके–सिद्ध करके उस के फल को प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

सम्यग्दृष्टि जीव को इहलोक में अक्षय महावैभवादिक तथा परभव में कुबेर के पद, उपेन्द्र (नारायण) के पद, चक्रवर्तित्व और इन्द्रपद आदि की इच्छा नहीं करना चाहिये तथा कुदर्शन से कुछ कौतुकयुक्त बातों की चाह नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

जिस के हाथ में चिन्तामणि, आँगन में कल्पवृक्ष और घन में कामधेनु है उसे दूसरे के पास याचना करने की क्या आवश्यकता है ? कुछ भी नहीं ॥ ३३ ॥

जो सम्यग्दर्शन से सांसारिक सुख की इच्छा करता है वह मानो छाछ के द्वारा माणिक्य रत्न को तथा कौडियों के द्वारा चक्रवर्ती के राज्य को बेचता है, ऐसा समझना चाहिये ॥३४ ॥

जिसकी मनोवृत्ति संपूर्ण इच्छित सुख को देने में समर्थ स्थान में व्याकुलता से रहित है– जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि सांसारिक सुख के लिये व्याकुल नहीं होता है– उस महात्मा का सम्पत्तियाँ इस प्रकार से आश्रय लेती हैं जिस प्रकार की नदियाँ समुद्र का आश्रय लेती हैं ॥३५ ॥

---

३१) 1 सम्यक्त्व मन्त्रम्. 2 श्रेष्ठिनः सकाशात् मुनेर्वा सकाशात् कश्चिद् वणिक्प्राप्य. 3 शिक्ये आरुह्य सशङ्कितः निष्फलो जातः. 4 PD विद्याम्. 5 तस्या विद्यायाः, D मोक्षफलम् । ३२) 1 अत्र भवे. 2 विष्णुताम्. 3D सदृष्टिः । ३४) 1 तक्रेण इति लोके. 2 D नरः. 3 PD सद्यः प्रसूता महिषी दुग्धपेवसी । ३५) 1 श्रियः आश्रयन्ति स्रवन्त्यः नद्यः ।

767) हास्यात् पितुश्चतुर्थे[1] ऽस्मिन् व्रते ऽनन्तमती स्थिता ।
निःकाङ्क्षव्रतमास्थाय[2] कल्पं द्वादशमाविशत् ॥ ३६

768) उपेन्द्राः[1] प्रत्युपेन्द्राश्च[2] काङ्क्षाभरवशीकृताः ।
पुराणेषु प्रसिद्धानि भेजुर्[3] दुःखानि कानि नो ॥ ३७

769) श्रीविजयो[1] ऽमिततेज[2] महाकाङ्क्षापकाङ्क्षकौ[3] ।
षड्विंशतिप्रमाणाहः[4]कृतप्रायोपवेशनौ[5] ॥ ३८

770) कल्पे त्रयोदशे स्थित्वा ततश्च्युत्वा क्रमादिमौ ।
जगाम माधवः[1] श्वभ्रं रामो ऽप्यच्युतमुत्तमम् ॥ ३९ । युग्मम्

771) तीव्रं तपो जिनवरैर्विहितं मुनीनां
संवादमन्दिरमिदं न भवेत्तथा हि ।
आचाममज्जनविकर्तननाग्न्ययोगा-
दूर्ध्वस्थभुक्तित[1] इति [illegible][2] ॥ ४०

पिता की हँसी से अनन्तमतीने चौथे ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया व इच्छारहित उस व्रत में स्थिर होकर सहस्रार स्वर्ग में देव हुई ॥ ३६ ॥

तीव्र इच्छाओं के अधीन हो कर नारायण और प्रतिनारायण पुराणों में जिनका वर्णन किया है ऐसे कौनसे दुःखों को नहीं प्राप्त हुए हैं ? तात्पर्य यह कि नारायण व प्रतिनारायण अतृप्त रहने के कारण नरक दुःख भोगते हैं । निदान से उन को भोगों की तीव्र अभिलाषा निरन्तर बनी रहती है ॥ ३७ ॥

उत्कट इच्छा से सहित त्रिपृष्ठ नारायण का पुत्र विजय और उस से रहित अर्ककीर्तिका पुत्र अमिततेज ये दोनों छब्बीस दिन पर्यन्त प्रायोपवेशन संन्यास को करके तेरहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए । वहां रहकर आयु के अन्त में मरण को प्राप्त होनेपर विजय अनन्तवीर्य नामका नारायण हो कर नरक को गया और अमिततेज अपराजित नामका बलदेव हो कर उत्तम अच्युत स्वर्ग को प्राप्त हुआ ॥ ३८-३९ ॥

तीर्थंकरों ने मुनियोंके लिये जिस घोर तप का विधान किया है वह प्रमाण का

---

३६) 1 PD ब्रह्मचर्ये. 2D स्थित्वा । ३७) 1 नारायणाः. 2 प्रतिनारायणाः, D हरिप्रतिहरिः. 3 प्रापुः सेवयामासुः । ३८) 1 त्रिपृष्ठनारायणपुत्रः, D प्रथ [म] नाम. 2 अर्ककीर्तिविद्याधरपुत्रः. 3 काङ्क्षासहितकाङ्क्षारहितौ. 4 दिनानि. 5 कृतसंन्यासौ, D दिनषड्विंशति प्रायोगमरणं कृत्वा । ३९) 1 शान्तिनाथचरित्रे प्रसिद्धकथात्र । ४०) 1 छर्दिते जलादि आचमनं तथा स्नानं न कुर्वन्ति, नग्नाः भ्रमन्ति, ऊर्ध्वं भुञ्जन्ति, D केचित् परमतयः वदन्ति । सर्वं रम्यं तथापि उर्ध्वभोजनं नाग्न्यं स्नानरहितं आचमनरहितं यत् तत् दूषणम्. 2 अज्ञाः, D अज्ञातगुणाः ।

772) दोषलेशमपश्यन्तः सर्वज्ञगदितागमे ।
इति दोषचतुष्केण [illegible] चिकित्सन्त्यसद्दृशः[1] ॥ ४१

773) सच्छ्रुतात्सुश्रुतं शीलमसमर्थाः[1] श्रयितुं नराः ।
निबोधितुं[2] तदर्थं च स्वदोषाद्दूषयन्त्यतः ॥ ४२

774) तदुक्तम्-

जडबुद्धी ण हु घिप्पइ मलिणो गुणणिग्गहो ण कुसलाणं ।
णीलं ण णहं[1] सा[2] णायणस्स तेयस्स[3] विणियट्टी ॥ ४२*१

775) तत्रेत्थं समाधीयते-

स्थान—प्रामाणिक व ग्राह्य—नहीं है । वह इस प्रकार से—इसका कारण यह है कि मुनिजन आचमन और स्नान से रहित होकर नग्न रहते हैं व ऊर्ध्वस्थ हो कर—खडे रह कर—भोजन करते हैं । इस प्रकार अज्ञानी जन जिनोपदिष्ट तपश्चरण के विषय में इन चार दोषों को प्रगट करते हैं ॥४०॥

उक्त मिथ्यादृष्टि जन सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम में—जिनागम के विषय में—दोष का लेश भी न देखकर उपर्युक्त चार दोषों को निर्दिष्ट करते हुए घृणा प्रदर्शित करते हैं ॥४१॥

जो मनुष्य समीचीन श्रुत से उत्तम शास्त्र, ज्ञान और शील (सदाचार) का आश्रय लेने में तथा उसके अर्थ को समझाने के लिये असमर्थ होते हैं, वे इसीलिये अपने दोष के कारण उसे दूषित करते हैं ॥ ४२ ॥

सो ही कहा है —

यदि जडबुद्धि मलिन पुरुष विद्वानों के गुणों को नहीं ग्रहण करता है तो इससे उनके गुणों का निग्रह—नाश—नहीं समझना चाहिये । उदाहरणार्थ—रूपसे रहित आकाश नीला नहीं है, फिर भी जो वह नीला दिखता है, यह नेत्रों के तेजकी उपरति—दोष—है न कि आकाश का । तात्पर्य यह कि जिन को गुणियों में दोष दिखते हैं और जो उन्हें ग्रहण नहीं करते हैं इसे उन जडबुद्धियों का ही दोष समझना चाहिये ॥४२*१॥

वहाँ इस प्रकार समाधान किया जाता है ।

---

४१) 1 निन्दां कुर्वन्ति, D निन्दन्ति. 2 मिथ्यादृष्टयः । ४२) 1 D शीलव्रतरक्षणे असमर्थाः. 2 आगमार्थं ज्ञातुम् असमर्थाः । ४२*१) 1 आकाशम्, D पद्मिनी. 2 सा ऋद्धिः निर्जाड्यः. 3 नेत्रजनिततेजसः, नायनस्य तेजसः, D हंसस्य, D सिवालं.

विश्वस्मिंस्तीर्थतोया[1]न्यशुचितनुमलव्याप्तदेहान्यशेषं
तैः शुद्धिस्तानि पीत्वा पुनरपि शुचिता तैरहो इन्द्रजालम् ।
स्नेहं स्नेह्यं हि गौल्यं गुड[3]मपि लवणं स्वादु वाञ्छन्ति कर्तुं
तेनैव प्राप्तमित्थं जनचरितमिदं निर्विचारं सुरम्यम् ॥ ४३

776) यदेवागमशुद्धं स्यादद्भिः[1] शोध्यं तदेव हि ।
अङ्गुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा[2] निकृत्यते[3] ॥ ४३*१

777) निष्ठ्यूतादिविधौ[1] वक्त्रे यद्यपूतत्वमिष्यते ।
तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौचं[2] नारभ्यते कुतः ॥ ४३*२

778) स्वस्या[1]न्यस्य[2] च कायोऽयं बहिश्छाया[3]मनोहरः ।
अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः[4] ॥ ४३*३

इस जगत में तीर्थों का पानी पूर्ण रूप से अपवित्र शरीरों के मैल से व्याप्त होता है, फिर भी उस पानी से शरीर की शुद्धि होती है तथा उसको पीकर उससे पवित्रता प्राप्त होती है, ऐसा मानना इन्द्रजाल है । लोग स्नेह को तेल व घी आदि स्निग्ध पदार्थों को पुनः स्निग्ध करना चाहते हैं, गुड को पुनः अधिक स्वादु मिष्ट करना चाहते हैं तथा नमक को स्वादिष्ट बनाना चाहते हैं । इससे ऐसा निष्कर्ष निकला कि यह लोकचरित विना विचार के ही अतिशय रमणीय है । (विचार करने पर यह रमणीय संभव नहीं है) ।। ४३ ।।

जो आगम से शुद्ध हो उसे ही जल से शुद्ध करना योग्य है । उदाहरणार्थ सर्प के द्वारा अंगुली के काटे जाने पर बुद्धिमान मनुष्य उसी अंगुली को काटा करते हैं न कि नासिका को ।।४३*१।।

मुँह से लार आदि गिरनेपर यदि उस में अपवित्रता मानी जाती है तो उस मुख के अपवित्र होने पर शौच–स्नान–क्यों नहीं किया जाता है? अर्थात मुख के अपवित्र होनेपर उसकी ही शुद्धि की जाती है, न सर्वांग स्नान ।।४३*२।।

अपना और दुसरे का भी यह शरीर बाह्य कान्ति से मनोहर दिखता है । यदि इसके भीतरी भाग का विचार किया जाय तो यह ऊमर फल के समान बाहिर से सुंदर पर भीतर कीडों से व्याप्त होकर घृणास्पद ही दिखेगा ।।४३*३।।

४३) 1 जलानि. 2 D तीर्थतोयानि. 3 D मधुर गुडं लवणं कथयन्ति । ४३*१) 1 D तोयैः. 2 नासिका. 3 छिद्यते । ४३*२) 1 D वातसरणादि अवसरे. 2 D पुरुषः । ४३*३) 1 स्वस्य आत्मीयः. 2 अन्यस्य परस्य 3 P° बहिश्छायमनोहरः 4D उंबरफलसमानाः ।

779) दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय[1] जुगुप्सते ।
स लोहे[2] कालिकादोषान्नूनं मुञ्चति काञ्चनम् ॥ ४३*४

780) तद्वैतिह्ये[1] च देहे च याथात्म्यं पश्यतां सताम् ।
उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रजायताम् ॥ ४३*५

781) ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।
यतीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य[1] विधिर्मतः ॥ ४३*६

782) संगे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः ।
आप्लुत्य[2] दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रमुपोषितः[3] ॥ ४३*७

783) एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके ।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ[1] व्रतगताः स्त्रियः ॥ ४३*८

784) विकारे[1] विदुषां द्वेषो नाविकारे ऽनुवर्तते ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥ ४३*९

जो देह के दोष को देखकर तत्त्व से–शरीरधारी के संयमादि से–घृणा करता है वह पुरुष लोहे में कालेपन को देखकर निश्चय से सुवर्ण का त्याग करता है, ऐसा समझना चाहिये ॥४३*४॥

जो सत्पुरुष तपस्वी के उपदेश और उसके शरीर में यथार्थ स्वरूप को देखनेवाले हैं उनकी मनोवृत्ति भला उद्विग्न क्यों होगी ? अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूप को देखनेवालों के चित्त में उनके प्रति गुणानुराग ही होगा, न कि घृणाभाव ॥४३*५॥

जो महर्षिजन ब्रह्मचर्य में तत्पर हैं तथा जिनका मन अपने आत्मस्वरूप में मग्न है उनके लिए स्नान का विधान नहीं है, परंतु स्नानयोग्य दोष के होने पर उनके लिए भी स्नानका विधान किया गया है ॥ ४३*६॥

अपने पास मनुष्यों के कपाल को रखनेवाले, ऋतुमती स्त्री और चाण्डाल व भील आदि का स्पर्श होनेपर दण्ड के समान खडे होकर स्नान करना चाहिये और उपवासपूर्वक एक सौ आठ वार पंचनमस्कारमंत्र का जप करना चाहिये ॥ ४३*७॥

जो व्रत धारण करनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे ऋतुकाल में एकान्तर(उपवास) अथवा तीन उपवास कर चौथे दिन में निःसंशय शुद्ध होती हैं ॥४३*८॥

नग्न रहनेपर यदि किसी प्रकार का इंद्रियविकार आदि होता है तो विद्वानों का उस

४३*४) 1 परमार्थाय. 2 D घातौ । ४३*५) 1 देहस्वभावं पूर्वोक्तं ज्ञात्वा यः तस्य अपरं न । ४३*६) 1 अस्य स्नानस्य । ४३*७) 1 ऋतुवं [,म] ती, D पुष्पितकामिनी. 2 स्नात्वा, 3 P °मन्त्रानुपोषितः ४३*८) 1 ऋतौ विषये स्त्री । ४३*९) 1 D सति ।

785) त्यजद्भिरामूलत एव संगान्नग्नत्वमङ्गीक्रियते स्म सर्वैः ।
पाषण्डिभिर्धर्तुमशक्नुवानैरथोभयभ्रष्टतया[1] स्थितं तैः ॥ ४३*१०

786) नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ।
ते संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम्[1] ॥ ४३*११

787) न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न[1] श्वभ्राया[2]स्थितेर्मता[3] ।
किंतु संयमिलोकस्य सा[4] प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥ ४३*१२

788) पाणिपात्रं मिलत्येतच्छक्तश्च स्थितिभोजने ।
यावत्तावदहं भुञ्जे रहाम्याहारमन्यथा[1] ॥ ४३*१३

789) अदैन्यासंगवैराग्यपरीषहकृते कृतः[1] ।
अत एव यतीनां केशोत्पाटनसद्विधिः ॥ ४३*१४

नग्नता से द्वेष करना योग्य है। परंतु यदि किसी प्रकार का भी विकार नहीं होता है तो फिर उस स्वाभाविक नग्नता के प्रति द्वेष की कलुषता कैसे योग्य कही जा सकती है? ॥४३*९॥

परिग्रह का पूर्णतया परित्याग करनेवाले सब ही मुमुक्षु जनों ने नग्नता को स्वीकार किया है। किन्तु जो पाखंडी जन उस नग्नता को धारण करनेके लिये असमर्थ थे वे उभय से भ्रष्ट होकर स्थित हुए हैं, अर्थात् वे न तो गृहस्थ धर्म का ही परिपालन कर सके हैं और न मुनिधर्म का भी। तात्पर्य यह कि, मुनिधर्म को धारण करनेवाले साधु जनों को नग्नता को धारण करना अनिवार्य होता है ॥ ४३*१०॥

यदि वे साधु वकला, चर्म और वस्त्रों को चाहते हैं तो ऐसे संयमी जनों के निष्परिग्रहता और अहिंसा कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती है। अर्थात् अंतरंग परिग्रह का त्याग करने से ही अहिंसा और निष्परिग्रहता हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥ ४३*११॥

खडे होकर आहार ग्रहण करने से स्वर्ग प्राप्ति होती हो और बैठकर आहार ग्रहण करने से नरक प्राप्ति होती हो ऐसा तो नहीं है। फिर भी संयमीजन प्रतिज्ञापालन के लिये खडे होकर आहार का स्वीकार करते हैं। उनकी वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है— जबतक यह पाणिपात्र मिलता है अर्थात् जब तक दोनों हाथ जुडते हैं और जब तक खडे होकर भोजन करनेका सामर्थ्य है तब तक मैं आहार को ग्रहण करूँगा, अन्यथा उसका त्याग कर दूँगा ॥४३*१२-१३॥

इसी कारण दीनता व ममत्व बुद्धि को दूर करके वैराग्य को वृद्धिगत करने व परीषहों को जीतने के लिये मुनिजनों को केश लोंच स्वरूप समीचीन विधि का विधान किया गया

४३*१०) 1 असमर्थैः । ४३*११) 1 वल्कलचर्मवस्त्राणाम् । ४३*१२) 1 उपविष्टे. 2 नरकाद्य. 3 उत्थिते. 4 स्थिते भुक्तिः, D स्थितिभोजनम् । ४३*१३) 1 त्यजामि, D मुञ्चामि । ४३*१४) 1 केशोत्पाटनविधिः स्थापितः ।

790) वीरव्रतप्रकाशाय निर्ममत्वप्रसिद्धये ।
तथात्मगुप्तिसंसिद्धयै क्रियते केशलुञ्चनम् ॥ ४३*१५

791) बालवृद्धगदग्लानान् मुनीनौदायनः[1] स्वयम् ।
भजन्[2] निर्विचिकित्स्यात्मा[3] स्तुतिं प्राप पुरन्दरात् ॥ ४३*१६

792) दारिद्र्यादृदती विधिं विदधती भोज्यं व्रतिन्यै[1] स्वयं
उद्गारं[2] किल कुर्वतीं श्रमवतीं पश्यन्त्यमुं[3] सुव्रताम् ।
श्रीदत्तापि[4] चिकित्सितं स्वमनसि व्यातन्वती दुर्वचं
दुःखं दुःसहमाप भाविजननाद्द्वेधाप्यतस्तन्वते ॥ ४४

793) इष्टानिष्टवियोगयोगजनिता विघ्ना हि निघ्नन्ति[1] मां
धर्मं संदधतं सदैव परमं पूर्वार्जिताद्दुष्कृतात् ।
धर्मो ऽसौ फलितोप्तबीजविधिवद्ध्यायेदिदं यो हृदि
स्यादन्यो[2] ऽविचिकित्सकः[3] स समये धर्मे ऽपि देवे ऽपि च ॥ ४५

है। यह केशलोंच वीरव्रत को प्रकाशित करने, निर्ममत्व बुद्धि को प्रगट करने और आत्मगुप्ति की सिद्धि के लिये किया जाता है। (भावार्थ – अभिप्राय यह है कि नाईसे बालों के बनवाने में पैसे की आवश्यकता रहती है और यदि उसे किसी से माँगा जाता है तो उस में दीनता का भाव प्रगट होता है। यदि उन बालों को रखा जाय तो उनको सम्हाल करने में ममत्व बुद्धि का होना अनिवार्य है। इसीलिये मुनिगण उस दैन्यभाव और ममत्व बुद्धि को नष्ट करने के लिये अपने बालों का लोंच किया करते हैं। इससे उनकी वीरता व सहनशक्ति तो प्रगट होती ही है, साथ ही हिंसादि पापों से आत्मसंरक्षण भी होता है। यही कारण है जो आगम में उस केशलोंच का विधान किया गया है) ॥४३*१४–१५॥

बाल, वृद्ध व रोगपीडित मुनियों की घृणा से रहित हो कर स्वयं सेवा करनेवाला औदायन राजा इन्द्र से प्रशंसित हुआ है ॥४३*१६॥

दारिद्र्य से युक्त–निर्धन–श्रीदत्ता श्राविका ने विधिपूर्वक स्वयं आहार का बनाकर व्रतयुक्त सुव्रता नामकी आर्यिका को दिया था। परंतु आर्यिका ने उसी समय वान्ति (वमन) कर दी। इससे उसे परिश्रमयुक्त देखकर श्रीदत्ता को मन में घृणा उत्पन्न हुई। तब उसने दुष्ट वचन का भी व्यवहार किया। इसीलिये वह आगे के भव में दुःसह दुख को प्राप्त हुई। यही कारण है जो सत्पुरुष दोनों ही प्रकार के निर्विचिकित्सित गुणका पालन किया करते हैं ॥४४॥

उत्कृष्ट धर्म को धारण करते हुए मुझे पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से इष्ट के वियोग और

४३*१६) 1 औदायनराजा, D नृपः 2 सेवयन्. 3 औदायन राजा, किं विशिष्टः, अदायः निर्विचिकित्स्य आत्मा यस्य सः। ४४) 1 सव्रतार्यायै, D आर्यायै. 2 छर्दिम्. 3 ताममुम् आर्याम्. 4 सा श्रीदत्ता पश्यन्ती। ४५) 1 P°विघ्नन्ति. 2 पूर्वकथिताद् द्वितीयः. 3 निन्दकः घृणास्पदः।

794) आयान्ति विघ्ना नितरां हि निघ्ना धर्मं दधानं परमं यतो माम् ।
धर्मश्च देवः समयो ऽफलो ऽतो ध्यायन्निदं स्याद्विचिकित्सको[2] ऽन्यः ॥ ४६

795) तदुक्तम्–

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु[1] भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु[2] विचिकित्सा[3] नैव कर्तव्या[4] ॥ ४६*१

796) स्नानोद्धूलनमौनवल्कलजटाजूटाक्षमालाजिनै[1]–
र्मन्त्राद्यैरुपकल्पितं किमपि यद्यद्योगमुद्रादिभिः ।
अन्तर्ज्ञानचरित्रशुद्धिरहितं तत्सत्क्रियागौरवं
नाशंसेन्न च संस्तुयात्समयवान्[2] मिथ्यादृशां कर्हिचित्[3] ॥ ४७

अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न हुए विघ्न निरन्तर पीडित करते हैं । सो इसका कारण कुछ धर्म नहीं है, किन्तु वह पूर्वोपार्जित कर्म ही है । धर्म तो बोये हुये बीज के समान उत्तम फलका ही देनेवाला है । इस प्रकार का जो हृदय में विचार किया करता है वह आगम, धर्म और देवके भी विषय में विचिकित्सा–घृणाभाव से रहित होता है । यह निर्विचिकित्सा का स्वरूप अन्य प्रकार से भी कहा गया है ॥४५॥

मैं उत्कृष्ट धर्म को धारण कर रहा हूँ । फिर भी ये समर्थ विघ्न आकर मुझे पीडित करते हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म, देव (जिनेश्वर) और जिनमत ये सब व्यर्थ हैं; ऐसा जो विचार करता है वह अन्य विचिकित्सक है–यह विचिकित्सा का स्वरूप अन्य प्रकारसे भी कहा गया है ॥४६॥

सोही कहा गया है–

भूख, प्यास, शीत व उष्ण आदि विविध अवस्थाओं में तथा विष्ठा आदि घृणित वस्तुओं में भी ग्लानि नहीं करनी चाहिये ॥४६*१॥

स्नान, भस्मलेपन, मौन, वल्कल, मस्तकपर जटाजूट, जपमाला व चर्म तथा मन्त्रादि एवं योगमुद्रादिक मिथ्यात्वियों के जो कुछ आचार का आडंबर है, वह अध्यात्मज्ञान और चारित्रशुद्धि से रहित है । इसलिये जिनशासन भक्त उनके उपर्युक्त आडंबरकी कभी प्रशंसा नहीं करें और वचन से कभी स्तुति नहीं करें ॥४७॥

---

४६) 1 D भवेत्. 2 निन्दकः । ४६*१) 1 D °नानाभिधेषु°, पूजासु. 2 गूथादिषु. 3 निन्दा, घृणा. 4 इति निर्विचिकित्सितत्वं तृतीयाङ्गम् । ४७) 1 चर्मैः (चर्मभिः). 2 जैनमतवेत्ता. अमूढदृष्टिः. 3 कदाचित् ।

797) अष्टौ[1] कथा यथाख्याता दृक्शुद्ध्यै न कुतीर्थिषु ।
प्रशंससंस्तवौ तेनुस्तथा तद्धेतवो जनाः ॥ ४८

798) लोके शास्त्राभासे[1] समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ ४८*१

799) तैलबिन्दोरिवाम्भस्सु वृथा तत्र बहिर्द्युतिः ।
रसवत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधाय धातुषु ॥ ४९

800) कादम्बताक्ष्यर्गोसिंहपीठादिपतिषु स्वयम् ।
आगतेष्वपि नैवाभूद्रेवती[1] मूढतावती ॥ ४९*१

निःशंकितादि आठ अंगों की कथायें जिस प्रकार सम्यग्दर्शनकी शुद्धि के लिये कहा गई हैं उस प्रकार कुतीर्थियों में–मिथ्यादृष्टियों के विषय में–नहीं कही गई हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिये भव्यजन कुतीर्थियों की प्रशंसा और संस्तव न करें ॥४८॥

लोक में तत्त्व में रुचि रखनेवाले – निर्मल सम्यग्दृष्टि–जीव को शास्त्राभास–पूर्वापर विरोधादि दोषों से संयुक्त आगम, समयाभास–जिनमत से विरुद्ध वैशेषिक व सांख्य आदि मतान्तर–तथा देवताभास रागद्वेष से परिपूर्ण हरिहरादिक देवता विशेषों में निरन्तर अमूढदृष्टित्व को –परीक्षाप्रधान दृष्टिको धारण करना चाहिये ॥ ४८*१॥

जिस प्रकार पारा धातुओं के भीतर छेद कर देता है उस प्रकार जिस मनुष्य के अन्तरंग को अन्तर्बोध–अध्यात्मज्ञान–नहीं भेदता है, उस व्यक्ति का बाह्य प्रकाश–बाहिरी विद्वत्ता–पानी में फैली हुई तेल की बूंद के समान निरर्थक है ॥ ४९ ॥

हंसासन, गरुडासन, वृषभासन और सिंहासन आदि के अधिपति ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश और जिनेश्वर (तीर्थंकर) इनके स्वयं आनेपर भी रेवती रानी मूढता को प्राप्त नहीं हुई अर्थात् उसके तत्त्वश्रद्धान में मलिनता उत्पन्न नहीं हुई। (अभिप्राय यह है कि वन्दना भक्ति के लिये उत्तर मथुरा को प्राप्त हुए विद्याधर क्षुल्लक चन्द्रप्रभ ने जब रेवती रानी के शुद्ध सम्यग्दर्शन के परीक्षणार्थ क्रमशः ब्रह्मा आदि के रूपों को धारण कर प्रदर्शन किया तब उनके वन्दनार्थ अनेक मूढ जनों के जानेपर भी निर्मलतत्त्व श्रद्धा से संपन्न रेवती रानी नहीं गई। इसी से वह सम्यग्दर्शन के अमूढदृष्टिनामक चतुर्थ अंग में प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है)॥४९*१॥

---

४८) 1 निःशङ्कावष्टौ कथा. 2 PD विस्तारयामासुः । ४८*१) D शास्त्रलक्षणरहितः । ४९*१) 1 P हंसपतिर्ब्रह्मा गरुडपतिर्विष्णुः गोपतिरीश्वरः सिंहासनपतिर्जिनः एते सर्वे मायाजनिता ज्ञात्वा रेवती न मूढमतिरभूत्. D हंसवाहनः ब्रह्मा, गरुडवाहनः विष्णुः, वृषभवाहन ईश्वरः ।

801) क्षान्त्याद्यैर्[1]दशधा गुणैरहरहर्[2]धर्मं समावर्धयन्
दर्पाद्दैववशात् क्वचिद्व्रतवतां जातं निगूहन्नघम्[3] ।
मातेवात्मभुवां[4] स वर्धकतमः[5] सर्वज्ञभक्तो[6] यथा
मायासंयमिनो[7] निगूहति[8] चुरां[9] सूर्यस्य[10] रत्नोद्भवाम्[11] ॥ ५०

802) सिद्धानां भवभृन्मलैर्मलिनिमा किं जायते कर्हिचित्[1]
धूल्या किं गगनस्य भेक[2]मरणाद्दुर्गन्धिताब्धेश्च[3] किम् ।
चारित्रं कुलपांसनो[4] यदि जनो वोढुं[5] न शाशक्यते
सद्धर्मस्य न तावता सुमतिभिर्मालिन्यमाम्नायते ॥ ५१

803) दोषं निगूहति[1] न यो ऽन्यजनस्य जातं
धर्मं न बृंहयति[2] यो गुणसंपदाच्चैः ।
चित्रं किमत्र ननु दर्शनमस्य दूरं
बाह्यो ह्यसौ समयतो[3] ऽकथि[4] तथ्यबोधैः[5] ॥ ५२

उत्तम क्षमादिक दश प्रकार के गुणों से प्रतिदिन धर्म को बढानेवाला तथा अभिमानके वश होकर यदि किन्हीं व्रती जनों के कोई पाप (दोष) उत्पन्न हुआ है तो उसे ढँकनेवाला भव्य जीव जैसे माता पुत्रों के सद्‌गुणों को बढाती है वैसे अपने और अन्य साधर्मिकों के गुणोंको बढाता हुआ उक्त जन व्रती जनों के दोषों को इस प्रकार से ढँकता है जिस प्रकार कि सर्वज्ञ के भक्त–जिनेंद्र भक्त–सेठ ने कपटी संयमी के- संयमी के वेष को धारण करनेवाले शूर्प (सूर्य) नामक चोर की–रत्नहारविषयक चोरी को ढँका था ॥५०॥

क्या सिद्ध परमात्माओं को कभी संसारी जीवों के पापमल से मलिनता हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है। क्या धूलि से कभी आकाश के मलिनता होती है ? नहीं होती। तथा क्या मेंढक के मरने से समुद्र के दुर्गन्धता होती है ? नहीं होती। यह कारण है जो कुलको कलंकित करनेवाला कोई हीन मनुष्य यदि चारित्र को नहीं धारण कर सकता है तो इतने मात्र से विद्वान् जन धर्मकी मलिनता का ख्यापन नहीं किया करते हैं ॥ ५१ ॥

जो अन्य जन के उत्पन्न हुए दोष को नहीं ढँकता है तथा जो क्षमादि गुणरूप महती संपत्ति से धर्म को नहीं बढाता है, उससे सम्यग्दर्शन यदि दूर हो तो आश्चर्य ही क्या है ? सत्यज्ञानी अर्थात् सम्यग्ज्ञानी गणधरों ने उसे धर्म से बाह्य–पापात्मा–कहा है ॥ ५२ ॥

---

५०) 1 उत्तमक्षमादि. 2 दिनं दिनं. 3 गोपयन् दोषम्, D पापं. 4 निजपुत्रादीनाम्. 5 भव्यवर-पुण्डरीकः. 6 जिनभक्तः श्रेष्ठी. 7 D क्षुल्लकस्य. 8 आच्छादयति. 9 चोरम्. (चौर्यम्). 10 सूर्यनाम्नो ब्रह्म-चारिणः. 11 उत्पन्नां चुराम् । ५१) 1 कदाचित्. 2PD मण्डूक, 3 समुद्रस्य. 4 कुलविनाशकस्य. Dकुलविना-शकः. 5 D चरितुम् । ५२) 1 आच्छादयति. 2 न वर्धयति. 3 जिनशासनात्. 4 कथितम्. 5 सत्यज्ञानै-र्जिनैरित्यर्थः ।

804) कामक्रोधमदादिभिः सुतपस[1]ः संचाल्यमानं परं
वारंवारमवार्यवेगबलिभि[2]र्लोकत्रयी-ह्रेपकैः[3] ।
तत्कालं द्वयलोकदुःखकथनप्रागल्भ्ययुग्युक्तिभिः
स्थेयांसं[4] समयी[5]करोति यदि नो दूरं[6] भवं[7] द्राघयेत्[8] ॥ ५३

805) किं च संदिग्ध[1]निर्वाहैर्नवैः संघं विवर्धयन् ।
प्राप्ततत्त्वं त्यजन्नेकदोषतः समयी[2] कथम् ॥ ५४

806) हली[1] घातितवान् पुत्रं स्वसमं[2] सर्वकर्मसु ।
कुक्षिभाविसुताशायां बद्धबुद्धिर्हि दुर्विधः ॥ ५५ । युग्मम् ।

जो काम, क्रोध एवं मद आदि अतिशय अजेय (बलिष्ठ) होने के कारण तीनों लोकोंको लज्जित (तिरस्कृत) करनेवाले हैं उनके द्वारा उत्तम तपसे वार-वार भ्रष्ट किये जानेवाले अन्य भव्य जीव को यदि कोई निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव दोनों लोकोंके दुःख को प्रगट करनेवाली प्रबल युक्तियों के द्वारा उसी समय धर्ममें स्थिर नहीं करता है तो वह उसके व अपने संसार को अतिशय दीर्घ करता है। (धर्मसे च्युत होते हुए उक्त भव्य जीव के साथ वह स्वयं भी दीर्घकालतक संसार में परिभ्रमण करनेवाला होता है) ॥५३॥

जिन लोगों के संयम के निर्वाह में संदेह बना हुआ है, (अर्थात् जो संयम को स्वीकार करके उसका निष्ठापूर्वक परिपालन करनेवाले नहीं हैं या उसे छोड भी सकते हैं) ऐसे नवीन दीक्षित साधुओं से जो अपने संघ को वृद्धिगत करता है तथा जो किसी एक आध दोष के कारण प्राप्त तत्त्व-संयमनिष्ठ-अन्य पूर्वकालीन साधु को छोड देता है-संघ से पृथक् कर देता है-वह भला समयी-जिनशासन का भक्त-कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता है। वह तो उस दरिद्र किसान के समान है जिसने गर्भ में अवस्थित भावी पुत्र की आशा में चित्त देकर अपने समान सब कामों में दक्ष पुत्र को मार डाला था ॥ ५४-५५॥

---

५३) 1 सकाशात्. 2 प्रतिमल्लरहितैः कामक्रोधादिभिः. 3 P लज्जकैराच्छादकैर्वा, D कोपादिभिः निन्द्यैः. 4 स्थितीकरणम्. 5 P श्रावकः, D समयवान्. 6 PD अतिशयेन. 7 PD संसारम्. 8 PD दीर्घं करोति। ५४) 1 D संदेहं. 2 P विवेकी श्रावकः कथं भवति, D एकं दोषम् अवलोक्य यः अवगणयति स कथं श्रावकः। ५५) 1 D पांवरः. 2 आत्मतुल्यम् ।

807) संघकार्यं यतो ऽनेकधा मानवै –
स्तन्यते ऽतो यथायोग्यमालोच्य वै ।
निर्विवादं प्रबोध्यानिशं धार्मिको
योज्यते तत्र[1] सो ऽसौ स्थिरीकारिणा ॥ ५६

808) अथोपेक्षेत जायेत दवीयांस्तत्त्वतो[1] जनः ।
बंहीयांश्च[2] भवो ऽस्येत्थमनवस्था प्रथीयसी[3] ॥ ५७

809) अज्ञविज्ञजनयोरुदाहृतं किंचनोच्यते वबोधचारिणाम् ।
[illegible] किं करिष्यति कृतं दुरात्मकैः[1] ॥ ५८

810) ज्येष्ठां गर्भगरिष्ठिकां सुतपसि श्रीचेलनातिष्ठिपत्
संभिन्नादिकुमन्त्रिभिर्गुरुमतप्रष्ठक्रियादर्शकैः ।
सद्धर्मे हि महाबलं[1] कृतमलं बुद्धः स्वयंपूर्वको
जीवास्तित्वविकासिदण्डिकिकथा[2] प्रायः स्फुरद्युक्तिभिः ॥ ५९

संघ का कार्य चूंकि अनेक पुरुषों के द्वारा किया जाता है । इसीलिये स्थितिकरण अंग का परिपालक सम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य विचार करके तथा निर्विवाद उपदेश देकर धर्म से च्युत होनेवाले उस धार्मिक पुरुष को निरन्तर धर्म में योजित (दृढ) करता है । इसके विपरीत यदि वह उसकी उपेक्षा करता है तो वह तत्त्व से–धर्म से–दूर जायेगा–उस धर्म का त्याग कर देगा । इससे इसका संसारभ्रमण दीर्घ होगा । इस प्रकार से धर्म के विषय में अव्यवस्था बहुत होगी ॥५६–५७॥

जिन्हें स्थितिकरण का ज्ञान है और जो स्थिरीकरण करते हैं उनके लिये अज्ञ और चतुर जन के कुछ उदाहरण दिये गये हैं । (पूर्वोक्त प्रकार से यदि धार्मिक लोग अपने साधर्मिकों को धर्म में स्थिर करते हैं तो फिर) दुष्टों के द्वारा किये गये परीषह और महोपसर्ग क्या कर सकेंगे ? कुछ भी नहीं । (अर्थात् तब उस अवस्था में उनके द्वारा किया जानेवाला उपसर्ग भी व्यर्थ होगा) ॥५८॥

चेलना रानीने गर्भ के भारी भार को धारण करनेवाली ज्येष्ठा को प्रसूति के अनन्तर तपश्चरण में स्थिर किया था । (अर्थात् सत्यकी मुनि से जब उसे अर्जिकाकी अवस्था में गर्भ

५६) 1 संघे । ५७) 1 D ज्ञानिन. 2 P गरिष्ठ, D पटुबुद्धिः. 3 D गरिष्ठा । ५८) 1 D कुमन्त्रिभिः महाबलिराज्ञः । ५९) 1 D राजानं. 2 दण्डिकराज्ञः ।

811) सुदतीसंगमासक्तं[1] पुष्पदन्ततपस्विनम् ।
वारिषेणः कृतत्राणः स्थापयामास संयमे ॥५९*१

812) व्यन्तर्या कृतलिङ्गविक्रियमथ[1] भुक्तिक्षणे दुष्टया
वैशाख[illegible]गिनं कृशतनुं श्रीचेलना श्राविका ।
दृष्ट्वा काण्डपटं[2] प्रसार्य सहसा निर्विघ्नमाबूभुजत्
शुक्लध्यानसुपञ्जरान्तरगतो ऽतो ऽसावगात् केवलम्[3] ॥ ६०

813) अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मसु परमं वात्सल्यमवलम्ब्यम् ॥ ६०*१

814) आदृतिर्[1]व्यावृतिर्[2]भक्तिश्चाटूक्तिः[3] सत्कृतिः[4] कृतिः ।
सधर्मसु च साचित्तीकृतिर्वात्सल्यमुच्यते ॥ ६१

गया था उस समय 'धर्म की निन्दा होगी' इस भय से चेलना—जो कि ज्येष्ठा की बहिन थी—उसे अपने घर ले गई । पश्चात् प्रसूत होनेपर वह फिर तप में लगी – स्थित हो गई थी) । दूसरा उदाहरण—चार्वाक आदि दर्शनों के प्रमुख विद्वान् व उनके आचार के दर्शक संभिन्नमति आदि (शतमति व महामति) दुष्ट मंत्रियों ने जब महाबल राजा को अपने मतों से चलिताचत्त किया था तब स्वयंबुद्ध मंत्रीने उसे जीवके अस्तित्व को स्पष्ट करनेवाली अनेक कथाओं के साथ तत्त्वसिद्धि करनेवाली युक्तियों से सद्धर्म में अतिशय स्थिर किया था ॥ ५९ ॥

तीसरा उदाहरण – सुदतीनामक अपनी पत्नी के संगम के लिये उत्कण्ठित हुए पुष्पदन्त तपस्वी को कुमार्ग से बचानेवाले वारिषेण मुनिने संयम में स्थिर किया था ॥ ५९*१॥

चौथा उदाहरण – आहार के समय दुष्ट व्यन्तरी के द्वारा जिसके पुरुषेन्द्रिय में विकार उत्पन्न किया गया था ऐसे कृश शरीरवाले वैशाखनामक मुनि को जब श्राविका श्री चेलना रानीने देखा तब उसने उसी समय परदास्वरूप एक वस्त्र के टुकडे को फैलाकर उनको निर्विघ्न आहार दिया था । तत्पश्चात् वे मुनिराज शुक्ल ध्यानरूपी पिंजरे के भीतर बैठकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए ॥ ६० ॥

सतत मुक्तिस्वरूप लक्ष्मी के कारणभूत अहिंसात्मक धर्म में और सभी साधर्मिक जनों में उत्कृष्ट वात्सल्य का आश्रय लेना चाहिये ॥ ६०*१॥

साधर्मिक जन के विषय में जो आदृति (विनय), व्यावृत्ति (सेवा – शुश्रूषा), भक्ति (गुणानुराग), सत्काररूप क्रिया की जाती है उसे वात्सल्य कहा जाता है ॥ ६१ ॥

५९*१) 1 P निजस्त्रीसंगमासक्तम्, D ब्राह्मणा पुत्री पुष्पदन्तस्य पत्नी । ६०) 1 D मुनिं. 2 D वस्त्रे पटं. 3 D ज्ञानं । ६१) 1 विनीति आदरम्, D आदरः विनयः चाटुकारोक्तिः. 2 सुस्थताकृतिः वैयावृत्त्यकरणम्. 3 चाटु उक्तिः. 4 P °सत्कृतेः ।

815) ज्ञानदर्शनचरित्रवत्सु[1] वै तेषु संघगुरुतुल्यधर्मिषु[2] ।
व्याजवर्जितधिया[3] हि यावृतिः[4] सा विनीतिरिति कथ्यते बुधैः ॥ ६२

816) आचार्यादिकदशके दुर्दर्शके[1] रुगादिभिः
विशुद्धकर्मणा सौस्थ्यकृतिर्[2]व्यावृतिरीर्यते[3] ॥ ६३

817) जिने जिनागमे सूरौ[1] तपःश्रुतपरायणे ।
सद्भावशुद्धिसंपन्नो ऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥ ६३*१

818) अन्तःप्रमोदगर्भायाः परमेष्ठिगुणावलेः ।
स्तुतिः प्रह्वतया[1] शश्वच्चाटूक्तिं तामुशन्ति[2] च ॥ ६४

819) धर्मदेशकपुरोगपञ्चके या[1] पुलाकबकुशादिगर्मिते[2] ।
श्रीदिगम्बरगणे ऽर्थविस्तरैः प्रार्चना भवति सा तु सत्कृतिः ॥ ६५

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र व उनके धारकों में तथा संघ, गुरु और साधर्मिक जनके भी विषय में निष्कपट बुद्धि से जो आदर का भाव रखा जाता है उसे पण्डित जन विनीनि (विनय) कहते हैं ॥ ६२॥

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस के तथा रोगादि के कारण जिनका देखना भी कष्टप्रद है ऐसे साधुजनों के विषय में जो विशुद्ध वृत्ति से – निर्मल परिणामों से–स्वास्थ्यजनक क्रिया की जाती है उसे नाम से व्यावृति कहा जाता है ॥ ६३ ॥

जिन, जिनागम और तपश्चरण एवं श्रुत में तत्पर रहनेवाले आचार्य में अन्तःकरण की प्रसन्नता से परिपूर्ण गुणानुराग हुआ करता है, उसे भक्ति कहते हैं ॥ ६३*१॥

अन्तःकरण में हर्ष से परिपूर्ण जो परमेष्ठी के गुणसमूह का नम्रतापूर्वक निरन्तर कीर्तन किया जाता है उसे चाटूक्ति कहते हैं ॥ ६४ ॥

धर्मोपदेश करनेवाले आचार्यादिक के आगे स्थापित किये हुए चौरंगपर पुलाक बकुशादिक साधुओं से दिगम्बर मुनियों की जो अर्थ विस्तारपूर्वक पूजा की जाती है उसे प्राचंना कहते हैं ॥६५॥

---

६२) 1 P °चारित्रवत्सु वै. 2 PD तुल्यधर्मसु. 3 पाखण्डवर्जितबुद्धया. 4 आदरकरणम्, D आदरः। ६३) 1 P कष्टप्राप्ते,D दुष्टदशासहिते. 2 स्वच्छताकृतिः. 3 P °व्यावृतिरीर्यते, वैयावृत्यकरणम्. ६३*१) 1 आचार्ये । ६४) 1 नम्रतया. 2 PD कथयन्ति। ६५) 1 प्रार्थना. 2 १ पुलाक २ बकुश ३ कुशील। ४ निर्ग्रन्था ५ स्नातका केवली ।

820) ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयति[1] ।
स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मी[2] नूनं तस्याप्यसूयति[3] ॥ ६६

821) विद्याभिर्वपुषा च वित्तविसरैः[1] स्वेनापरैर्वा सदा
स्वीकारावनकारणं[2] ह्युपकृतिः श्रेयोर्थिभिः कीर्त्यते ।
त्रेधातङ्कवतां महाव्रतवतां सौचित्यकृद्व्यावृति[3]-
र्यद्वत्सत्यकिनात्र[4] पञ्चशतिकोपाचारि दिग्वाससाम् ॥ ६७

822) बलिर्विघ्नं चक्रे मुनिपनिवहे हास्तिनपुरे
विकुर्वाणो दृष्ट्वा क्षणमथ तथा वामनतया[1] ।
त्रिवितस्त्यावच्छिन्नावनितलपरिप्रार्थननिभात्[2]
प्रवर्धिष्णुर्विष्णुः[3] परिशमितवान् वत्सलतया ॥ ६८

823) आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव[1] ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च[2] जिनधर्मः ॥ ६८*१

जो ज्ञान, तप और पूजा के विषय में मुनियों से ईर्ष्या करता है, (उनके गुणों को सहन नहीं करता है) उससे स्वर्ग-मोक्ष की लक्ष्मी भी ईर्ष्या करती है (उसे वह नहीं प्राप्त होती है) ॥६६॥

विद्या, शरीरसामर्थ्य व धनसमूह से स्वयं अथवा दूसरों से मुनियों को स्वीकार कर उनका रक्षण करना इसे मुमुक्षु जन उपकार कहते हैं। जो महाव्रतधारी मुनि रोग से पीडित हैं उनकी मन, वचन व काय से शुश्रूषा कर के उन में स्वास्थ्य उत्पन्न करना, इसका नाम व्यावृति - वैयावृत्य है। यथा सात्यकि मुनिराज ने पाँच सौ मुनिराजों की सेवा करके उन्हें रोगमुक्त किया था ॥६७॥

बलि राजा ने जब हस्तिनापुर में मुनीश्वरों के समूह पर विघ्न (उपसर्ग) किया था तब उसे देखकर विष्णुकुमार मुनिने धर्मानुरागवश क्षणभर में वामन रूपसे विक्रिया कर के बौने बटुक के वेष को धारण कर के-तीन वितस्ति (एक चतुर्थांश हाथ) परिमित भूमि की याचना के मिष से अपने शरीर को बढाते हुए मुनियों के उस विघ्न को नष्ट किया था ॥६८॥

सम्यग्दृष्टि भव्य जीव को रत्नत्रय के तेज से-उससे अपने आप को विभूषित कर के अपने आत्मा की तथा दान, तप, जिनपूजा और विद्या के चमत्कार से जिनधर्म की भी प्रभावना करनी चाहिये ॥ ६८*१ ॥

६६) 1 इष्टु [यष्टु] मसहनशील: यः. 2 भूमेः श्री. 3 सा स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीः तस्य इष्टु [यष्टु] मसहनशीला भवति । ६७) 1 द्रव्यसमूहैः. 2 नम्रीभवनम्, D विनयं. 3 वैयावृत्यम्. 4 सत्यप्रतिज्ञेन श्रावकेन, सात्यकिनाम्ना मुनिना, D मुनिना अकम्पनमुनिसंघाटके । ६८) 1 वामनरूपेण. 2 त्रिपदप्रमाणभूमिप्रार्थनतया, D बीषत्रीनि. 3 वर्धितः । ६८*१) 1 D निरन्तरं. 2 प्रभावनीयः ।

824) विचित्रदानैर्भरतप्रमुख्यैः सनत्कुमारादिभिरुग्रयोगैः ।
अनेकभङ्ग्या जिनपूजनादिभिः प्रभावनारच्यत रावणाद्यैः ।। ६९

825) पूतिकस्योर्विलादेव्या विद्यातिशयतो रथम् ।
मुनिर्वज्रकुमाराख्यः सर्वं भ्रमं भ्रमत् ।।७०

826) तद्दानज्ञानविज्ञानमहाध्वजमहादिभिः ।
ऐहिकापेक्षया मुक्तः कुर्यान्मार्गप्रभावनाम् ।। ७०*१

827) युक्तीरिमा निरुपमास्त्वपरा निरूप्य
सम्यक्त्वमात्मनि नराः स्थिरतां प्रणीय ।
श्रीषेणवत्सकलकेवलसौख्यमार्गा-
न्निःश्रेयसं यदि हि शिश्रियिषध्वमाध्वम् ।। ७१

इति सम्यक्त्वाङ्गनिरूपणपरो दशमो ऽवसरः ।। १० ।।

चक्रवर्ती भरतादी के द्वारा नाना प्रकार के दान से, सनत्कुमारादि महर्षियों के द्वारा तीव्र आतापनादि योगों से तथा रावणादिक राजाओं के द्वारा अनेक प्रकार की जिनपूजनादि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की गई है ।। ६९ ।।

वज्रकुमार मुनि ने अपनी विद्या के माहात्म्य से पूतिक राजाकी रानी उर्विला देवी के रथ को बडे ठाट-बाट से नगर में घुमाया था ।। ७० ।।

इसलिये दान, ज्ञान, विज्ञान—विद्या-मंत्रादि और महाध्वज आदि पूजा विशेषों के द्वारा ऐहिक इच्छाओं से रहित होकर मार्ग की प्रभावना करनी चाहिये ।। ७०*१।।

इसलिये हे भव्यजनो ! उपर्युक्त इन असाधारण युक्तियों से तथा अन्य भी युक्तियों के द्वारा देखकर—तत्त्व की परीक्षा कर के—अपनी आत्मा में सम्यक्त्व को स्थिर कर श्रीषेण राजा के समान (जो कि आगे शांतिनाथ तीर्थंकर हुए हैं) संपूर्ण केवल सौख्य के मार्ग से मोक्ष का आश्रय करना चाहिये ।। ७१ ।।

इस प्रकार सम्यक्त्व के अंगों का निरूपण करनेवाला दसवां अवसर समाप्त हुआ ।। १० ।।

---

६९) 1 रचिता । ७०) 1 पूतिकनाम्नः राज्ञः. 2 सहर्षम्. 3 भ्रामयामास । ७०*१) 1 D ईहारहितः । ७१) 1 सेवध्वम्. 2 तिष्ठध्वम् ।

[११. एकादशो ऽवसरः]

[आद्यमतिमाप्रपञ्चनम्]

828) इत्थमास्थाय सम्यक्त्वं सम्यग्ज्ञानमुपास्यते ।
आम्नाय[1]युक्तियोगाद्यैः संनिरूप्य[2] परंपरैः ॥ १

829) एककालसमवाप्तजन्मनोरंशुमालिमहसो[1]रिवर्षिभिः[2] ।
एतयोः[3] पृथगुपास्तिरुच्यते भिन्नयोः[4] सहजलक्षणादपि ॥ २

830) आप्तसूक्तिसकलार्थसंग्रहे निश्चला परिणतिः सुमेरुवत् ।
बद्ध[1]रत्ननिवहे यथा नृणां किं स्विदेत[2]दिति न प्ररूपयेत्[3] ॥ ३

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके विषयमें निष्ठा रखकर आचार्य परंपरागत उपदेश, प्रमाण-नयात्मक युक्ति और योग (मन की एकाग्रता) आदि रूप उपायोंसे निर्दोष विचार करते हुए सम्यग्ज्ञान की उपासना की जाती है ॥ १ ॥

उक्त सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही यद्यपि सूर्य और उसके प्रकाश के समान युगपत् उत्पन्न होते हैं फिर भी वे लक्षणभेदसे भिन्न माने गये हैं । इसीलिये महर्षियों के द्वारा उन दोनोंकी भिन्नरूप से उपासना कही जाती है ॥ २ ॥

जिनेश्वरकी दिव्यध्वनिमें संपूर्ण जीवादि पदार्थोंका संग्रह होता है । जिस प्रकार बंधे हुए रत्नसमूहमें मनुष्योंकी परिणति होती है उसी प्रकार उसमें मेरु पर्वत के समान जो निश्चल परिणति होती है व जिसमें यह क्या है, ऐसा संशय उत्पन्न नहीं होता है उसका नाम सम्यग्दर्शन है । रत्नों के ढेर में यह क्या है ऐसा संशय उत्पन्न होता है । तात्पर्य यह कि, जीवादिक पदार्थों में

१) 1 D प्रमाणनयसप्तभङ्गीयोगेन. 2 कथयित्वा ज्ञाता । २) 1 सूर्यप्रकाशयोरिव. 2 मुनिभिः. 3 PD दर्शनज्ञानयोः. 4 द्वयोः । ३) 1 जडित. 2 PD अथवा किंस्वित् शब्दस्यार्थः– किं भवति वा न भवति एतद्विकल्पम्. 3 इति न कथयेत् विकल्परूपम् ।

831) दृङ्मोहस्योपशमात् क्षयोपशान्तिद्वयाच्च[1] जायेत ।
सम्यक्संज्ञाहेतुः सम्यक्त्वं स्याच्च बोधस्य ॥ ४ । युग्मम् ।

832) सम्यग्ज्ञानमतो ऽस्य[1] कार्यम[illegible]प्रभावत्सदा
व्यग्रं वस्तुविवेकशेखरतया चैकं द्विधानेकधा ।
आराध्यं तदनन्तरं विनयतः[2] कालाच्च सावग्रहात्[3]
ग्रन्था[4]र्थोभय[5]संयुतं बहुमते[6]स्त्यक्त्वा गुरोर्निह्नवम्[7] ॥ ५

जो निश्चल श्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है तथा वह ज्ञानकी 'सम्यग्ज्ञान' इस संज्ञा का कारण है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान के समीचीनपना आता है, जिस से वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ॥३–४ ॥

चूंकि ज्ञान की समीचीनता का कारण पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन ही है, अतएव उन दोनों में परमार्थसे भेद के न होने पर भी प्रस्तुत सम्यग्ज्ञान उक्त सम्यग्दर्शनका कार्य इस प्रकार माना गया है जिस प्रकार कि दीपक से अभिन्न उसकी प्रभा उस दीपकका कार्य मानी जाती है। वह सम्यग्ज्ञान तलवार की धार के समान तीक्ष्ण–वस्तु को भेदनेवाला (जाननेवाला) होकर निरन्तर वस्तु के विवेक (पृथक् पृथक् अनेक विषयोंके ग्रहण) रूप शिखा की अपेक्षा व्यग्र (अस्थिर) है। तथा निश्चय से एक (अखण्ड) होकर भी वह दो अथवा अनेक प्रकारका भी है। ग्रन्थ (शब्द) अर्थ और उभय (ग्रन्थ–अर्थ) स्वरूप उस सम्यग्ज्ञानकी आराधना उक्त सम्यग्दर्शनके पश्चात् विनयपूर्वक अवग्रह के साथ योग्य समय में गुरु के नाम को न छिपाते हुए अतिशय आदरपूर्वक करनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि उक्त सम्यग्ज्ञान की आराधना निम्न आठ अंगों के द्वारा की जाती है–१) ग्रन्थ २) अर्थ ३) उभय (ग्रन्थ–अर्थ) ४) काल ५) विनय ६) अवग्रह (उपधान) ७) बहुमान और ८) अनिह्नव

विशेषार्थ–श्रुतज्ञान एक है, द्रव्यश्रुत पद, वाक्य, शास्त्ररूप है। भावश्रुत–मतिज्ञानके अनंतर होनेवाला अनेक विषयों की चर्चा करनेवाला ज्ञान। अनेकधा–आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अकरा भेद और उत्पादपूर्वादि चौदह भेद हैं। ज्ञानार्जनके आठ उपाय हैं १) विनय–इसे भक्ति कहते हैं। अर्थात् हात जोडकर मस्तक पर रखना, अंगों की पवित्रता रखना, बुद्धि को एकाग्र करना। २) कालविनय–स्वाध्याय के समय को नहीं टालना, नियमित समय में स्वाध्याय करना। ३) अवग्रह–जिस सूत्र के अध्ययन में जिस व्रत को धारण करना चाहिये उसे धारण करना ४) ग्रन्थशुद्धि–ग्रन्थ अर्थात् पद, वाक्योंका शुद्ध उच्चारादिक करना ५) अर्थशुद्धि–उसके अर्थमें

४) 1 क्षयोपशमद्वयाच्च । ५) 1 सम्यग्ज्ञानस्य [सम्यग्दर्शनस्य]. 2 सम्यग्ज्ञानस्याष्टावङ्गानि. 3 सहावग्रहम्. 4 विजन. 5 अर्थ तदुभयाग्रे विजनयोः. 6 बहुमानतः. 7 PD गुरुलोपनम् ।

833) क्षयतः क्षयोपशमतो भवति ज्ञानावृतेः स इह किंतु ।
दर्शनसहजो ऽपि ततो बोधः पश्चादुपास्यते सद्भिः[1] ॥ ६

834) प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्वैधं बोधो विधीयते ।
अन्यत्र[1] केवलज्ञानात् स[2] प्रत्येकमनेकधा ॥ ७

835) षट्त्रिंशत्त्रिशतैरवग्रहमुखैर्भेदैः परैः स्यान्मतिः
पूर्वाङ्गैः कलितं श्रुतं बहुविधं स्यादङ्गबाह्यात्मकम् ।
विज्ञेयो ह्यनुगामिमुख्यविसरद्भेदात्मकश्चावधिः[1]
ख्यातश्चर्जुमतिर्[2]द्विधैव विपुलो बोधो मनःपर्ययः ॥ ८

836) त्रयात्मकार्थेषु[1] हि सप्तभङ्गिकानुरोधवत्स्वव्यवसायकल्पनम्[2] ।
विपर्ययानध्यवसायसंशयै[3]र्विविक्तरूपं निजरूपमेव तत्[4] ॥ ९

मन को लगाकर विपरीत धारणा नहीं करना ६) उभयशुद्धि— ग्रन्थ और अर्थ की शुद्धि धारण करना। अनिन्हव—किसी ने गुरु से अध्ययन किया तब किसी ने पूछा कि यह ज्ञान तुमने कहाँ से प्राप्त किया तो गुरु के नाम का उल्लेख अत्यादर से करना। ये सम्यग्ज्ञानप्राप्ति के लिये करें॥५॥

वह सम्यग्ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से व क्षयोपशम से होता है। इसीलिये सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होनेवाले उक्त सम्यग्ज्ञान की आराधना सत्पुरुषों के द्वारा सम्यग्दर्शन के पश्चात् की जाती है ॥ ६ ॥

वह ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। उसके मतिज्ञान आदि जो अन्य पाँच भेद हैं, उनमें एक केवलज्ञान को छोडकर शेष चारों में प्रत्येक अनेक प्रकार का है ॥ ७ ॥

यथा— अवग्रह आदि तथा अन्य भेदों से मतिज्ञान के तीनसौ छत्तीस (३३६) भेद हैं। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप दो प्रकार के श्रुतज्ञान में अंगप्रविष्ट श्रुत बारह अंग और चौदह पूर्व आदि रूप अनेक भेदों से संयुक्त है। दूसरा अंगबाह्यरूप श्रुत सामायिक आदि के भेदसे बहुत प्रकारका है। अवधिज्ञान अनुगामी आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका जानना चाहिये। मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप पदार्थों में सप्तभंगी का अनुसरण करते हुए अपने निश्चय नय की कल्पनापूर्वक जो संशय, विपर्यय व अनध्यवसायसे रहितता है, यही सम्यग्ज्ञान का निजस्वरूप है। (अभिप्राय यह है कि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वरूप पदार्थों को विषय करने

---

६) 1 D पुरुषैः । ७) 1 मत्यादिचतुष्टयेषु. 2 बोधः । ८) 1 D समूहः. 2 ऋजुमतिः । ९) 1 उत्पादव्ययध्रौव्यादिषु. 2 यथा स्यात् तथा. 3 संशयविमोहविभ्रमदोषत्रयरहितं केवलज्ञानम्. 4 अतीन्द्रियज्ञानम् ।

837) विपर्ययादींस्तु[1] परैति मर्त्यः[2] स्वदोषतो ऽर्थेषु[3] न साधुबोधः[4] ।
द्विधा सुधांशुं[5] खलु मन्दचक्षुर्निरीक्षते न क्षतदोषचक्षुः[6] ॥ १०

838) त्रैकाल्यत्रिजगत्तत्त्वे हेयादेयप्रकाशकम् ।
यत्करोतीह जीवानां सम्य[illegible]ानं[1] तदुच्यते ॥ ११

839) हेयादेयं न संवेत्ति यः प्रकाशे ऽपि संचरन् ।
बोधः प्रकाशवत्तस्य वृथादित्यद्विषो[2] यथा ॥ १२

840) आवृतिक्षयशमोत्थपर्यया[1] ये भवन्ति मतिपूर्वका नरे ।
ते [illegible]वर्तिनो य[illegible]वज्जननता ऽन्धतायुजः[2] ॥ १३

वाला वह सम्यग्ज्ञान स्व–पर व्यवसायात्मक है । उदाहरणार्थ, जैसे दीपक अन्यवस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ स्वयं को भी प्रकाशित करता है । यही स्वभाव ज्ञान का भी समझना चाहिये ॥ ९ ॥

मनुष्य अपने दोषसे पदार्थों के विषय में विपर्यय आदि को प्राप्त होता है उन्हें यथार्थ न जानकर विपरीत आदि स्वरूप से जानता है । किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव उन्हें .विपरीत आदि स्वरूप से न जानकर यथार्थ ही जानता है । ठीक भी है– जिसके नेत्र काच–कामलादि दोष से दूषित हैं, वह एक ही चन्द्रमा को दो रूप में देखता है । किन्तु जिसके नेत्र उक्त दोष से रहित हैं, वह उसे अभिन्न–एक ही–देखता है ॥ १० ॥

जो यहाँ जीवों के लिये तीनों काल और तीनों लोक संबन्धी पदार्थों के विषय में हेय और उपादेय भाव को प्रकाशित करता है– उनमे यह त्याज्य है और यह ग्रहण करने योग्य है, इस प्रकार का बोध करता है — उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ॥ ११ ॥

जो व्यक्ति प्रकाश में संचार करता हुआ भी –ज्ञान से वस्तुस्वरूप को जानता हुआ भी –हेय और उपादेय को नहीं जानता है, उसका वह ज्ञान इस प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार कि सूर्य के द्वेषी उल्लू को उस सूर्य का प्रकाश व्यर्थ होता है ॥ १२ ॥

मनुष्य में ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो मतिपूर्वक (श्रुतज्ञान की) पर्याय उत्पन्न होती है वे जन्मान्ध मनुष्य की लकडी के समान संसार में उसे हित व अहित के मार्ग में प्रवृत्त (और निवृत्त) करती हैं ॥ १३ ॥

१०) 1 विपर्ययानध्यवसायसंशयान्. 2 मनुष्य: 3 पदार्थेषु. 4 विपर्ययादीनेति. 5 P D चन्द्र. 6 निर्मल-नेत्रो द्विधा चन्द्रं नावलोकते, D निर्मलनेत्रं । ११) 1 ज्ञानम् । १२) 1 P D °सवित्तः. 2 घूकस्य, D उलूकस्य । १३) 1 D आवरणक्षयोपशमात् ज्ञानपर्ययाः. 2 जन्मनोऽन्धस्य ।

841) मतिश्रुता[illegible]नःपर्ययकेवलम् ।
परोक्षे विकलाध्यक्षे[1] प्रत्यक्षं सकलं क्रमात् ॥ १४

842) मतिश्रुतावधिज्ञानं विपर्येति कुदृष्टिषु[1] ।
सशर्करं यथा क्षीरं पित्ताधिज्वरिते कटु ॥ १५

843) विधूतदृङ्मोहबलैरभीक्ष्णं[1] समञ्जसज्ञानवि[illegible]तत्त्वैः ।
प्रकम्पदूरीकृतचारुचित्तै[2]श्चरित्रभारः स[illegible]पास्यते ऽतः ॥ १६

844) सम्यक्त्वसज्ञानचारित्रं लभते ज्ञानपूर्वकम् ।
वि[illegible]नन्तरं तेन[1] चारित्रोपास्ति[2]रुच्यते ॥ १७

845) समस्तसावद्यवियोगजातं[1] भवत्युदासीनतमं[2] चरित्रम् ।
चित्तं[3] कषायैः सक[illegible]विक्तं[4] [5]तदात्मरूपं विशदं[6] सदैव ॥ १८

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन पाँच ज्ञानों में क्रम से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष, तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ॥ १४ ॥

जैसे पित्तज्वर वाले मनुष्य को खाँड से मिश्रित मधुर दूध कड़ुआ लगता है वैसे ही मिथ्यादृष्टियों में मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपरीतता को प्राप्त होते हैं । (वस्तु-स्वरूप को वे अन्यथा ग्रहण करते हैं) ॥ १५ ॥

जो दर्शन मोहनीय के सामर्थ्य को नष्ट करके निरन्तर समीचीन ज्ञान के द्वारा वस्तु-स्वरूप को यथार्थरूप से ग्रहण किया करते हैं तथा जिनका निर्मल चित्त स्थिरता को प्राप्त हो चुका है, वे सज्जन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् चारित्र के भारकी उपासना किया करते हैं । (सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानपूर्वक वे चारित्र का परिपालन करते हैं) ॥ १६ ॥

चूंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक ही ' समीचीन ' संज्ञा को प्राप्त होता है– यथार्थ को प्राप्त करता है । इसीलिये विज्ञान के अनन्तर–सम्यग्दर्शन–ज्ञान के पश्चात् ही उस चारित्र की आराधना कही गई है ॥ १७ ॥

संपूर्ण पातकों का अभाव हो जाने से अतिशय उदासीन–राग–द्वेष से रहित–अर्थात् माध्यस्थ भाव से युक्त जो चारित्र प्राप्त होता है, वह सर्व कषायों से रहित हो कर निरन्तर निर्मलता को प्राप्त होता हुआ आत्मा का स्वस्वरूप है ॥ १८ ॥

१४) 1 प्रत्यक्षे, D अवधिमनःपर्यययोः परोक्षापरोक्षे । १५) 1 कुज्ञाने । १६) 1 PD वारंवारं [चिन्तनम्.] 2 पुरुषैः । १७) 1 कारणेन. 2 सेवा । १८) 1 व्यवहारचारित्रम्. 2 अतिशयेन उदासीनम्. 3 P°चित्तम्. 4 रहितम्. 5 PD चारित्रम् निश्चयचारित्रम्. 6 D निर्मलम् ।

846) निःशेषसंसारविषद्रुमूलकाषं कषित्वा[1] कुलयांश्च[2] शेषान् ।
योगप्रवृत्त्युत्थितकर्मशत्रून् स्वरूपराज्योल्लसितप्रतापः ॥ १९

847) सुमेरुवन्निःप्रतिकम्पभावो ऽसंस्पृश्यमानश्च मलैर्नभोवत्[1] ।
निर्वातपाथोधिवदात्मनः[2] स्थ इत्यथाख्यातमवादि[3][4] जीवः ॥ २० । युग्मम्

848) ममेदमस्याहमिति प्रवृत्तैः प्रतिक्षणोल्लासिविकल्पजालैः ।
अनाविलः[1] स्वस्थितिमात्रस्वस्थो दृग्ज्ञानचारित्रमयो ऽथ जीवः ॥ २१

849) जीवो न हन्तव्य इतीदृशो वा समस्तसावद्यविविक्तवृत्तिः ।
काले मिते[1] वाप्यमिते च जीवः सामायिकं धर्म इति प्रधानम् ॥२२ । युग्मम्

850) संज्वालनामत्रिकषायशान्तिक्षतिज्वलत्संयमभारसारः ।
सूक्ष्मेण लोभेन च लाञ्छितो यः स सूक्ष्मचारित्रमयो ऽस्ति जीवः ॥२३

जीव जब समस्त संसाररूप विषवृक्ष को–मोहनीय कर्म को–तथा कुलक को ज्ञानावरणादि अन्य तीन घातिया कर्मों के कुल को समूल नष्ट करके योग की प्रवृत्ति से बन्धनेवाले शेष वेदनीय कर्म को भी नष्ट कर देता है– स्थिति व अनुभागरूप बन्धसे रहित कर देता है – तब वह आत्मस्वरूप के राज्य से विकसित प्रताप से सुशोभित, सुमेरु पर्वत के समान स्थिर, आकाश के समान मल से–कर्मकलुषता से–अस्पृष्ट रहनेवाला और वायु के आघात से रहित समुद्र के समान अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है । यही यथाख्यात चारित्र का स्वरूप कहा गया है ॥ १९–२० ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप जीव जब 'यह–धन–धान्यादिक परपदार्थ– मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ, इस प्रकार प्रवृत्त हो कर प्रत्येक समय में विकास को प्राप्त होनेवाले विकल्पसमूहों से मलिन न हो कर एकमात्र आत्मस्थिति में – निजस्वरूप में–भली भाँति स्थित होता है, तब उसके सामायिक चारित्र आविर्भूत होता है । अथवा, 'किसी भी प्राणी का घात करना योग्य नहीं है' इस प्रकार के विवेक से जिसका व्यवहार कुछ नियत काल तक अथवा जीवनपर्यंत के लिये हिंसादिक समस्त पाप क्रियाओं से रहित हो चुका है वह सामायिक चारित्र का धारक होता है । यह सामायिक मुनिधर्म में प्रधान है ॥२१–२२॥

संज्वलन, क्रोध, मान और माया इन तीन कषायों के उपशम अथवा क्षय से जिसके यद्यपि श्रेष्ठ सामायिक आदि रूप संयम का भार प्रकाशमान रहता है फिर भी जो जीव सूक्ष्म

---

१९) 1 P D काषं कषित्वा मूलोत्पाटनं कृत्वा. 2 P° कुलयंश्च । २०) 1 आकाशवत्. 2 P D निर्वातसमुद्रवत्. 3 यथाख्यातं चरित्रम्. 4 कथितवान् । २१) 1 अकलुषः D न मि [म] लितः । २२) 1 D मर्यादासहिते ।

851) प्रत्यक्षतीर्थाधिपसंनिधानाद् गच्छन् धरायां निहितैकपादः ।
प क्रमन्यासनिबद्धदृष्टौ कुतश्चिदाविः[1]स्थितजीवराशौ ॥ २४

852) षण्मासपर्यन्तविराजमानतथास्थितिः किन्त्वहमेक एव ।
चित्तस्थिताहंकृतिरेवमस्ति पुमान् परीहारचरित्रचञ्चुः ॥२५ । युग्मम्

853) हिंसानृतस्तेयमथाङ्गनाङ्गसंगः[1] स्वलाम्पटयमतो ह्यशेषम् ।
महानिवृत्तिर्महतामभीष्टं महाव्रतं नामितविश्वलोकम् ॥ २६

854) छेदे कुतश्चिच्च महाव्रतानां संस्थापनानेकभिदावकीर्णम् ।
छेदोपसंस्थापनमेतदुक्तमयुक्तचारित्रगुणं[1] तदेव ॥ २७ । युग्मम्

855) निवृत्तियोगे सकले निविष्टो भवेद्यतीशः समयस्य सारे ।
यात्वेकदेशाद्विरतिस्तु तस्या[2]नुपासकः स्याभिरतो दयादौ[3] ॥ २८

संज्वलन लोभ के उदय से लांछित हो कर यथाख्यान चारित्र से वंचित होता है, वह सूक्ष्म (साम्पराय) चारित्रका धारक होता है ॥ २३ ॥

जो प्रत्यक्ष में तीर्थंकर के सान्निध्य में रहकर पृथिवीपर विहार करते समय वहाँ एक पाँव को रखता है और दूसरे पाँव को रखने के लिये दृष्टि के डालने पर यदि कहीं से जीवसमूह आकर वहीं स्थित होता है तो दूसरे पाँव को ऊपर उठाकर छह महीने तक उसी अवस्था में स्थित होता हुआ ' मैं ही एक ऐसे सामर्थ्यवाला हूँ ' इस प्रकार के अहंकार को मन में रखता है, वह मुनि परिहारविशुद्धि चारित्र का धारक होता है ॥ २४–२५ ॥

हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, स्त्रीसंभोग और अपने अपने विषयों में इन्द्रियों की अतिशय लम्पटता, अर्थात् धनधान्यादि परिग्रहों में अतिशय आसक्ति, ये पाँच पाप हैं। महापुरुष जो इच्छानुसार उनका अतिशय परित्याग किया करते हैं, इसका नाम महाव्रत है। इसके परिपालन से समस्त लोक नम्रीभूत होते हैं । अज्ञानता व प्रमादरूप किसी कारण से उक्त महाव्रतों का छेद (विनाश) होनेपर उनको अनेक भेदों से युक्त जो स्थापन किया जाता है उसे छेदोपस्थापन चारित्र कहते हैं । वह चारित्र गुणों से परिपूर्ण ही होता है ॥ २६–२७ ॥

आगम अथवा आत्मा के सारभूत इस सम्पूर्ण निवृत्ति योग में–हिंसादि पापों के त्याग में–मुनि स्थिर रहते हैं । तथा इन्हीं पापों से एकदेशरूप से जो विरति होती है, उसका आराधक दया आदि गुणों में तत्पर रहनेवाला श्रावक होता है ।(अभिप्राय यह है कि मुनि तो

---

२४) 1 D प्रकट । २६) 1 परिग्रह । २७) 1 P D गणम् : २८) 1 D मुनिः. 2 विरतो. 3 D दयादेः ।

856) मद्यमांसमधुना नवनीतं तान्युदुम्बरफलानि तमीभुक्[1] ।
नीलिकेव[2] हि महारससंज्ञं[3] हिंसनस्य मुखतास्त्विति[4] हेयम्[5] ॥ २९

857) अत्रामुत्रानर्थसंपादि नानाजीवोत्पत्तिस्थानमित्यागमश्च ।
मद्यान्नेशुर्मूलतो यादवेन्द्रा[2]स्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयम् ॥ ३०

858) देवाद्यैः किल पीतं मद्यं तस्मा[1]न्न युज्यते पातुम् ।
न भवन्ति ते पिबन्तः[2] कृत्यमकृत्यं न वा ततः[3] कृतिनाम् ॥ ३१

859) तज्जात[1]जीवहतिसद्म[2] निषेव्यमाणं मद्यं[3] विमोहयति मानसमङ्गभाजाम्[4] ।
मुग्धा न धर्ममधियन्ति[5] विडम्बनेन विस्मृत्य धर्ममधिकं च चरन्ति हिंसाम् ॥

उक्त पाँचों पापों का पूर्णतया परित्याग करता है, किंतु गृहस्थ एकदेशरूप से ही उनका परित्याग करता है) ॥ २८ ॥

मद्य, मांस, और मधु के साथ मक्खन, (पाँच) उदुंबर फल, रात्रिभोजन, तथा महारससंज्ञक वस्तु ये नीलिका के समान हिंसा का मुख है । अर्थात् इनके सेवन से त्रसजीवों का अतिशय घात होता है । इसलिये इनका त्याग करना चाहिये ॥ २९ ॥

मद्यपान से इसलोक और परलोक में भी अनर्थ उत्पन्न होते हैं । तथा 'वह नाना जीवों की उत्पत्ति का स्थान है ' ऐसा आगम वचन भी है । उस मद्य के सेवन से संपूर्ण यादव राजों का समूल नाश हुआ है । इसलिये वह मद्य न किसी को देना चाहिये और न पीना ही चाहिये ॥ ३० ॥

देवादिकों ने मद्यपान किया है ऐसा सुना जाता है । अतः उस मद्य को पीना योग्य नहीं है क्योंकि पीनेवालों का सर्वनाश होता है । इसलिये विद्वानों ने वह कुकर्म नहीं करना चाहिये ॥ ३१ ॥

मद्य उस (मद्य) में उत्पन्न हुए जीवों के घातका घर है । (उसके पान से वे सब जीव नष्ट हो जाते हैं) । मद्य के सेवन से प्राणियों का मन मुग्ध होता है और मोहित मूढताको प्राप्त-जीवधर्म का अध्ययन नहीं कर सकते हैं । वे उससे प्रतारित होकर धर्म को भूल जाते हैं और अधिक हिंसा किया करते हैं ॥ ३२ ॥

२९) 1 रात्रिभोजनम्, D रात्रिभुक्. 2 D भांग. 3 D विषम्. 4 प्रथमतः. 5 त्याज्यम् । ३०) 1 P D नष्टाः. 2 D यादवराजा । ३१) 1 देवादिपानात्. 2 ते देवा अपि मद्यपिबन्तः. 3 मद्यपानात्, ततः कारणाद्वा । ३२) 1 तस्य मद्यस्य तस्मान्मद्याद्वा. 2 कथंभूतं मद्यम्. 3 कर्तृ. 4 प्राणिनाम्. 5 न प्राप्नुवन्ति ।

860) अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वे ऽपि च नरकसंनिहिताः[1] ॥ ३२*१

861) मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः[1] संचरन्ति चेत् ।
पूरयेयुर्न संदेहः[2] समस्तमपि विष्टपम्[3] ॥ ३२*२

862) एकस्मिन् वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिलः[1] किल ।
एतद्दोषात्[2]सहायेषु[3] मृतेष्वापदनापदम्[4] ॥ ३२*३

863) तद्वन्मांसं प्राणिनामेव घाताज्जातं पातात्[1]खाच्[2]च विप्रव्रजस्य ।
तस्मा[3]न्मांसं खादतान्मा[4] दयालुः किंचैतस्मा[5]न्नेशु[6]रन्ये बकाद्याः[7] ॥ ३३

864) स्वभावदुर्गन्ध्यशुचि प्रसिद्धं परस्य देहोत्क्रथनेन[1] मांसम् ।
करोत्य[2]कृत्यं यदि नाम मर्त्यो[3] ध्रुवं स[4] पोष्यं न वपुस्ततो[5] ऽतः[6] ॥ ३४

अभिमान, भय, जुगुप्सा (घृणा), परिहास, अरति, ये बुरे कार्य करने में प्रीति, शोक, कामविकार और क्रोध आदिक सब हिंसा के ही अवस्थाविशेष हैं। ये सब उस मद्य के निमित्त से उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ३२*१ ॥

मद्य के एक बिन्दु में उत्पन्न हुए प्राणी यदि संचार करें तो वे इस समस्त लोक को व्याप्त कर देंगे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥३२*२॥

धूर्तिल नामक चोर केवल एक दिन के लिये ही उस मद्य का परित्याग करने से उक्त मद्य के पान के दोष से अन्य चार सहायक चोरों के मर जानेपर आपत्ति से बच गया था। (अभिप्राय यह है कि एक दिन मद्य के न पीने से धूर्तिल नामक चोर तो बच गया था, किन्तु शेष चार चोर उस मद्य के पीने से परस्पर लडकर मृत्यु को प्राप्त हुए) ॥ ३२*३ ॥

मद्य के समान माँस भी प्राणियों के घात से ही उत्पन्न होता है। – – – – (?)। इसलिये दयालु पुरुष उसका भक्षण न करें। इसके सेवन से अन्य बक राजा आदि नष्ट हुए हैं ॥ ३३ ॥

स्वभावतः दुर्गन्ध से संयुक्त ओर अपवित्र माँस दूसरे–मृग आदि–प्राणी के शरीर के पीडन से सिद्ध (प्राप्त है। और जब वह मृत्यु–उस माँसके आश्रयभूत प्राणी का मरण – अकार्यको करता है– उसे कष्ट पहुँचाता है – तब वैसी अवस्था में मनुष्य को उस मांस के आश्रय से

३२*१) 1 D प्रवेशकाः। ३२*२) 1 D सूक्ष्मजीवाः. 2 D°संदेहं. 3 त्रिभुवनम्। ३२*३) 1 धूर्तिलनामा कश्चित्. 2 एतन्मद्यस्य दोषात्. 3 सहायेषु मित्रेषु मृतेषु. 4 अनापदं पदं प्राप्तः। ३३) 1 आपदः सकाशात्. 2 आकाशात्. 3 कारणात्. 4 मा मांसं दयालुर्भक्षताम्. 5 मांसात्. 6 PD नष्टाः. 7 बकराजादयः। ३४) 1 क्लेदनेन, D विनाशेन. 2 P D करोत्वकृत्यम्. 3 P°मृत्यु. 4 मृत्युः. 5 मांसात्. 6 कारणात्।

865) आरम्भादशने ऽपि नाम बहुधा हिंसेति संभावयन्
स्वल्पा सैकगजोद्भवाद्धि पिशितात् तृप्तिश्च षाण्मासिकी ।
माण्डव्यैः[1] कृतवानतस्तदपरे ब्रूयुर्बहिर्दृष्टय-
स्तन्नामं परिपच्यमानमनिशं पक्वं च संमूर्च्छति ॥ ३५

866) यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि[1] भवति हिंसा तदाश्रितनिगोदनिर्मथनात्[2] ॥ ३५*१

867) तदुक्तम्–
आमासु व पक्कासु[1] व विपच्चमाणासु[2] मंसपेसीसु[3] ।
सातत्तेणोप्पाओ[4][5] तज्जाईणं[6] निगोदाणं ॥ ३५*२

868) अल्पक्लेशात्सुखमनुसरेत्स्वस्य यः संविधातुं[1]
आत्मद्विष्टान्यनुदिनमसौ[2] मा परत्रापि[3] कुर्यात् ।
धर्माच्छर्म[4] स्वयमनुभवन् द्वेष्टि[5] तं[6] नाम मूढः
को ऽज्ञश्छिन्ते समभिलषितप्रापकं कल्पवृक्षम् ॥ ३६

अपने शरीर का पोषण नहीं करना चाहिये । (अभिप्राय यह है कि मृत्यु का कष्ट सभी को व्याकुल किया करता है। तब ऐसी अवस्था में विवेकी मनुष्य को स्वयं जीवित रहने की इच्छा से दूसरे प्राणियों को मारकर उनके माँस से अपने शरीर का पोषण करना योग्य नहीं है ॥३४॥

भोजनविषयक आरम्भ से भी बहुत प्रकार की हिंसा होती है । उसकी अपेक्षा एक बडे हाथी के मारने से हिंसा थोडी और उसके माँस से तृप्ति छह महीनोंतक हो सकती है । इसी सम्भावना पर माण्डव्य नामक ऋषि ने यही किया था । ऐसा अन्य मिथ्यामति कहते हैं । परन्तु वह युक्त नहीं है । क्योंकि माँस चाहे कच्चा हो, चाहे पक रहा हो अथवा पक चुका हो, उसकी सभी अवस्थाओं में निरन्तर जीवराशि उत्पन्न होती ही है ॥ ३५ ॥

स्वयं मरे हुए भैंसे और बैल आदि प्राणियों का भी जो माँस होता है, उसमें भी उसके आश्रय से रहने वाले निगोद जीवों के विघात से हिंसा होती ही है । ॥ ३५*१ ॥ कहा भी है–

कारण यह है कि कच्ची, पकी हुई और वर्तमान में पकती हुई भी माँस की डलियों में निरन्तर उसी जाति के निगोद जीवों की उत्पत्ति होती रहती है ॥ ३५*२ ॥

जो थोडे से कष्ट से अपने लिये सुख के उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, उसे प्रतिदिन दूसरे के प्रति ऐसे व्यवहार को नहीं करना चाहिये, जो स्वयं अपने लिये अभीष्ट न हो । जो

३५) 1D माण्डव्यऋषिः । ३५*१) 1 मृतकमांसे. 2 तस्य मांसस्याश्रितानां निगोदानां विनाशात् । ३५*२) 1 Dअपक्वेषु पक्वेषु. 2 D पच्यमानः सन् सूक्ष्मबादराः. 3 P D खण्डेषु. 4 निरन्तरेण,D सत्त्वस्य जातं सात्त्वं 5 उत्पादात्. 6 मांसजातीनां निगोदानाम् । ३६) 1 कर्तुम्. 2 आत्माहितकार्याणि. 3 परेषु. 4 सौख्यम्. 5 द्वेषं करोति. 6 धर्मम् ।

869) यस्तदात्व[1]सुखसंगतो न वा मौग्ध्यमेति[2] निर्मलधर्मकर्मणि ।
आयतौ[3] सकलदुःखवर्जितो ऽमुत्र[4] चात्र[5] भविता स मानवः ॥ ३७

870) यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः ।
स सुखं सेवमानो ऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः ॥ ३७*१

871) स भूभारः परं प्राणी जीवन्नपि मृतश्च सः ।
यो न धर्मार्थकामेषु[1] भवेदन्यतमाश्रयः[2] ॥३७*२

872) यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ।
स एव विदुषामाद्यो विपरीतं चरन् जडः ॥ ३७*३

873) यत्परत्र[1] करोतीह[2] सुखं वा दुःखमेव वा ।
वृद्धये[3] धनवद्दत्तं[4] स्वस्य[5] तज्जायते[6] ऽधिकम् ॥ ३७*४

धर्म से प्राप्त हुए सुख का स्वयं अनुभव करता हुआ उसी धर्म से द्वेष करता है उसे मूर्ख ही समझना चाहिये । ठीक है– ऐसा कौनसा मूर्ख है जो अभीष्ट फल की प्राप्ति के कारणभूत कल्पवृक्ष को स्वयं काट डालता हो ॥ ३६ ॥

जो मनुष्य तात्कालिक सुख से संयुक्त होकर निर्मल धर्मकार्य में मूढता को प्राप्त नहीं होता है–(विवेकहीन होकर उसमें आसक्त होता हुआ धर्मक्रियाओं को नहीं छोडता है)–वह परिणाम(फलकाल)में इस लोक और परलोक दोनों में ही समस्त दुःखों से रहित होता है ॥३७॥

जो दूसरे प्राणियों का घात न कर के सुखोपभोग में तत्पर रहता है, वह वर्तमान भव में सुख का अनुभव करता हुआ आगे के भव में भी उस सुख का उपभोग किया करता है ॥३७*१॥

जो धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में से किसी एक पुरुषार्थ का भी आश्रय नहीं लेता है, वह केवल पृथिवी का भार होकर जीता हुआ भी मरे हुए के ही समान है ॥३७*२

जो सत्पुरुष स्वयं और अन्य की प्रेरणा से भी अधर्म कार्य करने के लिये उद्युक्त नहीं होता है, वही विद्वानों में मुख्य होता है । इसके विपरीत जो पुरुष स्वतः अथवा अन्य की प्रेरणा से धर्म से विपरीत आचरण करता है उसे जड (मूर्ख) समझना चाहिये ॥३७*३॥

संसार में जो वस्तु दूसरे प्राणियों के लिये सुख को अथवा दुख को ही करती है, वह वृद्धि के निमित्त दिये गये धन के समान अपने लिये अधिक सुख अथवा दुख का ही कारण होती

---

३७) 1 तत्कालजातम्. 2 Dविवेकवान् न. 3 वृद्धावस्थायाम्, D उत्तरकाले. 4 परत्र. 5 इहलोके । ३७*२) 1 धर्मार्थकामेषु मध्ये. 2 अन्यतम एकाश्रयो न भवेत् सोऽपि जीवन्नपि मृतः । ३७*४) 1 परेषु, D अन्यस्मिन् कस्मिंश्चिज्जीवे. 2 संसारे. 3 वृद्धिनिमित्तम्. 4 D सुखवत्. 5 आत्मनः. 6 तस्मात् सुखदुःखात् ।

874) ततस्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहितं मुहुः ।
सन्तो ऽदन्ति[1] कथं मांसं परव्यापत्तिसंभवम्[2] ॥३७*५

875) मद्यमांसमधुप्रायं कर्म धर्माय चेन्मतम् ।
अधर्मः को ऽपरः किं[1] वा भवेद् दुर्गतिदायकम् ॥ ३७*६

876) स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ ३७*७

877) श्राद्धादौ पितृतर्पणादिकृतये मांसं न देयं सदा
पित्रादेरिव जीवितं प्रियतरं[1] सर्वाङ्गभाजां यतः ।
सिद्धान्ते[2] च कृतान्तकल्प इव चेदुक्तं हितं[3] नो तथा
युक्त्या यन्न[4] घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे ॥ ३८

है। (तात्पर्य यह कि, माँस जब दूसरे मृगादि प्राणियों को दुख उत्पन्न करने वाला है तब उससे अपने शरीर को पुष्ट करनेवाले मनुष्य को उसके भक्षण से आगे स्वयं के लिये भी दुख ही अधिक उत्पन्न होनेवाला है) ॥३७*४ ॥

इसलिये जो सत्पुरुष अपने ही हित की इच्छा से निरन्तर अहित को त्यागने वाले हैं वे भला दूसरों को दुःख उत्पन्न करनेवाले मांस का भक्षण कैसे कर सकते हैं? कभी नहीं ॥३७*५॥

जो कार्य मद्य, माँस और मधु की प्रचुरता से संयुक्त होता है, वह यदि धर्म के लिये माना जायेगा, तो फिर दुर्गतिदायक ऐसा अन्य कौनसा कार्य संभव है जो अधर्म का कारण होगा? (अर्थात् वैसी अवस्था में तो निकृष्ट से निकृष्ट कार्य भी धर्मरूप माना जा सकता है और तब वैसी अवस्था में दुर्गति प्राप्ति का भय भी किसी को नहीं रहेगा) ॥३७*६॥

वस्तुतः धर्म का कार्य तो वही हो सकता है जिसमें अधर्म का —पापाचरण का— लेश भी नहीं होता है। यथार्थ सुख भी वही हो सकता है, जिसमें दुःख का लेश भी न हो। समीचीन ज्ञान भी वही कहा जा सकता है जिसमें अज्ञान का कुछ भी संबन्ध न हो। तथा गति भी वही उत्कृष्ट मानी जा सकती है, जहाँ से पुनः संसार में आगमन का संभव न हो ॥३७*७॥

श्राद्ध आदि कर्म में पितृतर्पण आदि के लिये माँस का देना कभी भी योग्य नहीं है। जीवन जैसे पिता आदि को अतिशय प्रिय है वैसे ही वह सभी प्राणियों को अतिशय प्रिय है। यदि यम के समान प्राणिविघातक किसी शास्त्र में वैसा कहा गया हैं तो वह वैसा हितकारक नहीं है। जो बात युक्ति से संगत नहीं है उस पर मैं देख कर भी श्रद्धा नहीं कर सकता हूँ ॥ ३८॥

३७*५) 1 P D भक्षन्ति. 2 अपरजीवघातोत्पन्नम् । ३७*६) 1 D कर्म । ३८) 1 वल्लभम्. 2 परशास्त्रे. 3 P° हिते, न श्लाघ्यम्. 4 D मांसम् ।

878) मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।
आनृशंस्यं[1] न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु[2] ॥ ३८*१

879) मधुशकलमपि प्रायो मधुकर[1]हिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधुमूढबुद्धिर्यो भवति स हिंसको ऽवश्यम् ॥ ३८*२

880) स्वयमेव विगलितं यद् गृहीतमथवा छलेन निजगोलात्[1] ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥ ३८*३

881) मधु मद्यं नवनीतं पिशितं[1] च मते[2] महाविकृतयस्ताः ।
कल्प्यन्ते[3] न व्रतिनां तद्वर्णा[4] जन्त· स्तत्र[5] ॥ ३८*४

882) ग्रामसप्त·विदाहनोपमं कथ्यते ऽत्र मधुबिन्दुभक्षणम् ।
राजिकात[1] इव मेरुरुत्थितस्तत्कथं तु[2] मधु रस्यते[3] मुधा[4] ॥ ३९

मांस भक्षण करनेवाले मनुष्यों में दया और मद्य के पीनेवाले मनुष्यों में सत्यभाषण संभव नहीं है। इसी प्रकार मधु और उदुम्बर (त्रस जीवयुक्त) फलोंका भक्षण करनेवाले मनुष्यों में दयालुता नहीं रह सकती है ॥३८*१॥

लोक में मधु (शहद) का टुकडा –एक बूंद– भी बहुधा मधुमक्खियों की हिंसारूप होती है। तब ऐसी अवस्था में जो मूर्खबुद्धि–अविवेकी मनुष्य –उस मधु का सेवन करता है वह अवश्य ही हिंसक–हत्यारा– होता है ॥३८*२॥

जो मधु छत्ते से स्वयं ही निकला है अथवा कपटपूर्वक मधु के उस छत्ते से ग्रहण किया गया है उसमें भी उसके आश्रित प्राणियों के घातसे हिंसा होती ही है ॥३८*३॥

मधु, मद्य, मक्खन और मांस ये चारों अतिशय विकाररूप हैं। इसीलिये व्रतीजनों को उनका सेवन करना योग्य नहीं है। क्योंकि, उन में उन्हीं का जाति के जीव रहा करते हैं, जिनका विघात उन के सेवन से अवश्य होनेवाला है ॥ ३८*४॥

मधु की एक ही बूंद का सेवन सात गाँवों के जलाने के समान है। (जितना पाप सात गाँवों के जलाने से हो सकता है, उतना पाप उसकी बूंदमात्र के सेवन से होता है)। उदाहरण के रूप में उक्त पाप को ऐसा समझना चाहिये जैसे कि क्षुद्र राई के कण से मेरु उठ खडा हुआ हो। इसलिये महापाप के कारणभूत उस मधु का व्यर्थ स्वाद क्यों लिया जाता है? (अर्थात् वैसी अवस्था में उसका सेवन करना योग्य नहीं है)॥ ३९ ॥

३८*१) 1 D कृपापरिणामं. 2 D पुरुषेषु । ३८*२) 1 D मक्षिका । ३८*३) 1 मधुच्छत्तात् ३८*४) 1 मांसम्. 2 जैनमते. 3 P कल्पन्ते, ता विकृतयः व्रतिनां न कल्पन्ते न युक्ता भवन्ति. 4 मद्यादीनां सदृशाः. 5 मद्यादिषु । ३९) 1 राईमात्रात् मधुभक्षणात्. 2 अहो. 3 P D भक्ष्यते. 4 वृथा ।

883) सरघामुखनिर्यासैः[1] सरघादेहमिश्रितम्[2] ।
परलालाविलोच्छिष्टं तत्कथं प्राश्यतां मधु ॥ ४०

884) कुसुमरस[1] इतीदं श्राद्धकाले ऽप्ययुक्तं बहुविधतनुभाजां भञ्जनादत्र नूनम् ।
परहतगजमात्रक्रव्यसंप्राणनं[2] वा त्रिभुवनगतकीर्तेस्तस्य माण्डव्यनाम्नः ॥

885) किं च पुष्पपुरे[1] विप्रो मध्वास्वाद-[illegible]धीः ।
ननाश बहुभिः सार्धमित्यतो ऽपि न खाद्यते ॥ ४२

886) योनि[1]रुदुम्बर[2]युग्मं[3] प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां[4] तद्भक्षणे[5] हिंसा ॥ ४२*१

887) यानि तु पुनर्भवेयुः कालोत्सन्नत्रसानि[1] शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि पापं विशिष्टरागादिरूपं स्यात् ॥ ४२*२

जो मधु मधुमक्खियों के मुंह से निकला हुआ, अनेक मृत शरीर से मिश्रित तथा दूसरे प्राणियों की लार से मलिन व उच्छिष्ट होता है वह कैसे खाया जाता है ? (अर्थात् विवेकी मनुष्यों को ऐसे घृणित मधु का सेवन करना योग्य नहीं है) ॥ ४० ॥

मधु को फूलों का रस समझकर यदि श्राद्ध के समय में दिया जाता है तो वह भी योग्य नहीं है । कारण कि उसके निकालने में असंख्यात मधुमक्खियों का तो विनाश होता ही है । (साथ ही उस के भीतर जो अन्य बहुत प्रकार के कीडे रहते हैं उनका भी उस के भक्षण में निश्चय से विनाश होता है) । उदाहरण स्वरूप माण्डव्य ऋषिने, जिसकी कि कीर्ति तीनों लोकों में फैल रही थी, दूसरे के द्वारा मारे गये हाथी के मांस को जो खाया था वह योग्य नहीं था । (कारण कि स्वयं जीवघात के न करने पर भी उस मांस में रहने वाले अन्य असंख्यात जीवों का विघात हुआ ही करता है) ॥ ४१ ॥

पुष्पपुर (पाटलीपुत्र नगर) में जो एक ब्राह्मण मधुभक्षण में आसक्त हुआ था । वह उस के भक्षण से अन्य बहुतों के साथ मरण को प्राप्त हुआ है । इसलिये भी मधु को नहीं खाना चाहिये ॥ ४२ ॥

ऊमर और कठूमर ये दो प्लक्ष, वडका फल और पाकर तथा पीपल; ये पाँचों फल चूंकि त्रस जीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं । इसलिये उनके भक्षण से हिंसा होती है ॥ ४२*१ ॥

इसके अतिरिक्त समयानुसार जिनके भीतर अवस्थित त्रस जीवों का विघात हो चुका

---

४०) 1 मधुमक्षिकारसः, D मक्षिका. 2 मषि[क्षि]काण्डम् । ४१) 1 मधु. 2 मांसेन निज-जीवितव्यरक्षणम्, D मांसं । ४२) 1 D नगरे । ४२*१) 1 उत्पत्ति. 2 उंबरक बर हो, D गूलरिकँवरी 3 पिलखुणि. 4 तेषाम् उदुम्बरादीनाम्. 5 तेषां त्रसजीवानाम् । ४२*२) 1 P D°त्सन्नत्रसानि शु°, काल-पतितानि, D मृतानि त्रसानि ।

888) सूक्ष्मजीवबहुतात्र[1] कथ्यते किंचिदेव वसतिश्च देवता ।
[illegible][2] कथं भक्ष्यते ह्यवयवो ऽपि वन्द्यते ॥ ४३

889) त्वचं च कन्दमेव वा पलाश[1]मेतदुद्भवम् ।
व्रतं न खादतां स्खलेद् व्रतार्थिनां कुतश्चन ॥ ४४

890) एतत्फल[1]ादना[2]द् दुःखं कियन्तः प्रापिरे न हि ।
मद्यमांसमधूनां च त्यागे ऽस्य[3] च न के सुखम् ॥ ४५

891) न मांससेवने दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेव भूता[1]नामित्यूचुर्विषयार्थिनः ॥ ४६

892) अनादिकालं भ्रमतां भवाब्धौ निवृत्तिदूरीकृतमानसानाम्[1] ।
स्वप्ने ऽपि सत्संगतिदूरिता[2]नामिदं वचः पेशलतां[3] प्रयाति ॥ ४७

है ऐसे उन उपर्युक्त सूखे फलों के भी भक्षण से विशिष्ट रागादिरूप पाप (हिंसा) होता ही है ॥ ४२*२ ॥

उपर्युक्त उदुम्बर फलों में सूक्ष्म जीवों की अधिकता कही जाती है । इस के अतिरिक्त वे–पीपल आदि के वृक्ष–देवों के निवासस्थान होते हुए स्वयं भी देव कहे जाते हैं । तब वैसी अवस्था में भला उक्त फलों का भक्षण कैसे किया जाता है, (अर्थात् उनका भक्षण करना योग्य नहीं है । उनका तो अवयव – एक एक अंश भी –वन्दनीय है) ॥ ४३ ॥

इन वृक्षों से उत्पन्न होनेवाली छाल, जल अथवा पत्ते को खानेवाले व्रताभिलाषी (व्रती) जनों का व्रत क्यों नहीं स्खलित होगा ? होगा ही ॥ ४४ ॥

इन फलों के भक्षण से कितने लोग दुःख को नहीं प्राप्त हुए हैं? तथा मद्य, माँस और मधु का त्याग करने से कौन से जन सुख को प्राप्त नहीं हुए हैं ? ॥ ४५ ॥

न माँस के भक्षण में दोष है, न मद्य के पीने में दोष है और न मैथुन के सेवन में भी दोष है । क्योंकि, यह सब प्राणियों को प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है, ऐसा कितने ही विषयासक्त जन कहा करते हैं । सो यह कथन उन्हीं को सुन्दर प्रतीत होता है जिनका मन उक्त मद्यादि के त्याग की ओर से सदा दूर रहा है और जो इसी कारण अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं तथा जिनको स्वप्न में भी कभी सत्पुरुषों की संगति नहीं प्राप्त हुई है ॥४६–४७॥

---

४३) 1 उंबरादिषु. 2 D इस प्रकार स्वीकारणे । ४४) 1 पत्रम् । ४५) 1 मांसादि उदुम्बरादि. 2 P D भक्षणात्. 3 उदुम्बरादेः, D अदनस्य । ४६) 1 जीवानाम् । ४७) 1 मद्यमांसादि-निवृत्तिरहितानाम्. 2 साधुसंगतिरहितानाम्. 3 मनोज्ञताम् ।

893) चारित्रिणां मुमुक्षूणां विषयग्रहदूषिणाम् ।
स्तुत्या वाणी तदीयैषा निवृत्तिस्तु[1] महाफलम् ॥ ४८

894) न राक्षसा अप्यनिवृत्तिभाजः सर्वाशिनः सन्ति तपोवियुक्ताः[1] ।
कर्तुं निवृत्तिं प्रविनिन्द्य भक्ष्यात् विवेकमासाद्य[2] तरां दुरापम् ॥ ४९

895) स्वभावतः कस्यचिदेव किंचिद् भक्ष्यं[1] त्वभक्ष्यं प्रथितं त्रिलोक्याम् ।
संसारमुन्मोक्षिषु तद्विशेषाद् व्रतं विना यान्ति यतो न सिद्धिम् ॥ ५०

896) अपि च त्यजतां दूरं जिह्मतां[1] महतामपि ।
अभीष्टं सिध्यति प्रायो वहतां[2] निश्चयव्रतम् ॥ ५१

897) संप्रधार्य[1] बहुधेति कारणं प्रोज्झनीयमष्टकं[2][3] बुधैः ।
देवता व्रतवतां नमन्ति यद् यान्ति नैव नरकं व्रतोचिताः[4] ॥ ५२

जो सदाचार का पालन किया करते हैं, जिनकी संसार से मुक्त होने की प्रबल इच्छा होती है, और जो विषयरूप पिशाच से द्वेष करते हैं—उसके वशीभूत नहीं होते हैं— वे यह कहा करते हैं कि उक्त मांसादि का परित्याग अतिशय फलप्रद है । यह वाणी प्रशंसनीय है ॥ ४८ ॥

मांसादिक से विरत न होकर सब कुछ खानेवाले राक्षस भी तप से शून्य नहीं होते हैं । वे भी अतिशय दुर्लभ विवेक को प्राप्त करके उक्त घृणित मांसादि भक्ष्य वस्तुओं से विरत होने के लिये (उद्यत होते हैं) ॥ ४९ ॥

तीनों लोकों में स्वभाव से किसी विरले ही व्यक्ति को कुछ भक्ष्य और कुछ अभक्ष्य रूप से प्रसिद्ध होता है, अर्थात् भक्ष्याभक्ष्य विषयक इस प्रकार का विचार विरले ही भव्य जीव को हुआ करता है । परंतु जो संसार से मुक्त होना चाहते हैं, उनको भक्ष्य और अभक्ष्य का विशेष विचार ध्यानमें रखना पडता है, क्योंकि, व्रत के बिना सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है ॥५०॥

कपट का दूर से त्याग कर के ही दृढतापूर्वक व्रत को धारण करनेवाले महापुरुषों को भी प्रायः उनका अभीष्ट सिद्ध होता है । तात्पर्य यह कि मुक्ति प्राप्त करनेके लिये महापुरुषों को भी दृढतापूर्वक व्रत को धारण करना पडता है ॥ ५१ ॥

मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बरफल इन आठों के त्याग के कारणों का अनेक प्रकार से विचार कर के विद्वान् जनों को उनका परित्याग करना चाहिये । कारण यह कि व्रतों का ऐसा माहात्म्य है कि जिस से देवता भी व्रतीजनों की वन्दना करते हैं तथा वे व्रतीजन नरक में नहीं जाते हैं ॥ ५२ ॥ सो ही कहा गया है –

४८) मांसादिनिवृत्तिः । ४९) 1 P °तपोऽपि युक्ताः°. 2 D प्राप्य । ५०) 1 भक्ष्यं वस्तु युक्तमपि अयुक्तं कृतं निषेधितम् । ५१) 1 P D समलताम्. 2 धरतां धारकाणां वा । ५२) 1 इति कारणं धृत्वा विचार्य च. 2 त्यजनीयम्. 3 मद्यमांसमधुउदुम्बरपञ्च. 4 P व्रतसंयुक्ताः, D योग्याः ।

898) उक्तं च–
संदिग्धे ऽपि परे लोके[1] त्याज्यमेवाशुभं बुधैः ।
यदि न स्यात्ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको[2] हतः ॥ ५२*१

899) मद्यादिस्वादिगेहेषु[1] पानमन्नं च नाचरेत् ।
तदमत्रादिसंसर्गं[2] न कुर्वीत कदाचन ॥ ५२*२

900) अपाङ्क्तेयैः[1] समं कुर्वन् संसर्गं भोजनादिषु ।
प्राप्नोति निन्द्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥ ५३

901) दृतिप्रायेषु पानीयं स्नेहं च कुतपादिषु ।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः[2] ॥ ५३*१

जन्मान्तरस्वरूप परलोक के विषय में सन्देह के रहने पर भी विद्वानों को अशुभ-का–पाप कार्य का–त्याग करना ही चाहिये। यदि नरक स्वर्गादिरूप परलोक नहीं भी हो, तो भी इस से क्या होगा? अर्थात् नरक स्वर्गादि के न होने पर भी अशुभ त्याग से कुछ बिगडता नहीं है और यदि वह परलोक है तो उसको न माननेवाले नास्तिक-चार्वाक – को नष्ट हुआ समझना चाहिये। (दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यदि वह परलोक है तो 'न आस्तिको हतः' अर्थात् उसके अस्तित्व को स्वीकार करनेवाला कुछ नष्ट नहीं हुआ–परलोक में सुखी ही रहनेवाला है) ॥ ५२*१ ॥

मद्य आदि का स्वाद लेनेवाले–उन असेवनीय पदार्थों का सेवन करनेवाले –निकृष्ट जनों के घरपर भोजन-पान आदि नहीं करना चाहिये--उनके यहाँ पानी पीना भी अहितकर है। साथ ही उन के यहाँ के बर्तन आदि का भी संसर्ग--उपयोग–कभी नहीं करना चाहिये ॥५२*२॥

जो पंक्तिबाह्य जनों के साथ–असदाचरण के कारण जिनका सहभोजनादि से बहिष्कार किया गया है उनके साथ–भोजन आदि के समय संसर्ग करता है वह इस लोक में तो निन्दा को प्राप्त होता है और परलोक में उत्तम फल को–स्वर्गादि सुख को–नहीं प्राप्त होता है ॥५३॥

व्रती पुरुष को चमडे की मशक आदि में रखे हुए पानी का और चमडे के कुप्पेसे रखे हुए तेल-घी आदि का सेवन नहीं करना चाहिये। साथ ही उसे व्रताचरण के अयोग्य स्त्रियों का भी परित्याग करना चाहिये ॥ ५३*१ ॥

५२*१) 1 परलोके इत्यर्थः. 2 तर्हि परलोकनिषेधको हतः । ५२*२) 1 मांसमधुमद्यपानगृहेषु. 2 तेषां मद्यादिस्वादिनाम् अमत्रादि भाजनादि । ५३) 1 P D पङ्क्तिरहितैः । ५३*१) 1 P° कुरुपादिषु°, D°कुतुपादिषु° D तैलं घृतं कूपेषु. 2 व्रतरहिताः स्त्रियः [परित्यजेत्.] ।

902) देशकालबललोलुभत्वतस्तत्स्थमेव यदि गृह्यते जनः ।
निन्द्यतां तदपि चात्मचेष्टितं बुध्यतां च जिननाथभाषितम् ॥ ५४

903) कुतर्कागमसंभ्रान्तचेतसः के ऽपि वादिनः ।
विवदन्ते प्रबन्धेन नाभक्ष्यं[1] किंचनापि हि ॥ ५५

904) जीवयोगाविशेषेण[1] उष्ट्रमेषादिकायवत् ।
मुद्गमाषादिकायो ऽपि मांसमित्यपरे जगुः[2] ॥ ५५*१

905) तदयुक्तमित्याह ।
मांसं जीवशरीरं[1] जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥ ५५*२

देश, काल, अपनी शक्ति तथा लोलुपता के वश होकर यदि मनुष्य को उक्त और चमडे के कुप्पे आदिमें स्थित घी व तेल आदि पदार्थ लेना पडे, तो उसे वह अपने इस कार्य की निन्दा करते हुए जिनेन्द्र देव ने उसके विषय में जो उपदेश दिया है उसे जान लेना चाहिये।।५४।।

जिनका चित्त कुतर्क और कुशास्त्र से भ्रान्ति को प्राप्त हुआ है ऐसे कितने ही वादी जगत् में अभक्ष्य कोई भी वस्तु नहीं है ' ऐसा विस्तार से विवाद करते हैं ।।५५।।

जीव के संबन्ध की समानता होने से ऊँट और मेढे के मृत शरीर के समान मूंग व उडद आदि धान्यरूप शरीर भी माँस है, ऐसा कितने ही प्रवादी कहते हैं । अभिप्राय उनका यह है कि जिस प्रकार ऊँट आदि के शरीर को– तद्गत मांस को– प्राणी का शरीर होने से अभक्ष्य कहा जाता है, उसी प्रकार मूंग आदि धान्य भी जब वनस्पति कायिक जीवों का निर्जीव शरीर है तब उसे भी अभक्ष्य क्यों नहीं माना जाता । वैसी अवस्था में उक्त धान्य आदि के भक्षण को भी माँस भक्षणके समान निषेध्य समझना चाहिये ।।५५*१।।

इसके उत्तर में यहाँ यह कहा गया है कि उपर्युक्त कथन–आशंका–योग्य नहीं है । यथा–माँस नियम से जीव का शरीर ही होता है, परन्तु जीव का शरीर माँस हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है । जैसे–नीम नियम से वृक्ष ही होता है, परन्तु वृक्ष नीम ही हो, ऐसा नियम नहीं है । वह कदाचित् नीम भी हो सकता है और कदाचित् नीम न हो कर आम आदि अन्य भी हो सकता है ॥ ५५*२ ॥

५५) 1 D सर्वं भक्ष्यं केचिद् वदन्ति । ५५*१) 1 D विशेषो नास्ति. 2 कथयन्ति । ५५*२) 1 D सर्वजीवानां शरीरं ।

906) यद्वद् गरुडः पक्षी पक्षी न तु सर्व एव गरुडो ऽस्ति ।
रामैव चास्ति माता माता न तु सार्विका रामा ॥ ५६

907) किंचिद्द्विजाण्डज[1]जलेचर[2]सौरभेयी[3] व्याधातज तवृजिनं[4] हि विशेषमेति ।
तद्वत्पलाशनभवं खलु जीवयोग-साम्ये ऽपि वर्धत इदं[5] विषशक्तिवद्वा[6] ॥

908) प्रायश्चित्तादिशास्त्रेषु विशेषा गणनातिगाः ।
भक्ष्याभक्ष्यादिषु प्रोक्ताः[1] कृत्याकृत्येषु मुच्यताम् ॥ ५८

909) स्त्रीत्वपेयत्व[1]सामान्याद्दारवारिवदीहताम्[2] ।
एष वादे वदन्नेवं मद्यमातृ[3]समागमे ॥ ५८*१

दूसरा उदाहरण–जैसे गरुड नियम से पक्षी ही होता है, परन्तु सब पक्षी कुछ गरुड ही नहीं होते ।–उनमें कुछ गरुड भी होते हैं और कुछ कौवा, कबुतर आदि इतर भी होते हैं । इसी प्रकार माता स्त्री ही होती है, परन्तु सब स्त्रिया माता ही हों, ऐसा नियम नहीं है । उनमें कुछ माता भी हो सकती हैं और कुछ बांझ और कुमारिकाएँ भी हो सकती हैं । (अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार माँस जीव का शरीर ही होता है उस प्रकार मूंग, उडद व गेहूँ आदि धान्य जीव का शरीर हो कर माँसरूप नहीं होता । अतएव उसके भक्षण में कोई दोष नहीं समझना चाहिये) ॥५६ ॥

दूसरे, ब्राह्मण, पक्षी, मत्स्यादि जलचर और गाय इन प्राणियों के घात से उत्पन्न हुआ पाप भी विशेषता को– हीनाधिकता को–प्राप्त होता है । ठीक इसी प्रकार से जीवसम्बन्ध की समानता के होनेपर भी मूँग आदि की अपेक्षा मांस भक्षण से होनेवाला पाप अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है । अथवा, विषरूप से समान होने पर भी जैसे मधुमक्खी, बिच्छु और सर्प आदि के विष में सन्तापवर्धक शक्ति हीनाधिक होती है उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये ॥५७ ॥

प्रायश्चित्तादि शास्त्रों में जो भक्ष्याभक्ष्यादि–विषयक तथा कृत्य और अकृत्य विषयक असंख्यात विशेष (भेद) कहे गये हैं । उन में अकृत्यों व अभक्ष्यों का त्याग करना चाहिये ॥ ५८ ॥

स्त्री और माता में स्त्रीत्व के तथा पानी और मद्य में पेयरूपता के समान होने पर भी लोक में स्त्रीमात्र के साथ समागम तथा पानीमात्र का पीना प्रशस्त माना जाता है । परन्तु उक्त प्रकार कहनेवाला यह वादी स्त्रीत्व की समानता से स्त्री के समान माता के साथ समागम को तथा पेयरूपता की समानता से पानी के समान मद्य के पीने को भी अभीष्ट मानता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ५८*१ ॥

---

५७) 1 D पक्षिणः. 2 D जीवाः. 3 गो. 4 पापम्, Dमांसं. 5 मांसं पानं वा. 6 D विषशक्तिवद् मारणशालि मांसं । ५८) 1 D मांसदोषा निवेदिताः । ५८*१) 1 जलादि. 2 स्त्री-जलम्, D स्त्री सर्वे समानापेयापि. 3 P D मातृमद्यसमागमे ।

910) शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् ।
विषघ्नं[1] रत्नमाहेयं[2] विषं[3] च[4] विपदे यतः ॥ ५८*२

911) हेयं पलं पयः[1] पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विषद्रोरा[2]युषे पत्रं मूलं च मृतये मतम् ॥ ५८*३

912) पञ्चगव्यं[1] तु तैरिष्टं गोमांसे शपथः कृतः ।
तत्[2]पित्तजा[illegible]पादेया प्रतिष्ठादिषु रोचना[3] ॥ ५९

913) अपि च–
शरीरावयवत्वे ऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि[1] ।
[illegible][2] हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥ ५९*१

914) यथा वा तीर्थभूता हि मुखतो निन्द्यते हि गौः ।
वन्द्यते पृष्ठतः सैव कियदित्थं प्रकथ्यते ॥ ६०

वस्तु की विचित्रता ऐसी है कि गाय का दूध तो शुद्ध माना जाता है, परन्तु उसका मांस शुद्ध नहीं माना जाता है । सो ठीक भी है, क्योंकि, सर्प का विष को नष्ट करनेवाला मणि तो ग्राह्य है, पर उसका विष विपत्ति के लिये – मृत्यु का कारण–होता है ॥ ५८*२॥

गायरूप कारण के समान होने पर भी उस का माँस तो त्याज्य है और दूध पीने योग्य है । ठीक है, विषवृक्ष का पत्र तो आयुष्य का–प्राण रक्षण का–कारण माना गया है और उसीकी जड मृत्यु का कारण मानी गई है ॥ ५८*३ ॥

उन्होंने (ब्राह्मणों ने) पंच गव्य को मान्य किया है (गोमूत्र, गोमय, दूध, दही और घी) पर गोमाँस के भक्षण की शपथ ली है–उसका खाना अभीष्ट नहीं है । इसी प्रकार गाय के पित्त से उत्पन्न हुआ गोरोचन भी प्रतिष्ठादि के कार्यों में उपादेय माना गया है ॥ ५९ ॥

शरीर का अंश जैसे माँस है वैसे ही घी भी है। फिर भी उनमें मांस के भक्षण में तो दोष माना जाता है पर घी के भक्षण में दोष नहीं माना जाता । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उच्च माने जानेवाले तीन वर्णों में मद्य जीभ के समान पाँव के विषय में दोष का कारण नहीं है। अर्थात् उपर्युक्त जातियों में मद्य का शरीर के अवयव स्वरूप जीभ से स्पर्श करना तो दोषकारक माना गया है, पर पाँव से उस का स्पर्श करना दोषकारक नहीं माना गया है॥५९*१॥

इसी प्रकार तीर्थस्वरूप–पवित्र–गाय मुख की ओर से निन्द्य मानी जाती है और वही पीछे की ओरसे वन्दनीय मानी जाती है। इस प्रकार यहाँ और कहाँ तक कहा जाय ?

५८*२) 1 विषविनाशकम्. 2 ग्राह्यम्. 3 सर्पे विषम्. 4 च पुनः नादेयम् । ५८*३) 1 दुग्धम्. 2 विषवृक्षस्य । ५९) 1 गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च । एकत्र मिश्रितैरेभिः पञ्चगव्यं विनिर्दिशेत्. 2 तस्य गोः. 3 गोरोचन । ५९*१) 1 घृते, D घृते न दोषः. 2 D मद्यं जिव्हालग्ने दोषो न पादयोः ।

915) तच्छाक्यसाङ्ख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम्[1][2][3] ।
मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥ ६०*१

916) यस्तु लौल्येन मांसाशी धर्मधीः स द्विपातकः[1] ।
परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रा[2] यथा नरः ॥ ६०*२

917) चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तितः[1] ।
अन्त्यकालभाविन्याः प्रपेदे[2] यक्षमुख्यताम् ॥ ६०*३

918) उक्तानुक्तचूलिका–
शुद्धसम्यक्त्वमात्रोऽपि प्रथमप्रतिमो भवेत् ।
अष्टमूलगुणोपेतोऽप्येतन्मात्रो नरोत्तमः ॥ ६१

919) सप्तव्यसनसंत्यागी व्रती चान्यतमेन[1] वा ।
धुरंधरः सुदृष्टीनां त्यक्तास्तमयभोजनः[2] ॥ ६२

(अभिप्राय यह है कि वस्तु के विचित्र स्वरूप का विचार करते हुए लोकव्यवहार का अनुसरण कर प्रकृत में सदोषता और निर्दोषता का विचार करना चाहिये, न कि अविवेकपूर्वक दुराग्रह के वश होकर) ॥६०॥

इसलिये आत्महितस्वरूप मोक्ष की इच्छा करनेवाले सत्पुरुषों को बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, मीमांसक, वैद्य और महेश्वर इन के मतों को छोडकर उस माँस का त्याग सदा के लिये ही करना चाहिये ॥६०*१॥

जिस प्रकार परस्त्री का सेवन करनेवाला मनुष्य उस परस्त्री के माता के समान होने से माता के साथ समागम करने का भी पातकी होता हुआ दो पापों को करता है, उसी प्रकार धर्मबुद्धि से जो लोलुपता के साथ माँसभक्षण करता है,वह भी दो पातकों को करता है॥६०*२॥

अवन्ति देश में चण्डनामक चाण्डाल ने अन्त समय जो माँस का त्याग किया उस से वह यक्षों में मुख्य यक्ष हुआ है ॥६०*३॥

उक्त–अनुक्त चूलिका–जो विषय कहा गया है उसके साथ तत्संबद्ध अनुक्त अर्थ का कथन करना, इसे चूलिका कहते हैं ।

जो केवल शुद्ध सम्यग्दर्शनधारण करता है उसे दर्शनप्रतिमाधारक जानना चाहिये। तथा जो उस सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूल गुणों को भी धारण करता है उसे मनुष्यों में श्रेष्ठ समझना चाहिये ॥६१॥

उक्त दर्शन प्रतिमा का धारक श्रावक द्यूत आदि सात व्यसनों का त्यागी अथवा अन्यतम से–हिंसादि पाँच पापों में किसी एक पाप से या सात व्यसनों में से किसी एक ही व्यसन से व्रती (विरत), सम्यग्दृष्टि जनों में श्रेष्ठ और रात्रिभोजन से विरत होता है ॥६२॥

६०*१) 1 बौद्ध. 2 D मतं. 3 परवादिनाम्, D मांसभक्षकानां । ६०*२) 1 D द्विगुणपातकी. 2 समम् । ६०*३) 1 निवृत्तेः सकाशात्. 2 D प्राप्तः । ६२) 1 D एकेन व्रतेन. 2 संध्याकालभोजनः, D रात्री ।

920) मुहूर्तयुगलादूर्ध्वं निगोदैः सूक्ष्मबादरैः ।
संमूर्च्छति त्रसैश्चापि न [illegible]स्त्यजेत् ॥ ६३

921) यथोक्तसम्यक्त्वमयो हि जीवो विर[illegible]मजातोज्झितभावनो ऽपि[1] ।
विज्ञानचारित्रतपो ऽखिलक्ष्म्य एष्यन्ति[2] कल्याणकलापवत्तम्[3] ॥ ६४

922) यद्यप्यनभ्यासबलात्सुदूरात् चारित्रमोहोदयतः प्रचण्डात् ।
व्रतं न किंचित्स्थितिमभ्युपैति सद्दर्शनी सार्वमतिस्तथापि[1] ॥ ६५

923) इत्येवं जयसेनसंमतमतं संभाव्य शक्ति स्वकां[1]
चार्याद्या प्रतिमा[2] [illegible] निस्तन्द्रिणा सर्वथा ।
निर्विघ्नं त्रिदिवामृतत्व[3]नगरप्रस्थायिनां प्राणिनां
पन्था[4]स्तीर्थकराभिधानसुदिनं[5] चाद्यैषिका[6]राधना ॥ ६६

यथावदाद्यप्रतिमा[illegible]पञ्चन एकादशपरिच्छेदः ॥११॥

मक्खन चूंकि दो मुहूर्तों के पश्चात् सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के निगोद जीवों एवं त्रसजीवों की उत्पत्ति से युक्त–उनसे व्याप्त–हो जाता है । अत एव दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक को उक्त मक्खन का भी परित्याग करना चाहिये ॥६३॥

उपर्युक्त स्वरूपवाले सम्यग्दर्शन से सम्पन्न जो जीव अन्त समय में प्राप्त हुए उस सम्यग्दर्शन की भावना से (अथवा अहिंसादि व्रतों की भावनाओं से) रहित हो तो भी उसे कल्याण परम्परा के समान सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप संपत्तियाँ चाहेंगी । (उसे भविष्य में कल्याण परम्परा के साथ सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप लक्ष्मी भी प्राप्त होने वाली है ॥६४॥

यद्यपि प्रबल अभ्यास के न होने से तथा अप्रत्याख्यानावरणादिरूप चारित्र मोहनीय के तीव्र उदय से उसके कुछ भी व्रत–उसका लेश भी–अवस्थान को प्राप्त नहीं होता है, तो भी–व्रतहीन होने पर भी–वह सब ही प्राणियों के हित की अभिलाषा करनेवाले जिनेन्द्र देव के विषय में बुद्धि करता हुआ–उनके विषय में दृढ श्रद्धा रखता हुआ–दर्शनप्रतिमा का धारक होता है ॥ ६५ ॥

इस प्रकार से जो मत जयसेन – प्रस्तुत ग्रंथ के कर्ता–को अभीष्ट है उसकी और अपनी शक्ति की सम्भावना कर के–उन दोनों का गंभीरतापूर्वक विचार कर के – बुद्धिमान् भव्य जीव को आलस्य का सर्वथा परित्याग करते हुए उस प्रथम प्रतिमा को धारण करना चाहिये । यह दर्शनप्रतिमा स्वर्ग और मोक्षरूप नगर के प्रति प्रस्थान करने वाले प्राणियों के लिये निर्बाध मार्ग–उनकी प्राप्ति का उपाय, तीर्थंकर नामकर्मरूप उत्तम दिन तथा चार आराधनाओं में वह प्रमुख आराधना है ॥ ६६ ॥

इस प्रकार प्रथम प्रतिमा का विस्तार करनेवाला ग्यारहवाँ परिच्छेद–अवसर समाप्त हुआ॥११॥

---

६४) 1 वैराग्यसमूहभावनारहितो ऽपि. 2 वाञ्छन्ति. 3 सम्यक्त्वमयं जीवम् । ६५) 1 [जिनेन्द्रे श्रद्धानः] । ६६) 1 निजां शक्तिम्, D आत्मीयां, 2 दर्शनप्रतिमा. 3 स्वर्गमोक्ष. 4 मार्गः. 5 D सुमुहूर्तं. 6 कथिता ।

[१२. द्वादशो ऽवसरः]

[अहिंसासत्यव्रतविचारः]

924) सा स्तूयते द्वितीया तु यस्या भेदाः सहस्रशः ।
पञ्चाणुव्रतसंभारभारिणो यामुपाश्रिताः ॥ १

925) धर्मसहिंसारूपं संशृण्वन्तो ऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां ते ऽपि मुञ्चन्तु ॥ १*१

926) द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवानां निरपराधवृत्तीनाम् ।
स्थूलाहिंसा प्राणव्यपरोपणतः प्रमादतो विरतिः ॥ २

927) विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च ।
अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्त इति कीर्तितः ॥ ३

अब यहाँ उस दूसरी व्रत प्रतिमा की स्तुति– प्ररूपणा– की जाती है, जिसके भेद हजारों हैं। तथा जिसका आश्रय पाँच अणुव्रतों के भार को धारण करने वाले श्रावक लिये करते हैं ॥ १ ॥

अहिंसामय धर्म के स्वरूप को सुनते हुए भी जो भव्य जीव स्थावर हिंसा के–पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकार के स्थावर जीवों के घातके–छोडने में असमर्थ हैं, उन्हें भी त्रसहिंसा का–द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों के घात का –तो परित्याग करना ही चाहिये ॥१*१॥

पर के अपराध रूप व्यापार से रहित द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का जो प्रमाद के वशीभूत होकर घात किया जाता है उससे विरत–विमुख–होना, इसका नाम स्थूल अहिंसा– अहिंसाणुव्रत है ॥ २ ॥

जो स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और राष्ट्रकथा इन चार विकथाओं, पाँच

---

१) प्रतिमा. 2 प्रतिमाम् । १*१) 1 असमर्थाः । २) 1 D विनाशतः ।

928) कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी[1] निवृत्तिर्विचित्ररूपा[2]पवादिकी[3] त्वेषाम् ॥ ३*१

929) स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां संपन्नयोग्यविषयाणाम्[1] ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ३*२

930) अमृतत्व[1]हेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशाना[2]मसमञ्जसमा[3]कुलैर्न भवितव्यम् ॥ ३*३

931) सूक्ष्मो भगवान् धर्मो धर्मार्थं हिंसते न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो[1] हिंस्याः[2] ॥ ३*४

इन्द्रियों, चार कषायों, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों के अभ्यास में निरत होता है उसे प्रमत्त– प्रमाद से संयुक्त कहा गया है ।। ३।।

जो हिंसा आदि की निवृत्ति (त्याग) कृत, कारित व अनुमोदना के साथ मन, वचन, और काय, इस प्रकार इन नौ भेदों से की जाती है, वह औत्सर्गिकी–सामान्य – निवृत्ति कही जाती है । इसके अतिरिक्त जो यह आपवादि की–विशेषतापूर्वक की जानेवाली – निवृत्ति है, वह अनेक प्रकार की है ॥ ३*१ ॥

थोडे से एकेन्द्रिय जीवों का घात करने मे ही जिन गृहस्थों के योग्य विषयों की पूर्ति हो जाती है, उन्हें (अनावश्यक) शेष स्थावर जीवों के घात का भी परित्याग अवश्य करना चाहिये ॥ ३*२ ॥

विवेकी जनों को अमृतत्व–जन्म के अविनाभावी मरण से रहित मोक्ष–के कारणभूत ऐसी उत्तम अहिंसारूप रसायन को प्राप्त कर के अज्ञानी जनों के असदाचरण को देखते हुए व्याकुल नहीं होना चाहिये ॥ ३*३ ॥

(धर्म संभवत: पूज्य है) । वह इतना सूक्ष्म है (कि सर्व साधारण उसका ठीक ठीक विचार नहीं कर सकते) । यदि उस धर्म के निमित्त जीववध किया जाता है तो इसमें कोई दोष नहीं है । इस प्रकारके विचार से जिनका मन उस धर्म के विषय में मूढता को प्राप्त हो रहा है–जो अन्त:करण से उस धर्म के यथार्थ स्वरूप का विचार नहीं कर सकते हैं–ऐसे अज्ञानी जन को लक्ष्य कर के यह कहा जा रहा है कि उन भोले भाले मनुष्यों को धर्ममूढता के वश होकर कभी भी–किसी भी अवस्था में–प्राणियों का वध नहीं करना चाहिये ॥३*४॥

सो ही कहा है–

३*१) 1 सूक्ष्मनिवृत्ति:, D स्तोका. 2 सूक्ष्मा. 3 विशेषरूपा, D बहुतरा. ३*२) 1 कार्यनिमित्तानाम् । ३*३) 1 मोक्षत्व. 2 अज्ञानिनाम्. 3 असमानं मोक्षहेतुत्वम्, D अन्यथारूपम् । ३*४) 1 जीवा: 2 न मारणीया: ।

932) तदुक्तम्-
तथा च शान्तचित्तानां सर्वभूतदयावताम् ।
वैदिकीष्वपि[1] हिंसासु विचिकित्सा[2] प्रवर्तते ॥ ३*५

933) धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः[1] प्रदेयमिह सर्वम्[2] ।
इति दुर्विवेककलितां[3] विधाय[4] धिषणां[5] न देहिनो[6] हिंस्याः ॥ ३*६

934) पूज्यनिमित्तं घाते[1] रागादिः को ऽपि मम न खल्वस्ति ।
इति संप्रधार्य[2] कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्[3] ॥ ३*७

935) बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य[1] कार्यं[2] न महासत्त्वस्य[3] हिंसनं जातु ॥ ३*८

936) रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य[1] जीवहरणेन ।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्[2] ॥ ३*९

जिन के अन्तःकरण में शांति का वास है, तथा जो सब ही प्राणियों के विषय में दयालु हैं, उन महापुरुषों को वेदिकी हिंसा-वेदविहित याज्ञिकी जीवहिंसा – के विषय में भी घृणाभाव प्रवृत्त होता है। (वे उससे सहमत नहीं होते हैं) ॥ ३*५ ॥

लोक में धर्म की उत्पत्ति चूंकि देवताओं से होती है। अतएव उन्हें सबकुछ देना चाहिये ऐसी अविवेक युक्त बुद्धि के वश होकर प्राणियों का घात करना योग्य नहीं है ॥३*६॥

किसी पूज्य अतिथि या गुरु आदि के लिये जीव के– बकरा आदि के–मारने में मुझे कोई राग द्वेषादि भाव नही है, ऐसा विचार कर अतिथि के लिये प्राणियों का घात नहीं करना चाहिये ॥ ३*७ ॥

अनेक प्राणियों को मारकर भोजन बनाने की अपेक्षा किसी एक ही बडे प्राणी को मारकर भोजन के लिये उसके माँस का उपयोग करना कहीं अच्छा है ऐसा विचार कर (हाथी या भैसा आदि) किसी विशालकाय प्राणी का घात कभी भी नहीं करना चाहिये ॥ ३*८ ॥

इस एक ही जीव का वध करने से अन्य बहुत से प्राणियों का रक्षण होता है ऐसा समझकर हिंस्र प्राणियों का– सर्प व सिंहादिकों का– घात नहीं करना चाहिये ॥ ३*९ ॥

३*५) 1 [वेद] संबन्धिनीषु. 2 निवृत्तिः, D निन्दा । ३*६) 1 देवताभ्यः. 2 D मांसादिकम्ः. 3 मिश्रिताम्. 4 कृत्वा. 5 बुद्धिम्. 6 जीवाः । ३*७) 1 पूज्यनिमित्ते वधे जीवे रागद्वेषादिः नास्ति. 2 मनसि धृत्वा. 3 जीववधः, D हिंसनम् । ३*८) 1 विचार्य. 2 न करणीयम्. 3 हस्तिशूकरादेर्जीवस्य । ३*९) 1 हिंस्रजीवस्य. 2 सर्पसिंहादीनाम्, D सिंहादीनाम् ।

937) बहुसत्त्वघातिनो[1] ऽमी जीवन्तं[2] उपार्जयन्ति बहुपापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः[3] ॥ ३*१०

938) बहुदुःखाः संज्ञपिताः[1] प्रयान्ति न चिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय[2][3] न दुःखिनो निहन्तव्याः ॥ ३*११

939) कृच्छ्रेण[1] सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव ।
इति तर्कमण्डलाग्रः[2] सुखिनां घाताय नादेयः ॥ ३*१२

940) उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसो[1] ऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो निकर्तनीयं न[2] धर्ममभिलषता ॥ ३*१३

941) धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय[1] दर्शयताम् ।
झटिति घटचटकमोक्षं[2] श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्[3] ॥ ३*१४

बहुत से प्राणियों की हत्या करनेवाले ये सर्प व हिंसादि हिंसक प्राणी–जीवित रहकर बहुत से पापों को उत्पन्न करनेवाले हैं । इस प्रकार उनके ऊपर दया कर के (उस पाप से मुक्त करने की इच्छा से) उक्त हिंसक प्राणियों का (कभी) घात नहीं करना चाहिये ॥३*१०॥

जो प्राणी रोगादि से पीडित होकर अतिशय दुख का अनुभव कर रहे हैं वे मार देने पर चिरकाल में दुख के अभाव को–सुख को– प्राप्त हो सकते हैं । इस प्रकार की वासना–संस्कार या विचार-रूप तलवार को लेकर उन दुखी जीवों का घात नहीं करना चाहिये ॥३*११॥

सुख की प्राप्ति चूँकि बडे कष्ट से होती है, अतएव जो प्राणी वर्तमान में सुखी हैं उनका वध कर वे भविष्य में सुखी ही रहेंगे, ऐसा तर्करूपी खड्ग सुखियों को मारने के लिये नहीं लेना चाहिये ॥ ३*१२ ॥

जिसने प्रचुर अभ्यास के बल से स्वर्ग मोक्ष स्वरूप उत्तम गति की हेतुभूत श्रेष्ठ समाधि को प्राप्त कर लिया है, अर्थात् जो प्रतिमायोग में अवस्थित है, ऐसे गुरु के शिर का धर्म की अभिलाषा से शिष्य के द्वारा काटना योग्य नहीं है ॥ ३*१३ ॥

थोडे से धन की प्राप्ति की इच्छा से शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिये शीघ्र ही घटचटक मोक्ष दिखाने वाले खारपटिकों पर श्रद्धा नहीं करनी चाहिये । (अभिप्राय

३*१०) 1 P°सत्त्वघाततो°. 2 जीवमाना जीवाः. 3 सिंहादयः । ३*११) D 1 खेदखिन्नाः. 2 P D छुरिकाम्. 3 गृहीत्वा । ३*१२) 1 D कष्टेन. 2 D खड्ग । ३*१३) 1 बाहुल्यात्. 2 D शिष्येण सु [स्व] गुरोः शीर्षं न खण्डनीयम् । ३*१४) 1 शिष्य. 2 D मुञ्चनम्. 3 खारपटिकानां ठकानाम् एतद्वचनम् । यथा घटमध्ये चटको घटभङ्ग [उ] ड्डीयते मरणं न लभते तथा जीवो ऽपि देहमध्ये सति देहविनाशे गत्यन्तरं गच्छति न मरणं लभते, अतः देहघाते न हिंसा भवति, D ठगानाम् ।

942) दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनायाः क्षामकुक्षिमायातम् ।
निजमांसदानरभसादालब्धव्यो[1] न चात्मापि ॥ ३*१५

943) को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य[1] गुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥ ३*१६

944) यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य[1] करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ३*१७

945) अप्रादुर्भावः[1] खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषां[2]मेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ३*१८

यह है कि जिस प्रकार घट के भीतर बंद गोरैया पक्षी उस घट के फोड देने पर उससे छुटकारा पा लेता है उसी प्रकार प्राणोका घात कर देने पर वह भी शरीररूप घट से छुटकारा पा लेता है-मुक्त हो जाता है ऐसा खरपट का मत है, जो श्रद्धा के योग्य नहीं है) ॥३*१४॥

भूख से पीडित होने के कारण जिसका पेट क्षीण हो रहा है - भीतर घुसा जा रहा है ऐसे दूसरे प्राणी को आगे आता देखकर उसके खाने के लिये अपने मांस को देने की उत्कण्ठावश अपने आप को प्राप्त नहीं करना चाहिये-स्वयं का घात नहीं करना चाहिये ॥ ३*१५ ॥

ऐसा कौनसा निर्मलबुद्धि मनुष्य होगा जो विविध नयों के पारंगत गुरुओं की आराधना करके जैन मत के रहस्य को जानता हुआ अहिंसा के आश्रय से मोह में प्रविष्ट होता है-उस अहिंसा के विषय में मूढता को प्राप्त होता है (अर्थात् कोई भी विचारशील मनुष्य उपर्युक्त अहिंसा के विकृत स्वरूप को स्वीकार नहीं करता है)॥३*१६॥

कषायके वश होकर जो द्रव्यप्राण और भावप्राणों का नाश किया जाता है वह निश्चित ही हिंसा है। (यहाँ पांच इन्द्रियाँ, तीन बल (मनोबल आदि), आयु और श्वासोच्छ्वास इन दस को द्रव्यप्राण तथा ज्ञानदर्शन व क्षमा-मार्दवादि को भावप्राण समझना चाहिये)॥३*१७॥

राग द्वेषादि कषायों की उत्पत्ति का न होना निश्चय से अहिंसा और उन्हीं की उत्पत्ति का होना हिंसा है, यह जिनागम का संक्षेप है। यह परमागम में संक्षेप से अहिंसा और हिंसाका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है ॥ ३*१८ ॥

३*१५) 1 न मारितव्यः, D न घातनीयः । ३*१६) 1 D सेव्य । ३*१७) 1 विनाशस्य । ३*१८) 1 अनुदयभावः, D कषाययोगाभावात्. 2 रागादीनाम् ।

946) युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेश[1]मन्तरेणा[2]तः ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ३*१९

947) व्युत्थाना[1]वस्थायां रागादीनां तु संप्रवृत्तीनाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ३*२०

948) यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां[1] तु ॥ ३*२१

949) हिंसाया अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे[1] प्राणव्यपरोपणं[2] नित्यम् ॥ ३*२२

इसीलिये जो योग्य आचरण कर रहा है–गमनागमनादि कार्यों में जीवरक्षा के अभिप्राय से सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति कर रहा है– उसके मन में राग-द्वेषरूप अभिप्राय के न होने से केवल द्रव्यप्राणों का विनाश करने से ही हिंसा–तज्जनित पापबन्ध – कभी भी नहीं होती है ॥ ३*१९ ॥

विरोधी अवस्था में रागद्वेषादि प्रवृत्तियों के विद्यमान रहने से जीव चाहे मरे या न भी मरे, परन्तु हिंसा निश्चय से आगे दौडती है । (रागद्वेषादि के वशीभूत हो कर अथवा असावधानी से भी व्यवहार कार्य में प्रवृत्त होने पर कदाचित् जीवघात न भी हो तो भी हिंसा–जनित पाप का वन्ध होता ही है) ॥ ३*२० ॥

इसका कारण यह है कि वैसी अवस्था में क्रोधादि कषाय के वशीभूत जीव प्रथमतः स्वयं अपने आपका ही घात करता है–अपने क्षमा एवं मार्दवादि रूप समीचीन भावों को नष्ट करता है । तत्पश्चात् अन्य प्राणियों का घात हो भी सकता है और कदाचित् वह नहीं भी होता है ॥ ३*२१ ॥

हिंसा से विरत न होना और उस हिंसा में परिणत होना—तद्रूप प्रवृत्ति करना—ये दोनों हिंसा ही हैं । इसलिये जीव के प्रमादयुक्त होने पर निरन्तर प्राणव्यपरोपण–भाव प्राणों-का विघात–होता ही है ॥ ३*२२ ॥

३*१९) 1 प्रवेशम्. 2 PD विना । ३*२०) 1 व्युत्पत्ति । ३*२१) 1 परेषां प्राणिनाम् । ३*२२) 1 प्रमादयोगात्. 2 अयत्नाचरणे प्राणविनाशनं नित्यं भवति ।

950) सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना[1] भवति पुंसः[2] ।
हिंसायतननिवृत्तिः[3] परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ३*२३

951) विचित्रपरिणामेभ्यो जायमाना प्रथीयसी[1] ।
हिंसा न पार्यते[2] ज्ञातुं तथात्वं[3] कथ्यते कियत्[4] ॥ ४

952) अविधायापि[1] हि हिंसां हिंसाफलभाजनं[2] भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्[3] ॥ ४*१

953) एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य[1] महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके[2] ॥ ४*२

954) एकस्य सैव[1] तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि[2] हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ४*३

यद्यपि दूसरी वस्तुओं के आश्रय से जीव की निश्चयतः सूक्ष्म भी हिंसा—उसका लेश भी—नहीं होती है । फिर भी परिणामों को निर्मलता के लिये उस हिंसा के आयतनों का—उसकी आश्रयभूत वस्तुओं का — परित्याग करना ही चाहिये ॥ ३*२३ ॥

विविध परिणामों के द्वारा होने वाली महती—विविध भंगरूप—हिंसा के स्वरूप का भलीभाँति जान लेना शक्य नहीं है । तब फिर वैसी अवस्था में उसके स्वरूप का निरूपण कितना किया जा सकता है ? अर्थात् परिणामों के अनुसार उस हिंसा के विविध रूप संभव होने से उसके स्वरूप का पूर्णतया कथन करना शक्य नहीं है ॥ ४ ॥

कोई एक जीव हिंसा—द्रव्यप्राणों का घात—न कर के भी उस हिंसा के फलका पात्र होता है — हिंसारूप परिणामों के आश्रय से हिंसाजन्य पाप का भागी होता है । और इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति हिंसा को — द्रव्यप्राणों के घात को — करके भी प्रमादरहित होने के कारण उस हिंसा के फल का पात्र नहीं होता है ॥४*१॥

किसी एक जीव के लिये थोडी—सी भी हिंसा (परिणामों के अतिशय कलुषित होने के कारण) विपाक के समय में विपुल फल को देती है । और इसके विपरीत अन्य किसी जीव के लिये महती हिंसा भी (परिणामों की निर्मलता के कारण) परिपाक के समय में थोडे से ही फल को देती है ॥ ४*२ ॥

वही — समान रूपसे की गई — हिंसा एक जीव के लिये (कषाय के तीव्र होने से)

३*२३) 1 परवस्तु [संबन्धिनी] 2 PD पुरुषस्य. 3 D स्थानानि, यद्यपि सूक्ष्मापि हिंसा न भवति तथापि हिंसास्थानानि त्यजनीयानि । ४) 1 गरीयसी, D गरिष्ठा 2 न शक्यते. 3 याथातथ्यम्. 4 D अंशमात्रम् । ४*१) 1 अकृत्वा, D अक्रियमाणापि. 2 हिंसायाः. 3 D न भवेत् । ४*२) 1 D सहायजनस्य. 2 अनुभव समये । ४*३) 1 सा हिंसा. 2 द्वयोरपि ।

955) प्रागेव फलति[1] हिंसा क्रियमाणा[2] फलति फलति च कृतापि[3] ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसा[4] निजानुभावेन ॥ ४*४

956) एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः ।
बहवो विदधति[1] हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥ ४*५

उत्कट फल को देती है । और इस के विपरीत दूसरे के लिये वही (कषाय की मन्दता के कारण) अल्प फल को ही देती है । इसी प्रकार उक्त हिंसाकर्म में दोनों की सहायता करने वाले दो व्यक्तियों के मध्यमें भी फलदान के समय में तीव्र व मंद परिणामों के अनुसार विचित्रता को--फल की हीनाधिकता को-प्राप्त होती है ॥ ४*३ ॥

किसी जीव के लिये प्राणघात करने के पूर्व में ही वह हिंसा अपना फल दे दिया करती है । उदाहरणार्थ किसीने जीवघातका संकल्प तो किया, परन्तु उस समय वह उसे कर नहीं सका, किन्तु दीर्घ काल के पश्चात् उसे संपन्न कर सका; ऐसी अवस्था में हिंसा तो हुई पश्चात् पर फल पूर्व में ही प्राप्त हो गया) । किसी जीव के लिये वह हिंसा जीवघात करने के समय में ही फल दिया करती है । (जैसे कोई जीव जिस समय किसी के प्राणघातका विचार करता है और संयोग से यदि वह उसे उसी समय में संपन्न भी कर लेता है तो उसे हिंसाकाल में ही पाप का बन्ध हो जाता है । अत: हिंसाकाल में ही उसे फल प्राप्त हो गया) । कभी वह हिंसा जीवघातके संपन्न होने के पश्चात् फल दिया करती है । (उदाहरण स्वरूप किसी ने अन्य की प्रेरणा से जीववध नो कर दिया, पर स्वयं उसका वैसा विचार नहीं किया था; किन्तु कालान्तर में उसने अपने द्वारा संपन्न किये गये उस जीववध को योग्य माना, ऐसी अवस्था में उसे हिंसा कर चुकने के पश्चात् उसका फल प्राप्त होता है) इसी प्रकार कोई हिंसा करना प्रारंभ तो करता है–उसका संकल्प मात्र तो करता है – परन्तु योग्य अवसर न प्राप्त होने से वह उस हिंसा को संपन्न नहीं कर पाता है, ऐसी अवस्था में हिंसा तो हो नहीं सकी, परन्तु पापबन्ध स्वरूप उसका फल उसे प्राप्त हो ही गया । इस प्रकार प्राणी अपने परिणाम–विशेष से हिंसा का फल कभी पूर्व में, कभी उसी समय में, कभी पश्चात् और कभी उस हिंसा के संपन्न करने के विना भी उस के फल को प्राप्त किया करता है ॥४*४॥

कभी हिंसा तो करता है एक जीव और उस हिंसा के फल के भागी होते हैं अनेक अनुमोदक जीव । इसके विपरीत कभी हिंसा तो करते हैं अनेक जीव (जैसे सैनिक वर्ग) और उसका फल प्राप्त होता है एक जीव को (जैसे–राजा) ॥ ४*५ ॥

४*४)]1 परिणामे. 2 फलकाले. 3 कृतापि द्रव्यहिंसा. 4 भावहिंसा ।४*५) 1 कुर्वन्ति ।

957) कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ४*६

858) इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्[1]।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंभाराः[2] ॥ ४*७

959) अत्यन्तनिशितधारादुरासदं[1] जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं[2] मूर्धानं[3] झगिति दुर्विदग्धानाम्[4] ॥४*८

960) अवबुध्य[1] हिंस्य[2]हिंसक[3]हिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमनिगूहमानै[4]र्निजशक्तिं त्यज्यतां हिंसा ॥ ४*९

961) आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधार्थम् ॥ ४*१०

किसी के लिये हिंसा-बुद्धिपूर्वक किया गया जीववध-फलकाल में हिंसा के फलको ही देती है। इस के विपरीत दूसरे के लिये (जैसे-दयालु वैद्य-डॉक्टर) वही हिंसा अहिंसा के फलस्वरूप पुण्यबन्ध का कारण होती है, न कि हिंसा के फलस्वरूप पापबन्ध का ॥ ४*६ ॥

इस प्रकार जिस के मध्य में से अतिशय दुखपूर्वक बाहर निकल सकते हैं ऐसे अनेक प्रकार के भेदों से दुर्गम उस हिंसा अहिंसा के विचारस्वरूप वन में मार्गविषयक ज्ञान से रहित-- मिथ्यादृष्टि-जनों के लिये नयरूप चक्र के चलाने में चतुर गुरु ही शरण-उस हिंसाअहिंसारूप दुर्गम वनसे उद्धार करने वाले- होते हैं ॥ ४*७ ॥

जिनेन्द्र देव का वह नयरूप चक्र अतिशय तीक्ष्ण धार से संयुक्त-दुर्ज्ञेय-होने से दुष्प्राप्य है-मन्दबुद्धि जन उसका ठीक ठीक उपयोग नहीं कर सकते हैं। इसलिये जो दुर्बुद्धि या दुरभिमानी जन उसको धारण करते हैं उनके मस्तक को वह शीघ्र ही खण्डित कर देता है। (यथास्थान उसका ठीकठाक उपयोग न कर सकने के कारण वे मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं) ॥ ४*८ ॥

हिंस्य-घात करने योग्य प्राणी के द्रव्य और भाव प्राण, हिंसका - कषायाविष्ट जीव, हिंसा-प्राणों का घात, और हिंसाफल - अशुभ कर्मबन्ध; इनके स्वरूप को परमार्थ से जानकर अपनी शक्ति को न छिपाते हुए हिंसा का त्याग करना चाहिये ॥ ४*९ ॥

असत्य भाषण, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रह ये सब भी आत्मा के निर्मल परिणामों

४*७) 1 जिनमार्गमविज्ञायकानाम्. 2 नयारूढा गुरवः। ४*८) 1 दुष्प्रापम्, D दुःसाध्यम्. 2 एकान्तेन धार्यमाणं नयचक्रम्. 3 PD मस्तकं छेदयति, अनन्तसंसारिणं करोति च. 4 मिथ्यादृष्टीनाम् । ४*९) 1 PD ज्ञात्वा. 2 मार्यजीव. 3 मारक. 4 अलोपमानैः ।

962) बालव्युत्पत्तिसंसिद्ध्यै कांश्चिदन्यान्[1] प्रदर्शये ।
अहिंसनस्य पर्यायान्[2] संदृष्टानपि जातितः[3] ॥ ५

963) स्यात्संरम्भसमारम्भारम्भेभ्यो[1] विनिवर्तिनः ।
कषायेभ्यो हृषीकेभ्यो[2] द्व्यक्षादिषु[3] यथायथम्[4] ॥ ६

964) समग्र प्रतिमास्थानसमारोहणकारिणः ।
अहिंसा परमां कोटिं समारोहत्यनाकुलम् ॥७। युग्मम् ।

965) प्रसिद्धं च –
देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयेन वा ।
न हिंस्यात्प्राणिनः[1] सर्वानहिंसाख्यं व्रतं मतम् ॥ ७*१

966) हर्म्यकार्य[1]मखिलं नियोजयेत् दृष्टिपूत[2]मथ यद्द्रवाभिधम्[3] ।
वस्त्रगालितमथाशनादिकं स्पृष्टदृष्ट[4]मुरुधर्मवासनः ॥ ८

के विघातक होने से उस हिंसा से पृथक् नहीं हैं–उसी के अन्तर्गत हैं । इन सब का जो पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है वह केवल शिष्यों के लिये उनका विशेष परिज्ञान कराने के लिये किया गया है ॥ ४*१० ॥

मन्दबुद्धि जनों को उसका विशेष परिज्ञान प्राप्त हो सके, इस उद्देश से यहाँ उक्त अहिंसा की जातिस्वरूप से देखी गई कुछ अन्य भी पर्यायोंका–विशेषों का कथन किया जाता है ॥ ५ ॥

जो गृहस्थ द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों के विषय में कषायों व इन्द्रियों के साथ संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से निवृत्त हो कर समग्र प्रतिमास्थानों–श्रावक के दार्शनिक व व्रतिक आदि ग्यारह ही भेदों पर–आरूढ होना चाहता है–उनके परिपालन में उद्यत हो रहा है–उसकी अहिंसा निराकुल स्वरूप से चरम सीमा को प्राप्त होती है ॥ ६–७ ॥

देवता, अतिथि, पितर, मंत्र, औषध और भय के वश जो सब प्राणियों का–किसी भी प्राणी का–प्राणवियोग नहीं करता है, यह अहिंसानामक व्रत माना गया है ॥ ७*१ ॥

धर्म के प्रबल संस्कार से संयुक्त भव्य जीव को घर के समस्त स्वच्छतादि कार्य को नेत्रों से भली भाँति देखकर करना चाहिये । जो पानी के समान पतले पदार्थ हों उन्हें वस्त्र से

---

५) 1 कान्चित्. 2 D विशेषान्. 3 मुख्यतः । ६) 1 D मनवचनकाययोगेभ्यः. 2 D इन्द्रियेभ्यः. 3 द्वीन्द्रिया [दिषु],D त्रसजीवेषु. 4 D भङ्गेन त्रसानां हिंसा न कर्तव्या । ७*१) 1D जीवान् । ८) 1 D गृहकार्यं. 2 D समस्तमवलोक्य. 3 जलघृततैलतक्रदुग्धादि इव, D दुग्धादि पेयवस्तूनि. 4 D हस्त वा दृष्टिशोधित ।

967) स्पर्शनात्किमपि दर्शनात्परं हेयमस्ति मनसो ऽपि किंचन ।
सम्यगेवमवबुध्य धीधनः सेवतां विमलकर्म शर्मदम् ॥ ९
968) कार्यकर्मणि निजे नियोजयेदाश्रितांश्च सकलान् प्रयत्नतः ।
प्रायशो यदिह दण्ड्यते विभुर्भृत्यदोपकरणादितीरितम् ॥ १०

969) संधानपानकफलं दलमूलपुष्पं
जीवैरुपद्रुतमपीह च जीवयोनिः ।
नालीनलादिसुषिरं च यदस्ति मध्ये
यच्चाप्यनन्तमनुरूपमदः समुज्झ्यम् ॥ ११

970) अमिश्रं मिश्रसंसर्गि कालदेशदशाश्रयम् ।
वस्तु किंचित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥ ११*१

छानकर उपयोग में लाना चाहिये । भोज्य पदार्थों को हाथ से स्पर्श कर के और नेत्रों से देख कर के खाना चाहिये ॥ ८ ॥

किसी वस्तु का हेयपना स्पर्शन होने से ज्ञात होता है, कोई वस्तु देखने से त्याज्य प्रतीत होती है, तथा कोई अन्य वस्तु मन से विचार करने पर त्याज्य समझकर छोडी जाती है । इस प्रकार वस्तुओं के हेयपने को भलीभाँती जानकर विद्वान् मनुष्य को सुखदायक निर्मल कार्य को करना चाहिये ॥ ९ ॥

योग्य कार्य के करने में सेवकों को यत्नाचारपूर्वक नियुक्त करना चाहिये । कारण यह है कि प्रायः सेवकों के अपराध से स्वामी को दण्डित किया जाता है, ऐसा कहा गया है ॥१०॥

जीवों से व्याप्त व उनकी उत्पत्ति के योनिभूत संधानक (अचार), पेय अर्थात् दो दिनों से अधिक दिनों का तक्र आदि, फल-जिसमें सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं, पत्र, मूल और पुष्प ये जीवोंसे परिपूर्ण पदार्थ त्याज्य हैं । तथा नाली (वनस्पति विशेष), नल (एक प्रकार का पोला तृण) और सुषिर (अन्य पोली वनस्पति) एवं जो अनन्तकायिक हैं ऐसे सब ही पदार्थ त्याज्य हैं ॥ ११ ॥

इस जिनागम में काल, देश और अवस्था के आश्रित अमिश्र-अन्य के संसर्ग से रहित-तथा मिश्रसे संसर्ग रखने वाली वस्तु भी छोडने के योग्य है ॥ ११*१ ॥

कहा भी है-

---

९) 1 ज्ञात्वा । १०) 1 युक्त. 2 स्वामी, D किंकरदोषे न प्रभुः दण्ड्यते । ११) 1 व्यापितम्. 2 सद्यम्. 3 एतत्. 4 त्यजनीय, D त्याज्यम् । ११*१) 1 किंचित् अमिश्रं त्याज्यम्, किंचित् मिश्रं त्याज्यम् कालदेशदशादि, D सदोषं त्यजनीयम् ।

971) द्विदलं[1] द्विदलं हेयं भायेणानवतां गतम् ।
शिम्बयः[2] सकलास्त्याज्याः साधिताः सकलाश्च याः ॥ ११*२
972) नरे महारम्भपरिग्रहे दया विदूयते नीरजिनीव[1] निर्जले।
कुशीलमायाविनि वा विबुद्धधीर्यथा न विश्वासमुपैत्यनाकुलः ॥ १२
973) दुःखशोकवधतापदेवनं[1] [illegible]द विदध[2]न्निजान्ययोः[3] ।
उग्रदुःखजनकं समर्जयेद् वेदनीय[4]मविधीरिता[5]वधिः ॥ १३
974) मैत्रीप्रमोदकरुणासमवृत्तय[1]स्तु कार्या[2] यथायथमिहत्यफलं[3] विमुच्य ।
सत्त्वेषु सत्तमगुणेषु[4] सुदुःस्थितेषु दूरं विनीतिरहितेषु[5] विमत्सरेण ॥ १४

दो समान हिस्सों में विभक्त होने वाला द्विदल – मूँग व उडद आदि धान्य विशेष– पुराना हो जाने पर बहुधा छोडने के योग्य हो जाता है । (क्योंकि उसमें कीडे छिद्र करके रहने लगते हैं) । सेम आदि की सब फलियँा जो बिना फाडे ही सिद्ध की गई हैं– पकाई गई हैं–खाने के योग्य नहीं हैं ॥ ११*२ ॥

जो मनुष्य महान्–आरम्भ और परिग्रहमें निरत होता है उसमें दया इस प्रकार से संतप्त –नष्ट–होती है जिस प्रकार कि पानीसे रहित प्रदेश में कमलिनी संतप्त होती है–मुरझा जाती है अथवा जो मनुष्य कुशील और मायाव्यवहार से कलुषित होता है उसके अन्तःकरण में भी दया का वास नहीं होता है । और इसीलिये कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य निराकुल हो कर उसके विषय में विश्वास को नहीं प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

जो मनुष्य स्वयं अपने और दूसरे के विषय में दुःख, शोक, वध, ताप, देवन (परिदेवन) और आक्रन्दन को करता है तथा मर्यादा का उल्लंघन भी करता है वह तीव्र दुःख को उत्पन्न करने वाले वेदनीय–असातावेदनीय–कर्मको उपार्जित करता है । (उनमें पीडा देने के परिणाम का नाम दुःख है । उपकारक व्यक्ति का वियोग हो जाने पर मन में जो खेद होता है उसका नाम शोक है । वध–आयु, इन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल और श्वासोच्छ्वास इन प्राणोंका नाश करना, निंदा व अपमानादि से चित्त. संतप्त हो कर जो खेद उत्पन्न होता है उसे ताप कहते हैं। संक्लेश परिणाम से गुणस्मरणपूर्वक स्वपरोकार की अभिलाषासहित दया उत्पन्न करने वाला जो शोक होता है उसे देवन कहते हैं । निन्दा व अपमानादिक से अश्रुपातपूर्वक प्रचुर विलाप करने का नाम आक्रन्दन है) ॥ १३ ॥

आत्महित के अभिलाषी सत्पुरुष को इस लोकसंबन्धी फल की अपेक्षा न कर के मात्सर्य भाव से रहित होते हुए यथा योग्य क्रम से प्राणिमात्र के विषय में मित्रता का भाव, उत्तम

११*२) 1 P सारी फली गोरससंयुक्ता, D मुद्गादिकम्. 2 चौला मूंग माष मोठक फली आली कोमल समस्ता त्याज्याः, D वालहुल्लि । १२) 1 पद्मिनी, D कमलिनीव । १३) 1 रुदनम्. 2 कुर्वन् 3 स्वपरनिमित्तयोः, D स्वपरयोः. 4 D वेदनीयं कर्म. 5 निराकृत, D मर्यादारहितम् । १४) 1 माध्यस्थम्. 2 P°कुर्या, करणीया . 3 इहलोकफलम्, D निदानफलम्. 4 D गुणयुक्तेषु. 5 विपरीतवृत्तिषु ।

975) उक्तं च —

कायेन मनसा वाचा सर्वेष्वपि च देहिषु ।
अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥ १४*१

976) तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः ।
जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥ १४*२

977) दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणावताम् ।
हर्षामर्षोज्झिता[1] वृत्तिर्माध्यस्थं समुदाहृतम् ॥१४*३

978) इत्थं प्रयतमानस्य[1] गृहस्थस्यापि देहिनः ।
करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम्[2] ॥ १४*४

सम्यग्दर्शनादि गुणों के धारकों में हर्ष का भाव, रोगादि से अतिशय दुखी प्राणियों के विषय में दयाभाव और अविनीत–विपरीत स्वभाववाले–जनों के विषय में समवृत्ति–मध्यस्थता के भाव–को धारण करना चाहिये ॥ १४ ॥

सब ही प्राणियों के विषय में शरीर से, मन से और वचन से दुःख न उत्पन्न करने की भावना होती है उसे मैत्रीके ज्ञाता मैत्री कहते है ॥१४*१॥

तपगुणसे अधिक–तपश्चरण और संयमादि गुणों में दृढता को प्राप्त–सत्पुरुष के विषय में जोअतिशय विनय के आश्रय से परिपूर्ण मन में अनुराग प्रादुर्भूत होता है उसे विद्वान् पुरुषोंने प्रमोद माना है ॥ १४*२ ॥

दयालु जनों के अन्तःकरण में जो दीन-दुःखी प्राणियों के उद्धार की–दुःख से संरक्षण की– बुद्धि (भावना) उदित होती है, उसका नाम कारुण्य है । और विपरीत बुद्धि मनुष्यों के विषय में जो राग व द्वेष रहित वृत्ति–उदासीनता का भाव – उत्पन्न होती है, उसे माध्यस्थ–भाव कहा गया है ॥ १४*३ ॥

जो प्राणी उपर्युक्त भावनाओं के अनुसार प्रयत्न कर रहा है वह भले ही गृहस्थ क्यों न हो, फिर भी स्वर्ग को उसके हाथ में ही स्थिती समझना चाहिये । तथा वह पद–प्रसिद्ध मोक्षपद – भी उसके लिये दूर नहीं है । (अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त भावनाओं का चिन्तन करने वाला मनुष्य गृहस्थ होने पर भी शीघ्र ही स्वर्ग-मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ १४*४॥

१४*२) 1 विनय । १४*३) 1 रागद्वेषरहितवृत्तिः । १४*४) 1 यत्नपरायणस्य. 2 PD मोक्षपदम् ।

979) पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् ।
तत्पापं[1] पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि[2] ॥ १४*५

980) क्रियायाः सर्वस्या भवति कलिलं[1] संगतमेव-
मभिध्यानात्प्रायस्तरतमतया[2] किंतु विदुषाम् ।
यथैवैणीसिंह्योः[3] कृषिकरधीवरयोस्तादृकरयोः[4]
प्रियापुंस्त्र्योर्मध्ये वि तविनिवेशस्य[5][6] यदि वा ॥ १५

981) तदुक्तम्—
अथ शुभमशुभं वा सत्यमस्ति क्रियायाः
फलमपघनभाजां[1] निष्फलं नैव कर्म ।
निरवधिपरिशुद्धब्रह्मगम्भीरमूर्तिः
स जयति परमात्मा निष्फला[2] यस्य सेवा ॥ १५*१

पुण्य को तेजोमय–प्रकाशस्वरूप – और पापको अन्धकारस्वरूप कहा जाता है। सो वह अन्धकारस्वरूप पाप क्या दयारूपी सूर्यप्रकाश के धारक पुरुष में अवस्थित रह सकता है ? ॥ १४*५ ॥

जो भी क्रिया है उस सभी से यह पाप संगत–संबद्ध– रहता है । परन्तु प्रायः वह विद्वानों के संकल्प के अनुसार हीनाधिक होता है । जैसे–हरिणी और सिंहिनी में संकल्प को विशेषता से उस पापकी हीनाधिकता होती है । दूसरा उदाहरण–खेत में किसान हल चलाते समय अनेक जीवों को नष्ट करता है,परन्तु उन जीवों को मारने का भाव चूंकि उसके मन में नहीं होता है इसलिये वह अधिक पापका भागी नहीं होता है । परन्तु मछलियों का संहार करने वाला धीवर उन मछलियों को न पकडते हुए भी मन में मारने का संकल्प बना रहने से अधिक पापी होता है। (तीसरा उदाहरण) कोई पुरुष पत्नी और लडकी दोनोंके बीच बैठा हुआ है व उसे दोनों के शरीरका स्पर्श हो रहा है । शरीरस्पर्श यद्यपि दोनों का समान है फिर भी मनोगत भाव में भेद रहता है ॥ १५ ॥

कहा भी है–

१४*५) 1 तमोमयं पापम्. 2 दीधितिमालिन् शब्दः, दीधितिमाली सूर्यः, तस्मिन् दयादीधितिमालिनि, D सूर्यं । १५) 1 (अ) सत्यम्. 2 तारतम्यतया. 3 हरिणीसिंहिनीद्वयोः, D हरिणी. 4 PD कृषिकरधीवरयोः. 5 स्त्रीपुत्रिद्वयोः. 6 कृतानुभवस्य. १५*१) 1 शरीरधारिणाम्, D शरीरभाजां. 2 निष्कर्मा ।

982) अन्यच्च—

क्रियान्यत्र क्रमेण स्यात् कियत्स्वेव[1] च वस्तुषु ।
जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया[2] ॥ १५*२

983) तदुक्तम् —

पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु[1] विमलं तादगात्मनीनं[2]
न ब्रह्म संस्पृशसि वीतजरादिदोषम्[3] ॥ १५*३

984) स्थावरेष्वपि न कामवृत्तयः[1] किंतु कार्यवशतो महाधियः[2] ।
वृत्तिमादधति[3] के ऽपि सत्तमाः[4] सर्वतो ऽपि विरतिं वितन्वते[5] ॥ १५*४

क्रिया का निश्चित ही शुभ अथवा अशुभ कुछ न कुछ फल होता है । क्यों कि देहधारी-संसारी-प्राणियों की कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती है । अमर्याद गुणों से सुशोभित शुद्ध व ब्रह्मस्वरूप गम्भीर मूर्ति के धारक उस परमात्मा की जय हो जिसकी सेवा – हितोपदेशादि रूप क्रिया – निष्फल–पाप अथवा पुण्य के बन्धरूप फल से रहित–होती है ॥ १५*१ ॥

दूसरे इतर कितनी ही वस्तुओं में जो क्रिया होती है वह क्रमशः होती है । परन्तु मन में जो क्रिया होती है वह तीनों लोकों से भी विशाल व एक ही क्षण में होती है । अर्थात् पदार्थ में मनका चिन्तन इतना व्यापक होता है कि उसमें तीनों लोक समा सकते हैं ।।१५*२।।

कहा भी है–मन के विषय में ऐसा कहा है

हे मन ! तू पाताल में प्रवेश करता है,आकाश को लाँघकर जाता है, तथा तू चपलता से सब दिशाओं के घेरे में भी भ्रमण करता है । परन्तु वृद्धावस्थादि दोषोंसे रहित व आत्मा के हितकारी निर्मल ब्रह्म को–परमात्मस्वरूप को - तू भूल से भी कभी स्पर्श नहीं करता है ॥ १५*३ ॥

महाबुद्धिमान् मनुष्य स्थावर प्राणियों के विषय में भी यथेच्छ प्रवृत्ति नहीं करते हैं किन्तु कार्य की अपेक्षा से ही वे उक्त स्थावरों के वध में प्रवृत्त होते हैं । कितने ही सर्व श्रेष्ठ महापुरुष उनमें पूर्णतया विरत होते हैं अर्थात् वे स्थावर घात और त्रसघात दोनों से ही विरत हो कर अहिंसा महाव्रतका पालन करते हैं ॥ १५*४ ॥

१५*२) 1 PD क्रियाश्चैव. २ P° क्रिया. १५*३) 1 कदाचित्. 2 आत्महितम्. 3 D ब्रह्म । १५*४) 1 स्वेच्छाचारिणः. 2 D सत्पुरुषाः. 3 धारयन्ति. 4 सत्पुरुषाः दशमएकादशमप्रति [मा] धारी, D प्रतिमा. 5 विस्तारयन्ति ।

985) ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोकं[1] प्रवर्तताम् ।
गुणदोषविभागेषु लोक एव यतो गुरुः[2] ॥ १५*५

986) दर्पादविज्ञानबलादुपेते[1] दोषे प्रमादादुपरोधतो वा ।
यथागमं निर्जरणं[2] विदध्यात्[3] स्वचित्तशुद्ध्यै जनरञ्जनाय ॥ १६

987) प्रायो[1] लोको जिनैरुक्तश्चित्तं तस्य मनो मतम् ।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तं निगद्यते ॥ १७

988) द्वादशाङ्गधर एकको ऽखिलं[1] दातुमर्हति[2] न धावनं[3] गुरुः ।
रोगिणीवं[4] भिषगुन्मना भवेत् तत्प्रदा[5]स्तु बहवो बहुश्रुताः ॥ १८

ग्रामकार्य, स्वामिकार्य और आत्मकार्य में लोकव्यवहार के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये । क्योंकि गुण और दोष के विभागों में लोक ही गुरु हैं ।(अर्थात् लोक में जिस कार्य को गुण और दोष का कारण माना जाता है उसे उसी प्रकार से गुण और दोष का कारण – उपादेय अथवा हेय समझना चाहिये) ॥ १५*५ ॥

अभिमान के वश हो कर अथवा अज्ञानता के बल से प्रमाद के निमित्त से अथवा दूसरे के आग्रह से दोष के उत्पन्न होने पर आगम के अनुसार अपने चित्त की शुद्धि के लिये और जनसन्तोष के लिये किये हुए अपराधों की निर्जरा करनी चाहिये। (अर्थात् प्रायश्चित्त ले कर शुद्ध होना चाहिये) ॥ १६ ॥

जिन भगवानने 'प्राय' शब्दका अर्थ लोक (जन) कहा है तथा उसके मन को चित्त माना गया है । इस सार्थक नाम के अनुसार लोक के चित्त का ग्राहक (अनुग्राहक)–मनुष्य के मन को निर्मल करने वाला–जो कार्य है उसे प्रायश्चित्त कहा गया हैं । (अभिप्राय यह हैं कि अभिमानादि के वशीभूत हो कर किसी दोष के उत्पन्न होने पर उस की शुद्धि के लिये जो गुरु की आज्ञानुसार क्रिया–उपवासादि–किया जाता हैं उसका नाम प्रायश्चित्त है) ॥१७ ॥

द्वादशांग श्रुतका जानने वाला अकेला एक गुरु सब धावन (प्रायश्चित्त) के देने में इस प्रकार से समर्थ नहीं होता हैं, जिस प्रकार कि रोगी की परीक्षा करने में अकेला विमनस्क वैद्य समर्थ नहीं होता हैं । किन्तु उसके देने वाले अनेक बहुश्रुत विद्वान होते हैं ॥ १८ ॥

१५*५) 1 D लोकवत्. 2 D गुणदोषविचारणे लोक एव गुरुः । १६) 1 प्राप्ते. 2 D प्रायश्चित्तविधिः 3 कुर्यात् । १७) 1 D° तदुक्तम् । १८)1 प्रायश्चित्तम्. 2 योग्यं भवति, D श्रुतकेवली प्रायश्चित्तं दातुं योग्यः. 3 PD शोधनम्. 4 D महावैद्यो यथा. 5 प्रायश्चित्त ।

989) कायेन वाचा मनसा च पापं यदर्जितं तत्क्षपणीयमेभिः[1] ।
त्रिधापि योगो हि शुभाशुभानां यदास्रवाणां कथितो निमित्तम् ॥ १९

990) हिंसाब्रह्मचुराप्रायं काये कर्माशुभं मतम् ।
असभ्या[1]सत्यपरुष[2]प्रायं वचनगोचरम् ॥ २०

991) असूयेर्ष्या[1]मदप्रायं मनोव्यापारसंश्रयम् ।
एत[2]द्विपर्ययाज्ज्ञेयं शुभमेतेषु[3] तत्पुनः[4] ॥ २१

992) हिरण्यकन्यापशुभूमिमुख्यैर्दानैरनेकैः क्षयमेति नैनः[1] ।
यथा हि रोगः पुरुलङ्घ[2]नादिसाध्यो न बाह्यैर्बहुधोपचारैः[3] ॥ २२

993) यथोपवासक्षपणीयरोगे बाह्यो विधिस्तत्र[1] निरर्थकः स्यात् ।
पापे ऽपि तद्वत्परिचिन्त्य कार्य[2]मन्तर्विधेरन्वगुपार्चनाद्यम्[3] ॥ २३

शरीर से, वचन से और मन से जो पाप उपार्जित किया जाता है उस को उन्हींके द्वारा नष्ट करना चाहिये । कारण यह कि शुभ और अशुभ कर्मोंके आश्रवोंका कारण उपर्युक्त-तीनों प्रकार का योग ही कहा गया है ॥ ॥ १९ ॥

हिंसा, मैथुनसेवन और चोरी आदि कार्य शरीर के विषय में अशुभ माना गया है असभ्य, असत्य और कठोर भाषण करना यह वचनविषयक अशुभ कर्म है । असूया–दूसरे के गुणों में भी दोषारोपण करना, ईर्ष्या– दूसरे के अभ्युदय को नहीं सह सकना — और गर्व ये विकार मनोविकार के आश्रय से उत्पन्न होते हैं । इससे विपरीत आचरण उक्त शरीर, वचन और मन के विषय में शुभ समझना चाहिये । जैसे-अहिंसा ब्रह्मचर्य व अचार्य आदिक शरीर-विषयक शुभ आश्रव हैं ॥ २०–२१ ॥

सुवर्ण, कन्या, पशु और भूमि आदि के दानों से विविध पाप का नाश नहीं होता है । जैसे–बहुत लँघनादिकों से साध्य (नष्ट होने वाला) रोग बाहय अनेक उपचारों से साध्य नहीं होता है । जिस प्रकार उपवासों से नष्ट किये जाने वाले रोग पर बाह्य विधि व्यर्थ होती है उसी प्रकार पाप के नाश में भी प्रमुख अभ्यन्तर विधि के पश्चात् पूजा, उपासना आदि रूप बाह्यविधि को करना चाहिये ॥ २२–२३ ॥

---

१९) 1 PD कायवाङ्मनोभिः । २०) 1 ग्रामीकवचनम्, D सतां विमुखं वचनम्. 2 कठिनम् । २१) 1 असहनशीलता, D परदोषग्रहणप्रायं. 2 कायवाङ्मनसाम्. 3 कायवाङ्मनस्सु. 4 शुभम् । २२) 1 PD पापम्. 2 प्रचुरलङ्घन. 3 पूजाऔषधादिभिः, D एतैः हिरण्यादिदानैर्योगजातं पापं क्षयं नोपैति । २३) 1 रोगक्षपणे, 2 करणीयम्. 3 पश्चा. पचरणाद्यम्, D पूजादिकं न साधयन्ति ।

994) तदुक्तम्–
निहत्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैः ।
करोतु निखिलं कर्म दानपूजादिकं ततः ॥ २३*१

995) ममाप्रवृत्तेर्विरति[1]ः समग्रे बाह्यान्तरङ्गे ऽपि कृतक्रियः सन् ।
संस्मृत्य नामानि महागुरूणां[2] निद्रादि कुर्याद्विधिना रजन्याम्[3] ॥ २४

996) दैवादायुर्यदि विगलितं स्यादमुष्यां[1] रजन्यां
प्रत्याख्यानप्रजनितफलं स्यात्तदा तन्निवृत्तेः ।
भोगैः शून्यं व्रतविरहितं वा ... येत्तम्न कालं
एतावद्यत्पशुमनुजयोरन्त[ ] सूरिगीतम्[2] ॥ २५

997) छेदन[1]ताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोध[2]ः पञ्चाहिंसाव्रतस्यै...त ॥ २६ । ...चारा इति शेषः ।

998) देवतार्थमपि मारयन्नजं[1] वारसप्तकमभूदजो ऽसुखी ।
ग्राम[2]णीरिति[3] सदैव यः पुनर्हिंसकः कथमसौ मुमुक्षते[4] ॥ २७

मन, वचन, और शरीर के निग्रह से सब पापोंको नष्ट करके तत्पश्चात् दानपूजना-दिक कार्य को करना चाहिये ॥ २३*१ ॥

बाह्य और अन्तरंग सब ही विषय में जब तक मेरी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है,तब तक के लिये मैं उस सब से विरत होता हूँ–उसका त्याग करता हूँ–इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके महान् गुरुओं के नामों का स्मरण करते हुए रात्रि में विधिपूर्वक निद्रा आदि करना चाहिये ॥ २४ ॥

कारण यह कि दैवयोग से यदि इस रात में मेरी आयु समाप्त हो गई– मरण हो गया–तो जो विषयत्याग मैंने किया है उस से उत्पन्न हुआ फल मुझे प्राप्त होगा । बुद्धिमान् मनुष्य को भोगों से शून्य काल को व्रतरहित नहीं गमाना चाहिये । पशु और मनुष्य के मध्य में यही तो अन्तर आचार्यों ने कहा है ॥ २५ ॥

नासिका आदि का छेदन, ताडन लकडी आदि से मारना-बाँधना, अधिक बोझा लादना ओर भोजन-पान रोक देना, ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥ २६ ॥

कथाग्रन्थों में यह सुप्रसिद्ध है कि जिस ग्रामणी ने–गाँव के मुखिया ने–देवता के लिये भी बकरा मारा था वह मरकर सात बार बकरा हुआ । इस प्रकार वह बहुत दुखी हुआ।

---

२४) 1 D निवृत्तिः. 2 PD पञ्चपरमेष्ठिनाम्. 3 रात्रौ । २५) 1 अस्यां रात्री. 2 PD सूरिभिः कथितम् । २६) 1 D नासिकादिच्छेदनं. 2 जलतृणयोर्निरोधः । २७) 1 [छागम्] 2 ग्रामपालकः 3 D हेतोः. 4 ... मोचयति, D मुक्तो भवति ।

999) धीवरस्तु किल वारचतुष्कं जालगाम्भसिकमप्रतिनिघ्नन्[1][2] ।
मङ्गलं न कतमत्समवाप यत्यतामिति महद्भिरहिंसा ॥ २८

1000) उक्तं च —
न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्॥ २८*१

1001) आद्यव्रतस्वरूपं समासतो ऽभाणि नो विशेषो ऽत्र ।
निघ्नानानिघ्नानानाश्रित्य स[1] पूर्वमेवोक्तः ॥ २९

1002) मन्त्रौषधातिथेयीकृते ऽपि हिंसेति दूरमुत्सृज्या ।
गर[1]कण्टकाहि[2]रिपुवत्म[3] हिंसा सर्वदा त्रेधा ॥ ३०

1003) अहिंसाव्रतमेकत्र[1] परत्र[2] सकलाः क्रियाः ।
चिन्तामणिफलं पूर्वे परत्र च कृषेः फलम् ॥ ३१

फिर भला जो मनुष्य सदैव प्राणिहिंसा किया करता है, वह भला कैसे दुख से मुक्त हो सकता है ? ॥ २७ ॥

इस के विपरीत जिस धीवर ने जाल में आयी हुई मछली को चार बार छोडा व उसे नहीं मारा, वह भला कौन-से कल्याण को नहीं प्राप्त हुआ है ? अर्थात् वह अतिशय सुख को प्राप्त हुआ है । इसलिये महापुरुषोंको उस अहिंसा के विषय में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ २८ ॥ कहा भी है—

सब दानों में जिस प्रकार अभयदान अतिशय प्रधान है उस प्रकार न तो गौ का दान प्रधान है, न भूमिका दान प्रधान है और न अन्न का भी दान प्रधान है, ऐसा यहाँ कहा जाता है ॥ २८*१ ॥

प्रथम अहिंसाव्रत का स्वरूप संक्षेपसे कहा जा चुका है । उसमें यहाँ कुछ विशेष नहीं है। हिंसा करने वाले और न करने वाले इन दोनों में जो विशेषता है उसे पूर्व में ही कहा जा चुका है ॥ २९ ॥

हिंसा को विष, कण्टक, सर्प और शत्रु के समान भयानक समझ कर निर्मलबुद्धि मनुष्य को उस हिंसा का मन्त्र, औषधि और अतिथि-सत्कार के लिये भी सदा मन, वचन व काय से दूरसे ही परित्याग करना चाहिये ॥ ३० ॥

एक ओर अहिंसा व्रत को और दूसरी ओर अन्य समस्त दानादि क्रियाओंको स्थापित करने पर पूर्व में स्थापित उस अहिंसा का फल चिन्तामणि के समान उसी समय प्राप्त होने

२८) 1 जलगतमानसिकमत्स्यम्. 2 अमारयन्. 3 कतरत्. 4 प्राप्तः. 5 यत्नं कुर्वताम्, D यत्नः क्रियताम् । २९) 1 स विशेषः । ३०) 1 विष. 2 सर्प. 3 निर्मलमनसा पुरुषेण । ३१) 1 स्थाने. 2 अन्यत्र ।

1004) प्रमादयोगादसदुक्तयो[1] यास्ता[2] वीतरागैरनृतं भणीतम् ।
समासतस्तच्च[3] चतुर्विधं स्याद्विचार्य चैनद्[4]व्रतिना महेयम्[5] ॥ ३२

1005) स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि[1] हि यस्मिन्निषिध्यते[2] वस्तु ।
तत्प्र[3]थममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तो ऽत्र ॥ ३२*१

1006) असदपि[1] हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तु[2] ।
उद्भाव्यते द्वितीयं[3] तदनृतमस्मिन्[4] यथास्ति घटः ॥ ३२*२

1007) वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च[1] तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः[2] ॥ ३२*३

1008) गर्हितमवद्यसंयुत[1]मप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ ३२*४

वाला है। किन्तु दूसरी ओर स्थापित अन्य समस्त क्रियाओंका तुच्छ फल खेती के फल के समान कालान्तर में प्राप्त होने वाला है ॥ ३१ ॥

प्रमाद के वश हो कर जो असत्य वचन बोले जाते हैं उन्हें वीतराग भगवान् ने अनृत (असत्य) वचन कहा है वह संक्षेप से चार प्रकार का है। सत्यव्रती को विचार कर उसका परित्याग करना चाहिये ॥ ३२ ॥

आगे उक्त चार प्रकार के असत्य वचन का ही स्पष्टीकरण किया जाता है–जिस में स्वकीय क्षेत्र, काल और भाव से वस्तु के विद्यमान होने पर भी उस का निषेध किया जाता है वह पहला असत्य वचन है। जैसे–यहाँ देवदत्त नहीं है ॥ ३२*१ ॥

जिसमें परकीय क्षेत्र, काल और भाव से वस्तु स्वरूप के न होने पर भी उसके सद्भाव को प्रकट करना, यह दूसरा असत्य है। जैसे–यहाँ घट है ॥ ३२*२ ॥

जिस में स्वरूप से विद्यमान वस्तु के अस्तित्व को पररूप से कहा जाता है उसे तृतीय असत्य समझना चाहिये। जैसे-बैल को घोडा कहना ॥ ३२*३ ॥

जिस वचन का स्वरूप गर्हित, अवद्य (पाप) संयुक्त, तथा अप्रिय होता है उसे चौथा असत्यवचन जानना चाहिये। वह सामान्य से तीन प्रकार का है ॥ ३२*४ ॥

आगे इसी को स्पष्ट किया जाता है –

---

३२) 1 द्वितीयव्रतं कथयति. 2 उक्तयः 3 अनृतम्. 4 PD चैनं व्रतिना प्रमादयोगम्. 5 त्याज्यम्। ३२*१) 1 विद्यमानवस्तु. 2 यत्र निषिध्यते. 3 स्वक्षेत्रकालभावैः सत्-निषेधः प्रथमम् अनृतम्। ३२*२) 1 अविद्यमान. 2 भाव-आकृति. 3 परक्षेत्रकालभावैः असत्प्रकाशनं द्वितीयम् अनृतम्. 4 क्षेत्रादिषु। ३२*३) 1 P°च Omitted 2 D यथा गौः अश्वः कथ्यते। ३२*४) 1 D अवद्ययुक्तं न च।

1009) पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं[1] प्रलपितं च ।
अन्यदपि यत्स्वतन्त्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥ ३२*५

1010) छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौरवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥ ३२*६

1011) अरतिकरं भीतिकरं[1] खेदकरं वैरकलहशोककरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं[1] ज्ञेयम् ॥ ३२*७

1012) सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमादयोगैकहेतुकत्वं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥ ३२*८

1013) अथनैवं चतुर्धा—

असत्यं सत्यगं किंचित् किंचित्सत्यमसत्यगम् ।
सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥ ३२*९

चुगली और हँसी से युक्त वचन, कठोर, असमंजस तथा और भी जो स्वतंत्र–आगम-विरुद्ध–वचन बोला जाता है उस सब को गर्हित वचन कहा गया है ॥ ३२*५ ॥

जो वचन नासिका आदि के छेदने, कान आदि शरीर के अवयवों के खण्डित करने, लाठी आदि से ताडित या सर्वथा घात करने, भूमि के जोतने, व्यापारकार्य करने और चोरी करने में प्राणियों को प्रवृत्त करता है वह सावद्य वचन कहलाता है । कारण यह कि ऐसे वचन से सावद्य–प्राणिवध आदि से होने वाले पाप--की प्रवृत्ति हुआ करती है ॥ ३२*६ ॥

जो वचन अप्रीति, भय, खेद, वैर, कलह और शोक को तथा और भी संताप को उत्पन्न करने वाला हो उसे अप्रिय वचन जानना चाहिये ॥ ३२*७ ॥

इस सब अनृत भाषण में भी चूँकि प्रमादयोग मुख्य कारण है, इसलिये इसमेंभो निश्चय से हिंसा उत्पन्न होती ही हैं ॥ ३२*८ ॥

वचन के चार भेद इस प्रकार भी हैं–

कोई वचन सत्य के आश्रित असत्य, कोई असत्य के आश्रित सत्य, कोई सत्य सत्य और कोई असत्यासत्य ही होता है ॥ ३२*९ ॥

३२*५) 1 D असहनशीलम् । ३२*७) 1 D °भीतिकरं, वैर, वं Omitted. अप्रीतमं ज्ञातव्यम् ।

अस्येवं तात्पर्यम्–असत्यमपि किंचित्सत्यमेव यथा –
अन्धांसि[1] रन्धयति वयति वासांसीति । सत्यमप्यसत्यं
किंचिद्यथा—अर्धमासतमे दिने तवेदं[2] देयमित्यास्थाय[3]
मासतमे संवत्सरतमे वा दिने ददातीति । सत्य[illegible]त्यं
किंचिद्यथा—यद्वस्तु देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं
तत्र तत्रैवाविसंवाद इति । असत्यासत्यं किंचिद्यथा—
यत्स्वस्यासत् संगिरते[4] कल्ये[5] दास्यामीति ।

1014) तुरीयं[1] वर्जयेन्नित्यं लोकयात्रात्रये[2] स्थितः ।
गृहाश्रमी प्रवर्तेत गुणदोषौ विचारयन् ॥ ३३

1015) वाणीमसभ्यां[1] परदोषगर्भामजायम[illegible]प्रगल्भाम् ।
भाषेत नो किं त्वभिजातरम्यां[2] हितां मितां सद्व्यवहारगम्याम्[3] ॥ ३४

इस का तात्पर्य इस प्रकार है—

१) असत्य सत्य–कोई वचन वस्तुत: असत्य हो कर भी व्यवहार में सत्य माना जाता है। जैसे –भात को राँधता है अथवा वस्त्रों को बुनता है। यहाँ भात के योग्य चावलों को भात शब्द से और वस्त्र के योग्य तन्तुओं को वस्त्र शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। अतएव उक्त दोनों वाक्यों के असत्य होने पर भी चूंकि लोकव्यवहार में ऐसे वाक्यांको असत्य नहीं माना जाता है, इसीलिये ऐसे वचन सत्याश्रित असत्य माना जाना है। २) सत्यासत्य–कोई वचन सत्य हो कर भी असत्य हुआ करता है। जैसे 'मैं पन्द्रहवें दिन तुम्हें इसे दे दूंगा? इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके भी परिस्थितिवश पन्द्रहवें दिन न दे कर महीने में व वर्ष में भी उसे देना। यहाँ चूंकि दे दिया गया, इसीलिये तो सत्य, परन्तु प्रतिज्ञात समय पर नहीं दे सका, इसिलिये उक्त वाक्य कुछ अंश में असत्य भी है। ३) जो वस्तु जिस देश, काल, आकार और प्रमाण में है,उसे उसी स्वरूप में कहना; इस का नाम सत्यसत्य है। ४)जो वस्तु अपने पास नहीं है व जिस का देना असम्भव है उस के विषय में 'मैं उसे कल दे दूंगा 'ऐसी प्रतिज्ञा करना, यह असत्यासत्य वचन कहलाता है।

तीन प्रकार के लोकव्यवहार में स्थित गृहस्थ को उपर्युक्त चार प्रकार के वचन में चौथे असत्यासत्य, वचन का सर्वथा त्याग करना चाहिये। शेष तीन प्रकारके वचन को(असत्य-सत्य, सत्यासत्य और सत्यसत्य को) वह व्यवहार के अविरुद्ध होने से बोल सकता है। उसे गुण और दोष का विचार करते हुए ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

गृहस्थ को असभ्य, दूसरों के दोषों से परिपूर्ण-निन्दा परक, अतिशय से –किसी प्रका-

---

गद्यम्. 1 भोजनानि, D भोजनं करोति वस्त्रं वुणति. 2 चिन्ताकरम्, D षण्मासान् तव कस्मरं ददामि ददाति वर्षदिने. 3 समाधाय. 4 कथयति, D पुनः पुनः वदति. 5 कल्ये श्वो दिने प्रभाते अन्यदिने । ३३) 1 असत्यासत्यम्. 2 D सत्यं सत्यत्रयी वचः । ३४) 1 अनारी [र्यां]. 2 कुलस्य योग्याम्. 3 D गोचरां ।

1016) सत्यासत्याप्युभयी सानुभयी[1] [2]स्याच्चतुर्विधा वाणी ।
किंतु तृतीया[3] योग्या सत्यव्रतधारिणां गृहिणाम् ॥ ३५

1017) आद्यं तथान्त्यमिति च द्वितयं जनानां[1] क्षेमंकरं भवति तत्किल तीर्थभर्तुः[2] ।
द्व्यक्षादिभवि च व्यवहारदूरं[3] प्रायो मयेत्यभिहितं न विशेषयोगात् ॥

1018) एषु चतुर्षु भेदेषु यत्सत्यं दशधा हि तत् ।
देशादिभेदतः प्रोचूरन्यत्र गदितं यथा ॥ ३७

1019) देशसंमतिनिक्षेप[1]नाम[2]रूपप्रतीतितः ।
संभावनोपमाने च व्यवहारो[3] भाव इत्यपि ॥ ३८

रकी विशेषता से–रहित (अथवा घृणित) और धृष्टतायुक्त वचनको नहीं बोलना चाहिये । किन्तु उसे कुलीन जनों को रमणीय प्रतिभासित होनेवाले ऐसे हितकारक व परिमित वचन को बोलना चाहिये जो कि समीचीन व्यवहार करने वाले सत्पुरुषों को अभीष्ट हो ॥ ३४ ॥

सत्य, असत्य, उभय और अनुभय इस प्रकार से भी वचन के चार भेद होते हैं परन्तु इन में सत्याणुव्रतधारी श्रावकों को तीसरा वचन (उभय) बोलना योग्य है ॥ ३५ ॥

उपर्युक्त चार प्रकार के वचन में प्रथम (सत्य) और अन्तिम (अनुभय) यह दो प्रकार-का वचन प्राणियों के लिये हितकर हैं, और वह तीर्थंकर जिनेन्द्र के हुआ करता है । व्यवहारी जनों से दूर–वह अनुभय वचन–द्वीन्द्रियादि जीवों के भी हुआ करता है । मैंने उसे प्रायः विशेषता के संबंध से नहीं कहा है ॥ ३६॥

इन चार प्रकार के वचनों में जो सत्य वचन है वह देश आदि के भेद से दश प्रकार का है । उसका जैसे अन्य ग्रन्थों में वर्णन किया गया है तदनुसार यहाँ कथन किया जाता है ॥३७॥

देशसत्य, संमतिसत्य, निक्षेपसत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, संभावनासत्य, उपमानसत्य, व्यवहारसत्य और भावसत्य; इस प्रकार सत्य वचन के दस भेद माने गये हैं । १) देश-सत्य-भिन्न भिन्न देश में वस्तु के जो भिन्न भिन्न नाम रहते हैं, जैसे भातको किसी देशमें चोरू कहते हैं २) संमतिसत्य–राजा की अभिषिक्त पत्नी को देवी कहना संमतिसत्य हैं । ३) निक्षेपसत्य–पाषाण की प्रतिमा में चन्द्रप्रभादिक का संकल्प करना । ४) नामसत्य–किसी मनुष्य का नाम चार भुजाओं के न होने पर भी चतुर्भुज रखना इत्यादि । ५) रूप–सत्य–अधरोष्ठ के लाल व बालों के कृष्ण वर्ण आदि होनेपर भी किसी को श्वेत (गोरा)

---

३५) 1 D सत्यासत्यताभ्यां रहिता अनुभयी कथ्यते. 2 D भवेत्. 3 PD सत्यासत्या । ३६) 1 PD °जनाभ्यां, लोकाभ्याम्. 2 तीर्थंकरस्य. 3 D सत्यासत्यरम्या इन्द्रियज्ञाने. न ज्ञायते अनुभयवाणी । ३८) 1 D स्थापना. 2 D सत्य. 3 व्यवहारे ।

1020) सत्यमन्यन्मृषा यत्रोभयं[1] सत्यानृतं हि तत् ।
तद्विपक्षा[2] तु या भाषा साप्यसत्यामृषा भवेत् ॥ ३९

1021) तत्सत्यं न हि सत्यमस्ति भविनो मृत्युर्यतो जायते
जायन्ते सुदुरुत्तराश्च विपदः स्वस्यापि यस्मात्ततः[1] ।
सर्वत्र प्रियवाक् सुखाकरमसौ प्रेत्यापि कार्यं गृही
कुर्वीतैहिकसाध्यवत्प्रियसमाचारस्थितः सर्वदा ॥ ४०

कहना । ६) प्रतीतिसत्य–यह दीर्घ है, यह ह्रस्व है इत्यादि–ह्रस्व को देख कर उस की अपेक्षा से दूसरे को दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से छोटे को ह्रस्व कहना । ७) संभावनासत्य–असंभवताका परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म के निरूपण करने में प्रवृत्त वचन को संभावनासत्य कहते है । जैसे–इन्द्र जम्बुद्वीप को लौटा दे अथवा लौटा सकता है। ८)उपमान सत्य–दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा बोलते हैं। इस के आश्रय से जो वचन बोला जाय उस को उपमासत्य कहते हैं । जैसे-पल्य–यहाँ पर रोमखण्डों का आधारभूत गड्ढा पल्य अर्थात खास के सदृश होता है, इसलिये उस को पल्य कहते हैं । ९) व्यवहारसत्य–नैगमादि नयोंकी प्रधानता सें जो वचन बोला जाता है उसे व्यवहारसत्य कहते हैं । जैसें– नैगम नय की अपेक्षा से 'मैं भात पकाता हूँ।' १०) भावसत्य–आगमोक्त विधिनिषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणामों को भाव कहते हैं । उसके आश्रित जो वचन हो उस को भाव सत्य कहते हैं।जैसे शुष्क, पक्व और नमक-मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है । यहाँ पर यद्यपि सूक्ष्म जीवों को इन्द्रियों सें नहीं देख सकते तथापि आगमप्रमाणता सें उसकी प्रासुकता का वर्णन किया जाता हैं । इसलिये इसी तरह के पापवर्ज वचन को भावसत्य कहते हैं । ऐसे ये सत्य वचन के दस भेद कहे गये हैं ॥ ३८ ॥

वस्तुस्वरूप की यथार्थता का बोध करानेवाली सत्य भाषा, उस से भिन्न–विपरीत, वस्तु स्वरूप का वोध कराने वाली–असत्य भाषा, सत्य व असत्य दोनों से मिश्रित उभय भाषा और उसके विपक्षरूप–जो न सत्य कही जा सकती हो और न असत्य भी कही जा सकती हो – वह असत्यामृषा (अनुभय)भाषा कहलाती हैं ॥ ३९ ॥

जिस सत्य वचन से प्राणी का मरण होता हैं वह सत्य वस्तुतः सत्य नही हैं । तथा जिस वचन के आश्रय से अतिशय दुर्लंघ्य विपत्तियाँ अपने लिये भी प्राप्त होती हो वह भी यथार्थ में सत्य नहीं है । इसीलिये गृहस्थ को ऐसा प्रिय वचन बोलना चाहिये जो सर्वत्र—इस लोक और परलोक दोनों में ही – सुख का कारण हो । तथा उसे प्रिय समाचार में – सदाचरण में–स्थित हो कर ऐहिक साध्य के समान उसी कार्य को करना चाहिये जो सर्वत्र व सर्वदा सुखप्रद हो ॥ ४० ॥

३९) 1 D रम्यम्. 2 अनुभवम् । ४०) 1 D सत्यात् ।

1022) येनाप्रत्ययदण्डौ संतापो भवति निरपराधस्य ।
असदभिधानं त्वनृतं तत्त्याज्यं दूरतः सुधिया ॥ ४१

1023) केवलिन्यथ तपःश्रुतसंघदेवधर्मगुणवत्सु च जन्तुः ।
यस्त्ववर्णवचनो ऽस्तु कुतश्चिद् दृग्विमोहनमुपार्जयते ऽसौ ॥ ४२

1024) यो मोक्षमार्गं स्वयमेव जानन् नैवार्थिने योग्यतमाय वक्ति ।
मात्सर्यतो ऽपह्नुवतो मदाद्वा भवेदसावावरणद्वयी तु ॥ ४३

1025) मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् ।
मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ॥ ४३*१

जिस भाषण से अविश्वास उत्पन्न होता है, दण्ड भोगना पडता है और निरपराधी मनुष्य को संताप उत्पन्न होता है ऐसे अप्रशस्त वचन के बोलने का नाम असत्य है । उसका निर्मलबुद्धि मनुष्य को दूरसे ही परित्याग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

केवली, तप, श्रुत, संघ, देव, धर्म और गुणीजनों के विषय में जो किसी कारण से निन्दात्मक भाषण करता हैं वह दर्शन मोहनीय कर्म को बाँधता है ।(भावार्थ–महापुरुषों आदि में से जो दोष नहीं हों उनको प्रगट करने का नाम अवर्णवाद है । केवली का अवर्णवाद –केवली कवलाहार–ग्रासमय आहार–को किया करते हैं । तप अवर्णवाद–तपका स्वरूप पञ्चाग्नि आदि बतलाना । श्रुत अवर्णवाद–आगम में माँस भक्षण को निर्दोष कहा गया है, इत्यादि ।संघ अवर्णवाद–मुनिसंघ के विषय में ये नंगे बैल है, अपवित्र है इत्यादि निन्दावचन कहना । देव अवर्णवाद – देव मद्यपान व माँसभक्षण करते हैं, इत्यादि कथन करना । धर्म अवर्णवाद–अहिंसा धर्म निरर्थक है, उस के धारक कायर होते हैं, इत्यादि प्रकार से समीचीन धर्म की निन्दा करना) ॥ ४२ ॥

जो श्रावक मोक्षमार्ग को स्वयं जानता हुआ भी उसके जानने के अभिलाषी अतिशय योग्य व्यक्ति को मात्सर्य, अथवा अभिमान के वश हो कर नहीं कहता हैं उस के ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मोंका बन्ध होता है ॥ ४३ ॥

मंत्रभेद,परिवाद, पैशून्य, कूटलेखन, तथा मुधासाक्षिपदोक्ति ये सत्यव्रत के विघातक पाँच अतिचार हैं । (इन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–१) मन्त्रभेद–अंगविकार आदिसे दूसरे के अभिप्राय को जानकर उस को प्रगट करना। २) परिवाद–दूसरों की निन्दा करना । ३) पैशून्य–चुगली करना । ४) कूट लेखन–जो न दूसरेने कहा है और न जो किया भी है उसे

४२) 1 दोषवचन दोषोद्भावन. 2 D दर्शनमोहं । ४३) 1 दर्शनज्ञानावरणद्वयी । ४३*१) 1 P °साक्षिः पदोक्तिश्च. 2 D दोषाः ।

1026) राजद्विष्टामन्यरामानुबन्धां स्वाम्यारम्भप्रोज्झितां लो[illegible]वर्ज्याम् ।
स्वाचारस्थः संकथां तादृशीं नो [illegible]यादन्यां सर्वतः प्रीतिमिच्छन् ॥ ४४

1027) सा मिथ्यापि न [1]गीर्मिथ्या या गुर्वा[illegible]सादिनी[2] ।
प्रियोक्ता चाटुकारोक्त्या स्नेहगर्भगिरा समम् ॥ ४५

1028) स्वं न स्तुयान्नाप्यसतो गुणांश्च प्रतारयेन्नापि परं न दुष्यात् ।
सतो[1] गुणानित्थमथो [illegible]तन्वन्[2] समर्जयेन्नीचतमं हि गोत्रम् ॥ ४६

1029) इति विलोमवादी स्यादुच्चगोत्रगमी पुमान् ।
यत्परस्य हितार्थी ना[1] स्वस्यैव हितकारकः ॥ ४७

उसने ऐसा कहा है या किया है, इस प्रकार के किसी अन्य की प्रेरणा पाकर वचन के कारण भूतल्लेखके लिखने का नाम कूटलेखन है। ५ मुधासाक्षिपदोक्ति – व्यर्थ साक्षी देना, इन्हें सत्याणुव्रत के विघातक होने से छोड देना चाहिये) ॥४३*१॥

समस्त लोगों की प्रीति के अभिलाषी गृहस्थ के लिये अपने आचार में स्थित रहते हुए राजा के विषय में द्वेष को बढानेवाली, परस्त्री से संबन्ध रखने वाली, स्वामी के आरम्भ से रहित तथा अन्य भी उसी प्रकार की लोकनिषिद्ध – निन्द्य–कथाको – वार्तालाप को – नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥

गुरु आदि को प्रसन्न करने वाला जो स्तुतिरूप – वचन किसी प्रिय व्यक्ति के द्वारा बोला जाता है, वह असत्य हो कर भी खुशामदी वचन व स्नेह से परिपूर्ण वाणी के समान असत्य नहीं होता है ॥४५॥

सत्यव्रती अपनी स्तुति न करें तथा जो गुण अपने में नहीं हैं उनका कीर्तन भी न करें। साथ ही वह न दूसरे की प्रतारणा करें – उसे न धोखा दें – और न उस के विद्यमान गुणों मे द्वेष भी करें। यदि वह ऐसा करता है तो अवश्य ही नीच गोत्र को बाँधता है ॥ ४६ ॥

इससे विपरीत बोलनेवाला–जो न अपनी स्तुति करता है और न अपने में अविद्यमान गुणों का वर्णन भी करता है, तथा न किसी को धोखा देता है और न उस के विद्यमान गुणों से द्वेष करता है–वह पुरुष उच्च गोत्रका बन्ध करता है। जो पुरुष अन्य का हित चाहता है वह स्वयं अपना ही हित करता है ॥ ४७ ॥

---

४५) 1 D वाणी. 2 PD प्रसादनी. 3 D अविद्यमानान् गुणान् कथयति। ४६) 1 [illegible]न् गुणान्. 2 D [illegible] । ४७) 1 PD पुरुषः ।

1030) यद्वद्यद्वद्रचयति परे यो हि कालुष्यमज्ञ-
स्तद्वत्तद्वत्प्रथममम्मुनास्यैव नाड्यः[1] समस्ताः ।
संसिध्यन्ते दहति दहनो यत्समुत्थस्तमादौ
पश्च दन्यं प्रदहति नवेति प्रियोक्तिः परे स्यात् ॥४८

1031) दोष[1]ग्रासाभ्यासाद्विषूचिकावन्ति[2] मनुजचेतांसि ।
प्रियवाक्यौषधमन्त्रैर्विदधति विरुजानि सद्वैद्याः ॥ ४९

1032) हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं[1] भवति नासत्यम् ॥ ४९*१

1033) भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये ते विशेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु[1] ॥ ४९*२

1034) अनन्तो वा[illegible]लसो यः स ज्ञेयः परमागमात् ।
[illegible] व्रतं तूक्तमुपयुक्त[1]मगारिणाम् ॥ ५० ॥

अज्ञानी मनुष्य जैसे जैसे दूसरे के विषय में कलुषता को उत्पन्न करता है वैसेही इससे उस की सब नाडियाँ (?) सिद्ध होती हैं । ठीक है – जिस से अग्नि उत्पन्न होती है उसे वह प्रथमतः जलाती है । तत्पश्चात् दूसरों को वह जलाये भी अथवा नहीं भी । इसीलिये दूसरों के साथ प्रिय भाषण करना चाहिये ॥ ४८ ॥

सज्जनरूपी वैद्य दोषरूपी आहार के अभ्यास से विषू(सू)चिका रोग से ग्रस्त हुए मनुष्यों के चित्तों को प्रियवचनरूपी औषध और मन्त्रों से रोगरहित करते हैं ॥ ४९ ॥

जितने भी असत्य भाषण हैं, उनका कारण चूंकि प्रमादयुक्त योग निर्दिष्ट किया गया है, अतएव 'अमुक आचरण त्याज्य है' ऐसा त्याग का उपदेश कष्टदायक होता हुआ भी असत्य नहीं है, क्यों कि उसका कारण प्रमत्तयोग नहीं है ॥ ४९*१॥

जो भोग और उपभोग के कारण मात्र सावद्य वचन के छोड देने में असमर्थ है वे अन्य समस्त विशेष असत्य भाषण को सर्वदा के लिये छोड दें ॥४९*२॥

जो वचन का विलास– विस्तार– अपरिमित है उसका स्वरूप परमागम से जानना चाहिये । मैंने यहाँ गृहस्थों के लिये उपर्युक्त सत्यासत्य व्रत का यहाँ वर्णन किया है ॥५०॥

---

४८) 1 D बन्धनम् । ४९) 1 D परदोष. 2 वमनम् अजीर्णम् । ४९*१) 1D मुहुर्जल्पनम् । ४९*२) 1 D त्यजन्तु असत्यम् । ५०) 1 युक्तम् ।

1035) वसुः श्वभ्रं प्रापद्वितथवचने साक्षिकतया
प्रविख्यातं चैतत्सकलभुवने चन्द्रमृगवत् ।
दिवाकीर्तिः[1] साक्षादवितथगिरः[2] सिद्धिमगमन्
महाविद्याविद्वान् रमयति जनं सत्यवचसि ॥५१

1036) किं कर्पूरकणोत्करैर्विरचिता[1] चन्द्रप्रभाभिः किमु
स्वेष्टप्रेमरसापगा नु मधुनः किं वा वियद्वापिका ।
श्रीखण्डद्रवकूपिका किमु सुधानिष्यन्दकुल्या[2] भवेत्
तन्वानेति वितर्कमुत्तमधियां वाणी समालप्यते ॥५२

इति श्री-धर्मरत्नाकरे द्वितीयप्रतिमामूलभूताहिंसासत्यव्रतविचारो
द्वादशो ऽवसरः ॥१२॥

वसु राजा असत्य भाषण में साक्षी होने से नरक में गया, यह वृत्त सर्व जगत् में चन्द्र के मृग-लांछन-के समान प्रसिद्ध है । इस के विपरीत सत्य भाषण से दिवाकीर्ति नामक महापुरुष मुक्तिपद को प्राप्त हुआ है । सत्यवचन में तत्पर जो पुरुष है उसे महाविद्याओं के ज्ञाता लोग संतुष्ट करते हैं, उसकी यथार्थ स्तुति करते हैं ॥ ५१ ॥

निर्मलबुद्धि सत्य भाषियों की वाणी क्या कपूर के कण समूहों से रची गयी है, अथवा क्या चन्द्रकी कान्तियों से रची गयी हैं, अथवा क्या मधु की अतिशय अभीष्ट प्रेमरस की नदी है, अथवा क्या आकाशवापिका– गंगा नदी– है, अथवा क्या चन्दन द्रवका छोटा–सा कुआँ है ॥ अथवा क्या अमृतप्रवाह की छोटीसी नदी है; इस प्रकार के वितर्क को उत्पन्न करने वालर कही जाती है। अर्थात् सत्य बोलनेवाले की वाणी को सुनकर लोगों को अतिशय आनन्द उत्पन्न होता हैं ॥ ५२ ॥

इस प्रकार धर्मरत्नाकर में द्वितीय प्रतिमा के मूलभूत अहिंसाव्रत और सत्याणुव्रत का विचार जिसमें किया है ऐसा यह बारहवाँ अवसर समाप्त हुआ ॥१२ ॥

५१) 1 नापितः. 2 D सत्यवाच्य: । ५२) 1 इति तर्क्यते, इयं वाणी किं कर्पूर... विरचिता इत्यादि. 2D अथ. 3 सरसी ।

[१३. त्रयोदशो ऽवसरः]

[अस्तेयब्रह्मपरिग्रहविरतिव्रतविचारः]

1037) प्रमादतो ऽन्यस्य परिग्रहं यो गृह्णात्यदत्तं तदवादि[1] चौर्यम् ।
बहिश्चरप्राणविमोषणत्वाद्धिंसा च सा मृत्यवसानदुःखा ॥ १

1038) उक्तं च–
अर्था नाम[1] य[2] एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥ १*१

1039) हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः[1] सुघट एव हिं स[2] यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृ[3]तस्यान्यैः ॥ १*२

जो पुरुष प्रमाद से अन्य किसीके विना दिये हुए परिग्रह (धनधान्यादि) को ग्रहण करता है उसे चौर्य (चोरी) कहते हैं। उक्त धनधान्यादि परिग्रह प्राणी के बाह्य प्राण जैसा है। इसीलिये उसके चुराने से हिंसा होती है जिसका अन्तिम फल मरण का दुःख होता है ॥ १॥

कहा भी है–

ये जो धन हैं वे प्राणियों के बाह्य प्राण हैं। इसीलिये जो मनुष्य दुसरे के धन का हरण करता है, वह उसके प्राणों को लूटता है, यह समझना चाहिये ॥ १*१॥

हिंसा में स्तेय (चौर्यकर्म) की भी अव्याप्ति सम्भव नहीं है। (अर्थात् हिंसाका वह लक्षण लक्ष्य (हिंसा) के एकदेशभूत उस स्तेय में नहीं जाता हो, सो भी बात नहीं है) क्यों कि, दूसरों के द्वारा स्वीकृत धन के अपहरण करने में वह प्रमत्तयोग घटित होता ही है। (अभिप्राय यह है कि, प्रमादयुक्त योग से दूसरे के प्राणों का जो अपहरण किया जाता है, इसका नाम हिंसा है। सो यह हिंसाका लक्षण चूंकि उक्त प्रकार से स्तेय में भी घटित होता है, अतएव वह हिंसाका लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है) ॥ १*२ ॥

---

१) 1 उक्तम् । १*१) 1 D अहो. 2 त एते. । १*२) 1 D एकस्वरुपमेव. 2 D प्रमत्तयोगः. 3 P° स्वंकृतस्य ।

1040) नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्माणुग्रहणे नीरागाणाम[1]विद्यमानत्वात् ॥ १*३

1041) सर्वजनभोगयोग्यं तोयतृणाद्यं[1] विमुच्य विनिवृत्तिः ।
पतितस्थापितविस्मृतपरार्थतः[2] किंतु हर्म्यवताम्[3] ॥ २

1042) दिग्दण्डो भवति यतो भूपतिकृतदण्डनादि येन[1] स्यात् ।
परकीयं नादेयं मनस्विना स्वापतेयं[2] तत् ॥ ३

1043) येनात्मा दूयेत च दूयन्ते सज्जनाश्च शुभमपि तत्[1] ।
हृद्यं[2]मिवान्नमपथ्यं त्याज्यं[3] सत्कर्मणा गृहिणा ॥ ४

वीतराग छद्मस्थ — ग्यारह, बारह और तेरहवें गुणस्थानवर्ती संयत — जिन सातावेदनीयरूप कर्मपरमाणुओं को ग्रहण किया करते हैं वे चूंकि किसी के द्वारा दिये नहीं जाते हैं, अतएव इस अदत्तग्रहणरूप स्तेयलक्षण की वहाँ अतिव्याप्ति होती है, ऐसी आशंका भी यहाँ नहीं करनी चाहिये। क्योंकि, वहाँ पर प्रमत्तयोगरूप एक कारण का विरोध है। कारण यह कि वह उक्त वीतराग छद्मस्थों के संभव नहीं है। (अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त तीन गुणस्थानवर्ती जीव यद्यपि योग के निमित्त से कर्मपरमाणुओं को अवश्य ग्रहण किया करते हैं, परन्तु वहाँ प्रमादयुक्त योग की संभावना न होनेसे वहाँ उक्त लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है) ॥ १*३ ॥

गृहस्थों को सर्वसाधारण जन के उपभोग के योग्य पानी एवं घास आदि को छोडकर अन्य सब ही गिरे हुए, रखे हुए अथवा भूले हुए दूसरे के धनसे विरत (पराङ्मुख) होना ही चाहिये ॥ २ ॥

जिससे दिग्दण्ड — देशनिकाला — होता है, तथा जिससे राजा के द्वारा किये गये दण्ड को धन के अपहरण और शारीरिक कष्ट आदि को-सहना पडता है ऐसे उस दूसरे के द्रव्य को निर्मल मनवाले मनुष्य को नहीं ग्रहण करना चाहिये। (उस चौरकर्मका परित्याग करना चाहिये) ॥३ ॥

जिससे आत्मा स्वयं दुःखी होता है तथा अन्य सज्जन दुःखी होते हैं उस उत्तम कार्य का भी सत्कर्म करनेवाले — सदाचारी — गृहस्थ को मनोहर अपथ्य भोजन के समान त्याग करना चाहिये ॥ ४ ॥

१*३) 1 मुनीनाम् २) 1 स्वामित्वरहिततृणपत्रफलजलादि अरण्यजाता [नि] कूपवापीसरोजलानि वा. 2 D परद्रव्यतः सकाशात्. 3 गृहस्थानाम् । ३) 1 D चौर्येण. 2 PD द्रव्यम् । ४) 1 कर्म. 2 मनोज्ञम्. 3D अजीर्णो यथान्नं त्यजनीयम् ।

1044) ज्ञातीनामत्यये वित्तमदत्तमपि कल्प्यते[1] ।
जीवतां तु निदेशेन[2] व्रतक्षतिरतो ऽन्यथा ॥ ४*१

1045) यदर्जितं[1] न्यायबलेन सन्तः परं प्रहृष्यन्ति धनेन येन ।
कुलं महार्येन सुसूनुनेव[2] ग्रहीतुमिष्टं तदगारिणां तु ॥ ५

1046) रिक्थं[1] निधिनिधानोत्थं न राज्ञो ऽन्यस्य युज्यते ।
यत्स्वस्यास्वामिकस्येह[2] दायादो[3] मेदिनीपतिः[4] ॥ ५*१

1047) रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरत्नाम्बरविभूतयः ।
भवन्त्यचिन्तिताः पुंसामस्तेयं[2] येषु[3] निर्मलम् ॥ ५*२

1048) प्रतिरूपव्यवहारास्तेन[1]नियोगास्तदाहृतादानम्[2] ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥ ६

अपने कुटुम्बी जनों की मृत्यु हो जानेपर न दिये हुए भी उनके धन का ले लेना योग्य है । यह अवश्य है कि उनके जीवित रहते उस धन को उन की आज्ञा के अनुसार ही ग्रहण करना योग्य है, अन्यथा इसके विपरीत अचौर्यव्रत का नाश होता है ॥ ४*१ ॥

जो धन न्यायसे कमाया गया है, जिससे सत्पुरुष अतिशय हर्षित होते हैं, तथा जिस महान्-धन से कुल उत्तम पुत्र के समान हर्ष को प्राप्त – समृद्ध या सुशोभित – होता है, उसी धन का ग्रहण करना गृहस्थों को अभीष्ट होता है ॥ ५ ॥

निधि और निधान – भाण्डार या भूमि आदि–से उत्पन्न हुए धन का ग्रहण करना राजा को छोडकर अन्य किसी के लिये योग्य नहीं है । कारण इसका यह है कि ऐसे अस्वामिक लावारिस – धन के ग्रहण करने का अधिकारी यहाँ राजा हुआ करता है ॥ ५*१ ॥

जिन महापुरुषों में उस निर्मल अचौर्यव्रत का सद्भाव होता है, उनको रत्न, रत्नांग –सुन्दर शरीर–श्रेष्ठ स्त्री और रत्नमय वस्त्र आदि विभूतियाँ विना विचार के ही प्राप्त हुआ करती हैं ॥ ५*२ ।

प्रतिरूप व्यवहार, स्तेननियोग, तदाहृतादान, राजविरोधातिक्रम और हीनाधिक-मानकरण, ये अचौर्यव्रतके पाँच अतिचार हैं ।

४*१) 1 गृह्यते. 2 आदेशेन । ५) 1 धनम्. 2 शोभनपुत्रेण । ५*१) 1 PD द्रव्यम्. 2 PD द्रव्यस्य. 3 गृ[ग्र]हीता. 4 D राजा । ५*२) 1 येषां पुंसाम्. 2 PD अचौर्यव्रतम्. 3 पुरुषेषु । ६) 1 चौर्य, D चौरसंसर्ग. 2 चौर्येस्यानीतम् ।

पञ्चास्तथव्रतस्यातिचा । इत्युपस्कारः ।

1049) हस्तिनागनगरे सुयोधनो[1] मन्त्रिणा च नृपतिः पुरोधसा ।
आत्मकोशहरणात्पदच्युतः सत्यभूति[2]रपरार्थगार्द्धतः[3] ॥ ७

1050) वारिधर्मनगरे च नैगमः[1] स्वं[2] परस्य पतितं परित्यजन् ।
कीदृशीं न समवापदुन्नतिं ढौकयंश्च किल धर्मभूपते[3]ः ॥ ८

1051) त्यागिनो[1] गृध्नवश्चैव[2] सुखदुःखोपभोगिनः[3] ।
श्रूयन्ते न कियन्तो ऽन्ये[4] पररायो[5] जिनागमे[6] ॥ ९

1052) अदत्तः परा[1]स्त्याज्यस्ततः कृत्याकलत्रवत्[2] ।
न्यायागतमपि ग्राह्यं कल्प्यं[3] स्वार्थपरायणैः ॥ १०

१) प्रतिरूपक व्यवहार–अधिक मूल्यवाली वस्तु में उसकेस मान किसी दूसरी अल्पमूल्यवाली वस्तु को मिलाकर बेचना । जैसे–घीमें चर्बी मिलाकर बेचना । २) स्तेननियोग–दूसरे को चौर्यकर्मके लिये प्रेरित करना या स्वयं चोरी करते हुए पुरुष की अनुमोदना करना । ३) तदाहृतादान – चोरी करके लाये हुए सोना व चाँदी आदि का ग्रहण करना । ४) राजविरोधातिक्रम – राजकीय नियमों का उल्लंघन करके क्रयविक्रयादि करना । ५) हीनाधिकमानकरण – देने लेने के बाँटों को निश्चित प्रमाणसे हीन और अधिक रखना । इस प्रकार ये पाँच अतिचार उस अचौर्याणुव्रत को मलिन करनेवाले हैं । यहाँ श्लोक में 'ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं, इतने अंश की अनुवृत्ति ग्रहण करना चाहिये ॥ ६ ॥

हस्तिनाग नगर में सुयोधन राजा ने मंत्री और पुरोहित के साथ अपने कोश का अपहरण किया । इससे उसे राज्यपद से भ्रष्ट होना पडा । तथा सत्यभूति ब्राह्मण को भी दुसरों के धन में अतिशय लुब्ध रहने के कारण अपने पुरोहितपदसे भ्रष्ट होना पडा ॥ ७ ॥

वारिधर्म नगर में जिस वैश्यने गिरे हुए धन का परित्याग किया था – उसके विषय में मुग्ध नहीं हुआ था – वह धर्मराजा के द्वारा उपस्थित की गई कौनसी उन्नति को नहीं प्राप्त हुआ है ? (अर्थात् उसे धर्मराजा के द्वारा अतिशय लाभ हुआ है) ॥ ८ ॥

दूसरेके धन का परित्याग कर के सुख का अनुभव करने वाले तथा लोभ धारण कर के दुख का अनुभव करनेवाले कितने अन्य जनों की कथायें जिनागम में नहीं सुनी जाती हैं? ॥ ९ ॥

इसलिये अपने प्रयोजन को सिद्ध करनेवाले सज्जनों को दुष्ट स्त्री के समान न दिये हुए

---

७) 1 दृष्टान्तः, D राज्ञः. 2 मन्त्री. 3 लोभतः, D अर्थलाम्पट्यात् । ८) 1 वनिकः [वणिक्] D श्रेष्ठी. 2 PD परद्रव्यम्. 3 PD °धर्मभूपतिः । ९) 1 त्यक्तवन्तः. 2 गृहीतवन्तः. 3 कथंभूताः, सुखदुःखोपभोगिनः. 4 अन्ये कियन्तोऽपि किं न श्रूयन्ते अपि तु श्रूयन्ते. 5 परद्रव्याणि, D परद्रव्यस्य. 6 क्व श्रूयन्ते, जिनागमे । १०) 1 PD परद्रव्यम्. 2 अकलत्रव्याजवत्, D अन्यस्त्री. ३ योग्यं द्रव्यम् ।

1053) यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र[1] हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥ १०*१

1054) हिंस्यन्ते तिलनाल्यां[1] तप्तायसि[2] विनिहिते तिला यद्वत्[3] ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥ १०*२

1055) अब्रह्म[1] मैथुनमिति प्रतिपादने[2] ऽपि
माता निजेव भगिनीव सुतेन साक्षात् ।
अन्यस्य योषिदनुरागभरे ऽपि दृश्या[3]
त्रेधापि चारुचरितेन निशान्तभाजा[4] ॥ ११

1056) यतो विरज्येत महाजनः सदा स्वयं विशङ्केन[1] यतो ऽनुरागतः ।
निजस्त्रियं तां च परस्त्रियं शुचिः समालपेन्नो[2] मनसापि मानवः ॥ १२

परकीय धन का परित्याग करना चाहिये और न्याय से प्राप्त हुए योग्य धन का ग्रहण करना योग्य है ॥ १० ॥

वेदराग के — स्त्री और पुरुषवेदस्वरूप नोकषाय के — उदयसे जो संभोगकार्य होता है उसे अब्रह्म कहते हैं । इसमें हिंसा होती है, क्योंकि इसमें भी सर्वत्र जीवों के वध का सद्भाव पाया जाता है ॥ १०*१ ॥

जिस प्रकार तिलों की नाली में तपी हुई लोहशलाका के रखने पर उसमें सब तिलोंका नाश होता है, उसी प्रकार मैथुनकार्य में योनि में अवस्थित बहुत से जीवोंकी हिंसा हुआ करती है ॥ १०*२ ॥

अब्रह्म या मैथुन इस प्रकार कहने में भी तथा तद्विषयक अनुरागकार्य में भी सदाचारी गृहस्थ को अन्यकी स्त्री को मन, वचन व कायसे साक्षात् अपनी माता, बहिन और पुत्री के समान देखना चाहिये। (अभिप्राय यह है कि, जिस प्रकार अपनी माता व बहिन आदिके समक्ष मैथुनविषयक अनुराग तो दूर रहा, किन्तु अब्रह्म या मैथुन शब्दों का उच्चारण भी निन्द्य माना जाता है, उसी प्रकार अन्य की स्त्री को भी माता आदि के समान समझकर तद्वत् ही व्यवहार करना चाहिये) ॥ ११ ॥

महापुरुष जिस स्त्री की ओरसे सदा विरक्त रहता है तथा स्वयं जिस अनुराग से शंकित रहता है, पवित्र मनुष्य को उस स्वकीय स्त्री और परस्त्री से मन से भी वार्तालाप नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

१०*१) 1 मैथुने । १०*२) 1 तिलनालीविषये. 2 लोहे. 3 यथा । ११) 1 मैथुनसेवकेनापि. 2 महान् दोषः. 3 दर्शनीया. 4 निशान्तं गृहं, निशान्तभाजा गृहस्थेन, D उपासकेन । १२) 1 D °विशङ्केत° निजस्त्रीसार्धं रागजल्पनम् अवसरे योग्यम्. 2 मनुष्यः ।

1057) विवाहितां वा[1] यदि वाविरुद्धां[2] भजेदुदीर्णे[3][4] मदने ऽथ वेश्याम् ।
विवर्जयेत्स्वामपि किं त्वकाले स्वदारसंतोषपरः[5] सदैव ॥ १३

1058) धर्मकर्मचरणे स्वभावतो मानुषो हि नियतस्मरो[1] भवेत् ।
तत्स्वजानिं[2]मवलम्ब्य तत्परां बन्धुलिङ्गिरमणी[3]र्विवर्जयेत् ॥ १४

1059) सुखं तदेव संभोगैः सैव चान्ते विडम्बना ।
तासु[1] चान्यासु च स्त्रीषु परस्त्रीष्वथ को ग्रहः ॥ १५

1060) मदनोद्दीपनैः शास्त्रै रसैर्वृष्यैः[1] प्रदीपयेत् ।
प्रशान्तं दर्पकं[2] तेन स्वेच्छया तानि नाश्रयेत् ॥ १६

स्वदारसन्तोषव्रती काम के उद्दीप्त होने पर विवाहित अपनी स्त्री अविरुद्ध—भाडा आदि दे कर कुछ समय के लिये अपनी की गई (?) — अन्य स्त्री अथवा वेश्या का सेवन कर सकता है। परंतु उसे असमयमें अपनी पत्नीके सेवन का भी परित्याग करना चाहिये ॥१३॥

धर्मकर्म का आचरण करते समय मनुष्य के लिये स्वभाव से ही अपने कामविकार को अपने अधीन रखना चाहिये — जितेन्द्रिय रहना चाहिये। उसे अपनी धर्मपत्नीका अवलंबन ले कर उससे भिन्न अपनी मित्रस्त्री तथा अपनी जातिकी स्त्री और आर्यिकादिक स्त्रियोंका त्याग करना चाहिये ॥ १४ ॥

उन तथा अन्य स्त्रियों के साथ भोग करते समय जो सुख होता है और सम्भोग के समाप्त होनेपर जो विटम्बना होती है, वही अवस्था अन्य स्त्री के सेवन में भी होती है। फिर मनुष्य परस्त्री के सम्बन्ध में क्यों आग्रह करता है ? (अर्थात् परस्त्रीसेवन में स्वस्त्रीसेवन से कुछ अधिक सुख तो होता नहीं, प्रत्युत उसमें अधिक संक्लेश ही होता है। अतः उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥ १५ ॥

शान्ति को प्राप्त हुआ कामदेव कामवासना को उत्तेजित करनेवाले शास्त्रों और गरिष्ठ रसों से उद्दीप्त हुआ करता है। इसीलिये अपनी इच्छा से न वैसे शास्त्रोंका आश्रय लेना चाहिये और न उस काम को उद्दीप्त करने वाले गरिष्ठ भोजनका भी उपभोग करना चाहिये ॥ १६ ॥

१३) 1 अथवा, 2 D अन्यकामिनीं. 3 स्वां परां च वेश्यां भजते यः रागी. 4 सति. 5 यः नीरागः । १४) 1 नियमितकामः, D जितस्मरः कन्दर्पः.2 स्वस्त्रीम्. 3 D वेषधारिणी । १५) 1 D स्वस्त्रीषु । १६) 1 P° वृत्तेः 2 कन्दर्पं ।

1061) हव्यैरिव हुतप्रीतिः पाथोभिरिव नीरधिः ।
धृतिमेति पुमानेष न भोगैर्भवसंभवैः ॥ १६*१

1062) रक्ष्यमाणे प्रबृंहन्ति[1] यत्रा[illegible]हिंसादयो गुणाः ।
उदाहरन्ति तद् ब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥१६*२

1063) बाह्यास्तास्ता रचयतु पुमान् सत्क्रियाः कामचित्त[1]:
संक्लेशात्मा समधिकतया[2] निर्वृतो भावलाभे[3] ।
तस्मात्त्यक्त्वा मदनविभवास्ताः क्रियाः स्वानुलोमाः[4]
संकल्पन्ते फलविहतये कामिनां[5] शुद्धधर्मे ॥ १७

1064) धर्मध्यानविभूतिदेहविषया[1] अन्तर्ज्वलन्मन्मथे[2]
रक्षोपार्जनसत्क्रियाप्रभृतयो[3] नश्यन्ति सर्वाः क्रियाः ।
तत्तं[4] द[illegible]कारं कृतधिया[5] त्याज्यं यदाहारवत्
सेवन्तां वपुरुत्[illegible][6] ऽत्यासक्तिवेगच्छिदः[7] ॥ १८

जिस प्रकार होम के योग्य घृतादि पदार्थों से कभी अग्नि तृप्त नहीं होती है, तथा पानी से कभी समुद्र तृप्त नहीं होता है उसी प्रकार संसार के भोगों से यह मानव भी कभी तृप्त नहीं होता है ॥ १६*१ ॥

जिसके रक्षण करने पर अहिंसादिक गुण वृद्धिगत होते हैं उसे ब्रह्मविद्या में चतुर -अध्यात्मवेदी महर्षि - ब्रह्म कहते हैं ॥ १६*२ ॥

जिस मनुष्य का चित्त काम से व्याकुल हो रहा है तथा जो अतिशय संक्लेश परिणामों से युक्त है वह भले ही उन अनेक बाह्य समीचीन क्रियाओं को करता रहे, परन्तु उसे अतिशय निर्वृति (संतोष) भावलाभ होने पर होगी । (अर्थात् - संक्लेश परिणामों को छोडकर परिणामविशुद्धिसे ही निर्वृति - मुक्तिसुख - प्राप्त होता है) । इसलिये कामविकार से उत्पन्न होनेवाली अर्थात् उसे अनुकूल होनेवाली क्रियाओं को छोडकर शुद्ध धर्म की सहायकक्रियाओं को भावपूर्वक करनी चाहिये । नहीं तो कामिओं की क्रिया फलनाश के लिये - पुण्यनाश के लिये - कारण होगी ॥ १७ ॥

जिसका अन्तःकरण कामाग्नि की ज्वालाओं से सन्तप्त हो रहा है उसका धर्मध्यान विभूति, शरीर और इन्द्रियविषय (अथवा धर्मध्यान, विभूति और शरीरको विषय करने-

---

१६*१) 1 D इन्धनैः. 2 PD अग्निः । १६*२) 1 प्रवर्धयन्ति. 2 ब्रह्माणि । १७) 1 सकामः 2 अधिकचरित्रेऽपि. 3 P °भाविलाभे, आगामिफल [ला] भेन रहितो भवति. 4 कथंभूतास्ताः क्रियाः, स्वानुलोमाः स्वानुकूलाः, D समीचीनाः 5 किं कुर्वताम् । १८) 1 पञ्चेन्द्रियगोचर. 2 कस्मिन् सति. 3 काः क्रिया नश्यन्ति. 4 ततः तं मन्मथम्. 5 कृतबुद्धेः पुरुषस्य, D °कृतधियो त्याज्यं°, सतः. 6 कस्यै. 7 अति-आसक्ति-वेगविनाशकस्य ।

1065) परस्त्रीसंगमानङ्गक्रीडान्योपयमक्रियाः [1] [2] [3] ।
तीव्रता[4] रतिकैतव्ये[5] हन्युरेतानि तद्व्रतम् ।। १८*१

1066) तदुक्तम्—
मद्यं द्यूतमुपद्रव्यं[1] तौर्यत्रिकमलंक्रिया[2] [3] ।
मदो विटा वृथाट्येति[4] दशधानङ्गजो गणः ।। १८*२

1067) नवधाप्यनेकधा वा ब्रह्मोक्तं मुक्तसकलरागस्य ।
समये[1] ऽत्र तु स्वरूपं स्थूलब्रह्मव्रतस्योक्तम् ।। १९

1068) राजश्रेष्ठिप्रियासक्तो मन्त्रिपुत्रो ऽत्र जन्मनि
अवापं[1] नीडजादित्वं[2] प्रेत्या[3]प दुःखमुद्धतम् ।। २०

वाली) तथा रक्षा–धनादि के संरक्षण–उपार्जन और सत्क्रिया आदि– जिनपूजनादि–सब ही क्रियायें नाशको प्राप्त होती हैं । इसलिये बुद्धिमान मनुष्यों को अनेक दोषसमूहों के जनक होने से परित्याग के योग्य उस काम का सेवन शरीर में उत्पन्न हुए संताप को नष्ट करने के लिये आहार के समान अनासक्तिपूर्वक ही करना चाहिये ।। १८ ।।

परस्त्रीसेवन करना, योनि और लिंग के विना अन्य प्रकार से कामक्रीडा करना, अपनी कन्या और पुत्र के सिवाय अन्य किन्हीं का विवाह करना और काम सेवन में अत्यासक्ति रखना ऐसे कार्य–पाँच अतिचार–उस ब्रह्मचर्य व्रत को नष्ट करते हैं ।। १८*१ ।।

कहा भी है–

मदिरापान, जुआ खेलना, उपद्रव्य–कामोत्तेजक औषधादिक, तौर्यत्रिक–वाद्य, गायन और नृत्य–शरीर की सजावट, इन्द्रिय उन्मत्तता, व्यभिचारी जन की संगति और व्यर्थ इधर उधर घूमना यह काम से उत्पन्न होनेवाला दस प्रकारका गण हैं ।। १८*२ ।।

आगम में मन, वचन, काया और कृत, कारित, अनुमोदना, इन के परस्पर संयोगरूप नो अथवा अनेक भेदों से जो ब्रह्मचर्य कहा गया है वह समस्त राग से रहित-ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारक–साधु के लिये कहा गया है । परन्तु यहाँ स्थूल ब्रह्मचर्य व्रत का स्वरूप कहा गया है। उसका परिपालन गृहस्थ किया करता है ।। १९ ।।

राजश्रेष्ठी की पत्नी में आसक्त हुआ मंत्री का पुत्र कडारपिंग इस जन्म में पक्षी–किंजल्प पक्षी–आदि की अवस्था को और परलोक में–नरक में– जाकर घोर दुःख को प्राप्त हुआ ।। २० ।।

१८*१) 1 इत्वरिका परिगृहीताऽपरिगृहीता द्वेऽत्र, D परिगृहीता अपरिगृहीता. 2 करमैथुनादि. 3 परविवाहकरण. 4 तीव्रता कामाभिनिवेशे. 5 D कुंच नाडि । १८*२) 1 PD °अपद्रव्यम्, D चोरी. 2 वाद्यनाट्यगीतम्. 3 D अलंकाराः. 4 PD वृताद्येति । १९) 1 जिनशासने उपासके वा । २०) 1 प्राप. 2 पक्षि-[illegible]म्, D पक्षी भूत्वा पुनः दुःखं प्राप. 3 मृते ।

1069) किं चासन्[1] भुवि युद्धानि बहूनि वनिताकृते[2] ।
भारतादीनि लोकानां गतानि त्रासहेतुताम् ॥ २१

1070) एकपत्तनभवा[1] हि वाणिजा[2] द्वौ तु तत्र[3] सहजानुरागतः ।
दुःखमापतुरथेतरः[4][5] शुचिस्तत्स्वसापि[6] च स चादिसत्सुखम् ॥ २२

1071) इत्यब्रह्ममहादुःखपारमीप्सुः स्वभावतः[1] ।
सर्वथा विरतिं कश्चित्प्रपद्येत सुभावनः[2] ॥ २३

1072) प्रसिद्धम्—

ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यताः ।
लभेताद्भुतसंचाराच्चतुर्थव्रतपूतधीः ॥ २३*१

संसार में स्त्रियों के लिये भारतादिक अनेक युद्ध हुए व उन के कारण लोगों को बहुत दुःख सहना पडा है ॥ २१ ॥

किसी एक गाँव में कुछ वैश्य रहते थे। उनमें से जिन दो वैश्यों को अपनी बहिन पर अनुराग उत्पन्न हुआ जिस से वे तो दुःखको प्राप्त हुए और तीसरा भाई, जो कि पवित्र विचार-वाला था, वह और उसकी बहिन दोनों सुखी हुए हैं ॥ २२ ॥

इस प्रकार जो कोई महापुरुष स्वभाव से उस अब्रह्मजनित महादुःख से पार होने की इच्छा करता है वह उसकी उत्तम भावनाओं का चिन्तन करता हुआ उससे विरति को प्राप्त होता है— उसका परित्याग करता है ॥२३ ॥

यहाँ यह प्रसिद्ध है —

जिसकी बुद्धी इस चौथे व्रत से पवित्र हुई है ऐसा पुरुष ऐश्वर्य, उदारता, दानशूरता, धैर्य, सौन्दर्य, सामर्थ्य तथा अद्भुत संचार—दुर्गम स्थानों में विहार—आदि गुणों को प्राप्त करता है ॥ २३*१॥

---

२१) 1 बभूवुः. 2 D कारणाय । २२) 1 P °धवा°, D वणिकद्वयः एकपत्नीरतः दुःखं प्राप. 2 बहवः. 3 वाणिजेषु मध्ये. 4 D प्रापतुः. 5 अपरः कश्चित् वाणिजः, D अरागी तृतीयः स च सुखं प्राप. 6 तस्य भगिन्यपि । २३) 1 D स्वस्य स्वस्मिन् वा भावना यस्य °स्वभावनः°. 2 D °शुभावनः°, शुभमवतीति शुभावनः, शुभरक्षक इत्यर्थः ।

1073) ते जीवन्तु चिरं त एव ᳚तिनस्ते धर्मरत्नाकरा–
स्ते ऽध्यात्मप्रतिबिम्बदर्पणतलं ते विश्व जास्पदम् ।
गीर्वाणासुरशेष[1]मानुषपशुप्रक्षोभलीलायितै[2]
रामार्धेक्षित[3]वायुभिर्नरवरा[4] नान्दोलिता ये क्वचित् ॥ २४

1074) या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः[1] ।
मोहोदयादुदीर्णा मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥ २४*१

1075) मूर्च्छालक्षणकरणा[1]त्सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य[2] ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥ २४*२

1076) यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु को ऽपि बहिरङ्गः[1] ।
भवति नियतं यतो ऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥ २४*३

जो पुरुष श्रेष्ठ देव, असुर (दानव), शेषनाग, मनुष्य और पशु–सिंहादि — के प्रक्षोभ (उपद्रव) की लीला को करनेवाले स्त्रियों के अर्ध ईक्षित — कटाक्ष–रूप, वायु के द्वारा कहीं पर भी नहीं हिलाये जाते हैं–उद्विग्न नहीं किये जाते हैं– वे धर्मरूप रत्नों की खानिस्वरूप पुण्यशाली पुरुष चिरकाल तक जीवित रहें। वे महात्मा अध्यात्म ज्ञान के प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पणतल के समान होते हुए समस्त लोकों से पूजनीय होते हैं ॥ २४ ॥

यह जो मूर्छा है उसे ही यह परिग्रह जानना चाहिये। वह मूर्छा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ करती है, जो ममत्व परिणामस्वरूप है। (अभिप्राय यह है कि मोहनीय कर्म के उदय से जो बाह्य धनधान्यादि पदार्थों के विषय में 'ये मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ' इस प्रकार का ममेदंभाव हुआ करता है उसी का नाम परिग्रह है। मूर्छा यह उक्त परिग्रह का समानार्थक नाम है) ॥ २४*१ ॥

परिग्रह का मूर्छा लक्षण करने से उस मूर्छा के साथ परिग्रह की 'जहाँ मूर्छा है वहां परिग्रह होता ही है,' इस प्रकार की व्याप्ति घटित होती ही है। इस से यह सिद्ध है कि जो ममत्व बुद्धिस्वरूप उस मूर्छा से संयुक्त होता है वह धनधान्यादिक शेष परिग्रह के न होने पर भी सग्रन्थ–परिग्रहवाला होता है ॥ २४*२ ॥

यहाँ कोई शंका करता है कि यदि केवल ममत्वपरिणाम को ही परिग्रह माना

---

२४) 1 नाग. 2 D कटाक्षैः. 3 PD अर्धकटाक्ष वातैः. 4 नराणां श्रेष्ठाः । २४*१) 1 D परिग्रहः
२४*२) 1 कस्मात्. 2 कस्य । २४*३) 1 प्रधानः ।

1077) एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छास्ति ॥ २४*४

1078) अतिसंक्षेपाद्द्विविधः स[1] भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो[2] द्वितीयस्तु ॥ २४*५

1079) मिथ्यात्ववेदरागाः प्रोक्ता हास्यादयश्च षड्दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरग्रन्थाः ॥ २४*६

1080) अथ निश्चित्तसचित्तौ[1] बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैष कदाचित्संगः सर्वो ऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥ २४*७

1081) अर्थाभिधान[1]मवबुध्य विशुद्धबुद्ध्या नित्यं प्रमापरिगतः[2] सकलो ऽपि बाह्यः ।
ग्राह्यः परिग्रहउपासकधर्मसारैः क्षेत्रादिको दशविधो धृतिवर्धनाय ॥ २५

जायगा तो फिर बाह्य धनधान्यादिक कुछ भी परिग्रह नहीं ठहरेंगे । उस के उत्तर में यहाँ यह कहा जा रहा है कि उक्त बाह्य धनधान्यादि भी निश्चय से परिग्रह ही रहेंगे । इसका कारण यह है कि उस मूर्छास्वरूप अन्तरंग परिग्रह का हेतु तो वह बाह्य परिग्रह ही होता है ॥२४*३॥

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि परिग्रह का ऐसा लक्षण करने पर तो उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है । क्योंकि, वीतराग छद्मस्थों के जो कर्म का ग्रहण हुआ करता है वह परिग्रह तो नहीं है, पर उस में परिग्रह का वह लक्षण चला जाता है । परन्तु वैसी आशंका करना योग्य नहीं हैं । क्योंकि, कषायरहित जीवों के जो कर्मग्रहण होता है उसमें उनका ममत्व-परिणाम नहीं रहता है ॥ २४*४ ॥

वह परिग्रह अतिशय संक्षेप में अन्तरंग और बाह्य के भेद से दो प्रकारका है । उनमें प्रथम अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है और दूसरा बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है ॥२४*५॥

मिथ्यात्व, तीन वेद नोकषाय–स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये छह दोष तथा क्रोध, मान, मायाँ और लोभ, इस प्रकार से ये चौदह अभ्यंतर परिग्रह हैं ॥ २४*६ ॥

सचित्त और अचित्त ये दो भेद बाह्य परिग्रह के हैं । यह सब ही परिग्रह हिंसा का कभी भी उल्लंघन नहीं करता है–वह सब निर्मल आत्मपरिणामों के विघात का कारण होने से हिंसा के ही अन्तर्गत है ॥ २४*७ ॥

श्रेष्ठ उपासक धर्म के धारक गृहस्थों को विशुद्ध बुद्धि से अर्थ और 'परिग्रह' शब्द

२४*५) 1 परिग्रहः. 2 सचेतनअचेतने, D चेतनाचेतनं । २४*७) 1 अचेतनसचेतनी । २५) 1 नाम. 2 प्रमासंयुक्तः. D संख्या ।

1082) उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः[2] ।। २५*१

1983) हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्गसंगेषु ।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयाति मूर्च्छैव हिंसात्वम् ।। २५*२

1084) एवं न विशेषः स्यादुन्दुररिपु[1]हरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ।। २५*३

1085) हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा ।
उन्दुरनिकरोन्माथिनि[1] मार्जारे जायते तीव्रा ।। २५*४

1086) निर्बाधं संसिध्येत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्य[1]खण्डयोरिह माधुर्ये प्रीतिभेद इव ।। २५*५

को जानकर, जो क्षेत्र व वास्तु आदि रूप दस प्रकारका बाह्य परिग्रह है उस सभी को धैर्य–सन्तोष–के संवर्धनार्थ नियमित प्रमाण कर के ही सदा ग्रहण करना चाहिये–किये गये प्रमाण से कभी अधिक की इच्छा नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

जिनागम के ज्ञाता आचार्य उपर्युक्त दोनों प्रकार की (बाह्याभ्यन्तर) परिग्रह के त्याग को अहिंसा और उसी दोनों प्रकारकी परिग्रह के धारण करने को हिंसा कहते हैं ॥२५*१॥

मिथ्यात्व व वेद आदि जो अन्तरंग परिग्रह हैं वे चूंकी उस हिंसा के पर्यायस्वरूप हैं, इसलिये उन में हिंसा है ही। तथा वहिरंग परिग्रहों में जो मूर्छा–ममत्वरूप परिणाम–उत्पन्न होता है वही निश्चय से हिंसापने को प्राप्त होता है ॥ २५*२॥

इसपर शंकाकार कहता है कि ऐसा मानने पर तो चूहों के शत्रुभूत बिलाव और हरिण के बच्चे आदिमें कोई विशेषता नहीं रहेगी, क्योंकि, बिलाव के लिये जिस प्रकार चूहों के विषय में मूर्छा रहती है उसी प्रकार हरिण के बच्चे को घास के विषय में मूर्छा रहती है। इस शंका के उत्तर में यहाँ यह कहा गया है कि ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, उनमें मूर्छाकी विशेषतासे–उसके तर-तम-भावसे – विशेषता होती है। जैसे–हरे घास के खानेवाले हरिण के बच्चे में वह मूर्छा मन्द–अतिशय हीन–होती है, परन्तु वही मूर्छा चूहों के समूहका संहार करनेवाले बिलाव में अधिक होती है। कारण यह कि कारण की विशेषता से कार्य को विशेषता सिद्ध ही है, उसमें किसीं प्रकार की बाधा नहीं आतीं है। उदाहरणार्थ–जैसे दूध और खाँड (एक प्रकारकी शक्कर) में मधुरताविषयक रागकी विशेषता–इसीको स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि चूंकि दूध में

२५*१) 1 बाह्याभ्यन्तरः, सचित्ताचित्त. 2 D वदन्ति । २५*२) 1 हिंसा सिद्धा । २५*३) 1मार्जारः, D विराल [बिडाल] । २५*४) 1 मारके । २५*५) 1 P क्षीर, दुग्ध, D दुग्धखण्डयोः ।

1087) माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे ऽप्यपदिश्यते[1] तीव्रा ॥ २५*६

1088) तत्त्वार्थश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्[1] ।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥२५*७

1089) प्रविहाय च द्वितीयान्[1] देशचरित्रस्य संमुखो[2] जातः ।
नियतं ते हि कषाया[3] देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥ २५*८

1090) निःशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसंगानाम् ।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥ २५*९

1091) बहिरङ्गादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्यसंगमो[1] ऽनुचितः ।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥ २५*१०

मिठास कम मात्रामें हुआ करना है, अनएव उसमें मधुरनाविषयक प्रीति साधारण ही हुआ करती है। परन्तु खाँड में उस मधुरताके अधिक मात्रा में अवस्थित रहने से तद्विषयक प्रीति उसमें अधिक कही जाती है ॥ २५*३-४-५-६ ॥

तत्त्वार्थ के श्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन में मिथ्यात्वका त्याग प्रथमतः किया गया है। तथा अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक चार कषायें भी चूँकि उस सम्यग्दर्शनको लूटनेवाली हैं–उसे प्रादुर्भूत नहीं होने देती हैं, इसीलिये मिथ्यात्व के साथ उन चारोंका भी परित्याग कराया गया है ॥२५*७॥

द्वितीय कषाय-स्वरूप अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ को छोडकर प्राणी देशचारित्र के अभिमुख हो जाता है। कारण यह कि वे कषाय निश्चय से देशचारित्र को रोका करते हैं ॥ २५*८ ॥

(देशचारित्रके प्राप्त कर लेने पर तत्पश्चात्) अपनी शक्ति के अनुसार अवशिष्ट-सर्व–प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि स्वरूप–अन्तरंग परिग्रहों का मार्दव, शौच एवं आर्जवादिक भावना के द्वारा त्याग करना चाहिये ॥ २५*९ ॥

बाह्य परिग्रहसे भी चूँकि अनुचित असंयम होता है विषयतृष्णा आदि बढती है, इसीलिये उस अचित्त–निर्जीव धनधान्यादि–तथा सचित्त–दास,दासी व पशु आदि (सजीव)–भेदस्वरूप समस्त बाह्य परिग्रह का भी त्याग करना चाहिये ॥ २५*१० ॥

२५*६) 1 कथ्यते । २५*७) 1 त्रिभेदम् । २५*८) 1 P °अप्रत्याख्यानकषा न्. 2 D °सन्मुखो. 3 PD देहिकषाया, देही जीव, D ते अप्रत्याख्या नः । २५*१०) 1 D अशुद्धपरिणामः ।

1092) यो ऽपि[1] न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः ।
सो ऽपि तनूकरणीयो[2] निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥ २५*११

1093) आत्मनो ऽननुरूपो वा यो वा युक्त्या समागतः ।
यतो यतो ऽपरज्येत तं[1] संतोषी परित्यजेत् ॥ २६

1094) कारुकस्येव[1] हस्त्यादि वैरितश्[2]चागतं धनम् ।
क्रेयं[3] राजस्वम[4]ज्ञातं मृते ज्ञातौ तथाविधम् ॥ २७

1095) सत्पात्रविनियोगेन[1] यो ऽर्थसंग्रहतत्परः ।
लुब्धेषु स परं लुब्धः सहामुत्र[2] धनं नयन् ॥ २७*१

1096) कृतप्रमाणाल्लोभेन[1] यो धनाधिक्यसंग्रहः ।
पञ्चमाणुव्रतज्यानिं[2] करोति गृहमेधिनाम् ॥ २७*२

जो भी धन (चान्दी-सोना आदि) धान्य, मनुष्य, घर और धन (गाय-भैंस आदि) आदिक परिग्रह नहीं छोडा जा सकता है, उसे भी थोडा थोडा कम अवश्य करते जाना चाहिये। क्योंकि तत्त्व निवृत्तिरूप है। (अर्थात् धर्मका स्वरूप प्रवृत्ति न हो कर निवृत्ति ही है) ॥ २५*११ ॥

जो अपने पद के अनुकूल नहीं है तथा जो अयुक्ति से प्राप्त हुआ है–अन्याय से प्राप्त हुआ है–ऐसे धन का त्याग करना चाहिये। तथा जिस जिस परिग्रह से विरक्ति अथवा कुत्सित राग उत्पन्न होता है, सन्तोषी मनुष्य को उस उस परिग्रह का परित्याग करना चाहिये ॥२६॥

जिस प्रकार बढई से हाथी (आदि खिलोने) खरीदे जाते हैं उसी तरह शत्रुसे प्राप्त होनेवाला धन तथा अज्ञात राजधन और मरे हुए ज्ञातिजन का धन खरीद लेना ही योग्य है ॥२७॥

जो सत्पात्रों में धन का उपयोग कर के उसके संग्रह में तत्पर होता है वह लोभियों में भी महालोभी है। क्योंकि इस प्रकार से वह उस धन को परलोक में ले जाता है। (तात्पर्य यह कि सत्पात्र दान से परभव में पुनः संपत्ति प्राप्त होती है) ॥२७*१ ॥

जो गृहस्थ लोभ के वश होकर किये गये प्रमाण से अधिक धनादि के संग्रहमें तत्पर रहता है, वह गृहस्थों के परिग्रहपरिमाणनामक पाँचवे अणुव्रत को नष्ट करता है ॥ २७*२ ॥

२५*११) 1 परिग्रहः. 2 तुच्छं करणीयः । २६) 1 परिग्रहम् । २७) 1 चित्रकारकस्य हस्त्यादयः, D कमनीयस्य. 2 P°चौरतः. 3 क्रय्यम्. 4 यथा राजद्रव्यम् अज्ञातं वृथा भवति । २७*१) 1 दानयोगेन न ददाति. 2 परत्र । २७*२) 1 P°लाभेन° 2 PD हानिम् ।

1097) तदुक्तम्—

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि[1] यत् ।
तत्तस्या[2]शक्तितो[3] भोक्तुं वितनोर्भा[4]नुसोमवत् ॥ २७*३

1098) स्याद्देहो[1] न सनातनः सहभवो[2] यस्मिन्[3]ग्रहो तत्र कै-
वास्था[4] द्रव्यकलत्रपुत्रनिचये ज्ञात्वेति लोभाग्रहे ।
व्या[illegible]त्याः स्वमनोरथा हि विफलास्तस्मिन्[5] धियं[6] बध्नतां[7]
न ह्यस्थान[8]महोद्यमेन मतयः[9] कामप्रदाः कर्हिचित्[10] ॥ २८

सो ही कहा है—

निवृत्ति से रहित–तृष्णातुर–प्राणी के मुख से जो सब लोक शेष बचा हुआ है, वह उसकी उसे भोगने की शक्ति न होने से ही बचा हुआ है, न परित्याग के वश हो कर। जैसे शरीर से रहित राहु के मुख से सूर्य–चन्द्र ।(अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार राहु, सूर्य व चन्द्र को पूर्णतया ही ग्रसित करना चाहता है, फिर भी उनका जो कुछ भाग शेष बचा रहता है वह उसकी अशक्ति के कारण ही बचा रहता है, न की उनकी ओर से विरक्ति के कारण। ठीक इसी प्रकार से प्राणी की विषयतृष्णा अपरिमित है । वह समस्त लोक को ही अपने अधीन करना चाहता है। फिर भी जो कुछ विषयसामग्री उससे बची हुई है वह उसे इच्छानुसार प्राप्त न कर सकने से तथा तद्विषयक भोगने की शक्ति के न होने से ही बची हुई है, न कि उसकी विरक्ति के कारण) ॥२७*३॥

जिस परिग्रह में साथ में उत्पन्न होनेवाला शरीर ही जब स्थायी नहीं है तब उस परिग्रह में से धन, स्त्री और पुत्रसमूह में भला वह स्थायित्व कहाँ से हो सकता है ?(अर्थात् जब सदा साथ में रहनेवाला शरीर ही स्थिर नहीं है तब आत्मा से सर्वथा भिन्न दिखनेवाले धन (अचित्त परिग्रह) और स्त्रीपुत्रादि (सचित्त परिग्रह) तो स्थिर हो ही नहीं सकते हैं (उनका वियोग अनिवार्य है), ऐसा जानकर उक्त परिग्रह के विषय में बुद्धि को संबद्ध करनेवाले–उसमें आसक्ति रखनेवाले–प्राणियों के निरर्थक मनोरथों–निराधार कल्पनाओं– को तद्विषयक लोभ के दुराग्रह से पृथक् करना चाहिये। कारण यह कि अयोग्य स्थान में किये जानेवाले महान् परिश्रम से बुद्धि कभी भी सफल नहीं होती है । (अभिप्राय यह है कि, धनधान्यादि सब बाह्य पदार्थ जब स्थायी नहीं हैं तब उन के विषय में लुब्ध हो कर विवेकी जीवोंको उनकी प्राप्ति के लिये निरर्थक प्रयत्न नहीं करना चाहिये) ॥ २८ ॥

२७*३) 1 D निर्गच्छति. 2 P°स्वद्व [र्व] रितम्, Dशेषा, यतो मुखे न माति राहुः सूर्यचन्द्रयोः, D°तं तस्या°. 3 वितनोः. 4 PD राहोः । २८) 1 अविनश्वरः, D न शाश्वतः. 2 देहो. 3 परिग्रहे. 4 स्थितिः. 5 परिग्रहे. 6 बुद्धिम्. 7 पुरुषाणाम्. 8 अनवसरे. 9 बुद्धयः. 10 कदाचन ।

1099) वित्तार्थं चित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः[1] ।
अतीवोद्योगिनो[2] ऽस्थाने[3] न हि क्लेशात्परं फलम् ॥ २९

1100) श्रीमन्तो ऽपि गतश्रियो ऽत्र पशवस्ते मानवा नामतो
नो धर्माय धनागमो बहुविधो भोगाय येषां न वा ।
ये माद्यन्ति न संभवत्सु[1] न च ये दीना असंभूष्णुषु[2]
द्रव्येषु प्रभवो[3] भवन्ति भुवनश्रीणां त एके[4] परम् ॥ ३०

1101) प्रसिद्धम्—
धनिनो ऽप्यदानविभवा गण्यन्ते धुरि महादरिद्राणाम् ।
हन्ति न यतः पिपासामतः समुद्रो ऽपि मरुरेव[1] ॥ ३०*१

1102) बाह्यार्थप्रविभक्तचेतसि[1] कुतो वान्तर्विशुद्धिः स्फुरेत्
धान्ये ऽन्तर्मलहापनं[2] न सतुषे शक्यं विधातुं[3] क्वचित् ।
इत्यन्तर्बहिरर्थदूरविरतं पश्योल्लसत्स्यान्मनो
वन्द्यो देववदेष मातृपितृवद्विश्वासधामापि ना[4] ॥ ३१

धन प्राप्ति के लिये मन में चिन्ता करने पर केवल एक पाप को छोडकर और दूसरा कोई भी फल प्राप्त नहीं होता है। ठीक है–अयोग्य स्थान में अतिशय उद्योग (उदाहरणार्थ, ऊसर भूमि में बीज के बोने का परिश्रम) करनेवाले व्यक्ति को एकमात्र संक्लेश को छोडकर और दूसरा कोई फल नहीं प्राप्त हुआ करता है ॥ २९ ॥

जिन मनुष्यों के लिये बहुत प्रकारसे प्राप्त हुआ धन न तो धर्म का कारण होता है और न भोग का भी हेतु होता है, वे लक्ष्मीके स्वामी होकर भी वास्तव में दरिद्र हैं। उन्हें नाम से मनुष्य होनेपर भी पशु ही समझना चाहिये। इसके विपरीत उस धन के प्राप्त होनेपर जो न गर्व को प्राप्त होते हैं और न उसके असंभव होनेपर दीन भाव को भी प्राप्त होते हैं, वे तीनों लोकों की लक्ष्मी के स्वामी होते हैं। पर ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं ॥ ३० ॥

जो दानके वैभव से रहित होते हैं वे महादरिद्रों में प्रमुख गिने जाते हैं। ठीक है कि, जो प्यासको नहीं बुझाता है वह समुद्र भी मरुप्रदेश जैसा ही होता है ॥ ३०*१ ॥

जिसका कि मन पत्नी, पुत्र एवं धन-धान्य आदिक बाह्य पदार्थों में आसक्त है उसके अभ्यन्तर विशुद्धि कैसे प्रगट हो सकती है ? । ठीक है–छिलके से युक्त धान्य में भीतर के

---

२९) 1 पापतः किमपि फलं न, D पापात्. 2 अनिशं यनोद्यमपरस्य. 3 अनवसरे । ३०) 1 विद्यमानेषु धनेषु. 2 अविद्यमानेषु धनेषु. 3 स्वामिनः. 4 ते एके । ३०*१) 1 D मरुस्थलवत् समुद्रः पिपासां । ३१) 1 D बाह्यचेतसि. 2 D तुष सहिते धान्ये अन्तर्मलविनाशनं. 3 कर्तुम्. 4 पुरुषः, D नरः ।

1103) स्फटहस्तकपिण्याकौ पूर्वं भरतो ऽपि सन्मलाभात् ।
अत्रामुत्र च कतमद्व्यसनं नापुंश्च दण्डकी राजा ॥ ३२

1104) हेमेष्टकया प्रतिमाकारिषि संतोषतो ऽपि जिनदासः ।
बाहुबली मणिमाली सुखमापुरुभत्र किं वा न ॥ ३३

1105) एकेन्द्रियाद्या अपि दुःखमुग्रं भोगोपभोगार्थपराङ्मुखाश्च ।
प्रापुः परे किं किल वच्म आन्तस्त्याज्यो भवेत्सद्भिरयं कुलोभः ॥ ३४

1106) कामं कुप्यति हस्यते च हसति व्याहन्यते हन्ति वा
विद्राति द्रवति प्रणौति नमति व्यापद्यते खिद्यते ।
एवं लोभसरस्वति प्रतिदिशं यस्मिन्निमग्नं जगत्
संतोषार्ककरैरशोषि स तु यैर्नन्दन्तु ते सज्जनाः ॥ ३५

मल को दूर करना कैसे शक्य है? । इस प्रकार जिसका मन अन्तरंग और बहिरंग पदार्थों से दूर रहकर विरक्त हुआ है वह मानव देव के समान वन्दनीय तथा माता पिताके समान विश्वास का स्थान है ॥ ३१ ॥

अतिशय लोभ के कारण स्फटहस्तक व पिण्याक सेठ, भरत और दण्डकी राजा ये इस लोक में व परलोक में कौनसी विपत्ति को नहीं प्राप्त हुए हैं ? अर्थात दोनों ही लोकों में उन्हें दुःख भोगना पडा है ॥ ३२ ॥

सेठ जिनदासने संतोष धारण कर सोनेकी ईंट से जिनप्रतिमा बनवाई । तथा बाहुबली और मणिमाली ये दोनों महापुरुष सन्तोषको धारण कर इस लोक और परलोक में क्या सुखी नहीं हुए हैं ? (अर्थात् अवश्य ही वे उससे सुखी हुए हैं) ॥ ३३ ॥

भोगोपभोग विषयों से पराङ्मुख एकेन्द्रियादिक जीव भी उग्र दुखको प्राप्त हुए हैं । फिर अन्य प्राणियों के विषय में हम क्या कहें ? इसलिये सज्जनों को ऐसे आंतरिक कुत्सित लोभका त्याग करना इष्ट है ॥३४ ॥

लोभ के वशीभूत हुआ मनुष्य अतिशय क्रोध को प्राप्त होता है, कभी वह दूसरों की का पात्र बनता है तो कभी स्वयं दूसरों का परिहास करता है, कभी वह दूसरों के द्वारा

३२) 1 P°स्फुट°. 2 फडहथ श्रेष्ठी पिण्याकी श्रेष्ठी कौचित् द्वौ. 3 D चक्री नकुलजातः. 4 दुःखं कवणं कवणं. 5 न प्राप्ताः. 6 दण्डकीराज्ञः च कवगदुःखं न प्राप्तम्, D सर्पोऽभूत् । ३३) 1 D स्वर्णइंट-प्रतिमा. 2 P D° कारी । ३४) 1 वयं कथयामः. 2 अभ्यन्तरः । ३५) 1 अतिशयेन. 2 अन्यैः हस्यते च. 3 अन्यैः विशेषेण हन्यते. 4 म्लायति. 5 गच्छति. 6 स्तौति. 7 PD लोभसमुद्रे. 8 सरस्वति. 9 शोषितम्. 10 लोभसरस्वान् ।

1107) शास्त्रप्रणीतो[1] नियमो व्रतं स्यात्[2] स्थूलं त्वणु स्याल्लघु वा व्रतानाम् ।
अपेक्षयैतन्महतां सदातो[3] महाव्रतत्वं परतो[4] ऽवसेयम्[5] ॥ ३६

1108) व्रतयन्ति[1] नियमयन्ति[2] हि मुक्तिश्रीपरिणयेन कुर्वाणम्[3] ।
क्रमतो व्रतानि यत्तत्सर्वज्ञैः कीर्तितानीति ॥ ३७

1109) योगैश्[1]चैव कृतादिभिस्तदनु च क्रोधाष्टकेनाहतं
तद्वच्चैव गुणव्रतैर्व्रतमिदं पञ्चप्रमाणं ध्रुवम् ।
ध्यानद्वादशकेन च प्रतिमयोर्युग्माद्यथा स्वं भवे-
दादौ शून्यमथो द्वयं च नवकं पञ्चद्वयं शीलिनाम्[2] ॥ ३८

मारा जाता है तो कभी वह स्वयं भी दूसरोंका घात कर बैठता है, कभी वह शोकाकुल होता है, कभी भागता है, स्तुति करता है, नमस्कार करता है, पीडित किया जाता है तथा कभी खेदको प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक दिशा में जिस लोभ रूप समुद्र में समस्त विश्व डुबा हुआ है उस प्रबल लोभ को जिन महापुरुषोंने सन्तोषरूप सूर्य की किरणों के द्वारा सुखा डाला है, वे महानुभाव समृद्धि को प्राप्त होवें ॥ ३५ ॥

शास्त्र में उपदिष्ट नियम को–हिंसादि पाँच पापों के परित्याग को– व्रत कहते हैं। वह स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का है । स्थूलव्रत को अणुव्रत अथवा लघुव्रत कहते हैं। उसे जो अणुव्रत कहा जाता है वह महाव्रतोंकी अपेक्षा कहा जाता है । इन अणुव्रत से जो भिन्न व्रत हैं उन्हें उनकी अपेक्षा महाव्रत समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

चूँकि ये मुक्तिरूप लक्ष्मी के साथ विवाह से व्रतिक को क्रम से जो व्रतयन्ति अर्थात् नियमित करते हैं, उसके साथ विवाह से बद्ध करते हैं, अतः सर्वज्ञों ने उन्हें 'व्रत' इस सार्थक नाम से निर्दिष्ट किया है ॥३७॥

इस पाँच भेदस्वरूप व्रत को उत्तरोत्तर क्रम से तीन योग, कृत, कारित व अनुमोदना ये तीन; तत्पश्चात् क्रोधादि आठ कषाय–अनन्तानुबन्धी चतुष्क व अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क इसी प्रकार तीन गुणव्रत; बारह ध्यान (तप ?) और दो प्रतिमा–दर्शन व व्रत प्रतिमा; इन सब से गुणित करने पर प्रारम्भमें शून्य, फिर दो, नौ, पाँच और दो; इतने अंक (५ × ३ × ३ × ८ × ३ × १२ × २ = २५९२०) प्राप्त होते हैं । इतने शीलधारियोंके उस व्रत के भेद समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

३६) 1 D कथितः. 2 D भवेत्. 3 अतः कारणात् अणुव्रतानि महाव्रतस्थानानि अवसेयम्. 4 परतो व्रतापेक्षया महताम्. 5 निश्चेयम्, D ज्ञातव्यम् । ३७) 1 D महाव्रतं अणुव्रतं. 2 P° नियमन्ति, संयोजयन्ति. 3 पुरुषम् । ३८) 1 D पञ्चाणुव्रतानि ५ योगैः ३ गुणितानि १५ कृतकारितानुमतैः ४५ क्रोधाष्टकेन ३६० गुणव्रतैः १०८० ध्यान १२ गुणितानि १२९६० दर्शनव्रतप्रतिमायुग्मेन २५९२० शीलानि. 2 सप्तशीलयुक्तानाम्.

1110) एकं[1] द्वे त्रीणि तथा चत्वारि च पञ्च पालयन् प्रतिमाम् ।
अत्येति न व्रताख्यां तत्रैव तु तारतम्यमुपयाति ॥ ३९

1111) अपेक्ष्य बहुधा नरान् परिणतिं तदीयांस्तथा
विधेय · · · · · · मप्यवसरं च देशं सदा ।
असंख्यमुपजायते व्रतमिदं हि संख्या[1] त्वियं
विमुग्धजनबोधनप्रसरहेतुराख्यायि दिक् ॥ ४०

1112) तरणि[1]किरणैः क्रान्तालीढं[2] यथैव नभस्तलं
कुशलरचितैर्ध्मात[3]प्रायैर्यथा कनकोपलैः[4] ।
गलितसकलातीचारौघै[5]र्भवार्णवशोषिणीं
व्रजति नितरामात्मा शुद्धिं व्रतैरिमकैस्तथा[6] ॥ ४१

इति धर्मरत्नाकरे द्वितीयप्रतिमान्तर्गतास्तेयब्रह्मपरिग्रह-
विरतिव्रतविचारस्त्रयोदशो ऽवसरः ॥ १३ ॥

व्रत प्रतिमा का अनुसरण

एक, दो, तीन, चार और पाँच अणुव्रतों को पालनेवाला श्रावक व्रत नाम की दूसरी प्रतिमा का उल्लंघन नहीं करता है–व्रत प्रतिमाधारी ही माना जाता है, वह वहीं पर (व्रत में) तारतम्य भाव को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

प्रायः मनुष्यों व उनके व्रतपालन के योग्य परिणामोंकी अपेक्षा से तथा पालन करने योग्य अनुष्ठान, ----- काल और देश की अपेक्षा से उस व्रतके असंख्यात भेद हो सकते हैं। फिर भी यहाँ यह (२५९२०)जो संख्या निर्दिष्ट की गई है वह मूढ जनों को उसका विशेष परिज्ञान करानेके लिये निर्दिष्ट की गई है। उनके लिये यह दिशा–दर्शन मात्र है ॥ ४० ॥

जिस प्रकार सूर्य किरणों के द्वारा अन्धकार से अस्पृष्ट आकाश अतिशय निर्मलता को प्राप्त होता है तथा जिस प्रकार निपुण सुनारों के द्वारा किये गये अग्निसंयोग समूहों से सुवर्णपाषाण अतिशय निर्मलता को प्राप्त होता है उसी प्रकार समस्त अतिचारसमूहों से रहित इन व्रतों के द्वारा आत्मा भी संसाररूप समुद्र को सुखानेवाली अतिशय विशुद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार धर्मरत्नाकर में द्वितीय प्रतिमान्तर्गत अचौर्यव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहविरतिव्रतोंका विचार करनेवाला तेरहवाँ अवसर समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

---

३९) 1 D आर्तरौद्रध्यान । ४०) 1 D व्रतस्य संख्याकृतं । ४१) 1 सूर्य. 2 अन्धकारव्याप्तम्. 3 धवण ~णाव्यापि:. 4 D यथा उपलो काञ्चनं. 5 समूहैः. 6 D धम्यमानैः ।

[१४. चतुर्दशो ऽवसरः]

[द्वितीयप्रतिमाप्रपञ्चनम्]

1113) अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूल[1]व्रतविशुद्धये ।
निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥ १

1114) रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारितं भवति हिंसा ।
हिंसा विरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १*१

1115) रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिंदिवमाहरतः[1] कथं हि हिंसा न संभवति ॥ १*२

उपर्युक्त अहिंसा व्रत के संरक्षण तथा मूलगुणों की निर्मलता के लिये रात्रि में आहारका त्याग करना चाहिये, क्योंकि वह इस लोक और परलोक दोनों में ही दुःखदायक है ॥ १ ॥

जो लोग रात में भोजन करते हैं,उनको अनिवार्य हिंसा का दोष लगता है । इसलिये हिंसा से विरक्त हुए श्रावकोंको उस रात्रि भोजन का परित्याग करना चाहिये ॥१*१॥

रात्रिभोजन से जो निवृत्ति-विमुखता-नहीं होती है वह रागादि की उत्पत्ति के अधीन रहने के कारण ही नहीं होती है । इसीलिये वह रात्रिभोजन की अनिवृत्ति (आसक्ति) हिंसा का अतिक्रमण नहीं करती है- वह हिंसाके ही अन्तर्गत है, उससे भिन्न नहीं है । कारण यह कि जो रात-दिन खाता रहता है उसके हिंसा की सम्भावना कैसे न होगी ? (अर्थात् उस के भावहिंसा तो निश्चित होती ही है, साथ में द्रव्यहिंसा की भी संभावना रहती ही है)॥१*२॥

---

१) 1 अष्टमूलगुण. 2 D अनुभवे । १*२) 1 भक्षतः ।

1116) यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्या भवति हिंसा ॥ १*३

1117) नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागो ऽधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १*४

1118) अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसाम् ।
अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनाम्[1] ॥ १*५

1119) किं वा बहुमलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसामसौ पाति[1] ॥ १*६

1120) अन्यच्च—
समृगोरगसारङ्गंससुरासुरमानुषम् ।
आ मध्याह्नात्कृताहारं भवतीति जगत्त्रयम् ॥ १*७

इस पर कोई शंका करता है कि यदि ऐसा है तो दिन में उस भोजन का परित्याग कर के रात्रि में ही उसे करना चाहिये, इस प्रकार से वह रागादिरूप हिंसा निरन्तर नहीं होगी। इस शंका के उत्तर में कहा जा रहा है कि ऐसा करना योग्य नहीं है। क्योंकि, जिस प्रकार अन्न के ग्रास के खाने की अपेक्षा मांसके ग्रास के खाने में अधिक अनुराग हुआ करता है उसी प्रकार दिन में भोजन करने की अपेक्षा रात्रिभोजन में उस अनुराग की प्रचुरताकी ही संभावना अधिक है। दूसरी बात यह है कि दिन में सूर्य का प्रकाश रहता है, जो रात्रि में संभव नहीं है। और तब वैसी अवस्था में जो उस सूर्यप्रकाश के विना रात्रि में भोजन करता है वह भला उस हिंसा का परिहार कैसे कर सकता है– उसका परिहार करना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि दीपक के रख लेनेपर प्राणीहिंसाका परिहार हो सकता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि दीपक के रहने पर भी भोज्य पदार्थों का सेवन करने वाले – उन में आकर पडे हुए – सूक्ष्म जीवों की हिंसाका परिहार भला कैसे किया जा सकता है ? दीपक के अल्प प्रकाश में उन सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा का परिहार करना शक्य नहीं है। बहुत कहने से क्या होनेवाला है ? इन सबका निष्कर्ष यही है कि जो सत्पुरुष मन, वचन और कायसे उस रात्रिभोजन का परित्याग करता है वह निरन्तर अहिंसा व्रत का पालन करता है ॥ १*३–६॥

और भी–

मृग, सर्प, सारङ्ग, देव, दैत्य और मनुष्यों से युक्त यह जगत्त्रय मध्याह्नकालपर्यंत आहार ग्रहण करता है ॥ १*७ ॥

१*५) 1 P° जीविनाम् । १*६) 1 रक्षति ।

1121) तमीभवं[1] भोजनमुत्सृजामि दिवानुतिष्ठामि तथापि रात्रौ ।
विवर्जनीयं किल पक्वमामं फलाद्युपादेयमितीष्टमेके: ॥ २

1122) वैद्यप्रणीतौषधमम्बु चान्यैस्ताम्बूलयुक्तं च परेतरैस्तत् ।
ताम्बूलमेवेति च हर्म्यभाजां विज्ञैर्यथायोग्यमिदं विभाव्यम् ॥३

1123) दिवसस्य सदाद्यन्ते द्वयं त्रयं वा विवर्ज्य घटिकानाम् ।
भोज्यं सदा निभोज्यं परत्र सूत्रं सतान्वेष्यम्[1] ॥ ४

1124) पूर्वाह्णे[1] देवगन्धर्वा मध्याह्ने सर्वदेवताः।
अपराह्णे तु पितॄणां निशायां प्रेतभोजनम् ॥ ४*१

मैं रात में बनाये हुए आहार को छोडता हूँ तथा दिन में ही पकाता या भोजन करता हूँ। तो भी रात्रि में भोजन को तो छोडना चाहिये, पर पके हुए और कच्चे भी फल रात में ग्रहण किये जा सकते हैं, यह कुछ विद्वानों को अभीष्ट है ॥ २ ॥

कितने ही विद्वानों को गृहस्थों के लिये रात में वैद्य के द्वारा निर्दिष्ट औषधि और पानी का तथा अन्य विद्वानों को उस औषधि और पानी के साथ ताम्बूल(पान) का भी ग्रहण करना अभीष्ट है। कुछ विद्वान् गृहस्थों के लिये रात में केवल तांबूल का ग्रहण करना ही अभीष्ट बतलाते हैं। विद्वानों को यथायोग्य उस सब का विचार करना चाहिये ॥३॥

दिन में कब भोजन करना चाहिये ?

रात्रिभोजनत्यागी सज्जन को सदा दिवस के आदि और अन्त में दो अथवा तीन घडी मात्र काल को छोडकर भोजन करना चाहिये। (अर्थात् – सूर्योदय होने के अनन्तर दो अथवा तीन घडियोंके बीत जानेपर भोजन करना चाहिये। तथा सूर्यास्त होने के दो या तीन घडी पूर्व भोजन कर लेना चाहिये। तथा रात्रि में भी क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य है इत्यादि) अन्य बातों के सम्बन्ध में आगम को देखना चाहिये ॥ ४ ॥

रात्रिभोजन त्याग के गुण को न जानने वाले भी ऐसा कहते हैं –

पूर्वाह्ण – दिवस के – पूर्व भाग में देव और गन्धर्व भोजन करते हैं, मध्याह्न काल में सब देवता भोजन करते हैं, अपराह्ण – दोपहरके पश्चात् – पितरों का भोजन होता है। और रातमें प्रेतों का भोजन होता है। अर्थात् प्रेत – अधमव्यन्तर – भोजन करते हैं ॥४*१ ॥

---

२) 1 रात्रिभवम्, D रजनीकृतम्। ४) 1 D विचारणीयम्। ४*१) 1 PD ° अनस्तमित – गुणा[illegible] – पूर्वाह्णे ·· ·, D परसमयवाक्यम्।

1125) वार्ताकभक्षणासक्तो[1] जघास[2] किल दर्दुरम्[3] ।
रजन्या भोजने कश्चिदित्येतच्छ्रूयते[4] जनैः ॥ ५

1126) अनस्तमितमाहात्म्यं ख्यातमष्टकथास्विति ।
पूर्वं तत्पालनात् सोऽत्सहदेवो ऽपि पाण्डवः ॥ ६

1127) विविच्येति सचेतोभिराचर्य[1]मिदमाद[2]रात् ॥
. . . . ॥ ७

1128) सूक्ष्मजन्तुनिवहश्च खाद्यते रात्रिभोज्यत इति स्फुटं वचः ।
मानुषस्य च पशोश्च का कथाहर्निशं खलु समस्ततो भिदा[1] ॥ ८

1129) शीलानि संप्रकथितानि सुमानवानां त्रीण्यादिमान्यभिधया[1] तु गुणव्रतानि ।
शिक्षा[2]व्रतान्यथ पराणि विशेषभाजा[3] पाल्यान्यणुव्रतविवृद्धिकराणि नित्यम् ॥

1130) दिक्षु[1] विदिक्षु च गमनं स्वस्थानात्संख्यया ततः परतः ।
विनिवृत्तिर्विज्ञेयं प्रथमं तु गुणव्रतं पूतम् ॥ १०

रात्रि में भोजन करते समय किसी मनुष्यने बैंगन के भक्षण में आसक्त होकर मेंढक को खा लिया था, ऐसा लोगों से सुना जाता है ॥ ५ ॥

रात्रिभोजन व्रत का माहात्म्य आठ कथाओं में प्रसिद्ध है । पूर्व समय में इस रात्रिभोजनत्याग व्रत के धारण करने से कोई ब्राह्मण अगले जन्म में सहदेव पाण्डव हुआ है । इस प्रकार विचार कर के सहृदय विद्वानों को उस रात्रिभोजनव्रत का आदर से पालन करना चाहिये ॥ ६–७ ॥

रात्रिभोजन में सूक्ष्म प्राणियों के समूह का भक्षण होता है, यह वचन स्पष्ट है । दिनरात खानेवाले मनुष्य और पशु के विषय में क्या कहा जाय ? अर्थात् रातदिन खाते रहने से मनुष्य में पशु से कुछ विशेषता नहीं रहती– ऐसे मनुष्य को पशु ही समझना चाहिये ॥ ८ ॥

सत्पुरुषों के लिये सात शील कहे गये हैं । इन में प्रथम तीन को नाम से गुण व्रत और शेष चारको शिक्षाव्रत जानना चाहिये । ये सातों चूंकि पूर्वोक्त पाँच अणुव्रतों को वृद्धिगत करनेवाले है, अतएव उन में विशेषता को प्राप्त श्रावक के लिये इन सात शीलों का निरन्तर पालन करना चाहिये ॥ ९ ॥

पूर्वादिक चार दिशाओं और आग्नेयादिक चार विदिशाओं में गमन के प्रमाण का

५) 1 P° वृन्ताक, वेंगण, D वृन्ताक. 2 भक्षितवान्. 3 मण्डूकम्. 4 D विप्रः । ७) 1 पुरुषैः 2 D° राचार्य° । ८) 1 भेदेन । ९) 1 P° न्यभिधया, नाम्ना. 2 °शिष्याव्रतानि. 3 पुरुषेण । १०) 1 दिशासु ।

1131) प्रसिद्धम्-
प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतो ऽप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्यो[2] दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥ १०*१

1132) इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकलासंयमविरहा[1]द्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥ १०*२

1133) देवसंघगुरुकार्यतो गमे[1] दुष्यते न परतो ऽप्यगारिणाम् ।
लाभतस्तु महतो ऽपि यद्व्रतं खण्ड्यते सति गमे परत्र तत् ॥ ११

1134) दिग्विराममनाचरतां जने आपदः समभवन्ति[1] दुरुत्तराः ।
तं पुनः परिपालयतां श्रियः स्युर्न्यवेदितरामिदमागमे ॥ १२

नियम कर के अपने स्थान से उस नियमित प्रमाण तक ही दिशाओं और विदिशाओं में जानी तथा उसके आगे नहीं जाना, इसे पवित्र प्रथम–दिग्व्रत नामका –गुणव्रत जानना चाहिये ॥१०॥

अतिशय प्रसिद्ध अभिज्ञानों से – नदी-पर्वतादि रूप प्रसिद्ध चिन्हों से – सब ओर मर्यादा कर के पूर्वादिक दिशाओं से विरति करनी चाहिये । अर्थात् – पूर्वादिक दिशाओं में उस की हुई मर्यादा से बाहिर नहीं जाना इसका नाम दिग्व्रत है । व्रती श्रावक को उसका पालन करना चाहिये ॥ १०*१ ॥

इस प्रकार से जो श्रावक उस मर्यादीकृत दिशाभाग के भीतर ही प्रवृत्ति करता है– उसके बाहिर किसी प्रकार के व्यवहार को नहीं करता है– उसके की हुई मर्यादा के बाहिर सब प्रकार के असंयम का हिंसा का – अभाव हो जाने से अहिंसा व्रत पूर्ण (अहिंसा महाव्रत) होता है ॥ १०*२ ॥

यदि गृह में अवस्थित श्रावक देव, संघ और गुरु के कार्य से उस की हुई मर्यादा के बाहिर जाते हैं तो इससे उन का दिग्व्रत दूषित नहीं होता है । हाँ, यदि वे किसी अपने महान् लाभ की अपेक्षा से मर्यादा के बाहिर जाते हैं, तो उनका वह व्रत अवश्य खण्डित होता है ॥ ११ ॥

जो श्रावक दिग्विरति नामक इस व्रत का पालन नही करता है,उसे भयानक आपत्तियों का सामना करना पडता है और इसके विपरीत जो इसका पालन करते हैं उन्हें बहुतसा संपदायें प्राप्त होती हैं, ऐसा आगम में प्रचुरता से कहा गया है ॥ १२ ॥

१०*१) 1 D स्थानैः. 2 D पूर्वदिग्भ्यः सकाशात् । १०*२) 1 हिंसा अभावात्, D विनाशात् । ११) 1 गमने, D देवादिकार्ये सीमोल्लङ्घनं क्रियमाणे सति दूषणं नास्ति । १२) 1 P°स्म भवन्ति. 2 D भवेयुः. 3 D कथितं ।

1135) वाणिज्यार्थं[3] प्रयातानां द्वीपे ऽविरमतां दिशः ।
नाशो ऽभूज्जीवितव्यादेः सुखं विरमतां महत् ॥ १३

1136) ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्च व्यतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिराधानम्[1] ।
स्मृत्यन्तरस्य[2] गदिताः पञ्चैते[3] प्रथमशीलस्य[4] ॥१३*१

1137) देशाद्विरामो ऽत्र समानमुक्तं हिंसादिभिः किंत्वधिकाभिकामम् ।
अहो इयत्ता[1]त्कलिताद्विशेषो नित्यं निवृत्तिः[2] कथितं द्वितीयम् ॥ १४

जो व्यापारी दिशाओं से विरक्त न होकर–दिग्व्रतसे रहित होते हुए–व्यापार के लिये द्वीपान्तर में गये थे उनके जीवित आदि (धनादि) का विनाश हुआ है। और इसके विपरीत जो लोग दिग्व्रत के धारक होकर अन्य द्वीप में नहीं गये थे उन्हें महान् सुख प्राप्त हुआ है ॥१३॥

प्रथम शील दिग्व्रत के पाँच अतिचार –

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान, ये पाँच इस प्रथम शील के अतिचार कहे गये हैं । ऊर्ध्व व्यतिक्रम – अज्ञान अथवा प्रमाद से पर्वत शिखर आदि उपरिम मर्यादा का उल्लंघन करना । अधोव्यतिक्रम – अज्ञान या प्रमाद से भूमिगृह व कुआँ आदि में नोचे मर्यादा से अधिक जाना । तिर्यग्व्यतिक्रम – तिरछे नगर आदि में मर्यादा से अधिक गमन करना, क्षेत्रवृद्धि – पूर्वादि दिशाओं की जो मर्यादा की थी उस में वृद्धि करना । जैसे –पूर्व दिशा को यदि जाना है तो पश्चिम दिशा की मर्यादा को कम कर उसे पूर्वादि दिशा में प्रक्षिप्त करना । स्मृत्यन्तराधान – किसीने पूर्व दिशाका परिमाण सो योजनोंका किया था, परन्तु गमनकाल में उसे स्मरण नहीं रहा कि मैंने सौ योजनोंका परिमाण किया है अथवा पचास योजनोंका । ऐसी अवस्था में यदि वह पचास योजन से आगे जाता है तो उसका वह व्रत दूषित होता है ॥ १३*१ ॥

देश से विरत होना यह दिग्व्रत और देशव्रत दोनो में ही समान कहा गया है । इसी प्रकार उस से होनेवाली हिंसादि की निवृत्ति भी दोनों में समान कही गई है । विशेषता यह

१३*१) 1 D धरणम्. 2 D संख्याविस्मरणम्. 3 पञ्च एते अतीचाराः. 4 दिग्विरतिगुणस्य ।
१४) 1 D मर्यादा. 2 D विरमणं ।

1138) तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्[1] ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥ १४*१

1139) इति विरतो बहुदेशात्तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥ १४*२

1140) प्रत्यक्षदर्शिताल्लोभाल्लाभाद्वापि[1] निवर्तते ।
परतो ऽशेन तेन स्यात्परिपूर्णं महाव्रतम् ॥ १५

1141) प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ ।
क्षेपो ऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य[1] पञ्चेति[2] ॥ १५*१

है कि दिग्व्रत में जो देश की मर्यादा की जाती है वह अधिक प्रमाण में व जन्मपर्यन्त की जाती है किन्तु देशव्रत में जो मर्यादा की जाती है वह उस दिग्व्रत की मर्यादा को और भी संकुचित कर के सदा कुछ नियत काल – घडी, घंटा एवं दिन –दो दिन आदि – के लिये ही की जाती है । इसीका नाम द्वितीय गुणव्रत है ॥ १४ ॥

उसमें – दिग्व्रत में की गई उस मर्यादा में – भी किसी गाँव, दूकान, महल और मुहल्ला आदि के प्रमाण को कर के श्रावक के लिये नियत काल तक उस मर्यादित क्षेत्र के बाहिर जानेका नियम करना चाहिये – उसके आगे नहीं जाना चाहिये । इस प्रकार से वह देशव्रत नाम के उसी द्वितीय गुणव्रत का भी पालन करता है ॥ १४*१ ॥

इस प्रकार बहुत – से क्षेत्र से विरत हुआ – मर्यादित क्षेत्र के बाहिर बहुत से क्षेत्र में न जानेवाला – निर्मल बुद्धि श्रावक उक्त क्षेत्र के बाहिर जाने से जो हिंसा की अधिकता उत्पन्न होनेवाली थी उसका परिहार हो जाने के कारण उस समय विशेषरूप से अहिंसा का आश्रय लेता है । (मर्यादा के बाहिर अहिंसा महाव्रती हो जाता है) ॥ १४*२ ॥

वह देशव्रती श्रावक मर्यादित क्षेत्र के बाहिर चूंकि प्रत्यक्ष दिखाये गये लोभ और लाभ से निवृत्त होता है, इसीलिये उतने अंशमें उस का अहिंसा महाव्रत परिपूर्ण होता है ॥ १५ ॥

प्रेष्य सम्प्रयोजन, आनयन, शब्दविनिपात, रूपविनिपात और पुद्गलक्षेप ऐसे दूसरे शील के पाँच अतिचार हैं ॥

१) प्रेष्यका प्रयोग – स्वयं अपने मर्यादित देश में रहकर कार्यवश उस के बाहर सेवक को अभीष्ट कार्य करने के लिये प्रेरित करना, २) आनयन– मर्यादा के बाहर न जाकर वहाँ से अभीष्ट पदार्थ मँगवाना, ३) शब्दविनिपात – स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर उस के

१४*१) 1 D बहुदेशाः । १५) 1 D° लाभादपि नि° । १५*१) 1 द्वितीयगुणव्रतस्य. 2 D पञ्चातीचाराः ।

1142) क्रोशादूर्ध्वं गमनविरतिं श्राविका काप्यक षात्
सार्थस्यासीदुदयति रवौ दैवतस्तु प्रयाणम् ।
तस्या[1]प्यग्रे गहनविपिने दुःफलास्वादनेन
पञ्चत्वं तत्सं[2]पदि समभूज्जीविता तत्र सैका[3] ॥ १६

1143) देशव्रतं समावाप्य मृतं सार्थमजीवयत् ।
देवी तन्निश्चयात्तुष्टा वने तां[1] पर्यपूपुजत्[2] ॥ १७ । युग्मम्

1144) अवयातां[1]मितो ऽप्यत[2]त्स [illegible] त्रस्तं[3]मानसैः ।
विभीतैरिव दारिद्र्याद्दुःप्रापः कल्पपादपः ॥ १८

बाहर कार्य करने वालों को शब्द से कार्य में तत्पर करना, ४) रूपविनिपात — स्वयं मर्यादित क्षेत्र के भीतर रहकर बाहर कार्य करने वाले व्यक्ति को अपना रूप दिखाकर उसे कार्य में प्रवृत्त करना, और पुद्गलक्षेप — मर्यादित क्षेत्र में ठहर कर बाहर कार्य करने वालों के ध्यान को खींचने के लिये उन की ओर कंकर पत्थर फेंकना ये; पांच उस द्वितीय शील देशव्रत के अतिचार हैं ॥ १५*१ ॥

किसी श्राविकाने एक कोस के ऊपर गमन न करने का नियम किया था । दैवयोग से प्रातःकाल में सूर्य के उदित होते ही सार्थ ने — व्यापारियों के समूहने — प्रस्थान कर दिया । आगे एक गहन वन था । वहाँ पहुँच कर उस सार्थ ने विषफलों का भक्षण किया । इस से वह सब सार्थ मरण को प्राप्त हो गया, परन्तु वह श्राविका अकेली जीवन्त रही ॥ १६ ॥

उक्त श्राविका ने देशव्रत को धारण कर के मरण को प्राप्त हुए उस समस्त सार्थ क किसी देवी की सहायता से जीवित कर दिया। इस देवी ने उसकी व्रतविषयक दृढता से संतुष्ट हो कर वन में उसकी पूजा की ॥ १७ ॥

जिस प्रकार दरिद्रतासे भयभीत हुए प्राणियों के लिये कल्पवृक्ष दुर्लभ हुआ करता है। उसी प्रकार पाप से पीडित मनवाले प्राणियों के लिये यह देशव्रत भी दुर्लभ होता है— उसे विरले पुण्यशाली पुरुष ही धारण कर सकते हैं ॥ १८ ॥

१६) 1 P D सार्थस्य. 2 P°तान् सपदि. 3 श्राविका । १७) 1 श्राविकाम्. 2 D पूजयामास । १८) 1 D रक्षताम्. 2 D व्रतम्. 3 D कम्पित ।

1145) देहो देहभृतां भ्रमन्मतिभृतं[1] बाधाविधायी यतो
गाढप्रौढदृढप्रभूतविततज्वालो दवाग्निर्यथा ।
कृत्वा क्षेत्रनियन्त्रणां[2] करुणया यात्रां परत्र त्यजं-
स्तज्जानाम[3]मभयं भयंकरभवभ्रंशाय दद्याद्गृही ॥ १९

1146) अनर्थदण्डो विविधः प्रणीतः समासतः पञ्चविधः[1] स चात्र ।
अनर्थभीतैरिव दुष्टमैत्रीवधादिचिन्ताप्रमुखो विवर्ज्यः ॥ २०

1147) जीयाद्[1] [illegible][2] न नायको ऽयं
मुञ्चन्तु वा जलमुचो[3] विपुलं जलौघम् ।
ईतिक्षयो ऽस्तु भवताद् [illegible]थ-
मित्यादि चिन्तयति नानुचितं सुचित्तः ॥ २१

जिस प्रकार सघन, समर्थ, दृढ, विपुल, व विस्तृत ज्वालाओं से युक्त दावानल जीवों को बाधा पहुँचाता है उसी प्रकार स्वच्छन्दता से भ्रमण करने वाला यह देह प्राणियों को अतिशय बाधा पहुँचाया करता है। इसलिये क्षेत्रनियंत्रण को कर के – देश व्रत का परिपालन करते हुए – दयालु गृहस्थ को सीमित क्षेत्र के बाहिर गमन का परित्याग करके भयंकर संसार के नाश के लिये वहाँ पर उत्पन्न हुए प्राणियों को अभय देना चाहिये ॥ १९ ॥

अनर्थदण्ड अनेक प्रकार का है। यहाँ संक्षेपसे वह पाँच प्रकार का कहा गया है। अनर्थों से – निरर्थक प्राणिवध से – भयभीत हुए भययुक्त श्रावकों को दुष्ट मैत्री–दुर्जनसंगति – एवं दूसरों के वधादि की चिन्ता आदि का त्याग करना चाहिये ॥ २० ॥

निर्मल बुद्धि, अनर्थ दण्डव्रती श्रावक, यह मनुष्योंका स्वामी याने राजा शत्रु समूहको जीते, मेघ प्रचुर पानी को बरसावें, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि सात प्रकार की ईति का नाश होवे, तथा यहाँ सब देशों को स्वस्थता – आरोग्य – प्राप्त होवे, इत्यादि प्रकार का विचार कर सकता है। परन्तु उसे अनुचित – दूसरों को कष्ट पहुँचानेवाला – विचार कभी नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

१९) 1 D सन्. 2 D° क्षेषु नियन्त्रणां°, मर्यादा. 3 तत्र जातानाम्, D जीवानाम्. P°नामलय भयं°, अनाशम् । २०) 1 D अपध्यानपापोपदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानअशुभश्रुतिभेदात् । २१) 1 जयतु. 2 समूहम्, D अरातिसमूहम्. 3 मेघाः ।

1148) पञ्चेन्द्रियादिबहुज[illegible] विघातहेतु–
मारक्षिकादि[illegible][1] विपाकरौद्रम् ।
कुर्वीत नैव विषयामिषलाभलोभात्
कस्तुच्छमिच्छति सुखं गुरुदीर्घदुःखम् ॥ २२

1149) विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव कर्तव्यम् ॥ २२*१

1150) दमयत वृषवृन्दं वाजिवृन्दारकाणां[1]
कुरुत वृषणलोपं[2] वल्लरे[3] दत्त[4] वह्निम् ।
कृषत भुवमशेषां[5] नो वदेदेवमाद्यं
दिशति कुशलकामः[6] को हि प[illegible]पदेशम् ॥ २३

1151) शिखण्डिकुक्कुटश्येनबिडाल[1]सदृशात्मनाम् ।
स्वीकारस्तादृशामर्थं न पुष्णाति वरं क्वचित् ॥ २४

जो कोतवाल आदि का निष्ठुर कार्य परिपाक काल में भयानक हो कर पंचेन्द्रिय आदि बहुत से प्राणियों के घात का कारण होता है उसे विषयभोगरूप माँस के लाभ के लोभ से कभीभी नहीं करना चाहिये। कारण कि ऐसा कौनसा बुद्धिमान् होगा जो दीर्घकाल तक महान् दुःख के देनेवाले तुच्छ सुख की इच्छा किया करता हो ? (अर्थात् थोडे से सुख के लिये महान् दुख को कोई भी विवेकी जीव नहीं भोगना चाहेगा) ॥२२॥

विद्या – मंत्र – तंत्र आदि, व्यापार, लेखन–मुनीमी आदि, खेती, सेवा और शिल्प– बढई आदि की क्रिया–से आजीविका करने वाले पुरुषों के लिये पापमय उपदेश का दान कभी भी नहीं करना चाहिये ॥ २२*१ ॥

हे मनुष्यो ! तुम बैलों का दमन करो, उत्तम घोडों के अण्डकोशोंका लोप करो– उन्हें निरर्थक कर दो, वन में अग्नि दे दो – उसे जला दो, तथा समस्त भूमि को जोत डालो, इत्यादि प्रकार के वचन श्रावक को नहीं बोलने चाहिये। ठीक है, अपने हित की इच्छा करने वाला कौन-सा मनुष्य है, जो इस प्रकार के पापोपदेश को करेगा ? ॥ २३ ॥

मोर, मुर्गा, बाजपक्षी और बिल्ली, आदि जैसे प्राणियों को स्वीकार करने से उत्तम अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। (अर्थात् उन के रक्षण से पाप ही अधिक होता है) ॥ २४॥

२२) 1 कोट्टपालादिपद। २३) 1 अश्वप्रधानानाम्. 2 पेलच्छेदम्, D [illegible]. 3 D वल्लीवने. 4 यूयं दत्त. 5 P° मशेषं. 6 PD कुशलकामं। २४) 1 PD° विराल।

1152) भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निःकारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥ २४*१

1153) बाणतोमरशरासनकुन्तशक्तीगन्त्रीहलानलकृपाणकृपाणिकाद्यम् ।
दद्यादवद्यमनवद्यमना न किंचित् कः पातकं नरकपातकरं करोति ॥ २५

1154) रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचिदपि कुर्याच्छ्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥ २५*१

1155) कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् ।
असमीक्ष्याधिककरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥ २५*२

प्रमादचर्या का लक्षण

अनर्थ दण्डव्रती श्रावक को व्यर्थ में भूमि के खोदने, वृक्षों के तोडने, घास के विदीर्ण करने और पानी के सींचने आदि जैसे कार्यों को नहीं करना चाहिये । साथ ही उसे निष्प्रयोजन पत्तों, फलों और फूलों के संचय को भी नहीं करना चाहिये ॥ २४*१ ॥

श्रावक हिंसोपकरण का त्याग करे–

निष्पाप अन्तःकरणवाले श्रावक को बाण, तोमर (एक विशेष प्रकार का बाण) धनुष, भाला, कुन्ती, गाडी, हल, अग्नि, तलवार और छुरी आदि पापोत्पादक उपकरणों को नहीं देना चाहिये । ठीक है, थोडेसे भी नरक में पडने योग्य पाप को भला कौन करेगा? ॥२५॥

जो दुष्ट कथायें प्रायः अज्ञानता से परिपूर्ण हो कर राग आदि दुर्भावों को बढानेवाली हो, अनर्थदण्ड व्रती श्रावक को न उन्हें कभी सुनना चाहिये, न संचित करना चाहिये (अथवा न लिखना चाहिये) और न उनकी दूसरों के लिये शिक्षा आदि भी देना चाहिये ॥ २५*१ ॥

अनर्थ दण्डव्रत के पांच अतिचार

कंदर्प, कौत्कुच्य, भोगानर्थक्य, मौखर्य और असमीक्ष्याधिकरण ये पाँच अनर्थदण्डव्रत नामक तीसरे शीलके अतिचार हैं ।

१) कंदर्प – हासमिश्रित भण्डवचन बोलना । २) कौत्कुच्य – शरीर की कुत्सित चेष्टा करना । शरीर के अभिनयपूर्वक कामोत्पादक भाषण करना । ३) मौखर्य – धृष्टतापूर्वक अधिक बकवाद करना । ४) भोगानर्थक्य – जितने भोगोपभोग पदार्थों से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है उससे अधिक भोगोपभोग पदार्थोंका संग्रह करना । ५) असमीक्ष्याधिकरण – प्रयोजन का विचार न करकें अधिकता से कार्य का करना ॥२५*२॥

२४*१) 1 PD भूमि. 2 P°दलकुसुमो° । २५) 1 PD सकटी गाडी । २५*१) 1 D दुर्बोध ।
२५*२) 1 D °च्याधिकरणम् ।

1156) एनः[1] प्रयोजनवशान्नियतं तनोति
कालादयो ऽस्य नियमस्य विधायकाः स्युः[2] ।
यन्निःप्रयोजनमिदं सततं प्रभूतं
तत्को ऽफलं च विपुलं च बुधो विदध्यात् ।। २६

1157) नानर्थबहुलार्थे[1] ऽपि प्रवर्तन्ते विपश्चितः[2] ।
किं पुनः केवले ऽनर्थे निश्चिते ऽपि हितैषिणः ।। २७

1158) अनर्थदण्डादपराङ्मुखायाः कृषीवलायाः सुतमाद[1] सर्पः ।
व्याघ्रो भिषक्पुत्रम्[2]भक्षयच्च[3] परोपकर्तारमरं क्षुधार्तः ।। २८

1159) लोहास्त्रसंग्रहनिवृत्तिपरस्तु मन्त्री पूजामवाप स तदैव नृपादिलोकात् ।
सोमापि तद्वपुररोहतदार्यधर्मान्[1] [?]मालाभवत्सकुसुमाप्यदशत्[2]सपत्नीम् ।।

गृहस्थ प्रयोजन के वश नियमित पाप को किया करता है। तथा इस नियम के करने वाले काल आदि हैं। परन्तु प्रयोजन के विना जो यह निरन्तर प्रचुर पाप होनेवाला है, उसको निष्फल व अधिक मात्रा में कौनसा बुद्धिमान् करने को उद्यत होगा ? (कोई भी विचारशील व्यक्ति निरर्थक पापकार्य को नहीं करना चाहेगा । अभिप्राय यह है कि प्रयोजन के वश जो सावद्य कार्य किया जाता है, वह काल और देश आदि के नियमानुसार ही किया जाता है, इसलिये उस में सीमित पाप का उपार्जन होता है । परन्तु जो सावद्य कार्य निरर्थक किया जाता है उस में देशकालादि का कुछ भी बन्धन नहीं रहता है – वह स्वेच्छासे चिरकाल तक व जहाँ कहीं भी किया जा सकता है, अतः उसकी पाप को कोई सीमा नहीं रहती है । इसीलिये गृहस्थ को उस निरर्थक सावद्य कार्य का परित्याग अवश्य ही करना चाहिये) ।। २६ ।।

जिस कार्य में अनर्थ की संभावना अधिक होती है उस में विद्वान् मनुष्य प्रवृत्त नहीं होते हैं। फिर जिस में केवल निश्चित ही अनर्थ हो ऐसे सावद्य कार्य में क्या कभी हितेच्छु विद्वान् प्रवृत्ति करेंगे ? ।। २७ ।।

अनर्थ दण्ड से अपराङ्मुख – उसमें प्रवृत्त हुई – एक की स्त्री के पुत्र को सर्पने काट लिया था तथा अतिशय परोपकार करने वाले वैद्य के पुत्र को भूख से पीडित बाघने खा डाला था ।। २८ ।।

लोहमय शस्त्रों के संग्रह के परित्याग में निरत मंत्री उसी समय राजा आदि को से पूजा को प्राप्त हुआ । तथा सोमा नामक सती स्त्रीने अपने गले में सर्प धारण किया परन्तु उसका पुष्पहार हुआ और उसकी सौतने गले में पुष्पहार धारण किया परन्तु उसका सर्प हुआ और उसने उसको दंश किया ।। २९ ।।

---

२६) 1 P° एतः, D एतानि वस्तूनि निष्प्रयोजनवशात्. 2 D भवेयुः । २७) 1 P° बहुलेऽर्थे. 2 पण्डिताः । २८) 1 भक्षितवान्. 2 वैद्यपुत्रम्. 3 भक्षितवान् । २९) 1 P° तद्वदहितव्रतदीय°, 2 भक्षति स्म ।

1160) एतस्मात्कोटिशो दोषानवसाय[1] गुणानपि ।
प्रवृत्तानां निवृत्तानां निवृत्तिः श्रेयसी ततः ॥ ३०

1161) अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यतः ।
सुहृत्तां[1] सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते[2] ॥ ३१

1162) स्थावरत्रसविघातिकर्मणो वर्जनं हि परतो यतो सदा ।
अस्ति पूर्ववदतो महाव्रतं भावतो भगवतो ऽप्युदीरितम् ॥ ३२

1163) अनुकूलयन्ति मुक्तिं दयां च विस्फारयन्त्यमलयन्ति ।
यस्मान्निजस्वरूपं गुणव्रतत्वं ततो ऽमीषाम् ॥ ३३

1164) गुणव्रतोपास्तिरतः[1] कृतं स्यात् समग्रदुर्वारकषायमान्द्यम् ।
देवैरिवानुत्तरजैः सभास्थैस्तीर्थेशिनामेषि[2] च भोगभूमैः[3] ॥ ३४

अनर्थदण्ड में प्रवृत्त हुए प्राणियों के करोडों दोषों का और इस से निवृत्त हुए प्राणियों के करोडों गुणों का निश्चय कर के उस अनर्थदण्ड से निवृत्त होना श्रेयस्कर है ॥ ३० ॥

अर्थदण्डव्रती सर्व प्राणियोंका स्वामी है–

हिंसादिक पाँच पापों का स्थूल रूप से परित्याग कर के अहिंसादि पाँच अणुव्रतों के पालन में तत्पर रहने वाला देशयति श्रावक उस अनर्थदण्ड का त्याग करने से सर्व प्राणियों के साथ मित्रता तथा स्वामिपने को प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

अनर्थदण्डविरत को महाव्रतीपना–

अनर्थदण्डव्रती श्रावक चूंकि सीमा के परे–स्थावर और त्रस जीवों का घात करने वाले कार्य से सदा विरत रहता है। अतः उसके पूर्व के समान भाव से महाव्रत होता है, ऐसा जिनेश्वर ने कहा है ॥ ३२ ॥

उपर्युक्त दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्ड व्रत चूँकि मुक्ति को अनुकूल करते हैं – उसे उत्कंठित कराते हैं, दया को वृद्धिगत करते हैं, तथा आत्मस्वरूप को निर्मल करते हैं, इसीलिये इन के गुणव्रतपना है – उनका गुणव्रत यह सार्थक नाम है ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में रहने वाले देव, तीर्थंकरों की सभा में – समवसरण में – स्थित भव्य जीव प्राण·

---

३०) 1 ज्ञात्वा । ३१) 1 मैत्रीम्. 2 प्राप्यते । ३४) 1 यथा अहमिन्द्रदेवः सर्वज्ञसमास्थितपुरुषैः भोगभूमिजैर्नरैर्दुर्वारकषायचक्रं मान्द्यं कृतं स्यात् तथा गुणव्रतधारकैः पुरुषैः कषायचक्रं मान्द्यं कृतं स्यात् इत्यर्थः॥ 2 D° मेपि. 3 जैः।

1165) यो ऽणुव्रतानि परिपाति[1] हि केवलानि देही लघु[2]र्भवति[3] मूलगुणैश्च मध्यः
सर्वातिचाररहितैः सगुणव्रतैर्वा ज्येष्ठ[4]स्तु दर्शनविशुद्धिपरायणो यः ॥ ३५

1166) अत्यारम्भवतां भवेत्सुखभुजां क्लीबं मनो बिभ्रतां
दुष्प्रापा व्रतमालिका गुणयुता विन्यासि वक्षःस्थले ।
मुक्तालीव नरेण येन नियता स्वःसंपदां पद्धति-
स्तस्यैव प्रतिमा प्रशस्यत इयं मुख्या द्वितीयागमे ॥ ३६

इति श्री-सूरि-श्री-जयसेनविरचिते धर्मरत्नाकरनामशास्त्रे
सभेदद्वितीयप्रतिमाप्रपञ्चनं चतुर्दशो ऽवसरः ॥१४

कषायों की मन्दता को किया करते हैं उसी प्रकार गुणव्रतों की उपासना करने वाले श्रावक भी संपूर्ण दुर्वार कषायों की मन्दता को करते हैं । (अभिप्राय यह है कि गुणव्रतों के परिपालन से प्राणी की कषायें मन्दता को प्राप्त कर लेती हैं) ॥ ३४ ॥

जो प्राणी केवल अणुव्रतों का ही परिपालन करता है वह हीन, जो मूल गुणों के साथ उन अणुव्रतों का पालन करता है वह मध्यम तथा जो सम्यग्दर्शन के निर्मल करने में तत्पर होता हुआ समस्त अतिचारों से रहित हो कर उपर्युक्त गुणव्रतों के साथ उनका पालन किया करता है वह ज्येष्ठ – उत्तम – होता है ॥ ३५ ॥

जो मनुष्य अत्यधिक आरम्भ में तत्पर, सुख के भोगने में आसक्त और दुर्बल मन धारक होते हैं उनके लिये गुणयुक्त – गुणव्रतोंरूप धागे से संयुक्त – यह व्रतमालिका–अणुव्रत रूप पुष्पों की माला – दुर्लभ होती है जिस भव्य मनुष्य ने मोतियों की पंक्ति के समान उपर्युक्त व्रतों की माला को अपने वक्षःस्थल में धारण किया है उसके लिये स्वर्गीय सम्पत्तियों का मार्ग निश्चित है – उसे निश्चयसे स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है । तथा आगम में उसी की इस श्रेष्ठ द्वितीय प्रतिमा की प्रशंसा भी की गई है ॥३६ ॥

इस प्रकार धर्मरत्नाकर नामक शास्त्र में भेदोंसहित द्वितीय प्रतिमा का विस्तार
करनेवाला चौदहवाँ अवसर समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

---

३५) 1 रक्षति. 2 जघन्यः श्रावकः. 3 उत्तम. 4 P° इति धर्मरत्नाकरे सभेद° ।

[१५. पञ्चदशोऽवसरः]

[सामायिकप्रतिमाप्रपञ्चनम्]

1167) सामायिकान्तर्गतभावभेदामुपार्चनां[1] वच्मि यथाविधानम् ।
विभोगिनां[2] भोगिविभूतिधात्रीं[4] क्वचिन्निजानन्दरसैकपात्रीम् ॥ १

1168) सर्वदेशसमयेष्वदृश्यतादौस्थ्यतः किल वृथार्चनार्हतः ।
व्योमपु[illegible]भागिनो[1] इत्थमभ्यधुरहो कुवादिनः ॥ २

1169) अभावमात्मनोऽप्येवं वदतां हि विदांवरः ।
अभ्युपेक्ष्य पुरापार्यस्वदार्ढ्यायोत्तरं ददौ ॥ ३

अब मैं सामायिक शिक्षाव्रत के अन्तर्गत भावों के भेदभूत जिनपूजा का वर्णन आगमोक्त विधि के अनुसार करता हूँ । वह जिनपूजा भोगों से रहित लोगों के लिये, विलासी जन के वैभव देने वाली तथा क्वचित् वह आत्मिक आनन्दरूप रसका एक पात्र भी है ॥ १ ॥

अरिहन्त चूंकि सकलचारित्र – मुनिधर्म–और देशचारित्र–गृहिधर्म–दोनों में नहीं देखे जाते हैं, अतएव निश्चित ही उनकी दुर्गति है । और जब इस प्रकार से उनका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है तब आकाशकुसुम की समानता को धारण करने वाले उनकी पूजा व्यर्थ ही है, ऐसा कितने ही कुवादीजन कहा करते हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार से आत्मा के अभाव को भी कहने वाले कुवादियों को उस आत्मा के अभावकी उपेक्षा कर के विद्वानों में श्रेष्ठ आचार्य ने स्वदार्ढ्याय – अपने पक्ष की पुष्टि के लिये पूर्व में उत्तर दिया है ॥ ३ ॥

---

१) 1 पूजाम्. 2 भोगरहितानाम्. 3 P° भोग. 4 पूजाम् । २) 1 गगनारविन्दतुल्यस्यार्हत 2 उक्तवन्तः । ३) 1 P° अभ्युपेक्षयंपुष्याय ।

1170) व्याख्यानपाठ[illegible]चनानुपूर्व्या वा[illegible]ध्यना[illegible]ता ।
इयन्तमागमस्याशु यस्मादाप्तः[2] स सिध्यति ॥ ४

1171) किं वृथा लपितैर्विश्वं न कदाचिदनीदृशम् ।
यस्मादेभिरबोधीदं[1] स एवार्हन् व्यवस्थितः ॥ ५

1172) अदृष्टावपि भूतानां[1] यथास्तित्वमनाहत[illegible][2] ।
तथाप्तस्य न्यवेदीदं[3][4] पूर्वमेव सावस्त[illegible]म् ॥ ६

1173) यथा[illegible]देषु देवतानामदृश्यरूपा[illegible]पातत्वमाजाम् ।
फलान्यभिध्यानबलात्समीपुस्तथार्हतो ऽपीति किमत्र चित्रम् ॥ ७

1174) अदृष्टे ऽपि सूरावभिध्यानयोगात्तदाकारसंमार्चनं संवितन्वन् ।
धनुर्वेदविद्यामवापद्दुरापां किरातो जगत्यामितीदं प्रसिद्धम् ॥ ८

आगम के अभिप्राय के स्पष्टीकरण को व्याख्यान कहते हैं । पाठरचना – आगम के सूत्रादिको निर्मिति को पाठरचना कहते है । आनुपूर्वी – पूर्व विषय के अनुसार विवेचन को आनुपूर्वी कहते हैं । आगमको ये सब बातें अबाधित हैं इसलिये इन से आप्त की– सर्वज्ञ जिन-देवकी – सिद्धि होती है (?) ॥ ४ ॥

व्यर्थ बकवाद करने से क्या लाभ है ? विश्व कभी भी अन्य प्रकार का नहीं है– किन्तु इसी प्रकार का ही है – यह उक्त कुवादियों को जिस के आश्रय से ज्ञात हुआ है वही अरिहन्त व्यवस्थित है – यही अरिहन्त सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

जिस प्रकार प्राणी (आत्मा) यद्यपि आँखों से नहीं देखे जाते हैं, तथापि उनका अस्तित्व निर्बाध सिद्ध है उसी प्रकार आप्तका– सर्वज्ञ का – भी अस्तित्व निर्बाध सिद्ध है, इस विषय में हम पहले ही विस्तारपूर्वक कह चुके हैं ॥ ६ ॥

जिस प्रकार देवताओं के अतिशय अदृश्य स्वरूप से संयुक्त होने पर भी अभि–चारादि कर्मों में – हिंसाजनक जारण मारणादि क्रियाओं में – उन के चिन्तन के बल से फलों की इच्छा की जाती है उसी प्रकार अरिहन्त के अदृश्य होनें पर भी उसके [illegible] से फल की प्राप्ति होती है, इस में आश्चर्य भी क्या है ? ॥ ७ ॥

साक्षात् सूरि – द्रोणाचार्य – के दृष्टिगोचर न होने पर भी संकल्प के वश उनकी आकृति (मूर्ति) की पूजा करने वाले भील – एकलव्य – ने दुर्लभ धनुर्वेद विद्या को प्राप्त किया, यह लोक में प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥

---

४) 1 P°रचनापूर्व्याबासा°. 2 P° स्यागुर्यस्मात्° । ५) 1 ज्ञातम् । ६) 1 [illegible]नामदर्शनेऽपि. 2 [illegible]. 3 प्रोक्तम्. 4 अस्तित्वम् । ८) 1 आचार्ये. 2 आराधनात्. 3 तस्य आचार्यस्य ।

1175) आप्तस्यासंनिधाने ऽपि[1] पुण्यायाकृतिर्[2]जैनम् ।
ताक्ष्यमुद्रा[3] न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम्[4] ॥ ८*१

1176) अन्तरङ्गबहिरङ्गविशुद्धिं देवतार्चनविधौ विदधीत[1] ।
आर्तरौद्रविरहात्[2]प्रथमा[3] स्यात्स्नानतः किल यथाविधितो ऽन्या[4] ॥ ९

1177) रागादिदूषिते चित्ते नास्पदी परमेश्वरः ।
न बध्नाति धृतिं हंसः कदाचित्कर्दमाम्भसि ॥ १०

1178) संभोगाय बहिःशुद्ध्यै स्नानं धर्माय च स्मृतम् ।
धर्माय तद्भवेत्स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधिः ॥ ११

1179) नित्यं तद्[1] ब्रह्मजिह्मस्य[2] देवार्चनपरिग्रहे ।
यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥ ११*१

जिनदेव के समीप में न होनेपर भी उनकी आकृति (प्रतिमा) का पूजन भी पुण्य का कारण है। सो ठीक भी है। क्योंकि, गरुड की अँगूठी क्या विष के सामर्थ्य को नष्ट नहीं करती है? ॥ ८*१ ॥

जिनदेव के पूजन विधान में पूजक को अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की विशुद्धि को करना चाहिये। उनमें आर्त और रौद्रध्यान के अभाव में पहली (अन्तरंग शुद्धि) तथा विधिपूर्वक स्नान करने से दूसरी (बाह्यविशुद्धि) होती है ॥९ ॥

रागादिक विकारों से मलिन मन में जिनेश्वर निवास नहीं करते हैं। ठीक है – हंस पक्षी कीचड युक्त जल में कभी भी अवस्थान नहीं करता है ॥ १० ॥

स्नान, संभोग बाह्यशुद्धि और धर्म के लिये माना गया है। इन में धर्म के लिये वह स्नान होता है जिस में कि परलोक के योग्य अनुष्ठान हुआ करता है ॥ ११ ॥

जो गृहस्थ ब्रह्मजिम्ह है अर्थात् स्त्रीसंभोग किया करता है उसे देवपूजा करने के लिये नित्य स्नान करना चाहिये। परन्तु यति के लिये दुर्जन – चाण्डालादि— का स्पर्श होनेपर ही स्नान करना चाहिये। अन्य किसी भी कारण से मुनि के लिये स्नान करना निन्द्य माना गया है ॥ ११*१ ॥

८*१) 1 अविद्यमानेऽपि. 2 प्रतिबिम्बस्य. 3 गरुडमुद्रा. 4 स्फेटनम् । ९) 1 कुरुत. 2 विनाशात्. 3 अन्तरङ्ग[illegible]. 4 बाह्यशुद्धिः । ११*१) 1 तत् स्नानम्. 2 अब्रह्मणः ।

1180) घर्मवायुकलिते वहत्यथागाधवारिभरिते जलाशये ।
संावगाह्य तदिहाचरेद्दतो वस्त्रपूतमपरं[1] समाचरेत् ॥ १२

1181) पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंश्रयम् ।
स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥ १२*१

1182) ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः ।
यद्वा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तद्द्वयम् ॥ १२*२

ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा ।

1183) इति मन्त्रं प्रविन्यस्य सप्तकृत्वोऽमृतेऽत्र तु ।
आप्लाव्यमानं स्वं ध्यायन् मायाबीजेन मज्जतु ॥ १३

1184) सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिनः ।
अविधाय बहिःशुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥ १३*१

धूप अथवा वायु से परिपूर्ण, बहते हुए, अथवा अथाह जल से भरे हुए – गहरे – जलाशय (नदी-तालाब आदि) में स्नान कर के देवपूजनादि करना चाहिये। ऐसे जल के सिवाय अन्य जल को वस्त्र से पवित्र कर के – छानकर–स्नानादि के उपयोग में लाना चाहिये ॥१२॥

प्राणियों का स्नान पादपर्यन्त, घुटनेपर्यन्त, कटिपर्यन्त, कण्ठपर्यन्त और शिरपर्यन्त के आश्रय से पाँच प्रकारका है, जो उत्पन्न हुए दोष के अनुसार किया जाता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १२*१ ॥

जो ब्रह्मचर्य से विभूषित होकर समस्त आरम्भ कार्य का परित्याग कर चुका है उसका उक्त पाँच प्रकार के स्नान में से कोई भी स्नान इच्छानुसार हो सकता है । पर अन्य के लिये – जो स्त्री आदि का सेवन करता हुआ आरम्भ कार्य में निरत है उसके लिये – अन्त के दो स्नान – ग्रीवा ओर शिरपर्यन्त – आवश्यक होते हैं ॥ १२*२ ॥

स्नान करते समय " ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा " इस मन्त्रको जल में स्थापित कर के सात वार डुबकी लगाते हुए अपना ध्यान करना चाहिये और मायाबीज (ह्रीं) अक्षर कहकर पानीमें अवगाहन करना चाहिये ॥ १३ ॥

जिसके सब आरम्भ वृद्धिको प्राप्त हैं तथा जो ब्रह्मचर्य में शिथिल है एसा श्रावक बाह्य शुद्धि के विना जिनपूजन करने का अधिकारी नहीं है ॥१३*१॥

---

१२) 1 जलम् ।

1185) अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन् मन्त्रमात्रपरायणः ।
स मन्त्रैः शुद्धिभाङ् नूनं भुक्त्वा हृत्वा विहृत्य च ॥ १३*२

1186) मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च ।
शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत् ॥ १३*३

1187) बहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचम्य गृहं विशेत् ।
स्थानान्तरात्समानीतं सर्वं प्रोक्षितमाचरेत् ॥ १३*४

1188) द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥ १३*५

1189) जातयो ऽनादयः सर्वास्तत्क्रियाश्च तथाविधाः ।
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ १३*६

1190) स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् ।
तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥ १३*७

ब्रह्मचारी आदिक जल से शुद्धि का निराकरण कर के मन्त्रमात्र में तत्पर रहते हुए भोजन कर के, हरण कर के (?) और विहार कर के मन्त्र के द्वारा शुद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ १३*२ ॥

मट्टी, ईंट, राख –और गोबर से तब तक शुद्धि करनी चाहिये जब तक कि निर्मलता नहीं होती है ॥ १३*३ ॥

बाहर जाकर के आचमन के बिना घर में प्रवेश नही करना चाहिये तथा स्थानान्तर लाये गये पदार्थ के ऊपर जल छिडक कर उसे उपयोग में लाना चाहिये ॥ १३*४ ॥

गृहस्थों के दो धर्म हैं — लौकिक और पारलौकिक –उन में प्रथम लौकिक – धर्म लोकाश्रय अर्थात् लोकव्यवहार के आश्रित तथा दूसरा – पारलौकिक – आगम के आश्रित है ॥ १३*५ ॥

सर्व जातियाँ तथा उन के आचार – विवाहादि – अनादि है ;। श्रुति (वेद) और अन्य शास्त्र भी प्रमाण रहें, इस में हमें कुछ कभी बाधा नहीं हैं ॥१३*६॥

जो वर्ण – ब्राह्मणादि – अपनी जाति से ही विशुद्धि को प्राप्त हैं, उन के लिये यहाँ जैन आगम का विधान केवल उनके क्रियाकाण्ड की योजना के लिये है ।(अपनी अपनी जाति के अनुकूल आचरण में सहायक मात्र है) ॥ १३*७ ॥

१३*२) 1 वर्णैः ।

1191) यत्रावभ्रान्तिनिर्मुक्ति[illegible]स्तत्र दुर्लभाः ।
संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः ॥ १३*८

1192) तथाहि–

आप्लुतः संप्लुतः स्वान्तः शुचिव[illegible]भूषितः ।
मौनसंयमसंपन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥ १३*९

1193) दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासाञ्चिताननः ।
असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥ १३*१०

1194) अमृतै[1]रमृतत्वाय चन्द्र[2]श्रीखण्डकुङ्कुमैः ।
घनसाराविखण्डश्रीप्राप्त्यै स्वस्य जिनेश्वरान् ॥ १४

1195) सुमनः[1]प्रार्चनासिद्ध्यै सुमनोभि[2]रुपार्चयेत् ।
समस्ततापवि[illegible]त्यै धूपैर्धूपितविष्टपैः[3] ॥ १५ । युग्मम् ।

कारण यह है कि वहाँ – जातिसे शुद्ध वर्णवालों में – संसार परिभ्रमण से छुटकारा पाने के जो कारण (सम्यग्दर्शनादि) हैं वे दुर्लभ हैं । इसके विपरीत संसार का जो व्यवहार-विषयोपभोगादि – है वह तो स्वयं ही सिद्ध है, इसीलिये उस में प्रवृत्त करने के लिये आगम का विधान निरर्थक है ॥ १३*८ ॥

जिसने कण्ठ तक अथवा मस्तक तक स्नान को किया है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जो शुद्ध वस्त्रों से विभूषित है, तथा जो मौन व संयम से संपन्न है, ऐसे श्रावक को देव पूजा की विधि को करना चाहिये ॥ १३*९ ॥

जिसने दातौन से अपने मुख को शुद्ध कर लिया है, जिसका मुख मुखवस्त्र से संयुक्त है अर्थात् जो मुख से थूक आदि इधर उधर न जाय इस के लिये मुख को शुद्ध वस्त्र से आच्छादित किया है, तथा जिसके लिये अन्य किसीका स्पर्श नहीं हुआ है, ऐसे विद्वान् को देवों की पूजा उपासना करनी चाहिये ॥ १३*१० ॥

श्रावक को अमृतत्व के लिये – जन्म और मरण से रहित होने के लिये – जल से अपने को अतिशय श्रेष्ठ शाश्वतिक लक्ष्मी (मुक्ति) की प्राप्ति के लिये कपूर, चन्दन और केसर से, देवों के द्वारा विरचित पूजा की प्राप्ति के लिये फूलों से तथा समस्त सन्ताप को दूर करने के लिये लोक को सुगंधित करने वाली धूप से जिनेन्द्रों की पूजा करनी चाहिये ॥ १४–१५ ॥

---

१४) 1 जलैः. 2 कर्पूर । १५) 1 देवानाम्. 2 पुष्पैः 3 जगद्भिः ।

1196) जगदीशत्वसंपत्त्यै दीपैर्निःकज्जलैरपि ।
सर्पिर्भिः[1] स्नेहिलानन्दानन्त्यसर्पत्वभूतये[2] ॥ १६

1197) क्षीरसिन्धुपयःस्नानसिद्धयै[1] क्षीरं निवेदयेत् ।
स्वाधाराधेयसद्भावप्राभवाय दधीन्यपि ॥ १७

1198) स्वस्वादुचिद्रससरोमज्जनाय जगद्गुरून् ।
ऐक्षवीयैरसोत्पूरैः पूतैराराधयाम्यहम् ॥ १८

1199) व[illegible]द्गन्धशिवतासिद्धयै गन्धशिवैरपि ।
असाधारणधन्यत्वप्राप्त्यै धान्यैरनेकधा ॥ १९

1200) कान्तिव्या[illegible] समस्ताशं रत्नं रत्नत्रयाप्तये ।
सर्वैः फलैरदृष्टोत्थफलप्रलयनाय च ॥ २०

1201) भूमौ शुचौ वा यदि वा शिलायां शिवे पवित्रे च पटे ऽपि भूर्जे ।
भूमण्डलान्तर्गतकर्णिकाढ्यं पद्मं लिखित्वाष्टदलं विकासि ॥ २१

इसी प्रकार लोकाधिपतित्व की प्राप्ति के लिये काजल से रहित दीपों से तथा स्नेह-युक्त आनन्दप्रद अपरिमित धरणेन्द्र की विभूति की प्राप्ति के लिये घी से श्रीजिनेन्द्रकी पूजा करना चाहिये ॥ १६ ॥

क्षीरसमुद्र के जल से स्नानसिद्धि के लिये–तीर्थंकर पद प्राप्त करने के लिये–दूध को ओर अपने आधार के आश्रय से रहने वाले समीचीन भावों के प्रभुत्व की प्राप्ति के लिये दही को भी समर्पित करना चाहिये ॥ १७ ॥

मैं अपने स्वादिष्ट चैतन्यरूप जल के सरोवर में स्नान करने के लिये पवित्र ईख के रसप्रवाह से जगद्गुरुओं–जिनेन्द्रों – की आराधना करता हूँ ॥ १८ ॥

आगम से गन्धशिवता (?) की सिद्धि के लिये गन्धशिवों से, असाधारण श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के धान्यों से, रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये अपनी कान्ति से समस्त दिशाओं को व्याप्त करने वाले रत्नों से, तथा पुण्य-पाप से उत्पन्न फल को नष्ट करनेके लिये सब फलों से मैं पूजा करता हूँ ॥ १९–२० ॥

पवित्र भूमि, शिला, कल्याणकारक वस्त्र अथवा पवित्र भूर्जपत्रपर पृथिवीमण्डल के अन्तर्गत कर्णिका से व्याप्त विकसित आठ दल वाले कमल को लिखकर उत्तम गन्ध (चन्दन)

१६) 1 घृतैः स्नपनम्. 2 धरणेन्द्रविभूतिनिमित्तं भवति । १७) 1 तीर्थंकरप्राप्तिसिद्धयै । १८) 1 P°स्वास्वादु°, स्वर्ग. 2 P°ईक्षवीय°, इक्षुरस । २१) 1 D°पटेऽपि भूर्जे.

1202) गन्धैः शुभैर्वाप्यमृतैः पवित्रैर्मध्येनभश्चोर्ध्वमधोरभूषम् ।
कलोर्ध्वबिन्दुप्रतिभासमानं तत्पृष्ठदेशस्थमनाहतं च ॥ २२

1203) ॐ ह्रीं पुरःस्थस्वरकेशरैश्च सुधावदातैः[1] कृतवेष्टनं तत् ।
सन्मन्त्रराजं परमेष्ठिपञ्चसांनिध्यनिर्दर्शनभाजि मूर्तिः ॥ २३

1204) णमो सिद्धाणमित्यादिमन्त्रैरों ह्रीं[1] पुरःसरैः ।
स्वाहान्तैः प्रागपागादिविदिक्पत्राणि पूरयेत् ॥ २४

1205) आग्नेयनैर्ऋतप्रायविदिक्पत्राणि संभृयात्[1] ।
ॐ ह्रीं प्रमुखस्वाहान्तैर्मन्त्रैर्दुर्दृष्टि[2]दुर्लभैः ॥ २५

1206) सम्यग्दर्शनविज्ञानचारित्रचतुरङ्गकम् ।
बीजैरेभिश्चतुर्थ्यन्तैर्मायाबीजेन[1] वेष्टयेत् ॥ २६

अथवा पवित्र अमृत से मध्य में शून्य व ऊपर नीचे रेफ से विभूषित ह्रूँ को तथा उस के पृष्ठ भाग में अवस्थित कला व ऊर्ध्व बिन्दु से प्रतिभासमान अनाहत – ॐ – को भी लिखना चाहिये ॥ २१–२२ ॥

ॐ ह्रीं पूर्वक सुधा – अमृत अथवा चूना – के समान निर्मल स्वरोंरूप केशर से वेष्टित वह मन्त्रराज पाँच परमेष्ठिओं के सामीप्य से निदर्शन को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् पूर्व में ॐ ह्रीं तथा अन्त में स्वाहा शब्दयुक्त 'णमो सिद्धाणं' इत्यादिक मन्त्रों से पूर्व पश्चिम आदि चार दिशा ओं के पत्तों को पूर्ण करना चाहिये । फिर ॐ ह्रीं को पूर्व में तथा स्वाहा को अन्त में कर के मिथ्यादृष्टियों के लिये दुर्लभ मंत्रों से आग्नेय और नैर्ऋत्य दिशा आदि विदिशागत पत्तों कों पूर्ण करना चाहिये । सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप इस चतुरंग को मायाबीज के साथ चतुर्थी विभक्त्यन्त इन्हीं बीजपदों से (ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनाय नमः स्वाहा ॐ, ह्रीं सम्यक्ज्ञानाय नमः स्वाहा इत्यादि) वेष्टित करना चाहिये ॥२४–२६॥

तथा अंकुश लिखने चाहिये । ये सब मन्त्र सम्यग्दृष्टिओं को दुर्लभ नहीं है । इस वाक्यांशका अध्याहार करना चाहिये ।

२२) 1 नभः हकारः अधः ऊर्ध्वे रकारः, कलाबिन्दुः ह्रा । २३) 1 P° स्वधापदान्तैः । २४) 1 क्रें ।
२५) 1 P° संभृयात् श्लोकपूरणम्. 2 P° मन्त्रैर्दृष्टि° । २६) 1 मायाबीजेन ह्रींकारेण ।

साङ्कुशैर्दृष्टिवुलंभैर्नेत्यध्याहार्यम् ।

1207) यद्वा कोशस्थ ह्रां[1] देवं तं वर्णं[2]स्वरवेष्टितम् ।
ॐ ह्रां[3] श्रीं[4] संयुतैर्वर्गैः स्वाहान्तैरष्टभिः क्रमात् ॥ २७

1208) पूर्वादीनि च पत्राणि पूरयेदन्तराण्यतः ।
स्वाहान्तेन च तत्त्वेन ॐ ह्रीं श्रीं पूर्वकेण च ॥ २८

1209) पत्रान्तेषु च मध्येषु योजयेदप्यनाहतम् ।
दलान्तरेषु ह्रींकारं द्वितीयमिति मण्डलम् ॥ २९

1210) तृतीयमपि संस्तौमि मण्डलं प्रक्रमागतम् ।
क्ष्मामासनं लिखेत्कोशे बीजं[1] तु च तदूर्ध्वगम् ॥ ३०

1211) ईशानाग्नेयप्रमुखदिक्षु तत्त्वाक्षराणि च ।
कोशरेखाबहिर्भागे पूर्वादिषु नभो[1] लिखेत् ॥ ३१

1212) षोडशस्वरसंयुक्तं[1] प्रत्येकं बिन्दुलाञ्छितम् ।
दलानष्टौ लिखेदस्मिन्नष्टावत्रान्तराणि च ॥ ३२

अथवा वर्ण और स्वरों से वेष्टित हो कर कर्णिका के मध्य में स्थित उस ह्रां देव को जिनके कि अन्त में 'स्वाहा' स्थित है, ऐसे ॐ ह्रीं श्रीं इन बीजपदों से संयुक्त आठ वर्गों से क्रमशः पूर्वादि दिशागत पत्रोंको तथा मध्य के पत्रों को भी जिसके अन्त में स्वाहा और पूर्व में ॐ ह्रीं श्रीं ये बीजपद स्थित ऐसे उसी तत्त्व से परिपूर्ण करना चाहिये । पत्रों के अन्त में व मध्य में अनाहत की भी योजना करनी चाहिये । तथा पत्रों के अन्तरालों में ह्रींकार की भी योजना करनी चाहिये । इसप्रकार द्वितीय मण्डल का कथन समाप्त हुआ ॥ २७–२९ ॥

अब क्रम से प्राप्त हुए तृतीय मण्डल स्तुति – उसका वर्णन – करता हूँ । क्ष्मा यह आसन कोष में लिखें तथा उसके ऊपर बीज लिखें । ईशान व आग्नेय आदि दिशाओं में तत्त्वाक्षर – ॐ ह्रीं श्रीं–को पूर्व में और स्वाहा को अन्त में लिखे । कोश की रेखाओं के बहिर्भाग में पूर्वादिक दिशाओं में 'नमः' (?) को लिखे ॥ ३०–३१ ॥

सोलह स्वरों से युक्त और बिन्दु से चिह्नित प्रत्येक दल लिखे । आठ दलों को तथा अन्तराल में आठ दलों को लिखे । ॐ ह्रीं श्रीं आरम्भ में और अन्त में नमः यह लिखे । दिशाओं

---

२७) 1 P° ह्रीं. 2 वर्ग [र्ण]. 3 P° ह्रीं. 4 श्रीं omitted । ३०) 1 D ह्रीं । ३१) 1 हकारः। ३२) 1 D अ आ आदिकं ।

1213) ॐ ह्रीं श्रीं पुरःस्थैस्तु नमोऽन्तैः सकलैरपि ।
सिद्धाचार्यउपाध्यायसर्वसाधुपदैर्दिशाम् ॥ ३३

1214) दलानि पूरयेदन्यच्च रक्कं सम्यक्पूर्वकैः ।
दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिर्मुक्तिसूचकैः । ३४

1215) बहुत्वैकत्वसंयुक्तैश्चतुर्थ्यास्तु यथाक्रमम् ।
स्वाहान्तैरष्टभिर्वर्गैः[1][2] प्रादक्षिण्यं तदग्रतः ॥ ३५

1216) दलानामन्तराणां च यथासंख्येन विन्यसेत् ।
ऊर्ध्वदेशेषु सर्वेषु श्रीमन्त्रं क्ष्वीपदं सुधीः ॥ ३६

1217) कथ्यमानेन गणभृन्नाम्ना सद्वलयेन[1] तु ।
प्रदक्षिणं ततो मायाबीजेन[2] त्रिगुणेन च ॥ ३७

अन्ते शाङ्कुशेनेत्युपस्कारः । गणधरवलयं प्रदक्षिणं लेख्यम् ।

यथा– ओं णमो अरहंताणं । ओं णमो सिद्धाणं । ओं णमो आइरियाणं । ओं णमो उवज्झायाणं । ओं णमो लोए सव्वसाहूणं । ओं णमो जिणाणं । ओं णमो ओहिजिणाणं । ओं णमो परमोहिजिणाणं । ओं णमो सव्वोहिजिणाणं । ओं णमो अणंतोहिजिणाणं । ओं णमो कोट्ठबुद्धीणं[3] । ओं णमो बीजबुद्धीणं । ओं णमो पदाणुसारीणं[4] । ओं णमो भिन्नसोदराणं । ओं णमो पत्तेयबुद्धाणं । ओं णमो सयंबुद्धाणं । ओं णमो बोहियबुद्धाणं । ओं णमो उज्जुमदीणं । ओं णमो विउलमदीणं । ओं णमो दसपुव्वीणं । ओं णमो अट्ठमहानिमित्तकुसलाणं । ओं णमो विउव्वणपत्ताणं । ओं णमो विज्जाहराणं । ओं णमो चारणाणं । ओं णमो पण्णसमणाणं[5] । ओं णमो आयासगामीणं । ओं ह्रीं श्रीं ह्रीं नम इति ।

के दलों को क्रमशः सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुपदों से तथा विदिशा के दलों को मुक्ति के सूचक बहुत्व और एकत्व युक्त सम्यक् शब्दसहित दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चतुर्थ्यन्त शब्दों से पूर्ण करना चाहिये । उस के आगे स्वाहा शब्द अन्त में लिखकर आठ वर्ग प्रदक्षिण क्रम से यथाक्रम दिशादल और विदिशादलों के अन्तरालों में लिखना चाहिये । सर्व दलों के ऊर्ध्व भाग में विद्वान् 'श्री' मंत्र और 'क्ष्वी' ऐसा अक्षर लिखे ॥ ३२–३६ ॥

आगे कहे जानेवाले गणभृत नामक वलय से और त्रिगुण मायाबीज से वेष्टित कर के अंत में 'शं' अंकुश लिखना चाहिये ॥ ३७ ॥

३५) 1 D कखगनादिकं. 2 D कचटतप । ३७) 1 D तद्वलयेन तु. 2 ह्रींकारेण मध्यम्. 3 P कोट्ठबुद्धीणं. 4 P°पयाणु. 5 P°भ्रमस. D प्रज्ञा 1

1218) इन्द्रादयोऽष्टौ स्वदिशामधीशा ॐ ऱ्हीं पुरःस्थाः क्रमतश्च लेख्याः ।
स्वाहापदान्तं फणिराडधस्तादूर्ध्वं च सोमो मनस्यै (?) निवेशाः ॥ ३८

1219) प्रणवमायाक्लीं पूर्वा जया च विजयाजिता ।
अपराजितया दिक्षु स्वाहान्ताः संलिखेदिमाः ॥ ३९

1220) जम्भा मोहास्तथा स्तम्भा स्तम्भिनी च विदिक्स्थिताः ।
ऐशान्यादिषु धात्र्यादिचतुर्मण्डलकान्यपि ॥ ४०

1221) पृथिवीमण्डलं बाह्ये चतुर्द्वारं पुनर्लिखेत् ।
विजयो वैजयन्तश्च जयन्तश्चापराजितः ॥ ४१

(गणधरवलय के मंत्र इस प्रकार है) —जैसे ॐ णमो अरहंताणं । ॐ णमो सिद्धाणं ॐ णमो आइरियाणं । ॐ णमो उवज्झायाणं । ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं । ॐ णमो जिणाणं ॐ णमो ओहिजिणाणं । ॐ णमो परमोहिजिणाणं । ॐ णमो सव्वोहिजिणाणं । ॐ णमो अणंतोहिजिणाणं । ॐ णमो कुट्ठबुद्धीणं । ॐ णमो बीजबुद्धीणं । ॐ णमो पदाणुसारीणं । ॐ णमो भिण्णसोदाराणं । ॐ णमो पत्तेयबुद्धाणं । ॐ णमो सयंबुद्धाणं । ॐ णमो बोहियबुद्धाणं । ॐ णमो उज्जुमदीणं । ॐ णमो विउलमदीणं ।ॐ णमो दसपुव्वीणं । ॐ णमो अट्ठमहाणिमित्त-कुसलाणं । ॐ णमो विउव्वणं पत्ताणं । ॐ णमो विज्जाहराणं । ॐ णमो चारणाणं । ॐ णमो पण्णसमणाणं । ॐ णमो आयासगामीणं । ॐ ह्रीं श्रीं ऱ्हीं नमः इति । यह गणधरवलय प्रदक्षिण प्रकार से लिखना चाहिये । अर्थात् दाहिने तरफ से लिखना चाहिये ।

अपनी अपनी दिशाके अधिपति इन्द्रादिक आठ दिक्पालों के मंत्र के प्रारम्भ में ॐ ह्रीं और अन्त में स्वाहा लिखना चाहिये । [जैसे – ॐ ह्रीं इन्द्राय स्वाहा । ॐ ह्रीं वरुणाय स्वाहा इत्यादि] धरणेन्द्र के मंत्र को नीचे और सोमदिक्पाल के मंत्र को ऊपर लिखना चाहिये ॥ ३८ ॥

दिशाओं के कोठों में प्रणव, माया और क्लीं को (ॐ ह्रीं पूर्वक) पूर्व में तथा स्वाहा को अन्त में लिखकर जया, विजया, अजिता और अपराजिता के नाम लिखने चाहिये । (जैसे – ॐ ह्रीं क्लीं जयायै स्वाहा । ॐ ह्रीं क्लीं विजयायै स्वाहा इत्यादि) ईशान्य आदि विदिशाओं में उपर्युक्त प्रकार से जंभा, मोहा, स्तंभा, और स्तंभिनी देवताओं के नामों को लिखना चाहिये । (जैसे – ॐ ह्रीं क्लीं जंभायै स्वाहा इत्यादि ।) इसके अनन्तर पृथिवी मण्डल व वायुमण्डल आदि चार मण्डलों को लिखना चाहिये ॥ ३९–४० ॥

बाहर चार द्वारयुक्त पृथिवी मण्डल को लिखना चाहिये । उन द्वारोंके नाम ये हैं– विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ॥ ४१ ॥

---

३८) 1 D नागेन्द्रः । ३९) 1 ॐ. 2 ह्रीं ।

1222) ॐ ह्रीं ह्म्ल्व्र्यूं काय ते चतुर्थ्यन्ता यथाक्रमम् ।
स्वाहान्तास्तु समालेख्या दिक्षु पूर्वादिषु स्वयम् ॥ ४२

1223) उक्तं च--
अहवा अट्ठदल च्चिय पुज्जिओ पुव्वभणियविण्णासं ।
महरिसिणा मायाबीयवेढियं सुरवइपुरत्थं ॥ ४२*१

1224) अन्यच्च मण्डलम्-
चतुःपरमेष्ठिसंपूर्णचतुर्दलकुशेशये[1] ।
व्योमोर्ध्वाधोरसंयुक्तं सबिन्दु सकलं वियत् ॥ ४३

1225) ऊर्ध्वाधोरेफसंयुक्तं[1] सबिन्दु सकलं वियत् ।
परमेष्ठ्यभिधानाग्र्यं मन्त्रराजं प्रपूजयेत् ॥ ४४

1226) संस्निग्धार्याचनायोग्यद्रव्याणि[1] सकलान्यतः ।
विधिना वक्ष्यमाणेन विदध्यां सकलीक्रियाम् ॥ ४५

पूर्वादिक आठ दिशाओं में क्रम से स्वयं ॐ ह्रीं ह्म्ल्व्र्यूं काय ते स्वाहा ऐसा क्रम से लिखना चाहिये ॥ ४२ ॥

कहा भी है-

अथवा अष्ट दलकमलों में सुरपति पुरस्थ इन्द्र आदिका मंत्र लिखे । अर्थात् पूर्वादिक - दिशाओं के क्रम से ॐ ह्रीं इन्द्राय स्वाहा । ॐ ह्रीं अग्नये स्वाहा ऐसा लिखे । महर्षि को कर्णिका में मायाबीज से वेष्टित करके लिखना चाहिये और उसका पूजन करना चाहिये ॥ ४२*१ ॥

अन्य मण्डल-

चार दल के कमल में चार परमेष्ठियों के मंत्र लिखे अर्थात् सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठिके मंत्र लिखे । मध्यकर्णिका में व्योम अर्थात् 'ह' लिखना चाहिये जो ऊपर और नीचे 'र' संयुक्त है तथा बिन्दु और कलासहित 'ह्रं' ऐसा हो । तदनन्तर ऊपर और नीचे रेफसंयुक्त तथा बिन्दु और कलासहित 'ह्रैं' जो कि पञ्च परमेष्ठिवाचक मंत्रराज है उसको पूजना चाहिये ॥ ४३-४४ ॥

चूंकि सकल - समस्त-पूजा के योग्य द्रव्य (अर्पण करना चाहिये) इसीलिये आगे कही जानेवाली विधि के साथ सकलीकरण क्रियाको भी करना चाहिये । (विघ्न न आवे और अपना रक्षण किया जावे एतदर्थ जो क्रिया की जाती है उसे सकली क्रिया कहते हैं) ॥ ४५ ॥

---

४३) 1 D पांबुजोपरं । ४४) 1 D हकारं । ४५) 1 D दीप्तिवन्तः ।

1227) ब्रह्मपादैः[1] प्रणवाद्यैः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः पूर्वकैः ।
हृच्छिरः शिखाकवचशस्त्रैरपि यथाक्रमम् ॥ ४६

1228) नमः स्वाहा तथा वौषट् हुंफडन्तैः स्वरक्षणम् ।
पञ्चमण्डलबीजान्तैः परमेष्ठिपदैरथ ॥ ४७

1229) अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तन्यस्तैः शिरसि च क्रमात् ।
त्रीन् वा वा पञ्चधा वारान् मुद्रया परमेष्ठिनाम् ॥ ४८

1230) पञ्चभिर्यदि वा कूटैर्न्यस्तैः पूर्ववदेव हि ।
स्वरक्षां प्रविधायात इत्थमाहूय दैवतम् ॥ ४९

प्रणव (ॐ) के साथ ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं और ह्रः इन पाँच बीजाक्षर जिनके पूर्व में हैं तथा अन्त में जिनके नमः, स्वाहा, वौषट्, हुं और फट है ऐसे ब्रह्मपादों तथा हृदय, शिर, शिखा, कवच और शस्त्रों से आत्मरक्षण करना चाहिये ॥ ४६-४७ ॥

अंगुष्ठ को लेकर कनिष्ठिकापर्यन्त पांच अंगुलियों पर लिखे गये जो परमेष्ठियों के शब्द के आगे ह्राँ ह्रीं आदिक अक्षर उन से परमेष्ठिमुद्रा धारण कर के मस्तक आदि स्थानोंपर अपने दो हाथ स्थापन करने चाहिये । तथा तीन अथवा पाँच वार अंगन्यास विधि करनी चाहिये । तथा अंगुलियोंपर स्थापन किये गये कूटाक्षरों से – क्षां, क्षीं, क्षूं, क्षौं, क्ष। इन कूटाक्षरों से दिग्बंधन करके स्वरक्षण करना चाहिये तथा आगे लिखी हुई पंचपरमेष्ठिओंकी स्तुति करनी चाहिये ॥ ४८-४९ ॥

(उपर्युक्त विषय इस ग्रन्थमें संक्षेप से कहा गया है । इसका विस्तृत वर्णन नेमिचन्द प्रतिष्ठा तिलक में इस प्रकार से किया गया है)

दोनों हाथों की कनिष्ठिकाओं से अंगूठे पर्यन्त दस अंगुलियों में क्रम से मूल में, तीन रेखाओंपर और अंगुलियों के अग्रभागपर "ॐ ह्रां णमो अरहंताणं स्वाहा, ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं स्वाहा, ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं स्वाहा, ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं स्वाहा तथा ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं स्वाहा" इस प्रकार लिखकर दोनों को आपस में जोडना चाहिये और दोनों हाथों के अंगूठे को ऊपर कर के उनके द्वारा हृदय, भाल, मस्तक और वक्षःस्थल आदि अवयवोंपर न्यास करना चाहिये ।

'ॐ ह्रां णमो अरहंताणं स्वाहा हृदये' ऐसा उच्चारण कर के हाथ के दोनों अंगूठों से हृदयपर न्यास करे । 'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं स्वाहा ललाटे' ऐसा उच्चारण करके ललाटपर न्यास करे । 'ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं स्वाहा शिरसो दक्षिणे' मस्तक के दाहिने

---

४६) 1 D पञ्च[illegible]णो ।

1231) पारं गयाणं परमं गयाणं परे रयाणं परभावगाणं ।
[illegible] णमो गुरूणं मुत्तीण पंचण्ह[1]मनि[illegible]वाणं ॥ ४९*१

1232) णिच्चं जऊंतुज्जलकेवलाणं लोयप्पईवाण मणुस्सगाणं[1] ।
समग्गदव्वाण सपज्जवाणं तच्चं मुणंताण णमो जिणाणं ॥ ४९*२

भाग पर न्याल करे । 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं शिरसः पश्चिमे' मस्तक के पीछे अर्थात् शिखापर न्यास करे । 'ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं शिरसः उत्तरे' मस्तक के उत्तर प्रदेश पर न्यास करे ।

पुनस्तानेव मंत्रान् शिरःप्राग्भागे शिरसो दक्षिणे पश्चिमे उत्तरे च क्रमेण विन्यसेत्- पुनः इन मंत्रोंका उच्चारण कर के मस्तक के पूर्वभाग, दक्षिण भाग और पश्चिम भागपर न्यास करना चाहिये ।

तदनन्तर दस दिशाओं का बन्धन करना चाहिये । उसका विधि – बायें हाथ की प्रदेशिनीपर पंचनमस्कार मंत्र लिखकर पूर्वादि दसों दिशाओं में बन्धन करना चाहिये । जैसे– ॐ ह्रां णमो अरहंताणं पूर्वस्यां दिशि, ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं आग्नेय्यां दिशि, ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं दक्षिणस्यां दिशि, ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं नैऋत्यां दिशि, ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं पश्चिमस्यां दिशि, ॐ ह्रां णमो अरहन्ताणं वायव्यां दिशि, ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं उत्तरस्यां दिशि, ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं ऐशान्यां दिशि ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं अधरस्यां दिशि तथा ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं ऊर्ध्वायां दिशि, इस प्रकार से दसो दिशाओं में दिग्बन्धन करना चाहिये ।

जो ज्ञानके दूसरे किनारे को प्राप्त हो चुके हैं, जो उत्कृष्ट आत्मस्वरूप को प्राप्त हुए हैं, जो पौरव – प्राचीन हैं, जो परभावग – उत्कृष्ट शुद्ध भाव को प्राप्त हुए हैं, तथा जो परोपकार में निरत हैं ऐसे मूर्तिमान् पाँच अनिन्हव – कुछ नहीं छिपाने वाले – स्वरूप पाँच गुरुओं को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४९*१ ॥

जो निरन्तर प्रकाशमान निर्मल केवलज्ञान के धारक, दीपक के समान लोक के प्रकाशक- अविनाशी तथा संपूर्ण द्रव्यों और उनकी संपूर्ण पर्यायों के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानते हैं, ऐसे उन जिनेश्वरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४९*२ ॥

४९*१) 1 D मुक्तिवल्लभानां पञ्चानाम् । ४९*२) 1 D° मणस्सराणं ।

1233) सामंतसीमंतगदंसणाणं बुड्डाणमाणंदमहासमुद्दे ।
संपुण्णविण्णाणघणाण णिच्चं णमोत्थु सिद्धाण णिरंजणाणं ॥ ४९*३

1234) पहूण पंचायरणप्पवेसे पहूण पंचायरणोवएसे ।
पहूण पंचायरणप्पदाणे णमोत्थु धम्मायरियाण णिच्चं[1] ॥ ४९*४

1235) पहूण पंचायरणप्पवेसे पहूण पंचायरणोवएसे ।
विस्सस्सभावस्स व भासयाणं[1] णमो जिणाणं जयडिंडिमाणं ॥ ४९*५

1236) पहूण पंचायरणप्पएसे पहूण पंचिंदिय-णिग्गहम्मि[1] ।
पहूण पंचत्तणिवारणम्मि णमोत्थु साहूण जिणप्पियाणं ॥ ४९*६

1237) पहाणहेऊणं[1] महापहूणं मुत्तीण पंचण्हिमपंचमाणं ।
णमोत्थु पंचायरणप्पमाणं सत्तीण[2] पंचण्हिमकुंठियाणं ॥ ४९*७

1238) णमो सियावायहियस्स[1] सत्ततच्चावलीसद्दहणप्पगस्स ।
सत्तू व संखेवणणिच्चलस्स फुरंतणाणस्स सुदंसणस्स ॥ ४९*८

जिनका दर्शन आसमंतात् सीमातक है,जो आनन्दस्वरूप महासमुद्र में डूबे हुए हैं, जो संपूर्ण विज्ञानघन हैं – जिनका ज्ञान गुण ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से पूर्ण प्रकट हो चुका है– तथा जो निरंजन – कर्मकालिमा से रहित हैं, ऐसे सिद्धों को मेरा सर्वदा नमस्कार हो ॥४९*३

जो ज्ञानादिक पाँच आचारों में प्रवेश करने, उक्त पाँच आचारों के उपदेश देने तथा इन्हीं पाँच आचारों के देने में समर्थ हैं ऐसे धर्माचार्यों को हम सदा नमस्कार करते हैं ॥४९*४॥

जो उक्त पाँच आचरणों में प्रवेश करने में समर्थ हैं, जो पाँच आचारों का उपदेश देते हैं, जो सर्व जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करते हैं तथा जिनका जयजयकाररूप वाद्य हमेशा बजता है, ऐसे जिनेश्वरों को हम नमस्कार करते हैं ॥ ४९*५ ॥

जो पंचाचारों का पालन करने व पाचों इन्द्रियों के निग्रह करने में समर्थ हैं, जो मृत्यु के निवारण करने का सामर्थ्य रखते हैं तथा जो जिनेश्वर की भक्ति करते हैं उन साधुओं को तथा जिन प्रतिमाओं को मेरा नमस्कार हो ॥ ४९*६ ॥

जो मुक्ति के महान् प्रभु तथा प्रधान हेतु हैं, तथा पाँचों आचारों की प्रमुख शक्ति हैं, उन जिनेश्वरों को मैं नमस्कार करता हूँ (?) ॥ ४९*७ ॥

जो स्याद्वाद से हितकर है, तथा जीवादिक सात तत्त्वों में श्रद्धान स्वरूप है, स्वरूप

४९*३) 1 D सिद्धाः. 2 D अनदर्शन. 3 उपाध्यानां । ४९*४) 1 P° णिब्वं । ४९*५) 1 D भासमाणं । ४९*६) 1 P° णिब्व हम्मि । ४९*७) 1 D प्रधानवस्तु. 2 D पञ्चज्ञानशक्ति । ४९*८) 1 सप्तभङ्गी ।

1239) साहूणमेगंतियजीवियस्स[1] सव्वग्गणाणुग्गमसासणस्स ।
दुवालसंगस्स[2] णमो सुवस्स ठिच्चा थिरं पंचमहव्वएसु ॥ ४९*९

1240) कसायभावं तु जहंतयस्स[1] सुद्धोवओवप्पगावंगयस्स ।
णमो चरित्तस्स[2] अखंडियस्स कसायसेणा य तवंतयस्स[3] ॥ ४९*१०

1241) सव्वाइं कम्माइं डहंतयस्स संपुण्णविण्णाणपणायगस्स ।
सिवग्गमग्गस्स णमो तवस्स सम्मत्तणाणरयणुज्जमस्स ॥ ४९*११

1242) सम्मत्तणाणं रयणुज्जमम्मि तवोविहाणम्मि सुदारुणम्मि ।
सव्वप्पणा[1] सुट्ठु सणामियस्स णमो णमो संजमवीरियस्स ॥ ४९*१२

इत्याह्वानन[2]मन्त्रः ।

का संक्षेप अर्थात् स्वरूप में रहने से स्थिरता को जो प्राप्त हुआ है, जिस से ज्ञान स्फुरित होता है अर्थात् जिस सें ज्ञान को सम्यक्पना प्राप्त होता है उस सम्यग्दर्शनको नमस्कार है ॥ ४९*८ ॥

मेरा आचारादि द्वादशांगात्मक श्रुतज्ञान को नमस्कार हो। जो श्रुतज्ञान साधुओं का एकान्त जीवित है, सम्पूर्ण ज्ञान की – केवलज्ञान की – उत्पत्ति करनेवाला शासन है अर्थात् श्रुतज्ञान से केवल ज्ञान की उत्पत्ति होती है उस श्रुतज्ञान के सामर्थ्य सें पाँच महाव्रतों में मुनि स्थिर रहे हैं ॥ ४९*९ ॥

जिस के आश्रय से कषाय भावों का त्याग किया जाता है, जो शुद्धोपयोगरूप शरीरको धारण करता है तथा जो आत्मा को निश्चिततापूर्वक अपने शुद्ध स्वरूप में रखता है, ऐसे अखंडित चारित्र को मेरा नमस्कार हो ॥ ४९*१० ॥

जो तप कषायसेना का अन्त करता है, सर्व कर्मों को जलाता है – उन्हें निर्मूल करता है, संपूर्ण ज्ञान को रचता है – प्राप्त कर देता है तथा जो मोक्ष का मुख्य मार्ग है उसे हमारा नमस्कार हो ॥ ४९*११ ॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न को प्राप्त करने में उद्युक्त रहता है, तीव्र तपश्चरण में उत्साहयुक्त होता है, तथा जिसे सर्व आत्माओं ने उत्तम नमस्कार किया है, ऐसे संयम वीर्याचारको मैं बार बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४९*१२ ॥

इस प्रकार आव्हानन मंत्रका कथन समाप्त हुआ।

४९*९) 1 D साधूनां ज्ञानजीवितव्यं एकान्तेन. 2 D द्वादशाङ्गाय । ४९*१०) 1 D यथाख्यतस्य. 2 D चारित्राय नमः. 3 D दाहकस्य । ४९*१२) 1 D सर्वात्मना. 2 PD इत्याह्वानमन्त्रः ।

1243) यथायथं ते ऽपि चतुर्निकायाः[1] सक्षेत्रपाला अमराश्च देव्यः ।
स्वयं महाभक्तिभरावनम्रा यज्ञे सदा संनिहिता भवन्तु ॥ ५०

इति सकलदेवताह्वानम्[2] ।

1244) आत्मानं दैवतगुणानेकीभावं नयन्निव ।
वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण जपं[1] कुर्याद्विचक्षणः ॥ ५१

1245) प्रणवो मायाबीजं[1] परमेष्ठ्यभिधाक्षराणि चाद्यानि ।
स्वाहान्तानि च मन्त्रो नाम्ना श्रीमन्त्रराजो ऽयम् ॥ ५२

1246) एका द्वे तिस्रः संध्या वा जप्यमष्टशतं सदा ।
न न्यूनमधिकं कुर्वन् गुणाय परिकल्प्यते ॥ ५३

1247) समधिगतदुरापज्योतिरृद्धिं विवस्वान्
निरुपमगुणशीलादर्शकायान् जिनेन्द्रान् ।
अचलितकृतयत्नान् सूर्युपाध्यायसाधून्[1]
भवजलनिधिदूरश्रीकृते ऽध्येतु धीमान् ॥५४

क्षेत्रपालसहित चतुर्निकाय देव और देवियाँ स्वयं महाभक्तिके भार से नम्र हो कर-यज्ञ में सदा समीप स्थित रहें ॥ ५० ॥

यह समस्त देवताओं के आव्हानन का मंत्र है ।

अपने को देवों के गुणों के साथ मानो एकरूप करने वाला विद्वान् पूजक आगे कहे जानेवाले मंत्र से जप करे ॥ ५१ ॥

'प्रणव (ॐ) मायाबीज (ऱ्हीं) तथा पंचपरमेष्ठी के नामों के प्रथमाक्षर अ, सि, आ, उ, सा और अन्त में स्वाहा, इस मंत्र को मंत्रराज कहा जाता है ॥ ५२ ॥

इस मंत्रराज को एक संध्या में, दो संध्याओं में अथवा तीनों संध्याओं में सदा एक सौ आठ बार जपना चाहिये, इस से कम संख्या में नहीं । हाँ, उसका अधिक जप गुण के लिये माना जाता है ॥ ५३ ॥

बुद्धिमान् भव्य जीव को प्राप्त हुई दुर्लभज्योति –अनन्त ज्ञान से समृद्ध ऐसे सिद्ध का, अनुपम गुण – अनन्त चतुष्टय आदि – रूप निर्मल पद के धारक अरहन्तों का तथा निश्चल मोक्ष पद के लिये प्रयत्नशील आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं का संसाररूप समुद्र से दूर रहनेवाली लक्ष्मी को – मुक्ति को – प्राप्त करने के लिये अध्ययन – ध्यान – करना चाहिये ॥ ५४ ॥

---

५०) 1 P°चतुर्णिकायाः. 2 PD° ह्वाननम् । ५१) 1 D जप्यम् । ५२) 1 D ॐह्रीं । ५४) 1 D आचार्य ।

1248) नित्योदिताव्याहतनिःप्रकम्पविस्फारितानन्तचतुष्करूपः ।
सद्ध्यानपीयूषरसातितृप्तिलोभीभवच्चिन्मह एव वीक्षे[1] ॥ ५५

1249) समवसरणलक्ष्म्या प्रातिहार्यैः समग्रै-
र्विलसदतिशयैर्वा सेव्यपादाब्जपीठाः ।
जिनपतय इतीत्थं चिन्तनीया जपान्ते
ज्वलदमलचिदर्था रूपिणो वा कृतार्थाः ॥ ५६

1250) आरात्रिकेण यायज्मि[1] जगन्मुकुरताप्तये ।
अक्षतैरक्षतज्योतिर्भरसिद्ध्यै निरन्तरम् ॥ ५७

1251) ता द्रव्यजातोपनतीः[1] समर्प्य ददामि भावोपनतीः समग्राः ।
चिज्ज्योतिरादर्शलत्रिलोके तावद्धि यावज्जिन एव लीये ॥५८ । कुलकम्

सदा उदय को प्राप्त, निर्बाध, स्थिर एवं विकास को प्राप्त हुए अनन्त चतुष्टय-स्वरूप मैं समीचीन ध्यानरूप अमृतरस की तृप्ति का लोभी हो कर चैतन्यरूप तेज – ज्योति-को ही देखता हूँ ॥ ५५ ॥

जप के अन्त में उन जिनेन्द्रों का इस प्रकार से चिन्तन करना चाहिये कि उनका पादपीठ – पाँव रखनेका आसन – समवसरण लक्ष्मी, समस्त (आठ प्रातिहार्यों और प्रकाशमान अतिशयों से आराधनीय हैं। वे जिनेन्द्र प्रकाशमान, निर्मल चैतन्यरूप अर्थ से सहित, कथंचित् रूपी और कृतकृत्य हैं ॥ ५६ ॥

मैं लोक को प्रतिबिम्बित करने के लिये दर्पण के स्वरूप – केवल ज्ञान – को प्राप्त करने के लिये आरती से और अखण्ड ज्योति को पूर्णतया सिद्ध करने के लिये निरन्तर अक्षतों से पूजा करता हूँ ॥ ५७ ॥

मैं उदकादि अष्ट द्रव्यों के साथ हाथ जोडना, वचनों से स्तुति करना आदिक उप-नतियों को द्रव्यपूजाओं को प्रभुचरण में समर्पण करता हूँ। और संपूर्ण भावपूजाओं को ग्रहण करता हूँ। अर्थात् जिन प्रभु के अनन्त गुणों को मैं मेरे हृदय में आराध्य समझकर धारण करता हूँ। जिन के चैतन्य ज्योतिरूप दर्पण में अर्थात् केवल ज्ञानरूपी दर्पण में त्रैलोक्य प्रति-बिंबित हो रहा है ऐसे जिनेश्वर में ही मैं लीन होता हूँ ॥ ५८ ॥

५५) 1 PD°वीक्ष्ये । ५७) 1 PD°याजन्मि° पूजयामि D गन्तुमिच्छामि । ५८) 1 D पूजा-द्रव्यसामग्रीं समर्प्य दत्वा ।

1252) अन्ते ब्रह्मपदैः स्तुतिं विरचयेत्तत्त्वेन मन्त्रान्तरै-
स्तैस्तैस्तन्मयतां व्रजन्महरहश्चिद्भारभानुप्रभैः ।
कायान्तर्गतपद्मपत्रमुख्यसुपदेष्वभ्युज्जिहानैस्तम-
श्चन्द्राभैरमृतप्रवर्षिभिरलं सिन्दूरकान्तैः क्वचित् ॥ ५९

1253) इत्थं ध्यात्वा विसृजतु ममात्मैव तद्धामधाम्नि
तत्तद्ध्यानामृतरसभृते मानसे मे ऽर्हदीशाः ।
आयाता ये चतुरवयवा यान्तु देवाश्च देव्यो
ऽभ्यर्च्या वीक्ष्यामृतरसघनोन्मादिनः[1] स्वस्वधाम ॥ ६०

1254) विसर्जनार्थमर्चायाम्[1]आगतानां यथायथम् ।
जपन्नेतन्मन्त्रं क्षेप्यमन्ते पुष्पाञ्जलित्रयम् ॥ ६१

1255) नित्याप्रकम्पाद्भुतकेवलौघाः[1] स्फुरन्मनःपर्ययशुद्धबोधाः ।
दिव्यावधिज्ञानबलप्रबुद्धाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः[2] ॥ ६१*१

सर्वत्रेदं तुर्यम् ।

अन्त में, तन्मय हो कर, शरीरान्तर्गत कमल की मुख्य पँखुडियों में स्थित (अज्ञान रूप) अन्धकार को मिटानेवाले महान् चैतन्यसूर्य की कान्ति के समान, तथा चंद्रसदृश विपुल अमृत की वर्षा करने वाले, क्वचित् सिंदूर जैसे कमनीय, परमात्मवाचक पदों से संयुक्त ऐसे अन्यान्य मन्त्रों से प्रतिदिन जिनेन्द्र की परमार्थतया स्तुति करें ॥ ५९ ॥

इस प्रकार ध्यान कर के मेरा आत्मा ही उन के तेज का निवास्थान तथा उनके ध्यानरूप अमृतरस सें परिपूर्ण मेरे मन में जो भगवान् अरहन्त आकर स्थित हुए हैं,तथा चार तरह के देव और देवियाँ जो कि पूजा को देखकर अमृतरस से बहुत आनन्दित हुए है उन्हें अपने अपने स्थान में विसर्जित करें ॥ ६० ॥

जिनपूजन में आये हुए देवों का यथायोग्य विसर्जन करने के लिये आगे लिखे हुए मंत्र को जपतें हुए और तीन पुष्पांजलियों का क्षेपण अन्त में करना चाहिये ॥ ६१ ॥

जिन के केवलज्ञान का प्रवाह नित्य, निश्चल और आश्चर्यकारक है. जिन के मनः-- पर्यय नामक शुद्धज्ञान प्रकाशमान है तथा जो दिव्य अवधिज्ञान के सामर्थ्य से प्रबोध को प्राप्त हुए हैं, ऐसे परमर्षि हमारा सब प्रकार से कल्याण करें ॥ ६१*१ ॥

---

६०) 1 D देवबहुन्मत्ताः । ६१) 1 P°मर्चाया° । ६१*१) 1 D मुनयः. 2 D अस्माकं कुर्वन्तु ।

1256) संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादनाघ्राणविलोकनानि ।
दिव्यान्मतिज्ञानबलाद्वहन्तः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*२

1257) कोष्ठस्थधान्योपममेकबीजं संभिन्नसंश्रोतृपदानुसारि ।
चतुर्विधं बुद्धिबलं दधानाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*३

1258) प्रज्ञाप्रधानाः श्रवणाः समृद्धाः प्रत्येकबुद्धा[1] दश सर्वपूर्वैः ।
प्रवादिनो ऽष्टाङ्गनिमित्तविज्ञाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥६१*४

1259) अणिम्नि दक्षाः कुशला महिम्नि लघिम्नि शक्ताः कृतिनो गरिम्णि ।
मनोवपुर्वाग्बलिनश्च नित्यं स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*५

1260) सकामरूपित्ववशित्वमैश्यं प्राकाम्यमन्तर्धिमथाप्तिमाप्ताः ।
तथाप्रतीघातगुणप्रधानाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*६

1261) जङ्घावलिश्रेणिफलाम्बुतन्तुप्रसूनबीजाङ्कुरचारणाह्वाः ।
नभोऽङ्गणस्वैरविहारिणश्च स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*७

जो महर्षि दिव्य मतिज्ञान के सामर्थ्य से दूर देशगत वस्तु के स्पर्श, शब्दश्रवण, आस्वादन, सूंघना और अवलोकन को धारण करते हैं, (अर्थात् विशिष्ट बुद्धि ऋद्धि के प्रभाव से जो स्पर्शनादि इन्द्रियां के द्वारा अतिशय दूर देशगत स्पर्शनादि के ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं) वे महर्षि हमारा कल्याण करें ॥ ६१*२ ॥

कोठे में स्थित धान्य के समान, एक बीज, संभिन्न श्रोतृ और पदानुसारी इस प्रकार से चार प्रकार की बुद्धिऋद्धि के धारक महर्षि हमारा कल्याण करें ॥ ६१*३ ॥

प्रज्ञाप्रधान श्रवण, प्रत्येक बुद्धि से समृद्ध, प्रकृष्टवादी और अष्टांग निमित्तों के ज्ञाता महर्षि हमारा कल्याण करें ॥ ६१*४ ॥

अणिमा ऋद्धि में निपुण, महिमा ऋद्धि में कुशल, लघिमा ऋद्धि में समर्थ, गरिमा ऋद्धि में कृती – कुशल, मनबली, कायबली और बचनबली महर्षि हमारा कल्याण करें॥६१*५

कामरूपित्व, वशित्व, ईशित्व, प्राकाम्य, अन्तर्धि–अन्तर्धान और– आप्ति, प्राप्ति इन विक्रिया ऋद्धि भेदों के साथ अप्रतिघात विक्रिया ऋद्धि में प्रधानता को प्राप्त महर्षि हमारा कल्याण करें ॥ ६१*६ ॥

जंघाचारण, आवलिचारण, श्रेणिचारण, फलचारण, अम्बु (जल) चारण, तन्तुचारण, प्रसूनचारण, बीजचारण और अंकुरचारण, ये चारण ऋद्धि के धारक तथा आकाशरूप आँगन में यथेच्छ विहार करनेवाले महर्षि हमारा कल्याण करें ॥ ६१*७ ॥

६१*३) 1 कोठस्थ° । ६१*७) 1 PD जङ्घावल:° ।

1262) दीप्तं च तप्तं च महत्तथोग्रं घोरं तपो घोरपराक्रमस्थाः।
ब्रह्मापरं घोरगुणं चरन्तः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*८

1263) आमर्शसर्वौषधयस्तथाशीविषा विषादृष्टिविषो[1] विषाश्च ।
सखेलविड्जल्लमलौषधीशाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*९

1264) क्षीरं स्रवन्तो ऽत्र घृतं स्रवन्तो मधु स्रवन्तो ऽप्यमृतं स्रवन्तः ।
अक्षीणसंवासमहानसाश्च स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६१*१०

1265) प्रत्येकोदीरितै[1]रेभिर्यदि वा कुसुमाञ्जलीन् ।
मन्त्रैर्दशभिरित्थं तु सर्वपूज्यक्षमापणे ॥ ६२

1266) मुद्रा[1]मण्डलमन्त्रजाप्यविधिभिस्तैरासनाद्यैः शुभैः
सिद्धान्ते ऽभिहितैश्च कारणवशाच्छ्रीवीतरागो ऽप्ययम् ।
ध्येयो भुक्तिविमुक्तिदाननिपुणः स्वस्वैकभावाश्रयो
विश्वाकारसमुच्छलद्घनतरज्योतिर्निरुद्धाखिलः ॥ ६३

दीप्त तप, तप्त तप, महातप, उग्रतप, घोरतप, घोरपराक्रम, घोरब्रह्मचारी, और अघोरगुण ब्रह्मचारी इन तपोतिशय ऋद्धिविशेषों के धारक महर्षिजन हमारा कल्याण करें।।६१*८

आमर्शौषधि, सर्वौषधि, आशीर्विष दृष्टिविष, क्ष्वेलौषधि, विप्रौषधि, जल्लौषधि और मलौषधि, इन ऋद्धियों के स्वामी वे महर्षि हमारा कल्याण करें ॥ ६१*९ ॥

क्षीरस्रवी, घृतस्रवी, मधुस्रवी, अमृतस्रवी अक्षीणसंवास और अक्षीणमहानस ऋद्धियों के धारक महर्षि हमारा कल्याण करें ॥ ६१*१० ॥

सर्व पूज्य जिनेश्वरको क्षमा माँगनेके विषय में स्वस्ति क्रिया का प्रत्येक श्लोक पढकर पुष्पांजलि अर्पण करनी चाहिये ॥ ६२ ॥

अथवा—

सिद्धान्त में कही गई मुद्राविधि, मण्डलविधि, मंत्रविधि और जाप्यविधि इन विधि विशेषों तथा शुभ आसनादिक के द्वारा कारणवश वीतराग — अनुग्रह व निग्रहकी इच्छा से रहित— होनेपर भी अरहंतका ध्यान करना चाहिये। कारण कि वीतराग होनेपर भी वह ध्याता के अपने अपने भावों के अनुसार भोग और मोक्ष दोनों के देने में निपुण है। तथा समस्त ज्ञेय के आकाररूप परिणत ऐसी सघन ज्ञानरूपी ज्योति से सर्व को व्याप्त करने वाला है ॥ ६३ ॥

६१*९) 1 PD° दृष्टिविषा° । ६२) 1 D एकेन एकेन मन्त्रेण पुष्पाञ्जलिः । ६३) 1 D सर्व-[illegible]दिकल्याने. 2 D स्वर्गमोक्ष ।

1267) अकारादिहकारान्ता मन्त्राः परमशक्तयः ।
स्वमण्डलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥ ६४

मण्डलार्चनं प्रसिद्धम् ।

1268) अरहंतदेवअच्चणमणादिणिहणं[1] समत्थसिद्धियरं ।
विज्जाणुवादसिद्धं कित्तियमेत्तं भणामीह ॥ ६४*१

1269) शिक्षाव्रतं निजगदे[1] जगदेकनाथैः सामायिकं सकलकल्मषवर्जनेन ।
आवर्जनेन च शुभस्य सदा जनेन कार्यं[2] विचार्य सुधिया सुखभाजनेन ॥ ६५

1270) दृगवगमचरणसहितः समयो ह्यात्मा स्वरूपविज्ञानम् ।
तत्कर्म तद्धि मुख्यं सामायिकमीरितं समये ॥ ६६

अपने अपने मण्डल में रहने वाले अकार से लेकर हकार पर्यन्त जो महती शक्ति के धारक मंत्र हैं वे इस लोक में और परलोक में फल देने वाले हैं। इसीलिये उनका ध्यान करना चाहिये ॥ ६४ ॥

मण्डलार्चन में प्रसिद्ध है –

यह अरिहन्त देवताकी पूजा अनादिनिधन व समस्त सिद्धि की कारण हो कर विद्यानुवाद में प्रसिद्ध है। यहाँ मैं उसका कितना वणन कर सकता हूँ ॥ ६४*१ ॥

सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन–

सर्व पापों का त्याग करने तथा शुभ कार्य करने के सन्मुख होने से सामायिक शिक्षाव्रत होता है, ऐसा जगत् के अद्वितीय स्वामी जिनेश्वरने कहा है। इसीलिये जिसकी बुद्धि शुभ कार्य में तत्पर है ऐसे सुख के भाजनभूत श्रावकजन को विचार कर निरन्तर इस सामायिक व्रत को सदा करना चाहिये ॥ ६५ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित आत्मा को समय कहते हैं। आत्मा का स्वरूप रत्नत्रय है। उसका ज्ञान भी समय कहा जाता है। (अर्थात् मैं रत्नत्रय स्वरूप हूँ ऐसा ज्ञान होना यह भी समय है)। रत्नत्रय स्वरूप आत्माका जो कर्म है उसे आगम में मुख्य सामायिक कहा है ॥ ६६ ॥

६४*१) 1 D देवतार्चनं । ६५) 1 कथितम् 2D करणीयम् ।

1271) काये च्छिदां याति[1] भिदां[2] कुतश्चिद् बन्धावरौ हेमनि लोष्टके वा ।
चिन्ता[3] परा नास्ति कणाववाये[4] रतस्य यातीव महीशसैन्ये[5] ॥ ६७

1272) सामायिकं वह्निरिवातिदीप्तं तृण्यां[1] यथा कर्म दहेत्समग्रम् ।
उद्यन्निनो[2] हन्ति यथान्धकारं मेघान्यथा चण्डविपक्षवायुः ॥ ६८

1273) अदो ऽनुगच्छन्ति समग्रलक्ष्म्यो यथा मयूखा[1] दिवसाधिनाथम्[2] ।
यथा धुनीनाथमपि[3] स्रवन्त्यो[4] यथा द्युनाथं[5] सकलामराश्च ॥ ६९

1274) घटिकादिनियतकालं यावज्जीवं त्वनियतकालीनम् ।
तद्भववारिधि[1]मथनं स्वशक्तितो नित्यम् अलम्ब्यम् ॥ ७०

सामायिक करते समय सामायिकी किसी के द्वारा यदि शरीर का छेदन या भेदन भी किया जाता है तो भी वह सामायिक के विचार को छोडकर अन्य विचार नहीं करता है । उस समय बन्धु और शत्रु, सुवर्ण और मिट्टीका ढेला इन में रागद्वेष स्वरूप अन्य कोई चिन्ता उत्पन्न नहीं होती है । जैसे – कोई मनुष्य खेत में धान्य के कण चुनता था । वह उसके कार्य में इतना मग्न हो गया था कि उसके आगे से राजा का सैन्य चला गया था, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं हुआ (अर्थात् आत्मस्वरूप के चिन्तन में तत्पर रहतों सामायिक है) ॥ ६७ ॥

जिस प्रकार अग्नि अतिशय प्रदीप्त हो कर तृणसमूह को जला डालती है, उदित होता हुआ सूर्य जैसे अन्धकार को नष्ट कर देता है, तथा शत्रुस्वरूप प्रचण्ड और उल्टा वायु जिस प्रकार मेघों को छिन्न भिन्न कर देता है, उसी प्रकार सामायिक समस्त कर्म को नष्ट कर डालती है ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार किरणें सूर्य का, नदियाँ समुद्र का और सर्व देव इन्द्र का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार सर्व संपदायें सामायिक करनेवाले श्रावक का अनुसरण किया करती हैं । (अर्थात् सामायिक परिणामों से पापका नाश व पुण्यकी प्राप्ति होती है, जिससे उसे समस्त सम्पत्तियों का लाभ होता है) ॥ ६९ ॥

वह सामायिक नियतकालिक और अनियत कालिक के भेदसे दो प्रकार की है । उनमें जो घडी आदिरूप कुछ नियत काल के लिये धारण की जाती है, वह नियतकाल

---

६७) 1 याति सति. 2 सामायिकरतस्य पुरुषस्य सामायिकप्रस्तावे मही वा सैन्ये बाणारोपणप्रस्तावे रतस्य पुरुषस्य काये च्छिदां भिदा इत्यादौ सति सामायिक त्यक्त्वा तथा बाणारोपणं त्यक्त्वा परिचिन्ता नास्ति. 3 सामायिककर्पूरपरचिन्तास्ति. 4 बाण समवाये याति सति इति दृष्टान्तः, D राजसैन्यकोला. ले अतीव याते. 5 D याति । ६८) 1 D तृणसमूहम्. 2 P सूर्यः, D भानुः । ६९) 1 किरणाः. 2 P सूर्यम्, Dभानुम्. 3 PD समुद्रम्. 4 नद्यः. 5 दिवसम्, D इन्द्रम् । ७०) 1 संसारसमुद्रस्य ।

1275) रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य[1] ।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः[2] सामायिकं कार्यम् ॥ ७०*१

1276) रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं[1] भ[illegible]यमविचालेतम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्[2] ॥ ७०*२

1277) सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदये ऽपि चरित्रमोहस्य ॥ ७०*३

1278) एवं विवक्ष्यमाणं प्रातर्मध्याह्नसांध्यसमयेषु ।
त्रीन् वा द्वौ वा वारानेकं वा वन्दनेत्यकथि[1] ॥७१

सामायिक कही जाती है। और जो आमरण धारण की जाती है वह अनियतकालीन सामायिक कहलाती हैं । वह सामायिक संसारसमुद्र को मंथनेवाली है। (अर्थात् इससे संसार का नाश होता है)। इसलिये अपनी शक्ति के अनुसार उस सामायिक को धारण करना चाहिये ॥ ७० ॥

इष्टानिष्ट समस्त वस्तुओं के विषय में राग-द्वेष के परित्यागपूर्वक समताभाव का आलम्बन कर के आत्मस्वरूप की प्राप्ति की कारणभूत सामायिक को बहुत प्रकार से करना चाहिये ॥ ७०*१ ॥

उस सामायिक को रात और दिन के अन्त में — इन दो सन्ध्याकालों में — तो स्थिरतापूर्वक अवश्य ही करना चाहिये । इसके अतिरिक्त यदि अन्य समय में भी उसे किया जाता है तो वह दोषजनक नहीं होती, किन्तु अन्य समय में भी की गई वह लाभप्रद ही होती है ॥ ७०*२ ॥

जो श्रावक उस सामायिक का आश्रय लेते हैं उनके समस्त सावद्य योग की निवृत्ति हो जाने से उस समय चारित्रमोह —प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि — के उदय के होनेपर भी महाव्रत होता है ॥ ७०*३ ॥

इस प्रकार जिसका कि वर्णन आगे किया जा रहा है ऐसी उस सामायिक को प्रातः-काल में मध्यान्ह में और सन्ध्याकाल में तीनों वार, दो वार अथवा एक वार करना चाहिये इसको वन्दना कहा गया है ॥ ७१ ॥

७०*१) 1 PD°मवलम्ब्यं. 2 D बहुवारम् । ७०*२) 1 सामायिकम्. 2 D गुणाय भवति ।
७१) 1 कथिता ।

1279) एषा तु नमस्या[1] स्यान्नित्या[2] नैमित्तिकी वणिज्येव ।
वीथीमथ[3] देशान्तरकालान्तरमभ्युपेत्य वेत्यार्षम्[4] ॥ ७२

1280) या यत्र यदा च यथा क्रियाकलापे ऽभ्यधायि सकलापि ।
सा तत्र तदा च तथा सामायिकसुव्रतैः कार्या ॥ ७३

1281) समस्तसावद्यमपास्य कुर्यादेकात्मचिन्तां यदि वा गुरूणाम्[1] ।
गुणावलेर्ध्यानमथापि पाठं मनोवचःकायविशुद्ध्युपेतः ॥ ७४

1282) सावज्जजोगा विरमेण ठिच्चा तत्थेण विण्णाणघणं मुणित्ता[1] ।
सुहं सहस्साणुहवित्तु[2] सम्मं पारेमि[3] सामाइयजोगमेण्हिं ॥ ७४*१

1283) आत्मस्थं[1] वापि दर्पाद्यमवज्ञानादिरूपताम् ।
ततस्[2]तत्फलभागी न[3] बीजं[4] धान्यं वपन्निव ॥ ७५

यह वन्दना नित्य और नैमित्तिक के भेद से वाणिज्य – व्यापार के समान दो प्रकार की है । उसे मार्ग में अथवा देशान्तर या कालान्तर को प्राप्त होकर करना चाहिये, ऐसा आगम है ॥ ७२ ॥

जो क्रिया जिस देश में, जिस काल में और जिस प्रकार से क्रिया कलाप में कही गई है, उस सब को उस देश में उस काल में और उसी प्रकार से सामायिक व्रत के परिपालक श्रावकों को करना चाहिये ॥ ७३ ॥

मन, वचन और काय की विशुद्धि से संयुक्त श्रावक को समस्त सावद्य कर्म को दूर कर के एक आत्मा का चिन्तन करना चाहिये अथवा गुरुओं – पाँचों परमेष्ठियों – के गुण समूहका ध्यान करना चाहिये या फिर पाठ – सामायिक पाठ आदि – को पढना चाहिये ॥७४॥

मैं सावद्य योग से रहित होता हुआ आत्मा को यथार्थ रूप से (अथवा शास्त्र से) विज्ञान स्वरूप जानकर भली भाँति अनुभव करके अब इस समय उस सामायिक योग को पूर्ण करता हूँ ॥ ७४*१ ॥

यदि आत्मा में उन्मत्तता, असावधानी आदि दोष रहेंगे तो सामायिक की अवज्ञादिक होने से उस से कर्मक्षय रूप फल की प्राप्ति न होगी । जैसे – कोई मनुष्य कच्चा धान्य बीज समझ कर बोएगा तो उस से फलप्राप्ति कैसे होगी ॥ ७५ ॥

७२) 1 वन्दना. 2 D सर्वकालम्. 3 D मार्गे. 4 D ग्रन्थं । ७४) 1 पञ्चपरमेष्ठीनाम् । ७४*१) 1 D आत्मसद्भावं ज्ञात्वा. 2 D अनुभूत्वा. 3 D सामायिकं करोमि । ७५) 1 D आर्षग्रन्थकथितमार्गं विना यः करोति. 2 P तत्त्वंस्तत्फल°, निश्चितम्. 3 P ना°, पुरुषः. 4 D अवसरं विना बीजं वपन्यथा न फलति ।

1284) वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानान्यनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥ ७५*१

1285) रक्षन् व्रतानि सकलान्यपि कर्बुराणि स सामायिकं यदि तथाविधमेव कुर्यात् ।
वेश्माश्रमी जघन्यनामधरः स गीतो मध्योऽप्यसौ नियतकालनमस्क्रियाकृत् ॥ ७६

1286) यस्तु व्रतानि परिपाति यथोदितानि त्रैकालिकीं वितनुते गुरुवन्दनां च ।
वन्दारुरेष गदितः समयस्थितिज्ञैर्निर्वेदवर्धितमहागुणधर्मधुर्यः ॥ ७७

1287) यथोक्तं यः कुर्यान्नियतमथ सामायिकपदं
भवारामस्फारैः करणकुविकल्पैरचलितः ।
अमन्दानन्दाद्गुरुमहिमचिज्ज्योतिरमलो
जनः सामायिक्याः श्रिय इह भवेत्पात्रमसमम् ॥ ७८

वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, अनादर व स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच चतुर्थशील—सामायिक व्रत के अतिचार हैं ॥ ७५*१ ॥

जो गृहस्थ सर्व व्रतों को दोषमिश्रित – विचित्र – धारण करता है, वह यदि सामायिक व्रत को भी उसी प्रकार – दोषमिश्रित – धारण करता है, तो (धार्मिकों में) वह मध्यम श्रावक हो कर भी जघन्य माना गया है। यद्यपि वह सामायिक नियतकाल में करता है, तो भी वह जघन्य माना गया है ॥ ७६ ॥

इसके विपरीत जो उपर्युक्त सर्व व्रतों को निर्दोष पालता है तथा तीनों संध्याकाल में गुरुवन्दना को करता हैं उसे धर्म की मर्यादा को जानने वाले विद्वानों ने वंदारु – वंदना करने वाला – (सामायिक व्रती) कहा है। वह वैराग्य से महान् गुणों को वृद्धिगत करता हुआ धर्म के भार को धारण करता है। (तात्पर्य, जिस श्रावक के मन में विरक्ति अधिक बढ जाती है, वह धर्म में अधिक प्रवृत्ति करता है। उसके व्रतादिक निर्दोष ओर गुणयुक्त हो कर बढते जाते हैं तथा वह श्रावकों में प्रधान गिना जाता है) ॥ ७७ ॥

जैसा कि सामायिक का स्वरूप पूर्व में कहा गया है, तदनुसार जो मनुष्य संसाररूप उद्यान को विस्तृत करने वाली इन्द्रियों व कुत्सित विकल्पों से विचलित न हो कर असीम आनन्दपूर्वक उत्पन्न होने वाली व भारी महिमा से संयुक्त ऐसी चैतन्य ज्योति से निर्मल होता हुआ उस नियत सामायिक को करता हैं, वह सामायिकी – सामायिक सम्बन्धी अथवा समय के अनुरूप – लक्ष्मी का असाधारण पात्र होता है ॥ ७८ ॥

७५*१) 1 D विस्मरणं. 2 पञ्चातीचाराः. 3 सामायिकस्य। ७६) 1 गृही. 2 PD °मनस्क्रिया°। ७७) 1 पालयति।

1288) इदमनावरतां चरतामभूज्जलनिधौ मरणं तरणं परम् ।
परभवे व्यसनं व्यसनाशनं प्रवचने ऽभिहितं स्वहितं सदा ॥ ७९

1289) सामायिकस्य मूलं गुरुपञ्चकमस्मरन् सुभौमो[1] ऽपि ।
असुरेण जलधिमध्ये ऽवधि[2] नरके सप्तमे ऽप्यजनि ॥ ८०

1290) सामायिकानभिज्ञो ऽपि मिथिलापद्मको[1] ऽभ्युपैत् ।
वासुपूज्यनमस्यातस्तद्भवे ऽप्यूर्जितां श्रियम् ॥ ८१

1291) समन्तभद्रस्य च भस्मकाशनं[1] वितन्वतो ऽभिस्तुतिमात्रकं मुनेः ।
स्वयं त्रुटन्ति स्म च बन्धनान्यलमितीदमार्षे बहुधा विचारितम् ॥ ८२

1292) अतस्तरां[1] सुविधिना विदधातु चैत-
न्निर्वोढुमिच्छति यदि प्रतिमां तृतीयाम् ।
[illegible]जामपञ्चरचने च कियान्विशेषः
सामायिकस्य गदितः प्रथमं मयैव ॥ ८३

जो जन उस सामायिक का आचरण नहीं करते हैं, उनका संसाररूप समुद्र में डूब कर मरण होता है । (वे संसार में परिभ्रमण करते हुए महान् कष्ट को सहते हैं) और जो उसका आचरण करते हैं, उनका उक्त संसार समुद्र से अतिशय उद्धार होता है । (वे संसार परिभ्रमण से छूटकर मुक्तिसुख का अनुभव करते हैं) । इसी प्रकार सामायिक का आचरण न करने वाले प्राणी परभव में व्यसन ही जिसका भोजन है ऐसे व्यसन को-कष्ट को-सहते हैं और इसके विपरीत आचरण करने वाले भव्य सदा आगम में निर्दिष्ट आत्महित को करते हैं ॥७९॥

सामायिक के मूलभूत पांच परमेष्ठियों का स्मरण न करनेवाला – पंच नमस्कार मंत्र की विराधना करनेवाला – सुभौमचक्रवर्ती समुद्र के मध्य में असुर से मारा जा कर सातवीं पृथिवी के भीतर अवधिष्ठान नामके नरक में उत्पन्न हुआ ॥ ८० ॥

राजा मिथिला पद्मक – पद्मरथ – सामायिक का स्वरूप भी नहीं जानता था, फिर भी वह 'वासुपूज्याय नमः' इस मंत्र का उच्चारण सतत करता था, इस से वह उसी भव में उत्कृष्ट लक्ष्मी को – वासुपूज्य तीर्थंकर के समवसरण में गणधर पद को–प्राप्त हुआ ॥८१॥

भस्मक रोग के नाशार्थ विपुल आहार करने वाले समन्त भद्राचार्यने जब वृषभादि तीर्थंकरों की स्तुति प्रारम्भ की तब उन के बन्धन स्वयमेव टूट गये थे। विषय का विचार आगम में अनेक प्रकार से किया गया है ॥ ८२ ॥

---

८०) 1 चक्रवर्ती. 2 अवधितम् । ८१) 1 पद्मकः श्रियम् अङ्गीकृतवान् । ८२) 1 भस्मव्याधिः । ८३) 1 P D° आतस्तरां ।

1293) चेत्सामायिकस[illegible]गतिका एताः क्रिया [illegible]
कुर्वी[illegible]यंश्च सुखदौ तावर्थकामावपि ।
यत्प्राध्यं जगद[illegible]ः प्रतिपदं यत्नै[illegible]रै-
स्तन्निःश्रेयसरत्नमङ्गकरकं[1] [illegible]र्याज्जनो लीलया ॥ ८४

1294) यद्येतस्याः[1] पिबति सुरसं निर्विरामं[2] विरागी
सांसारिक्याः श्रिय इह तदा मोक्षलक्ष्म्या वरीता ।
दासायन्ते जगदसुलभा रिद्धयश्चाणिमाद्या
बन्धूयन्ते निरुपमगुणाः किं वृथान्यैः प्रलापैः ॥ ८५

इति धर्मरत्नाकरे सामायिकप्रतिमाप्रपञ्चनं पञ्चद[illegible]ऽवसरः ॥ १५॥

प्रातःकाल सामायिक करे ।

इसलिये यदि श्रावक तीसरी प्रतिमाका आमरण निर्वाह करना चाहता है तो उसे निर्दोष विधिपूर्वक सामायिक को करना चाहिये । पूजा की सविस्तर रचना मे सामायिक के कितने भेद हैं, यह में पहले ही कह चुका हूँ ॥ ८३ ॥

सामायिकादि क्रिया से अणिमादि गुणप्राप्ति और मुक्तिलाभ–

अर्थ और काम को भी प्राप्त करने वाला श्रावक यदि सामायिक समुद्र का अनुसरण करनेवाली वंदना – स्तुति आदि क्रियाओं को निश्चय से करता है, तो जगत् के ईश्वर अर्थात् इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती जिस पद के लिये अनिर्वचनीय प्रयत्नों द्वारा पद-पदपर प्रार्थना करते हैं उस मोक्षरूप रत्न को वह अनायास ही हस्तगत कर लेता है ॥ ८४ ॥

यदि मनुष्य विरक्त हो कर इस सामायिक प्रतिमा के उत्तम रसका निरन्तर पान करता है – उसका विधिपूर्वक सानन्द पालन करता है – उसे यहाँ सांसारिक सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं व अन्त में मुक्ति लक्ष्मी भी उसका वरण करती है । इस के अतिरिक्त जो अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियाँ अन्य संसारी जनों के लिये दुर्लभ हैं वे उसके दास के समान सेवा करती हैं, तथा बहुत बकवाद करने से क्या अनुपम गुण – अनन्त ज्ञानादि – उसके बन्धन जैसे बन जाते हैं, अर्थात् बन्धु के समान सदा पास में रहते हैं ॥ ८५ ॥

इस प्रकार धर्मरत्नाकर में सामायिक प्रतिमा का विस्तार करनेवाला पन्द्रहवाँ
अवसर समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

८४) 1 अङ्गभूषणम्, D हस्तगतम् । ८५) 1 सामायिकप्रतिमायाः. 2 विनाशरहितम् [विराम] ।

[१६. षोडशोऽवसरः]

[प्रोषधप्रतिमाप्रपञ्चनम्]

1295) परावरप्रवरसुखैककारणं तपो महाभवभवतापवारणम् ।
प्रपञ्च्यते परमधुना ह्यगारिणां प्रसंगतः किमपि [illegible]रेणाम् ॥ १

1296) यदाचरन् देव इव प्रपूज्यते परैरपि स्वैरपि यत्र[1] तत्र ना[2] ।
परैर्गुणैर्दूरमपाकृतो ऽपि[3] सन्नदस्तपस्तप्यमपास्ततन्द्रिभिः ॥ २

1297) अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षयोरुभयोरपि ।
उपवासः प्रकर्तव्यो विषयग्रामवर्जितः ॥ ३

1298) स्वस्वार्थग्रामदेशेभ्य उपेत्यात्र[1][2] वसन्ति यत् ।
करणान्युपवासो ऽतश्चतुर्धाहारदूरकः ॥ ४

जो नप, पर, अवर और प्रवर सुख का—सर्वोत्कृष्ट सांसारिक सुख और मोक्षसुख, दोनों का भी—कारण होकर दीर्घ संसार व उसके संताप को दूर करने वाला है, उस गृहस्थों के उत्कृष्ट तप का यहाँ विस्तार से वर्णन किया जाता है। प्रसंगवश यहाँ महर्षियों के भी तप का कुछ कथन किया जायेगा ॥१॥

जिस तप का आचरण करनेवाला मनुष्य उत्तम गुणों से रहित होनेपर भी जहाँ—तहाँ दूसरे सज्जनों के द्वारा और स्वकीय जनों के भी द्वारा पूजा जाता है, उस तप को निरंतर आलस्य से रहित होकर तपना चाहिये ॥२॥

गृहस्थ को कृष्ण और शुक्ल दोनों ही पक्षों में अष्टमी और चतुर्दशी के दिन इन्द्रिय-विषयसमूह से विमुख होकर उपवास को करना चाहिये ॥३॥

चूंकि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयसमूह—स्पर्शरसादि—रूप देशों से (उपेत्य) आकर यहाँ अर्थात् चार प्रकार के आहार के त्यागरूप उपवास में (वसन्ति) निवास करती हैं, अतएव

२) 1 PD°यत्र तत्र. 2 D नरः. 3 D निराकृतोऽपि । ४) 1 D परिणामं व्यावृत्य. 2 D वपति ।

1299) तदुक्तम्–
सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्यो ऽवश्यमुपवासः ॥ ४*१
1300) मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय[1] देहादौ ॥ ४*२
1301) सूरिदेवसविधे[1] स गृह्यते यत्र नास्ति गणनायकः पुनः ।
तत्र सद्विधिपुरस्सरत्वतः आत्मनैव गुरुदेवशासनात् ॥ ५
1302) श्रित्वा विविक्तवसतिं[1] समस्तसावद्ययोगमपनीय[2] ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥ ५*१
1303) धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसांध्यविधिः[1] ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां[2] गमयेत्स्वाध्यायहृतनिद्रः[3] ॥ ५*२

उक्त चार प्रकार के आहार के परित्याग को उपवास कहा जाता है । (अभिप्राय यह है कि, उपवास के समय इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों से विरत होकर धर्मकार्य में प्रवृत्त होती हैं। इसीलिये 'उपेत्य वसन्ति अत्र इति उपवासः' इस उपयुक्त निरुक्ति के अनुसार चार प्रकारके आहार के परित्याग का 'उपवास' यह नाम सार्थक समझना चाहिये) ॥ ४ ॥

कहा भी है–

प्रत्येक दिन में आत्मापर आरोपित– अंकुरित किये गये – सामायिक के संस्कार को स्थिर करने के लिये दोनों पक्षार्धों में (अर्थात् प्रत्येक पक्ष के दो दो अर्ध भागों में -दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी दिनों में) उपवास को अवश्य करना चाहिये ॥ ४*१ ॥

प्रोषधोपवास के पूर्वदिन–सप्तमी व त्रयोदशी–के अर्धभाग (मध्यान्ह) में समस्त आरम्भकार्योंको छोडकर शरीरादि की ओर से निर्ममत्व होते हुए उपवास को स्वीकार करना चाहिये ॥ ४*२ ॥

वह उपवास आचार्य अथवा जिनदेव के पास ग्रहण किया जाता है। परन्तु जहाँ आचार्य अथवा जिनदेव नहीं है, वहाँ वह उत्तम विधि के अनुसार गुरुदेव की आज्ञा से स्वयं भी ग्रहण किया जा सकता है ॥५॥

उपवास को स्वीकार करनेवाले श्रावक को किसी एकान्त स्थान का आश्रय लेकर समस्त सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करते हुए सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयों से विरत होना चाहिये तथा कायगुप्ति, मनोगुप्ति और वचनगुप्ति इन तीन गुप्तियों के साथ स्थित होना चाहिये ॥५*१॥

इस प्रकारसे उसे धर्म ध्यान में आसक्त होकर दिन को – सप्तमी या त्रयोदशी के

४*२) 1D त्यक्त्वा । ५) 1 D समीपे । ५*१) 1 D एकान्तगृहम्. 2 D निराकृत्य । ५*२) 1 [illegible]. 2 रात्रि. 3 D निद्रारहितः ।

1304) प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ ५*३

1305) उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अपि वाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥ ५*४

1306) इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥ ५*५

1307) अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासघ्नाः ॥ ५*६

इत्युपवासविधिः ।

दिन को–बिताते हुए सायंकाल को विधि– सामायिक वंदना आदि को–करना चाहिये। तत्पश्चात् पवित्र बिस्तर पर– शुद्ध चटाई आदि के ऊपर – स्वाध्यायसे निद्रा को जीतते हुए रात्रि को व्यतीत करना चाहिये ॥ ५*२ ॥

पश्चात् प्रातःकाल में उठकर और उस समय की सामायिक–देववन्दनादि विधि को कर के तदनन्तर आगमोक्त विधि के अनुसार प्रासुक जल चन्दनादि द्रव्यों से जिनपूजा को करना चाहिये ॥ ५*३ ॥

तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि के साथ दूसरे दिन और रात्रि को – अष्टमी और पूर्णिमा या अमावस्या के दिनभाग और रात्रिभाग को–बिताकर प्रयत्नपूर्वक तीसरे दिन के– नवमी प्रतिपद् के–आधे भाग को भी बिताना चाहिये ॥ ५*४ ॥

इस प्रकारसे जो समस्त सावद्य प्रवृत्ति से रहित होकर सोलह (४+८+४ = १६) प्रहरों को बिताया करता है, उसके उस समय नियम से पूर्ण अहिंसाव्रत – अहिंसा महाव्रत – होता है ॥५*५ ॥

अनवेक्षित – अप्रमार्जित आदान, अनवेक्षित–अप्रमार्जित संस्तर, अनवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग, स्मृत्यनुपस्थान और अनादर ऐसे पाँच प्रोषधोपवास के विघातक अतिचार हैं।

(अनवेक्षित–अप्रमार्जित आदान–प्राणियों को बिना देखे तथा मृदु उपकरण से बिना झाडे अर्हदादि परमेष्ठियों के पूजोपकरण, पुस्तकादिक और अपने वस्त्र आदि को ग्रहण करना या रखना।

अनवेक्षित–अप्रमार्जित संस्तर– प्राणियों को बिना देखे और बिना झाडे चटाई आदि को भूमिपर बिछाना।

५*५) 1 D महाव्रतम् । ५*६) 1 D विस्मरणम् ।

1308) आरम्भजलपानाभ्यां मुक्तो ऽनाहार[1] उच्यते ।
अनूपवासस्त्वारम्भादुपवासो ऽम्बुपानतः[2] ॥ ६

1309) महोपवासो द्वयवर्जितः[1] सदा जिनागमाकर्णनपाठचिन्तनैः ।
अलंकृतः प्रासुकभूमिशय्यया जिनालये स्वालय एव वा रहः[2] ॥ ७

1310) चतसृणां[1] तु भुक्तीनां द्वयोर्वापि विवर्जनात् ।
द्विविधो ऽसौ[2] पुनर्ज्ञेयः प्राचीनः[3] सकलो ऽपि हि ॥ ८

1311) पर्वसु स भवेन्नित्यः पञ्चम्यादिषु महाविधानेषु ।
नैमित्तिको व्रतवतामितरेषां स्याद्विधाने सः ॥ ९

अनवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग –प्राणियों को बिना देखे और बिना झाडे भूमिपर मल–मूत्र छोडना।

स्मृत्यनुपस्थान – भूखसे पीडित होने से प्रोषधव्रत में मन नहीं लगना।

अनादर–भूख से पीडित होने से आवश्यकों में उत्साह न होना, प्रोषधव्रत में उत्साह न रहना) ॥ ५*६ ॥

इस प्रकार से यह उत्तम उपवास की विधि कही गई है।

आरम्भ और जलपान से मुक्त अनाहार कहा जाता है। आरम्भ से अनूपवास और जलपान से उपवास कहा जाता है ॥६॥

परन्तु महोपवास सदा उन दोनों से रहित होता है और वह जिनालय में अथवा अपने ही घर के भीतर एकान्त स्थान में प्रासुक भूमिशय्या के साथ जिनागम के सुनने, पढने और ध्यान से सुशोभित होता है। (अभिप्राय यह है कि चारों प्रकार के आहार का जो सर्वथा परित्याग किया जाता है वह महोपवास कहलाता है। इस महोपवास में सब प्रकार के आरम्भ को छोडकर जिनभवन अथवा अपने ही घर के एकान्त भाग में प्रासुक भूमिके ऊपर स्थित हो कर स्वाध्याय, स्तुतिपाठ एवं ध्यान आदि में समय बिताना चाहिये। इससे उसकी शोभा के साथ सफलता भी निश्चित है) ॥ ७ ॥

वह उपवास चारों भोजनों के परित्यागसे अथवा दो ही भोजनों के परित्याग से दो प्रकार का जानना चाहिये–प्राचीन और सकल ॥ ८ ॥

वह व्रती जनों के अष्टमी व चतुर्दशी पर्वों में नित्य तथा पंचमी आदि महाविधानों में व्रतविशेषों में–नैमित्तिक होता है। अन्य जनों के–अव्रतियों के विधान के समय होता है ॥९॥

---

६) 1 निर्जलः उपवासः. 2 जलपानात् उपवासः उच्यते। ७) 1 आरम्भजलपानाभ्यां वर्जितः महोपवासो भवति. 2 एकान्ते। ८) 1 अशनं खाद्यं स्वादं पेयं चतुःप्रकारमाहारं भवति । तत्र अशनं भक्तादिकम्, खाद्यं पक्वान्नकम्। द्वयोर्वर्जनाद् द्विविधः संज्ञोपवासो भवति. 2 उपवासः. 3 एकविधिः सर्वपूर्वाचार्योक्तः।

1312) हेतोरात्मस्वभावस्य पूरणात्पर्व गीयते।
पूजाक्रियाव्रताधिक्यं धर्मकर्मात्र बृंहयेत् ॥ १०

1313) यद्यत्र चित्तमालिन्यं[1] शक्तिर्वापि न विद्यते।
एकभक्तादिकं किंचिद्विधीयेत विशेषणम् ॥ ११

1314) तदुक्तम्–
तत्तपो ऽभिमतं बाह्यं येन चेतो न दुष्यति।
जायते येन च श्रद्धा येन योगक्षतिर्न च ॥ ११*१

1315) बाह्यं तपः षड्विधमात्मशक्त्या तथान्तरङ्गं सकलं विभक्त्या।
कर्मेन्धदाहोर्ध्वगतिप्रकाशं विधीयतां पावकसंनिकाशम्[1] ॥ १२

1316) सर्वे सर्वविदो[1]ऽप्यतीतजनने शार्दूलविक्रीडित–
प्रायाण्युच्चविधानकानि सकलान्यूचुश्च चक्रुः[2] स्वयम्।
छन्दांसीव सुसंहतानि[3] श्रयति प्रस्तारभाज्यादरा–
दाचीर्णानि कियन्त्यपीतरजनैर्ब्रूमो वयं तद्यथा ॥ १३

आत्मा के स्वभाव को पूर्ण करनेरूप हेतु से अष्टमी चतुर्दशी आदि को पर्व कहा जाता है। पर्व दिनोंमें पूजा, क्रिया एवं व्रतों की अधिकता को वढाना चाहिये। (अभिप्राय यह है कि अष्टमी आदि पर्व दिनों में आरम्भ के परित्यागपूर्वक उपवास व स्वाध्यायादि शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त रहने से आत्मस्वभाव की पूर्णता होती है, अतः इनका पर्व यह नाम सार्थक है)॥१०॥

यदि उपवास के विषय में अपना चित्त मलिन है,अथवा उसके करने की शक्ति नहीं है, तो एक भक्त एकाशन व ऊनोदर–आदि कुछ विशेष करना चाहिये ॥ ११ ॥

सो ही कहा है–

जिस से चित्त दूषित (मलिन) नहीं होता है, जिस से श्रद्धा उत्पन्न होती है और जिससे आत्मध्यान में बाधा नहीं आती है वह बाह्य तप माना गया है ॥ ११*१ ॥

अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश के भेद से बाह्य तप छह प्रकार का है। उसे अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिये तथा अन्तरंग तप भी जो छह प्रकार का है उसे विभाग रूप से करना चाहिये। ये दोनों तप कर्मरूप इन्धन को जलाकर जीव की ऊर्ध्व गति को प्रगट कर देते हैं। इसलिये अग्नि के समान कर्मरूप इन्धन के जलानेवाले इन तपों का आचरण करना चाहिये॥ १२ ॥

सब ही सर्वज्ञों ने–वीतराग जिनों ने– पूर्व भव में सिंह की क्रीडा के समान भयानक

---

११) 1 D मलिनम्। १२) 1 अग्निसदृशम्। १३) 1 D अरहंतः. 2 कृतवन्तः. 3 D छन्दप्रसारवत् मिलितानि।

1317) आनन्दतो ऽनन्तधनश्रियौ[1] ते ईप्सू[2] विधिं प्रोषधमग्रहीष्टाम्[3] ।
आनन्दतो ऽनन्तधनश्रियौ ते संसाररु[4]ग्भेषधमेतदेव ॥ १४

1318) विदेहादौ क्षेत्रे कुलकरगणैः प्राप्य जननं[1]
वितीर्याशादानं[2] परममुनिपानां च विधिना ।
कृतः कल्याणाख्यः सकलजिनपानां विधिरयं
समग्रैस्तैर्भद्रैरविचलधिया सौख्यसरणिः ॥ १५

1319) कल्याणराजसुतपो ऽकृत[1] राजगुप्त[2]-
श्चान्द्रायणेन सह संखिकया[3] च धीरः ।
आचाम्लवर्[4]धनमधीरजनाविषह्यं
दैवीं च खेचरभवां श्रियमाप तेभ्यः ॥ १६

समस्त उत्कृष्ट व्रतविधानों– शार्दूल विक्रीडित आदि व्रत विशेषों– का व्याख्यान भी किया था तथा स्वयं आचरण भी किया था । इसके अतिरिक्त छन्दों–काव्यगत वृत्तों– के समान अतिशय मिले हुए और प्रस्तारों का– रचनाविशेषों का– आश्रय लेनेवाले उन कितने ही व्रतविधानों का आचरण सर्वज्ञों के अतिरिक्त अन्य जनों ने भी आदरपूर्वक किया था उनका हम यहाँ इस प्रकार से कथन करते है ॥ १३ ॥

अनन्त और धनश्री नाम के दो भव्यों ने व्रतपालन की इच्छा से प्रोषध को धारण किया था। इससे वे दोनों आनन्दसे अनन्त धन और लक्ष्मी से सम्पन्न हुए । संसाररूप रोग के नष्ट करने के लिये यही उत्तम औषध है ॥१४॥

कुलकर समूहों ने विदेहादि क्षेत्र में जन्म लेकर विधिपूर्वक उत्तम मुनियों को दान दिया था । तथा सर्व तीर्थंकरों की कल्याण नाम की इस विधि को किया था । (प्रत्येक कल्याण के दिन विधिपूर्वक उपवासादि किया था)। इससे उन सब भद्रजनोंने निश्चल बुद्धि से सुख के मार्ग को प्राप्त किया था ॥ १५ ॥

धीर राजगुप्त ने संखिका श्राविका के साथ चान्द्रायण तप और कल्याणराज नामक तप को किया था। तथा कातर जनों के लिये असह्य ऐसे आचाम्लवर्धन नामक तप को किया था। उन व्रतोंके प्रभाव से वे देवोंकी लक्ष्मी को और विद्याधरों की विभूति को प्राप्त हुए थे ॥

---

१४) 1 अनन्तश्रीधनश्रीश्रियौ द्वे. 2 द्वे वाञ्छके. 3 द्वे गृहीतवत्यौ. 4 रोगः विनाशकः वा। १५) 1 D पूर्वभव. 2 D समस्तद्रव्यदानम्, आसमन्तात् दानम् । १६) 1 कृतवान्. 2 कश्चिद् राजा. 3 PD सुप्तः संख्यावल्या व्रतम्, D विनिभद्रपूर्वभवे ।

1320) विनिर्ममे[1] ऽनामिकयाविनिन्द्यः श्रुतैकभक्त्या श्रुतसागराख्यः ।
श्रेयः[2] श्रियं प्राप यतो दुरापां श्रेयस्यतु[3] प्राणिगणस्ततोऽपि ॥ १७

1321) श्रीदत्ताप्यकरोद्धर्मचक्रवालं[1] यतो ऽभवत् ।
अर्धचक्रिसुता धर्मचक्रचिह्नं स्वमिच्छती ॥ १८

1322) संपदा[1] संपदास्थानं पञ्चमी कमलश्रिया ।
रोहिणीं[2] रोहिणी चक्रे सशोका शोकहारिणीम् ॥ १९

1323) नैरन्तर्यसान्तर्यतिथितीर्थाक्षपूर्वकः[1] ।
उपवासविधिश्चित्रश्चिन्त्यः श्रुतसमाश्रयः ॥ १९*१

1324) निगदितं बहुधेति जिनेश्वरैरनशनं भवसंततिनाशनम् ।
यदभि[1]सेवनमाचरतां सतां गलति कर्मकदम्बकडम्बरम् ॥ २०

1325) विशुध्येन्नान्तरात्मा[1]यं कायक्लेशविधिं विना ।
किमग्नेरन्यदस्तीह काञ्चनाश्मविशुद्धये ॥ २०*१

अनामिका श्राविकाने श्रुतज्ञान के ऊपर असाधारण भक्ति रखकर श्रुतसागर नाम के प्रशंसनीय तप को किया था, जिससे उस को श्रेयान् राजा के भव में दुर्लभ मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हुई । इसलिये सभी प्राणिसमूह को शुभकार्य में प्रवृत्त होना चाहिये ॥१७॥

अपने को धर्मचक्र का चिन्ह प्राप्त होवे, ऐसी इच्छा रखनेवाली श्रीदत्ता ने धर्मचक्रवाल नामक व्रत को किया था, इस से वह अर्धचक्रवर्ती को कन्या हुई ॥ १८ ॥

कमलश्री नामक श्राविका ने ऐश्वर्य से सम्पत्ति के स्थानभूत पंचमी व्रत को किया था तथा शोकपीडित रोहिणीनामक श्राविका ने शोक को हरनेवाले रोहिणी व्रत को किया था ॥

जो तपोव्रत आगम में कहे गये हैं, उनके अनेक प्रकार हैं । उनका विचार कर के स्वरूप को समझ कर के उनका आचरण करना चाहिये । यथा– कोई तपोव्रत निरन्तर करना पडता है, कोई व्रत सान्तर – कुछ समयका अन्तर दे कर – करना पडता है । कोई व्रत पंचम्यादि विशेष तिथि में ही किये जाते हैं और कोई व्रत – रोहिणि आदि – विशेष नक्षत्र के समय में किये जाते हैं ॥१९*१॥

जिनेश्वरोंने संसार परम्परा को नष्ट करनेवाले उस अनशन तप को अनेकप्रकार कहा है, जिसका कि सेवन करनेवाले सज्जन अपने कर्म समूह के प्रभाव को नष्ट करते हैं ॥२०॥

यह अन्तरात्मा कायक्लेश तप के बिना शुद्ध नहीं हो सकता है । सो ठीक भी है, क्यों कि, सुवर्ण पाषाण को शुद्धि के लिये अग्निको छोडकर दूसरा कोई उपाय है क्या ॥२०*१

---

१७) 1 Dममतारहित. 2 D श्रेयांस. 3 D लभ्यति । १८) 1 व्रतं उपवासं च । १९) 1 D विभूत्या. 2 D व्रतम् । १९*१) 1 P°तीर्थर्क्ष° । २०) 1 यस्यानशनस्य । २०*१) 1 PD °द्ध्येतान्त° ।

1326) हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दुःखद्रुमदवानलः ।
पवित्रं यस्य चारित्रैश्चित्तं सुकृतजन्मनः ॥ २०*२

1327) स्वाहारतो यथाशक्ति ग्रासादिपरिहापनम्[1] ।
ऊनोदरं तदाख्यातं रुध्यते[2] गाद्धर्यमुद्धतम् ॥ २१

1328) दातृपात्रगृहवस्तुगोचरो मानसे भवति यो विनिश्चयः ।
उद्धताक्षबलभङ्गकारणं तत्तपो ऽकथि[1] जिनैस्तृतीयकम् ॥ २२

1329) एकान्तयोगव्रतभावनादिसिद्ध्यै गतासंयतजन्तुसंगा ।
यावस्थितिः शून्यनिकेतनादौ विविक्तशय्येति संस्तुतम् ॥ २३

1330) कारणं करणवृत्तिरोधने कामदर्पदलने क्षमं तपः ।
सर्पिरादिरसवर्जनं यथाशक्ति पञ्चममगादि[1] संयतैः ॥ २४

जिसका जन्म पुण्य से सुशोभित है, चारित्र से चित्त पवित्र है, उसके हाथ में दुःखरूपी वृक्ष को वनाग्नि के समान भस्म करनेवाला चिन्तामणि रत्न स्थित है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २०*२ ॥

अवमौदर्य - ऊनोदर तप

अपने आहार के प्रमाणमें (एक, दो व तीन आदि) यथाशक्ति ग्रासों का कम करना, इसे ऊनोदर तप कहते हैं। इस तप से आहार के विषय में जो उत्कट लोलुपता होती है वह नष्ट होती है ॥ २१ ॥

दाता, बर्तन, घर और वस्तु के विषय में जो मन में निश्चय होता है-यदि आज पुरुष, स्त्री अथवा पति-पत्नी पडगाहन करेंगे, तो आहार को ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं ग्रहण करूंगा, इत्यादि नियम किया जाता है - उसे जिन भगवान्‌ने तीसरा तप- वृत्ति परिसंख्यान कहा है। यह तप उन्मत्त इन्द्रियों के बल को नष्ट करनेवाला है - उन्हें - विषयों की ओरसे विमुख किया करता है ॥ २२ ॥

एकान्त समाधि और व्रत (और मैत्री) आदि भावनाओं को सिद्ध करने के लिये निर्जन (पर्वत की गुंफा आदि) स्थानों में, जहाँ असंयत स्त्रीपुरुषादि तथा अन्य प्राणियों का संपर्क न हो, रहना उसे विविक्त शय्यासन नामक तप कहते हैं ॥२३॥

यथाशक्ति जो घी आदि रसोंका परित्याग किया जाता है उसे संयमी जनों ने पाँचवा - रस परित्याग- तप कहा है। यह तप इन्द्रियों के व्यापार- विषय प्रवृत्ति- के रोकने में कारण एवं काम के अभिमान के नष्ट करने में समर्थ है ॥२४॥

---

२१) 1 त्यजनम्. 2 P° रुद्ध्यतो। २२) 1 D कथितम्। २४) 1 गदितम्, D कथितम्।

1331) क्षित्यासन[1]विशेषाश्च क्षुदादिसहनं तथा ।
संवेगभावितस्वान्तः कायक्लेशस्तदुच्यते ॥ २५

1332) यथादेशं यथाकालं [illegible] यथानरम् ।
यथागमं च कुर्वीत प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ २६

1333) चित्रीयते[1] त्रिजगती च वशीभवन्ति
देवादयोऽपि रिपवोऽप्यनुगा भवन्ति ।
यस्याः[2] श्रियोऽप्युपनता[3] जगतां दुरापा[4]
ज्ञानादि पञ्च सुविनीतिममूं तनोतु ॥ २७

1334) पात्रं किंचित्तमिह लभते यः श्रियां कोशवासो
यस्मात्कीर्तिः स्थगयति दिशां चक्रवालं[1] सुशुभ्रा ।
अभ्यर्चां स्वं नयति नितरामुन्नतिं सद्गुणौघं
वैयावृत्त्यं दशसु रचयेत् सूरिमुख्येषु विद्वान् ॥ २८

क्षिति आदिक विविध आसन विशेषों से स्थित होकर ध्यान में लीन होना, भूख आदि की बाधा को सहन करना तथा मन को धर्मानुराग से संस्कृत करना, इसे कायक्लेश कहा जाता है ॥२५॥

देश, काल, दोष और मनुष्य की शक्ति के अनुसार आत्मविशुद्धि के लिये आगमोक्त विधि से प्रायश्चित्त करना, यह प्रायश्चित्त नाम का अभ्यन्तर तप है ॥ २६॥

जिस विनय तप के प्रभाव से तीनों लोक आश्चर्यचकित होते हैं,देवादिक भी वश में होते हैं, शत्रु भी अपने अनुचर (सेवक) हो जाते हैं तथा साधारण मनुष्यों को दुर्लभ ऐसी संपदायें प्राप्त होती हैं उस ज्ञानादि पाँच विषयक विनय को करना चाहिये ॥२७॥

वैयावृत्य का परिपालन करनेवाला गृहस्थ उस पात्र को प्राप्त करता है, जो अनेक प्रकार की सम्पत्तियों का भाण्डागार होता है,जिसके निमित्त से अतिशय धवलकीर्ति दिङ्मण्डल को आच्छादित (व्याप्त) करती है तथा जिस के आश्रय से अपने आपको, पूजा प्रतिष्ठा को और समीचीन गुणों के समूह को अतिशय उन्नति को प्राप्त करता है । इसलिये विद्वान् को आचार्य व उपाध्यायादि स्वरूप दश प्रकार के पात्रों में वैयावृत्य को करना चाहिये ॥ २८ ॥

---

२५) 1 कठिन आसन । २७) 1 D विन [य] व्रतम्. 2 विनीतेर्विनयस्य. 3 जगतां पूज्याः श्रियः. D सेवा. 4 अमूं विनीतिं दुरापाम् । २८) 1 दिशाचक्रम् ।

1335) आत्मेष्टप्रतिबोधनं परिणतिः पापात्मिका हीयते
मार्गे नित्यमकम्पता नवनवं संवेजनं[1] गुप्तयः ।
प्रागल्भ्यं दधति स्फुरन्त्यपि वरं ज्ञप्तिप्रगल्भा गिरः
स्वाध्यायः स तु पञ्चधा निरुपमं तप्यं तपो ऽतन्द्रितैः ॥ २९

1336) वपुष्यपि त्यक्तममत्वबुद्धिः प्रदर्शकं मुक्तिपथप्रकाशकम् ।
असंयमोच्छृङ्खलताप्रणाशं व्युत्सर्जनं[1] धत्त[2] कृतान्तरासम्[3] ॥ ३०

1337) दासन्त्युच्चैः सर्वलक्ष्म्यो हि यस्माल्लोकाधीशा येन[2] ते मागधन्ति[3] ।
सर्वे भावा हस्तरेखन्ति यस्माद्ध्याने तस्मिन् भूयतामेकतानैः ॥ ३१

स्वाध्यायसे अपने जो इष्ट जन है उन को उपदेश दे कर सन्मार्ग में लगाया जा सकता है, उस के निमित्त से पापप्रवृत्ति नष्ट होती है, मोक्षमार्ग में सदा स्थिरता होती है,नवीन नवीन संवेग उत्पन्न होता है, (धर्म में उत्साह वृद्धिगत होता है, मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति याँ अपने वश रहती है), तथा तत्त्वज्ञानसे सामर्थ्य को प्राप्त हुई वाणी प्रकाशमान होती है अर्थात् लोगों को हितमार्ग दिखाने में उद्युक्त होती है । वह अनुपम स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से पाँच प्रकारका है । इसलिये उस स्वाध्याय तपका निरन्तर आलस्य रहित होकर आचरण करना चाहिये ॥ २९ ॥

जिस व्युत्सर्ग तप के प्रभावसे प्राणी अपने शरीर के विषय में भी ममत्व बुद्धि को छोड देता है, जो प्रदर्शक हो कर मोक्षमार्ग को प्रकाशित करता है, असंयमभाव से होनेवाली स्वेच्छाचारिता को नष्ट करता है, तथा जिसने मनकी चञ्चलता को नष्ट किया है (?) उस व्युत्सर्ग नामक अभ्यन्तर तप को धारण करना चाहिये ॥३०॥

जिस ध्यान के प्रभाव से सर्व सम्पत्तियाँ दास के समान सेवा करती है,लोक के स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र व चक्रवर्ती आदि – स्तुति किया करते हैं तथा जिससे सब पदार्थ हाथ की रेखाओं के समान स्पष्ट जाने जाते हैं, ऐसे उस उत्तम ध्यान में एकाग्रचित्त होना चाहिये ॥३१॥

---

२९) 1 PD वैराग्यम् । ३०) 1 कायोत्सर्गम्. 2 यूयं कुरुत. 3 प्रलम्बितभुजम्. P °कृतान्तरासम्°, D अभ्यन्तरअंगं । ३१) 1 ध्यानात्. 2 ध्यानेन. 3 भट्टत्वं कुर्वन्ति भट्टा इव आचरन्ति वा, D स्तुवन्ति. 4 ध्यानात्. 5 ध्याने ।

1338) प्राचीनाप्रतिमाभिरुद्वहति चेद्यः प्रौषधं ख्यापितं
तद्रात्रौ पितृकानने निजगृहे चैत्यालये ऽन्यत्र वा ।
व्युत्सर्गी सिचयेन संवृततनुस्तिष्ठेत्तनावस्पृहः
दूरत्यक्तमहाभयो गुरुरतिः स प्रौषधी प्राञ्चितः ॥ ३२

1339) व्रतानि पूर्वाणि करोति सम्यक् तथैव चेत्प्रोषधमादधाति ।
स मध्यमो निःप्रतिमो[1] लघीयान् यथाकथंचिद्द्वितयं वितन्वन् ॥ ३३

इति धर्मरत्नाकरे प्रोषधप्रतिमाप्रपञ्चनः
षोडशो ऽवसरः ॥ १६ ॥

जो श्रावक पूर्व प्रतिमाओं के साथ पूर्व प्रकीर्तित प्रोषध प्रतिमा धारण करता है, रात्रि में श्मशान में, अपने घर में, चैत्यालय में अथवा अन्य स्थानमें इस व्युत्सर्ग तप को धारण करता है। वह वस्त्र से शरीर को ढँकता हुआ भी शरीर से निःस्पृह होता है। वह महाभय का भी दूर से परित्याग करता है, उसकी पाँच परमेष्ठियों में अतिशय श्रद्धा होती हैं। ऐसा प्रोषध-प्रतिमाधारक लोकपूज्य होता है ॥ ३२॥

जो श्रावक पूर्व व्रतों का निर्दोष पालन करता है तथा उन के साथ प्रोषधको धारण करता है तो उसे मध्यम प्रोषधधारक समझना चाहिये । तथा जो श्रावक प्रतिमाओं से रहित होकर जिस किसी प्रकार से सामायिक व प्रोषध को धारण करता है, उसे जघन्य प्रोषधधारी श्रावक समझना चाहिये ॥३३॥

इस प्रकार धर्मरत्नाकर में प्रोषधप्रतिमा का विस्तार से वर्णन करनेवाला
सोलहवाँ अवसर समाप्त हुआ ॥१६॥

---

३३) 1 P° निःप्रतिमां.

[१७. सप्तदशो ऽवसरः]

[सचित्तादिप्रतिमाप्रपञ्चनम्]

1340) यो भोजनादिरुचितः किल को ऽपि भावो
भोगाभिधां स लभते विविधप्रकारः।
भूषादिको ऽपि बहुधा कथितोपभोगो
भुञ्जीत तौ नियमितौ[1] सततं[2] गृहस्थः ॥ १

1341) अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि[1] सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥ १*१

जो अनेक प्रकार के भोजन आदि – एक ही बार भोगने योग्य –कोई भी उचित पदार्थ हैं वे भोग इस नाम को प्राप्त करते हैं तथा जो भूषण आदि– अनेक बार भोगने योग्य – बहुत-से पदार्थ हैं उन्हें उपभोग कहा गया है। गृहस्थको निरन्तर उन दोनों को–भोग और उपभोग पदार्थों को –नियमित प्रमाण में भोगना चाहिये॥ १ ॥

जो भोग पदार्थ अविरुद्ध भी हैं अर्थात् जिनका सेवन अहिंसा धर्म के विरुद्ध नहीं है उनका भी विद्वान् मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार परित्याग करना चाहिये। तथा जिन का परित्याग नहीं किया जा सकता है उनके विषय में भी इतने पदार्थों का उपभोग दिन में और इतने पदार्थोंका उपभोग रात्रि में करूंगा, ऐसी मर्यादा – प्रतिज्ञा – करनी चाहिये ॥ १*१॥

१) भोगोपभोगौ. 2 D निरन्तरम् । १*१) 1 स्त्रीआभरणेष्वादिषु, D अपरेषु।

1342) पुनरपि पूर्वकृतायां[1] समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तरसीमा[2] प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ।। १*२

1343) इति यः परिमितभोगैः संतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा[1] स्यात् ।। १*३

1344) एकमपि प्रजिघांसुर्[1]निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्[2] ।। १*४

1345) पलाण्डु[1]केतकीनिम्बसुमनः[2]सूरणादिकम् ।
त्यजेदाजन्म तद्रूपं बहुप्राणिसमाश्रयम् ।। १*५

1346) नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूत[1]जीवानाम् ।
न यथापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किंचित् ।। १*६

फिर वर्तमानकालीन अपनी शक्ति को देखकर पूर्व में जो मर्यादा की थी उसमें भी प्रतिदिन अन्यान्य मर्यादाओं को करना चाहिये। (अभिप्राय यह है कि रागभाव को दूर करनेके लिये पूर्व में की गई प्रतिज्ञा का भी संकुचित कर के प्रतिदिन यथाशक्ति विविध प्रकार की प्रतिज्ञाओं को करना चाहिये) ।।१*२।।

इस प्रकार से जो श्रावक मर्यादित भोगों से संतुष्ट हो कर अधिक भोगों का त्याग करता है उसकी अहिंसा बहुतर हिंसाके नष्ट हो जानेसे विशिष्ट प्रकार की होती है। (अभिप्राय यह है कि भोगोपभोग वस्तुओं को जितना कम किया जायेगा आरम्भ के कम होने से उतना ही अहिंसाव्रत वृद्धिगत होगा) ।। १*३ ।।

जो गृहस्थ अनन्तकाय – साधारण वनस्पति – के उपभोग में उद्यत हो कर किसी एक का भी घात करना चाहता है वह उसके आश्रय से अनन्त प्राणियों का घात करता है – अनन्त जीवों की हिंसा का भागी होता है। इसीलिये जो वनस्पति अनन्त साधारण जीवों से प्रतिष्ठित होती है उन सब का अवश्य ही त्याग करना चाहिये ।। १*४।।

प्याज, केतकी पुष्प, नीम के पुष्प और सूरण आदि को का जन्मपर्यन्त के लिये त्याग करना चाहिये। कारण कि इन पदार्थों के आश्रित इसी रूप के अन्य बहुत से प्राणी रहा करते हैं ।। १*५।।

मक्खन का भी त्याग करना चाहिये, क्योंकि वह प्रचुर जीवों का उत्पत्ति स्थान है इस प्रकारसे आहारशुद्धि में विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता है ।। १*६।।

१*२) 1 सीमाम्, D संख्यायाम्. २ D विषये। १*३) 1 D महाव्रतं स्यात्। १*४) 1 D विनाशयन्. २ D कन्दादीनाम्। १*५) 1 ल्हसणं, D प्याजु ल्हसणु. 2 D पुष्प। १*६) 1 D उत्पन्न।

1347) भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्[1] ।
भोगोपभोगविरहादिह न हि लेशो ऽपि हिंसायाः ॥ १*७

1348) वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः[1] संगो नाङ्गे ऽप्यमूर्च्छस्य ॥ १*८

1349) इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति सुमहाव्रतत्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते न तु संयतस्थानम्[1] ॥ १*९

1350) भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो[1] हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावतस्त्याज्यौ[2] ॥ १*१०

1351) दुःपक्वस्य निषिद्धस्य जन्तु[1]संबन्धमिश्रयोः ।
अवीक्षितस्य च प्राशं[2]स्तत्सं[3]ख्याक्षतिकारणम् ॥ १*११

भोग और उपभोग रूप वस्तुओं के निमित्त से गृहस्थों के स्थावर जीवों की हिंसा हुआ करती है, परन्तु इस व्रत में - भोगोपभोग परिमाण में-बहुतसे भोगोपभोग वस्तुओं का परित्याग हो जाने से तन्निमित्तक हिंसा का उनके लेश भी नहीं रहता है ॥ १*७ ॥

भोगोपभोग परिमाण व्रती के वाग्गुप्ति -वचन के ऊपर नियंत्रण-रहने से असत्य भाषणकी संभावना नहीं रहती, दूसरों के समस्त पदार्थों के ग्रहण में प्रवृत्त न होने से उस के चौर्य कर्म भी असंभव हो जाता है, मैथुन का परित्याग कर देने से अब्रह्म भी उससे दूर ही रहता है, तथा जब वह अपने शरीर के विषय में भी ममत्व बुद्धि से रहित होता है तब उस के परिग्रह की तो संभावना ही कैसे की जा सकती है; इस प्रकार वह समस्त हिंसा के निर्मूल कर देने से उपचार से महाव्रती हो जाता है। परन्तु चारित्रमोह- प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय रहने से वह संयत पद को-छठे- सातवें गुणस्थान को- प्राप्त नहीं होता है ॥ १*८-९ ॥

विरताविरत-देशव्रतोंका पालन करनेवाले - श्रावक के जो हिंसा होती है, वह भोगोपभोग के सेवनसे ही होती है, इस को छोडकर अन्य किसी कारण से उसके हिंसा नहीं होती है, इसलिये वस्तुस्वरूप को तथा अपनी शक्ति को भी जानकर उन दोनों-भोग और उपभोग - का त्याग करना चाहिये ॥१*१०॥

दुष्पक्व अर्थात् जो ठीक तरहसे नहीं पका हुआ है या आधपके हुए आहार का ग्रहण करना, निषिद्ध- आगम प्रतिषिद्ध अनन्तकायादिका- भक्षण करना, जन्तुसंबन्धी (अर्थात् जिसका सचेतन वस्तु से संबन्ध है ऐसे भक्ष्य) पदार्थ का ग्रहण करना- (जैसे सचित्त वृक्ष से

१*७) 1 स्थावराणां अनन्तकायानाम् । १*८) 1 मैथुनत्यागात् मैथुनरहितस्य ।१*९) 1 यतित्वम्, D मुनिव्रतम् । १*१०) 1 भोगोपभोगाभ्यामन्यतो हिंसा न. 2 भोगोपभोगौ । १*११) 1 D सचित्त:. 2 P प्रायस्तत्. 3D भोगोपभोगयोः ।

1352) भोगोपभोगविभवैर्न समेति तृप्तिं
देवाधिपः[1] फणिपतिः किल चक्रपाणिः ।
एधैर्विभावसुरिवेत्यवगम्य भोगै-
रन्यैः प्रतुष्य[4] विजहातु[5] सचित्तजातम्[6] ॥ २

1353) यमश्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये[1] वस्तुनि स्मृतौ ।
यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥ ३

1354) आहाराद्यं प्रगृह्णानो भूषावस्त्रादिकं तथा ।
स्वे न्तरायान् समालोच्य तत्सेवेत गृहाश्रमी ॥ ४

1355) अस्थिचर्मरुधिरं पलं तथा पूयकं कृतनिवृत्तिभोजनम् ।
एभिरेव कृतमेलनं[1] च यत् विघ्नसप्तकमिदं समुच्यते ॥ ५

संबद्ध गोंद आदि का भक्षण करना),जन्तुसंमिश्र– सचित्त मिर्च आदिसे मिश्रित–दाल आदि का भक्षण करना, तथा ठीकसे न देखे गये आहार का ग्रहण करना; ये पाँच अतिचार उस भोगोप-भोग परिमाण को नष्ट करनेवाले हैं ॥१*११॥

भोगोपभोग के वैभवसे इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती भी इस प्रकार तृप्त नहीं होते हैं, जिस प्रकार कि इन्धन से कभी अग्नि तृप्त नहीं होती है,यह जानकर अन्य भोगों से–अचित्त वस्तुओं से– संतुष्ट होकर सचित्त वस्तुओं के समूहको छोड देना चाहिये ॥२॥

त्याज्य वस्तुओं के त्याग के विषय में यम और नियम ऐसे दो प्रकार हैं । उनमें जीवनपर्यन्त जो त्याज्य वस्तु का त्याग किया जाना है उसे यम और जो कुछ कालमर्यादा के अनुसार उसका त्याग किया जाता है उसे नियम कहते हैं ॥ ३ ॥

गृहस्थ जिन आहारादि रूप भोग वस्तुओं को तथा भूषण और वस्त्र आदि रूप उप-भोग वस्तुओं को ग्रहण करता है उनका सेवन उसे अपने अन्तरायोंका सम्यक् विचार करके ही करना चाहिये ॥४॥

हड्डी, चमडा, रक्त, माँस, पीव तथा जिस भोज्य वस्तु का त्याग किया गया है, ये छह और इनसे मिश्रित भी; इस प्रकार इन्हें विघ्न सप्तक कहा जाता है । इनका गृहस्थको त्याग करना चाहिये ॥५॥

---

२) 1 इंद्रः. 2 इंधनैः. 3 अग्निः. 4 PD प्रसक्तं [भं] प्रसन्. 5 D त्यजतु. 6 D मिश्रम् । ३) 1 P त्याज्यौ । ५) 1 D मिश्र. 2 अन्तरायम्, D अन्तरायाः ।

1356) संकल्पादर्शनाद्विघ्नः संसर्गात् स्पर्शनात्क्वचित् ।
हिंसनाक्रन्दनप्रायात्पापात्प्रत्ययकारिणः ॥ ६

1357) यत्र त्रसप्रहननं हि समक्ष[1]मेव
तत्तत्परित्यजतु भोजनपानकाद्यम् ।
मा संगृहीद[2]पि नियुङ्क्त च मा सुधर्मा
मा संस्पृशच्च तदसावनुमंस्त मा च ॥ ७

1358) अतिप्रसक्तिप्रतिषेधनार्थं तपोभिवृद्ध्यै व्रतबीजरूढ्यै ।
शरीरनैर्मम्यनिदर्शनार्थमित्यन्तराया गृहिणोऽपि दिष्टाः ॥ ८

1359) अप्पीय[1]माव[1]परिपोसणकारणट्ठं
ह[2]म्मासमी कहियमाणक[3]मं पि किंचि ।
णिच्चं कुणादु णिय[4]संजमपोसणट्ठं ।
पुव्वुत्तदुल्लहवयाणि विसंभरेदुं ॥ ८*१

भोजन में उपर्युक्त हड्डी आदिकी कल्पना के होनेपर, उनका दर्शन हो जाने पर उनका संबन्ध हो जानेपर, उनके छू जाने पर तथा कहीं हिंसा और तद्रूप रोने–चिल्लाने आदि शब्दके सुनने से भोजन में विघ्न – अन्तराय – हुआ करता है ॥ (अभिप्राय यह कि भोजन करते समय यदि मन में किसी प्रकार की घृणित कामना हो उठती है अथवा उपर्युक्त हड्डी आदि घृणित वस्तुओं का दर्शन स्पर्शन आदि होता है तो विवेकी जीव को उस समय भोजन का परित्याग कर देना चाहिये) ॥ ६ ॥

जिस भोजन–पानादि में प्रत्यक्ष में ही त्रस जीवों का घात हो रहा हो उस भोजन पानादि का परित्याग करना चाहिये। तथा जिनमें त्रस जीवों का विनाश होता हो ऐसे चेतन–अचेतन पदार्थोंका धर्मात्मा श्रावकको न संग्रह करना चाहिये न उस में किसीको नियुक्त करना चाहिये, न उनका स्पर्श करना चाहिये और न ऐसे कामों को करनेवालों की अनुमोदना भी करनी चाहिये ॥ ७ ॥

भोजन के विषय में अतिप्रसंग के दूर करनेके लिये, तप के बढानेके लिये, व्रतरूप बीज के अंकुरित होने के लिये और शरीर के ऊपर ममता के नष्ट करने के लिये गृहस्थों के लिये भी अन्तराय कहे गये हैं ॥८॥

गृहस्थ को लक्ष्य कर के जो कुछ भी व्रतों का क्रम कहा जा रहा है उसका क्षमा

७) 1PD प्रत्यक्षम्. 2 P°संग्रहीदपि । ८) 1 D व्रतस्य बीजम् । ८*१) 1 आत्मभाव. 2 D गृही. 3 D क्रमम्. 4 निज ।

1360) पूर्वप्रणीतप्रतिमाभिरेतां यः पालयंत्सर्वसचित्तदूराम् ।
स सत्तमो ऽत्रादि लघुश्च कांचित्कुर्वन् कदाचिच्च यथाकथंचित् ॥ ९

1361) व्रतानि सर्वाण्यपि पाति यत्नात् यः प्रोषधेष्वेव सचित्तमोची ।
सुसंयमप्रसारणसक्तचित्तः स मध्यमो ऽगायि सचित्तमोची ॥ १०

1362) वारिषेणो ऽत्र दृष्टान्तः प्रोषधव्रतधारणे ।
रजनीप्रतिमायोगपालने ऽप्यतिदुष्करे ॥ ११ सचित्तप्रतिमाख्या ।

1363) सीमन्तिनीनयनगोचरतां प्रयाताः[1]
स्वं न स्मरन्ति न परं सुविवेकिनोऽपि ।
कांचिद्दशामुपगता वचसामगम्यां
प्रस्पन्दनादिरहिता[2] इव योगिचन्द्राः ॥ १२

मार्दवादि रूप आत्मिक भावों को पुष्ट करने के लिये अपने संयम का पोषण करने के लिये और पूर्वोक्त दुर्लभ व्रतों का स्मरण करने के लिये सदा पालन करना चाहिये ॥ ८*१ ॥

जो श्रावक पूर्वोक्त व्रत प्रतिमादिकों के साथ इस सर्व सचित्त के त्यागस्वरूप प्रतिमा का पालन करता है वह श्रेष्ठ तथा जो कभी जिस किसी प्रकार से किसी भी प्रतिमा का पालन करता है वह हीन सचित्तत्यागी कहा गया है ॥९॥

जो प्रयत्नपूर्वक सब ही व्रतों का पालन करता है, केवल पर्वों में ही सचित्त का परित्याग करता है, तथा जिसका मन उत्तम संयम के विस्तृत करने में आसक्त रहता है वह मध्यम सचित्तत्यागी श्रावक कहा गया है ॥१०॥

यहाँ प्रोषध व्रत के धारण में वारिषेण राजपुत्र का दृष्टान्त है और अतिशय दुष्कर रात्रिप्रतिमायोग के पालन में राजा श्रेणिक के पुत्र वारिषेण का दृष्टान्त है ॥ ११ ॥

सचित्त प्रतिमा का कथन समाप्त हुआ ।

सुन्दर स्त्रियों के कटाक्षों से आक्रान्त हुए अतिशय विवेकी जन भी न अपने आपको स्मरण करते हैं और न दूसरे को भी स्मरण करते हैं। वे उस समय ध्यान में स्थित श्रेष्ठ योगीन्द्रों के समान हलन चलनादि क्रिया से रहित हो कर किसी अनिवर्चनीय अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं ॥१२ ॥

---

१२) 1 प्राप्ताः सन्तः. 2 नेत्रपरिस्पन्दादिरहितम् ।

1364) भोगोपभोगविभवैकभुवो हि भामा
नामापि रागजलधिं सततोत्तरङ्गम् ।
यासां तनोति तुहिनद्युति[1]बिम्बतुल्यं
तत्सेवनं न करणीयमतो ऽह्नि[2] विज्ञैः[3] ॥ १३

1365) विश्वप्रदेशान् प्रविलङ्घ्य रागरज[1]स्तथा विस्फुरति प्रसह्य[2] ।
आत्मप्रकाशं कलुषीकरोति यथा रजोऽभ्युल्लसितं तमोरेः[3] ॥ १४

1366) अर्धस्य रागजलधेर्विदधाति शोषं
पोषं च संयमतरोर्व्यवहारवल्ल्याः ।
वृद्धिं महर्द्धिनिवहं निजयोग्यतां[1] च
यः सेवते न दिवसे नियमेन रामाः ॥ १५

1367) उल्लाससंलापभरं गृणानो दिने युवत्या ह्यनुरागमत्या ।
कैश्चिच्च हस्येत विनिन्द्यते ऽन्यैर्दिवा व्यवायं[1] त्यजतु[2] तो ऽसौ ॥ १६

स्त्रियाँ भोगोपभोग के वैभवका अधिष्ठान है – उनके आश्रय से प्राणी भोग और उपभोग वस्तुओं के उपभोग में प्रवृत्त होते हैं । चन्द्रबिम्ब के समान उनका केवल नाम भी राग रूप समुद्र को सेकडों विस्तृत तरंगों से–उत्कण्ठादिकों से– व्याकुल बनाता है । इसलिये विज्ञजनों को उनका सेवन दिन में नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

रागरूप धूलि समस्त प्रदेशों को लाँघकर हठात् इस प्रकार से वृद्धिंगत होती है व आत्मा के प्रकाश को– उसके ज्ञानादिमय स्वरूप को – कलुषित – मलिन किया करती है जिस प्रकार कि धूलि वृद्धिंगत होकर सूर्य के प्रकाश को कलुषित कर दिया करती है ॥१४॥

जो नियम से दिन में स्त्रीसेवन नहीं करता है वह आधे रागरूप समुद्र को सुखा डालता है तथा संयमरूप वृक्ष को पुष्ट करता हुआ वह व्यवहार रूप लता को भी वृद्धिंगत करता है । इस तरह दिन में अतिरिक्त स्त्रीसेवन न करने से वह वैभव की वृद्धि के साथ योग्यता को भी बढाता है ॥ १५ ॥

दिन में अनुराग बुद्धि से युवती स्त्री के साथ हर्षित होकर संभाषण करनेवाले मनुष्य की अन्यजन हँसी मजाक किया करते हैं और दूसरे कितने ही जन उसकी निन्दा भी करते हैं । अतः व्रती पुरुष के लिये दिन में मैथुनसेवन छोडना चाहिये ॥ १६ ॥

१३) 1 चन्द्रबिम्ब. 2 D दिवस. 3 दिवाब्रह्मचारिभिः । १४) 1 P°रागरयः. 2 हठात्. 3 सूर्यस्य । १५) 1 °निजकार्यनियोज्यतां च । १६) 1 D मैथुनम्. 2 त्यजतु ।

1368) पूर्वोदिष्टव्रतगणशिरो ऽलंकरोत्येतया यः
सो ऽह्नि ब्रह्मव्रतगुणवतां वर्तते मूर्ध्नि धीमान् ।
पूर्वैरेतां विरलविरलं पाति मध्यो यथोक्तैः
रक्षत्येतद्द्वितयमपि चेत्कर्हिचित्स्याल्लघीयान् ॥ १७

1369) स्वात्मोपलम्भसुखसंगपराङ्मुखस्य
कन्दर्पसर्पविषवेगविमोहितस्य ।
नारीनिषेवणपरायणमानवस्य
नो शीलसंयमगुणाः सविधे वसन्ति ॥ १८

1370) हेयादेयविचारणाविरहिता बुद्धिर्न धर्म्यं धुरं
धर्तुं यत्र सहा सुधाद्रवमुचो ऽगण्या गुरूणां गिरः ।
चेतो ऽनेकविकल्पजालगहने नैवैकतानं क्वचि-
द्रागः को ऽपि समुच्छलत्यविकलो रामाप्रसंगे नृणाम् ॥ १९

जो श्रावक पूर्व में निर्दिष्ट व्रतसमूह रूप शिर को इस प्रतिमा से विभूषित करता है, अर्थात् पूर्व सब प्रतिमाओं के साथ इस प्रतिमा का पालन करता है, वह बुद्धिमान् दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले मनुष्यों के अग्रभाग में स्थित होता है—वह दिवा मैथुन त्यागियों में श्रेष्ठ माना जाता है। और जो पूर्व प्रतिमाओं के साथ इस प्रतिमा का विरल विरल पालन करता है– कदाचित् पालन करता है, और कदाचित् नहीं भी पालन करता है – वह मध्यम दिवा-मैथुन त्यागी कहा गया है। इन के अतिरिक्त जो इन दोनों का भी कदाचित् रक्षण करता है वह अतिशय हीन माना गया है ॥ १७ ॥

जो मानव आत्मस्वरूप की प्राप्तिरूप सुख से दूर रहता हुआ कामरूपी सर्प के विष-वेग से मूर्च्छित होकर स्त्रीसंभोग में तत्पर होता है उसके पास शील संयम आदि कोई भी गुण नहीं रहते हैं ॥ १८ ॥

स्त्री संभोग में मनुष्यों के कोई ऐसा पूर्ण रागभाव उत्पन्न होता है जिससे उनकी हेय—उपादेय के विचार से रहित बुद्धि धर्म की धुरा के धारण करने में असमर्थ होती है – वह धर्म की ओरसे विमुख रहती है, अमृतरूप रस को छोडनेवाली गुरुजनों की वाणी की कोई गणना नहीं की जाती है—उसकी अवहेलना की जाती है, तथा अनेक विकल्पों के समूहरूप वन में विचरता हुआ चित्त कहीं – शुभ क्रियाओं में –एकाग्रता को नहीं प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

१७) 1 पूर्वकथित. 2 दिवसे. 3 D मस्तके. 4 P°रक्षत्येत । १८) 1 D निकटे । १९) 1 P°सुहा-सुधा° ।

1371) उक्तं च-

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः[2] प्रज्वाल्य रागानलं
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः।
हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीच्छद्मना निर्मितं
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः ॥ १९*१

1372) हासो ऽस्थिसंदर्शनमक्षियुग्ममत्युज्ज्वलं तत्कलुषं वसायाः।
कुचादि पीनं पिशितं घनं तत्स्थानं रतेः किं नरकं न योषित् ॥ २०

1373) यदत्र लोके ऽथ परे[1] नराणामुत्पद्यते दुःखमसह्यवेगम्।
विकासिनीलोत्पलचारुनेत्रास्त्यक्त्वा स्त्रियस्तस्य[2] न हेतुरन्यः ॥ २१

कहा भी है-

अतिशय पापी, दुष्ट और भय के स्थानस्वरूप इन्द्रियरूप व्याधों के द्वारा संसाररूप मृगादि पशुओं के निवासस्थान के चारों ओर रागरूप आग को जलाकर सब ओर से पीडा को प्राप्त कराये गये ये प्राणिरूप मृग खेद है कि रक्षा की अभिलाषा से व्याकुल हो कर स्त्री के मिषसे बनाये गये कामदेवरूप व्याधराज के मारणस्थान का आश्रय लेते हैं ॥१९*१॥

स्त्रियों का हास्य मानो हड्डियों का दर्शन है, उनकी अतिशय निर्मल ऐसी दोनों आँखें मेदासे कलुषित–मलिन–है, तथा पुष्ट स्तन आदि अवयव सघन दृढ मांस के पिंड हैं। तथा जो संभोग का स्थान अर्थात् योनि है वह प्राणियों का घात करने का स्थान है। इसीलिये अनुराग की स्थानभूत स्त्री क्या साक्षात् नरक नहीं है? अर्थात् वह प्राणी को साक्षात् नरक में ले जानेवाली है ॥ २०॥

इस लोक में अथवा परलोक में जो मनुष्यों को असह्य वेगवाला दुःख उत्पन्न होता है उसका कारण विकसित नील कमल के समान सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियाँ ही हैं, उन को छोडकर अन्य कोई भी दुःख का कारण नहीं है ॥२१॥

१९*१) 1 D विनाश [निवास] for विधीत°. 2 D समन्तात्। २०) 1 P°मप्युज्ज्वलं। २१) 1 D परलोके. 2 दुःखस्य।

1374) तृप्तिर्न यत्र[1] समभूदमरेश्वराणां
वाञ्छातिरिक्तविषयोपरि लोलितानाम् ।
वार्तैव का परजनेष्विति नातिसंगा-
दाहारवद्युवतिरप्यनुभूय हेया ॥ २२

1375) चारित्राद्भुतरत्नचोरणपटुर्मायालताजन्मभू-
र्वैकल्यं वचसामगोचरतरं[1] धर्मार्थयोस्तन्वती ।
दृष्ट्वा गौरिव शाद्वलं[2] कमपि या स्वच्छन्दवाञ्छा नरं
रामा सा कथमस्तु हन्त महतां[3] विश्रामभूश्चेतसाम् ॥ २३

1376) मानिनीमदनसंभवं सदा दोषडम्बरमवेत्य पण्डितः ।
सर्वतो ऽपि च सुचित्तमात्मनश्चेदभीप्सति जहातु[1] कामिनीम्[2] ॥ २४

इच्छा से भी अधिक इन्द्रियविषयों में लोलुपता को प्राप्त इन्द्रों को भी जहाँ — जिस स्त्री के विषय में— तृप्ति नहीं होती है वहाँ फिर अन्य जनों के विषय में क्या कहा जाय? अर्थात् तब वैसी अवस्था में उनसे अतिशय तुच्छ सुखसामग्री को प्राप्त कर सकने वाले अन्य मनुष्यादिकों को उससे तृप्ति हो ही नहीं सकती है । इसीलिये उसका आहार के समान उपभोग करके उसे छोड देना चाहिये, अतिशय आसक्ति से उसका उपभोग करना योग्य नहीं है।।२२।।

जो स्त्री पुरुषों के चरित्ररूप अद्भुत रत्न का अपहरण करने में चतुर, मायारूप लता की जन्मभूमि, धर्म और अर्थ पुरुषार्थ की अनिर्वचनीय विकलता को विस्तृत करनेवाली तथा गाय जैसे घास से हरेभरे प्रदेश को देखकर स्वच्छन्दतापूर्वक उसकी इच्छा किया करती है, उसी प्रकार जो स्वेच्छाचारितापूर्वक उसकी इच्छा करती है — उसके विषय में आसक्त होती है— ऐसी स्त्री महापुरुषों के चित्त का विश्रामस्थान कैसे हो सकती है ? अर्थात् महापुरुष ऐसी स्त्री का कभी विश्वास नहीं किया करते हैं ॥२३॥

विद्वान् यदि अपने चित्त की पूर्ण शुद्धि को चाहता है तो उसे स्त्री संबन्धी कामभोग से उत्पन्न हुए दोषों के आडम्बर को जानकर उस स्त्री का त्याग करना चाहिये ॥ २४ ॥

२२) 1 स्त्रीषु । २३) 1 P°चरचरं. 2 शाद्वलं हरितं स्थानं घनादि शाद्वलं पुरुषं च. 3 विवेकिजनानाम् । २४) 1 त्यजतु. 2 P°कामिनोः ।

1377) जनयातितर.[1] चिन्ता यासां दशा दश कामिना-
मखिलजगतां याश्चैकैका प्रवृद्धिमती सती ।
स्थगननिपुणाः श्यामाङ्गीस्ता विचारपराः सदा
वितिमिरमहादृष्ट्यन्धत्वमदा इति मुञ्चतु ॥ २५

1378) अहं रामा कामानुभवनपरिप्राप्तधृतिकः
सदा निर्वेदोत्थाखिलविषयवैतृष्ण्यमतिकः ।
इदानीं तिष्ठन्त्यो ऽपि हि युवतयो मे ऽन्यनृसमा
इतीत्थं[1] मत्वा यस्त्यजति रमणीर्ब्रह्मविदसौ ॥ २६

1379) हरिणच्छीवग्गाओ कस्स वि पुण सव्वदो[1] विरदी ।
इय सुत्तट्ठं पालउ कालं भावं तु वयसत्ती ॥ २६*१

जिन स्त्रियों को चिन्ता – तद्विषयक विचार कामी पुरुषों के उन दस कामावस्थाओ को उत्पन्न करती है जिनमें से एक एक अवस्था भी वृद्धिगत हो कर समस्त जगत् को व्याप्त करती है । ये स्त्रियाँ सदा दूसरों के दोष ढकने में निपुण हो कर तिमिर रोग के बिना ही दृष्टि में अतिशय अन्धपने को उत्पन्न करती हैं । ऐसा विचार कर के विद्वानों को उनका सदा त्याग करना चाहिये ॥ २५ ॥

मैं स्त्रियों के साथ कामभोगविषयक अनुभव से धैर्य को प्राप्त कर चुका हूँ – उसकी ओर से सन्तुष्ट हो चुका हूँ । इस समय अन्य मनुष्यों के समान मेरे सामने उन युवती स्त्रियों के स्थित रहने पर भी मेरी बुद्धि निरन्तर वैराग्य से- उत्पन्न विषय तृष्णा से- कामभोगविषयक अनासक्ति से-परिपूर्ण हो चुकी है । इस प्रकार से विचार कर के जो स्त्रियों का परित्याग किया करता है उसे ब्रह्मवित्-आत्मज्ञ या ब्रह्मचर्य का ज्ञाता- जानना चाहिये ॥२६ ॥

हरिण के समान नेत्रोंवाली उन स्त्रियों की ओर से किसी विरले पुरुष को ही पूर्णतया वैराग्य प्राप्त होता है, ऐसा सूत्रार्थ समझकर काल, भाव और व्रत के सामर्थ्य की मार्गप्रतीक्षा करे। अर्थात् वैराग्य योग्य काल, परिणाम, वय और सामर्थ्य के प्राप्त होने पर स्त्री का त्याग करना चाहिये ॥ २६*१ ॥

२५) 1 D अतिशयेन । २६) 1 D अमुना प्रकारेण । २६*१) 1 P° सव्वदो हवे [हवे] वि° ।

1380) रक्षन्ति प्रतिमामिमां यदि समं पूर्वव्रतैर्निर्मलै-
स्ते स्युर्ब्रह्मचराग्रवर्तिन इति द्वन्द्वद्वयध्वंसिनः ।
एतान् पान्ति यथोदितान् यदि तदा मध्या व्रतैः प्राक्तनैः
किर्मीरैर्द्वितयं भवन्ति लघवो ये पालयन्ते तथा ॥ २७

1381) भोगोपभोगमूलः स्यादारम्भो गृहमेधिनाम् ।
भोगोपभोगा यैस्त्यक्ताः स्यात्तेषां स कुतस्तनः ॥ २८
1382) हिंसां त्रसानामपि सर्वथैव निरोद्धुमिच्छत्यसुखैकधात्रीम् ।
यः स्थावराणामपि दुर्निवारामारम्भमुज्झत्विति सोऽवबुध्य ॥ २९

1383) बाह्यारम्भे विनिहितमनाः स्यात्पराधीन[1] एव
तस्माद्धर्मं निजसमुचितं न स्मरेन्नापरं वा ।
धर्मारामस्मृतिविरहितः किं न तिर्यक्समानो
हिंस्रत्वं तत्कथमिव जने मित्रतां नानुरुन्ध्यात् ॥ ३०

यदि श्रावक निर्मल पूर्वव्रतों के साथ इस प्रतिमा का पालन करते हैं तो वे ब्रह्मचर्य पालनेवालों में अग्रगण्य होते हैं तथा (सुखदुःखरूप) दोनों द्वन्द्व को नष्ट करते हैं। यदि पूर्वोक्त व्रतों के साथ उक्त विधिसे वे इनका पालन करते हैं तो वे मध्यम ब्रह्मचारी होते हैं और जिनके ये दोनों कभी कभी होते हैं वे लघु ब्रह्मचारी होते हैं ॥२७॥

गृहस्थों के जो आरम्भ होता है, उसके मूलकारण भोग और उपभोग हैं। परन्तु जिन्होंने भोग और उपभोग को छोड दिया है उनके वह आरम्भ कहां से हो सकता है ॥२८॥

जो श्रावक एक मात्र दुःख को उत्पन्न करनेवाली त्रस जीवों की हिंसा के सर्वथा रोकनें की इच्छा करता है तथा जो दुर्निवार– जिसका रोकना अशक्य है– ऐसी स्थावर जीवों की भी हिंसा को रोकना चाहता है उसे बुद्धिपूर्वक आरम्भ का त्याग करना चाहिये ॥२९॥

जिसका मन बाहिरी आरम्भ में संलग्न है वह पराधीन ही है। इसी से वह न तो अपने समुचित धर्म का स्मरण कर सकता है। और न अन्य भी कर्तव्य कार्य का स्मरण कर सकता है। इस प्रकार से जब वह धर्मरूप उद्यान के स्मरण से रहित होता है तब वह क्या पशुतुल्य नहीं होगा? (अवश्य होगा, क्योंकि मनुष्य और पशु में यही तो भेद है कि मनुष्य विशिष्ट ज्ञानी होने से धर्माचरण में उद्यत होता है, परन्तु विवेकशून्य होने से पशु उस में

२७) 1 D भवेयुः. 2 मिश्रितैः। २८) 1 PD आरम्भः। ३०) 1 P स्यात्स्वरा°।

1384) आरब्धवस्तुनि जनो हि यथाकथंचित्
प्रायो ऽर्थयत्नकरणीयशतैः समाप्तिम् ।
रात्रिं न वेत्ति न दिनं लभते न निद्रां
भुङ्क्ते न भोजनमनेकविधं मनोज्ञम् ॥ ३१

1385) बाह्यारम्भप्रसृतधिषणो वर्तते ऽतिक्रमे ऽपि
स्वज्ञातीनां त्रिभुवनहितप्रापिणां वा गुरूणाम् ।
धर्म्या धूलीरिव विगणयन् सुक्रिया दुःखलभ्या
इत्यारम्भे कुश इव कियद्दोषतार्णं ब्रवीमि ॥ ३२

1386) चिरं तु परिलालिता अपि गुणेषु संयोजिताः
कलत्रतनयादयस्त इह चारभन्ते तथा ।
यथाहमधुनार्थिषु प्रवितरामि भुञ्जे स्वयं
उदासवदवस्थितो भवति नूनमारम्भहा ॥ ३३

उद्यत नहीं होता है । और जब ऐसी अवस्था है तब भला उसका वह हिंसक स्वभाव प्राणी के विषय में मित्रता को कैसे नहीं रोकेगा ? अवश्य वह मैत्रीभावना से शून्य होगा ॥३०॥

जिस कार्य का प्रारम्भ किया गया है उसे मनुष्य प्रायः सैंकडों यत्न कर के समाप्त करना चाहता है । उसमें न वह रात और दिन को गिनता है, न निद्रा को प्राप्त होता है और न उस कार्य की समाप्ति होने तक वह अनेक प्रकार के मनोज्ञ आहार को भी ग्रहण करता है ॥३१॥

जिसकी बुद्धि बाहिरी आरम्भ कार्य में संलग्न है वह अपने जातिबन्धुओं और तीनों लोकों के हित को प्राप्त करने वाले गुरुजनोंका भी उल्लंघन करता है – उनका तिरस्कार करता है । वह दुर्लभ धर्मयुक्त उत्तम आचरणों को धूलि के समान तुच्छ मानता है इस लिये कुश के समान आरम्भ में मैं कितने दोषयुक्त तृण कहूँ ॥३२॥

मैंने पत्नी, पुत्र आदिकों को दीर्घकाल तक पालपोस कर गुणों में भी तत्पर किया है अर्थात्–सद्गुणी बनाया है । अब वे बाह्य आरम्भ करते हैं–धनादि कमाते हैं, इसलिये मैं अब याचकों को धन दूँगा तथा स्वयं उदासीन भाव से स्थित हो कर भोजन करूँगा । ऐसे विचार से उदासीन के समान स्थित होता हुआ आरंभत्यागी बनता है ॥३३॥

---

३१) 1 PD'प्रायार्थयत्न । ३२) 1 धर्मयुक्ताः. 2 D°बुस इव । ३३) 1 D प्रतिपालिता. 2 D ददामि. 3 आरम्भरहितः ।

1387) अनारम्भात्कायः प्रचलति नवोच्छृङ्खलतया
ततश्चित्तं चित्रां रचयति न वा बाह्यसुरतिम् ।
वचो ऽविन्यासो ऽतो विरमति विकल्पद्रुमवधा–
त्त्रिगुप्तः[2] स्यादित्थं मुनिरिव जनो यत्नरहितः ॥ ३४

1388) यो ऽनारम्भतनुत्रसंवृ[1]ततनुर्नारम्भदोषेषुभिर्[2]–
र्व्याविध्येत कथंचनाप्यतिशुभारम्भे ऽन्यदीये समुत्[3] ।
नानागन्धसमागमे ऽपि न यथा कश्चिन्मणिर्वास्यते
हेयादेयविशेषवर्जितनिजोद्गन्धस्वभावस्थितः ॥ ३५

1389) पूतामेतामगतमलैः पान्ति पूर्वैर्वरेण्या
मध्याः शुद्धां किमपि शबलैर्[1]लेशतस्तैर्व्रतैर्ये[2] ।
ये वा युग्मं पुनरिदमिहाशेषसंपल्लतानां
कन्दं मन्दं शबलमतयः स्युस्तदा ते कनिष्ठाः ॥ ३६

आरम्भ से रहित हो जाने के कारण शरीर उच्छृंखलतापूर्ण प्रवृत्ति नहीं करता है, इस से मन बाह्य पदार्थों के विषय में जो अनेक प्रकार के अनुराग की रचना करता था वह नष्ट हो जाती है। और इसीलिये विकल्परूप वृक्ष के निर्मूल हो जाने से वचन की रचना भी स्वयं समाप्त हो जाती है। इस प्रकार श्रावक तीनों गुप्तियों से संपन्न हो कर मुनि के समान सब प्रकार से प्रयत्नरहित हो जाता है ॥३४॥

जिसका कि शरीर आरंभत्यागरूप कवच से ढँका हुआ है वह आरम्भजनित दोषरूप बाणों से किसी प्रकार भी नहीं वेधा जाता है, वह दूसरे के अतिशय शुभ आरम्भ कार्य में हर्ष का अनुभव करता है। जिस प्रकार कोई मणि अनेक द्रव्यों का समागम होने पर भी उन से सुवासित नहीं होता है उसी प्रकार वह आरम्भरहित गृहस्थ हेय उपादेय के भेद से रहित होकर अपने उत्कृष्ट गन्धस्वभाव में अवस्थित होता हुआ अनेक गन्धों का समागम होने पर भी उन से सुवासित नहीं होता है—आरम्भजनित दोषों से वह दूर ही रहता है ॥ ३५ ॥

उत्कृष्ट आरम्भत्यागी निर्मल पूर्वव्रतों के साथ इस पवित्र प्रतिमा का पालन करते है जो कुछ मलिन उन पूर्वव्रतों के साथ इस शुद्ध प्रतिमा का पालन करते हैं, वे मध्यम आरम्भत्यागी माने जाते हैं। और जो मलिनमति यहाँ समस्त सम्पत्ति रूप लताओं के इस युगल कन्द को मन्दता से पालते हैं, वे हीन आरम्भत्यागी होते हैं ॥३६॥

---

३४) 1 इत्यर्थः. 2 P°द्रुमघातृगुप्तः° । ३५) 1 कवच. 2 बाणैः. 3PD सहर्षः । ३६) 1 मिश्रितैः. 2 P°व्रतैर्वा ।

1390) भोगोपभोगास्त्यजिता हि दारा द्रव्याण्यपास्तानि बहिर्भवानि ।
विमुञ्चता भाण्डमिवेह शुल्कदानं ततस्तस्य परिग्रहस्त्वम् ॥ ३७

1391) द्वयं[1] त्यजन्नेतदथान्तरङ्गाननेकधा मन्दयते स संगान्[2] ।
अथास्ततां यान्ति यतः स्वतोऽन्ये मृधाहते[3]ऽधीश इवान्ययोधाः ॥ ३८

1392) अन्वर्थमेते निगदन्ति शब्दं संगा नृणां संजनकाल[1] एव ।
स्वभावतो गत्वरतां[2] दधाना नगापगातोयरयं[3] विजित्य ॥ ३९

1393) तदुक्तम्–
उद्भूताः[1] प्रथयन्ति मोहमसमं नाशे[2] महान्तं नृणां
संतापं जनयन्त्युपार्जनविधौ क्लेशं प्रयच्छन्ति[3] च ।
एता[4] नीलपयोदगर्भ[5]विलसद्विद्युल्लताचञ्चलाः
काले कुत्र भवन्ति हन्त कथय क्षेमावहाः संपदः[6] ॥ ३९*१

जिस प्रकार से जो भाण्ड–पूँजी (धन सम्पत्ति) का परित्याग कर देता है उसके उससे संबद्ध शुल्क — कर (टैक्स) – का त्याग स्वयमेव हो जाता है, उसी प्रकार जो भोग और उपभोगरूप वस्तुओं का परित्याग कर चुका है उसके स्त्री और अन्य बाह्य पदार्थों का परित्याग स्वयमेव हो जाता है । इसीलिये तब उस के एक आत्मा मात्र परिग्रह रह जाता है ।। ३७ ॥

इन दोनों – भोग और उपभोग पदार्थों–का त्याग करनेवाला गृहस्थ क्रोध-मानादिरूप अन्तरंग अनेक प्रकार के परिग्रहों को मंद (अप्रधान) कर देता है । जैसे-युद्ध में सेनापति के मारे जाने पर अन्य योद्धागण स्वयं नाश को प्राप्त होते हैं — मारे जाते हैं या भाग जाते हैं – वैसे ही उक्त भोगोपभोग पदार्थों के दूर हो जाने पर अन्तरंग रागद्वेषादि भी हट जाते हैं ।।३८।।

पर्वत पर से बहनेवाली नदी के पानी के वेग को जीतकर मनुष्यों के संयोगकाल में ही स्वभाव से गमनशीलता को धारण करनेवाले ये 'संग – परिग्रह – ' संग ' शब्द की सार्थकता को बतलाते हैं । सम्–प्राप्त हो कर– गच्छन्ति – जो नष्ट होते हैं वे संग कहे जाते हैं, यह उस ' संग ' शब्द का निरुक्त्यर्थ है ।। ३९ ।। सो ही कहा गया है–

जो संपत्तियाँ प्रादुर्भूत हो कर मनुष्यों के असाधारण मोह को प्रथित करती हैं – उन्हें मुग्ध करती हैं, जो नष्ट हो कर उन के लिये अतिशय संताप को उत्पन्न करती हैं, तथा

---

३८) 1 D परिग्रहं सचेतनाचेतनं, बाह्याभ्यन्तरम्. 2 परिग्रहत्यागः. 3 PD संग्रामे । ३९) 1 D उत्पत्तिसमये, प्रश्रयकाले. 2 अनित्यतां. 3 वेगम् । ३९*१) 1 D उत्पद्यमानाः, संपद उत्पन्नाः. 2 विनाशे. 3 D ददति. 4 संपदः. 5 श्रावणमेघ. 6 D लक्ष्म्यः ।

1394) [illegible] कथमप्यवाप्य सुचिरात्संसारसारं पुन –
स्तत्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम् ।
त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वा पुन–
र्मा भूद्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥ ३९*२

1395) अनेकधा चिन्तनजल्पगुम्फनः परिग्रहव्याकुलिताशयो भवन् ।
अनर्थजातं स्वयमानयत्यसौ चलन्निवान्धैर्बधिरमूकभावैः ॥ ४०

जो उपार्जन के समय में उन्हें महान् क्लेश को देती हैं; खेद है कि वे नीले मेघों के मध्य में चमकती हुई बिजली के समान चंचल--देखते देखते ही नष्ट हो जानेवाली - सम्पत्तियाँ भला कौन से काल में कल्याणकारक होती हैं, यह हमें कहिये ॥३९*१॥

साम्राज्य – चक्रवर्तिपद – संसारका सार है । उसे दीर्घकाल तक प्राप्त कर के भी पृथ्वीपतियों में श्रेष्ठ माने जानेवाले चक्रवर्तियों ने उसका परित्याग कर के ही शाश्वती--अविनश्वर--मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त किया है । इसलिये हे भव्य ! तू ग्रहण करने के पूर्व ही उन का त्याग कर दे । इससे तू उन त्यागने योग्य परिग्रहों को फिरसे ग्रहण कर परिव्राजक साधु के मोदक के प्रस्ताव को संपादित कर के हँसी का पात्र नहीं बनेगा । (विशेष–भौतिक मोदक का वृत्त इस प्रकार है – एक परिव्राजक साधु को एक धनिक ने लड्डू दिया, परंतु वह उस की झोली में न पडकर मलिन स्थान में जा पडा । उसे साधु ने उठाकर अपनी झोली में डाल लिया । यह देख किसी मनुष्य ने कहा कि महाराज ! इस प्रकार मलिन स्थान में से लड्डू उठाना योग्य नहीं है । इसपर साधु ने उत्तर दिया कि मैं उसे अपने स्थान में ले जाकर पानी से धोकर अलग रखूंगा । साधु के इस उत्तर को सुनकर उस मनुष्य ने फिरसे कहा कि हे महात्मन् ! जब आप अपने स्थान में ले जाकर भी उसे छोडना ही चाहते हैं तो उसे यहाँ से उठाकर झोली में रखना हास्यास्पद है । सर्वश्रेष्ठ तो यही था कि उस घृणास्पद मोदक को ग्रहण ही नहीं किया जाता) ॥३९*२॥

जैसे अंधा, बहरा और गूंगा मनुष्य जहाँ भी जाता है, वहीं वह अनर्थोंमें पडता है वैसे ही परिग्रह में आसक्त हुआ मनुष्य उसी परिग्रह के विषय में चिन्तन करता है, उसी के विषय में बोलता है व मनोरथों की रचना करता है । इस से वह स्वयं ही अनर्थसमूह को जुटाता है ॥४०॥

४०) 1 बधिरः. 2 PD°विमूकमानवः, D अन्धबधिरमूकक: ।

1396) मूर्धाभिषिक्तां[1]श्च निजा[2]स्त्वनेकमलिम्लुचाद्यां[3]श्च बहुप्रकाराः ।
गृद्धाः[4] परेऽप्यर्थवतीव सिद्धं यत्रामिषं तत्र खगाः[5] पतन्ति ॥ ४१

1397) यं[1]त्रोपतप्तिमुपयाति गते न चात्मा
षट्कर्मवर्धनपरं न परिग्रहः स्वम् ।
यत्स्वास्थ्यते[2]रुपचयाय च तत्परं य-
न्मुञ्चन्नशेषमपरिग्रहगेहिधुर्यः ॥ ४२

1398) साक्षादुच्छ्वसतीव संयमतरुर्निर्भीततारोहती-
वोल्लासं व्रजतीव शान्तपदवी शुद्धिं दधातीव च ।
धर्मः शर्मकरः समस्तविषयव्यामुग्धता मूर्च्छती-
वासंगे लसतीव लाघवगुणः स्वायत्तता क्रीडति ॥ ४३

जिस के पास धन-परिग्रह-है उस के ऊपर मूर्धाभिषिक्त - राजा, कुटुंबीजन, अनेक चोर आदि तथा अन्य भी अनेक लोग लुब्ध हो कर टूट पडते हैं । सो ठीक है - जहाँ मांस होता है वहाँ गीध आदि पक्षी आकर गिरते ही हैं ॥४१॥

जिस स्वके-द्रव्य के— नष्ट हो जानेपर आत्मा संताप को प्राप्त नहीं होता है, जो श्रावक के छह आवश्यक कर्मोंको वृद्धिगत करनेवाला है, तथा जो आत्मा के स्वास्थ्य की वृद्धि का कारण है; उस द्रव्य को वस्तुतः परिग्रह नहीं समझना चाहिये । इससे भिन्न द्रव्य का जो परित्याग करता है वह परिग्रहत्यागी गृहस्थों में श्रेष्ठ समझा जाता है ॥४२॥

अपरिग्रह की दृढता हो जाने पर संयमवृक्ष मानो पल्लवित होता है, निर्भयपना मानो बढ जाता है, शान्ति मानो प्रमुदित होती है, सुखदायी धर्म मानो शुद्धि को धारण करता है, समस्त विषयों में उत्पन्न हुआ मोह दूर हो जाता है, लाघव (विनय) उत्पन्न होता है और स्वाधीनता क्रीडा करती है ।।४३॥

४१) 1 राजानः. 2 कुटुम्बादयः. 3 PD चौराद्याः. 4 D लम्पटाः भवन्ति. 5 D पक्षिणः । ४२) 1 D द्रव्ये. 2 D आत्मस्वस्थतावर्धनाय यत् तस्मात् परं यत् परिग्रहे अशेषं मुञ्चन् ।

1399) पूर्वव्रतानि [illegible]ने विभूषितानि
पात्येतया प्रतिमया य इहोत्तमो ऽसौ ।
मध्यो व्रतानि विशदानि कथंचिदेता-
मेतद्द्वयं शबलितं कथितः कनिष्ठः ॥ ४४

1400) पञ्च प्रथां[1] समनयन्तु सचित्तमुक्ति-
मुख्यां गृहाश्रमवतां प्रतिमां दुरापाम् ।
भोगोपभोगनियमानतिरिक्तदेहाः[2]
संभावयन्तु जयसेननुतां विमुक्तिम् ॥ ४५

इति धर्मरत्नाकरे शिक्षाव्रतान्तर्गतस-चित्तादि-पञ्चमप्रतिमाप्रपञ्चनः
सप्तदशमो (दशो) ऽवसरः ॥ १७ ॥

जो इस परिग्रहत्यागप्रतिमा से सुशोभित सब ही पूर्वोक्त व्रतों का पालन करता है वह यहाँ उत्तम परिग्रहत्यागी माना गया है । मध्यम परिग्रहत्यागी वह है जो कथंचित् इन व्रतों का पालन करता हुआ प्रकृत प्रतिमा का पालन करता है । तथा जिस के ये – पूर्वव्रत और यह प्रतिमा-दोनों सदोष होते हैं उसे जघन्य समझना चाहिये ॥ ४४ ॥

भोगोपभोग पदार्थों के नियम को धारण करनेवाले गृहस्थ जो सचित्त त्यागादि पाँच प्रतिमायें गृहाश्रमवालों के लिये दुर्लभ हैं, उनका निर्दोष रूपसे पालन करते हैं (अर्थात् सचित्त त्याग, दिवाब्रह्मचर्य, पूर्णब्रह्मचर्य आरम्भत्याग और परिग्रहत्याग इन पाँच प्रतिमाओं को वृद्धि-गत करते हैं), वे श्रावक जयसेन आचार्य के द्वारा प्रशंसित विमुक्तिका आदर करते हैं, अर्थात् वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥४५॥

इस प्रकार धर्मरत्नाकर में शिक्षाव्रत के अन्तर्गत सचित्तादि पाँच प्रतिमाओं का सवि-स्तर वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ अवसर समाप्त हुआ ॥१७॥

---

४५) 1 प्रतिमाम्. 2 भोगोपभोगनियमादत्यक्तो [दनतिरिक्तो] देहो येषां ते भोगोपभोगानति-रिक्तदेहाः ।

[१८. अष्टादशोऽवसरः]

[उद्दिष्टान्तप्रतिमाप्रपञ्चनम्]

1401) यथाविधानं गुणिना प्रदेयं यथागमं कालमवेत्य देशम् ।
पात्राय दानं स्वपरोपकारसंपादकं नित्यमतन्द्रितेन ॥ १

1402) प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।
विधाय[1] शुद्धिश्च[2] नवोपचाराः कार्या यतीनां गृहमेधिनेति ॥ २

1403) आगच्छत्पात्रमालोक्य वदान्यो[1] यत्र तत्र यत् ।
जिनवत्प्रतिगृह्णाति स प्रतिग्रह उच्यते ॥ ३

गुणी श्रावक को आगम के अनुसार देश और काल को देखकर आलस्य से रहित हो विधिपूर्वक सदा पात्र के लिये दान देना चाहिये । यह दान स्व – दाता – और पात्र दोनों का ही उपकार करने वाला है ॥ १ ॥

प्रतिग्रह (पडगाहन), उच्चासन, पादोदक, पादपूजा, प्रणाम, वचन की प्रसन्नता (शुद्धि), शरीरकी प्रसन्नता, मनकी प्रसन्नता और आहार की शुद्धता यह नौ प्रकार की विशुद्धि अर्थात् आदरके प्रकार हैं । इनको नवोपचार भी कहते हैं । गृहस्थ को मुनियों का इस प्रकार से आदर करना चाहिये ॥ २ ॥

दाता जिस विधि में आते हुए पात्र को देखकर उसे जिनेश्वर के समान स्वीकारता है अर्थात् उसे 'तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ,' ऐसा तीनवार बोलकर स्वागत करता है उसे प्रतिग्रह कहते हैं ॥ ३ ॥

२) 1 D कृत्वा. 2 एषणाशुद्धिः । ३) 1 दानदक्षः, D श्रावकः ।

1404) यत्प्राक् सुसंस्कृतं यच्च स्थानं पूर्णमनोरथम् ।
यत्पात्रस्थापनं तस्मिन्नुच्चैःस्थानं तदुच्यते ॥ ४

1405) यत्पदपद्मरजसापि धरास्ति तीर्थं
तेषां जगन्नलिनबोधनभास्कराणाम् ।
यत्क्षालनं चरणयोरघजातहन्तृ
पादोदकं शमयतान्मम तद्भवाग्निम् ॥ ५

1406) प्रतिगृहीतपात्रस्य मन्त्रमुख्यैर्जलादिभिः ।
अष्टाभिः प्रार्चना या सा पूजा पूज्यैर्निरुच्यते ॥ ६

1407) प्रमत्तादिगुणस्थानमुनिसंभावनाधिका ।
पात्रे ऽर्चिते नतिर्या तु स प्रणामो ऽभिधीयते ॥ ७

1408) यद्दुश्चिन्तापरित्यागाद्गुणानुष्ठानपूर्वकम् ।
पात्रदाने मनःस्वास्थ्यं सा मनःशुद्धिरुच्यते ॥ ८

1409) अयोग्यवचनत्यागात् समाश्रितमनोहरा ।
पात्रदाने प्रियोक्तिर्या सा वचःशुद्धिरिष्यते ॥ ९

जिसको पहले से ही स्वच्छ और सुशोभित कर रखा है तथा जो मनोरथ को पूर्ण करने वाला है ऐसे आसन पर पात्र को जो स्थापित करना इसे उच्चैःस्थान कहते हैं ॥ ४ ॥

जिनके चरण कमलों की पराग से भी यह पृथ्वी तीर्थ हो जाती है तथा जो जगत के भव्य जीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं उन मुनियों के दोनों चरणों का जो पापसमूह को नष्ट करनेवाला प्रक्षालन किया जाता है उसे पादोदक कहते हैं। वह पादोदक मेरी संसाराग्नि को– जन्म मरण के संताप को - शांत करें ॥ ५ ॥

उपर्युक्त विधि से स्थापित पात्र की मन्त्रोच्चारणपूर्वक जो जल – चन्दनादि आठ द्रव्यों से अर्चा की जाती है उसे पूज्य ऋषि महर्षियोंने पूजा कहा है ॥ ६ ॥

आठ द्रव्यों से पूजित पात्र के विषय में प्रमत्तादि गुणस्थानों की संभावना से अधिक आदर के साथ जो नमस्कार किया जाता है उसे प्रणाम कहा जाता है ॥ ७ ॥

दुष्ट चिन्तन – दुर्ध्यान – का त्याग कर के गुणों के आचरण के साथ पात्रदान में जो मनकी प्रसन्नता होती है वह मनःशुद्धि कही जाती है ॥ ८ ॥

पात्रदान के समय अयोग्य वचनों का त्याग कर के मनोहर अवस्था को प्राप्त जिस प्रिय भाषा का उपयोग किया जाता है उसका नाम वचनशुद्धि है ॥ ९ ॥

४) 1 येषाम् । ५) 1 P°तत्क्षालनम् ।

1410) यथादेशं यथाकालं पवित्रावयवांशुकः ।
यद्दत्ते संयमात्यागी कायशुद्धिर्मता तु सा ॥ १०

1411) यत्स्वकल्प्यमवगम्यते ऽगदं[1] नित्यकर्मपरिवर्धनोचितम् ।
सात्म्यकं यदृतुयोग्यमाहृतं[2] दातुरन्धसं[3] इयं विशुद्धता ॥ ११

1412) ऐहिकफलानपेक्षा[1] क्षान्तिर्निःकपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वं[2] निरहंकारित्वमिति हि[3] दातृगुणाः ॥ ११*१

1413) द्वेषं तथा रागमसंयमं च मदं च दुःखं च भयादिकं च[1] ।
दत्ते न यद्द्रव्यमदः[2] प्रदेयं स्वाध्यायवृद्ध्यै तपसां समृद्ध्यै ॥ १२

1414) पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मुक्तिकारणगुणानाम्[1] ।
सम्यग्दृष्टिर्विरतो विरताविरतस्तथाविरतः ॥ १३

देश और काल के अनुसार जिसके हाथ-पाँव आदि अवयव शुद्ध है, जिसने पवित्र वस्त्र को धारण किया है तथा जो अपने संयम को नहीं छोडता हुआ पात्र को दान देता है उसे कायशुद्धि समझना चाहिये ॥ १० ॥

जो अपने लिये कल्प्य हो – पात्र के लिये ग्राह्य हो, स्वास्थ्यप्रद प्रतीत होता हो, नित्य कर्म – सामायिक व स्वाध्याय आदि – के बढाने में समर्थ हो, सात्म्यक – प्रकृति के लिये अनुकूल हो और ऋतु के भी अनुकूल हो ऐसे आहार का जो प्रदान करना है यह दाता की अन्धोविशुद्धि– एषणाशुद्धि – है ॥ ११ ॥

(१) दान देते समय इस से मुझे धनधान्यादि की प्राप्ति हो ऐसी मन में ऐहिक फलकी इच्छा नहीं रखना (२) क्षमा भाव को धारण करना (३) कपट भाव को मन में स्थान न देना (४) दूसरों के दातृत्वादि गुणों को देखकर द्वेष न करना (५) आहार देते समय मन में खिन्नता का अनुभव न होना (६) मन का प्रसन्न होना (७) और मन में अभिमान का न होना ये दाता के सात गुण हैं ॥ ११*१ ॥

श्रावक मुनि को ऐसा आहार दे जिससे उनके मन में द्वेष, रागभाव, असंयम, गर्व दुःख और भयादिक उत्पन्न न हों तथा जिस से स्वाध्याय और तपों की वृद्धि हो ॥ १२ ॥

जिस के मुक्ति के कारणभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणों का, संयोग है उसे पात्र कहते हैं। उसके तीन भेद हैं – विरत सम्यग्दृष्टि, विरताविरत और अविरत ॥ १३ ॥

---

११) 1 D नीरोगतां. 2D कथितं. 3 D आहारे। ११*१) 1 P °फलानपेक्ष्यम्. 2 PD °षादित्वं दत्ते. 3 P °मितीह दातृ°। १२) 1 PD भयादिकं वा. 2 एतत्। १३) 1 PD मुक्तिकारण°।

1415) हिंसायाः पर्यायो लोभो ऽत्र निरस्यते यतो दाने ।
तस्मादतिथिवितरणं[1] हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्[2] ॥ १३*१

1416) गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥ १३*२

1417) आत्मार्थमन्धः[1] प्रतिसाधितं यद्ददामि तद्भावितदान इत्थम् ।
पापैर्विकल्पै रहितो ऽप्यरत्या भवत्यहिंसः श्लथलोभ[2] एव ॥ १४

1418) कृत्यं त्रिलोक्यैहिक[1]मेव किंचित् किंचिच्च दानं परलोकबुद्ध्या ।
औचित्यमालोचयतां च किंचित् वित्तव्ययो ऽनेकविधः सतां हि ॥ १५

1419) प्रेत्य[1] प्रसाधनपरेषु समस्ति येषां न ह्यैहिकेष्विव धनेषु समा मनीषा ।
धर्म्याः क्रिया बहुविधाः सितकीर्तयो वा कृत्यानि वात्र शतधा कुत एव
तेषाम् ॥ १६

लोभ यह हिंसा की ही अवस्था है – उसके ही अन्तर्गत है । इसका विनाश चूंकि दान देने से होता है, इसीलिये अतिथि को आहारादि दान देना हिंसा से विरत होना (अहिंसा व्रत) ही अभीष्ट है ॥ १३*१ ॥

जो श्रावक घरपर आकर भ्रमर के समान व्यापार से – जिस प्रकार भ्रमर किसी भी पुष्प को पीडा न देकर उनसे रस को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार – दूसरों(गृहस्थों)को पीडा न देकर आहार को ग्रहण करने वाले अतिथि – रत्नत्रय सम्पन्न मुनि – के लिये आहारादि नहीं देता है उसे लोभयुक्त कैसे न समझा जाय ? ॥ १३*२ ॥

अपने ही निमित्त से भोजन तैयार किया गया है उसे मैं निःस्पृह साधु के लिये देता हूँ । इस प्रकार से जो श्रावक उस दान के विषय में विचार कर रहा है वह चूंकि पापविचारों एवं द्वेष बुद्धि से रहित होता है अतएव लोभ को मन्द करने वाला वह हिंसा से रहित है ही ॥ १४ ॥

कुछ दान तो इस लोकसंबन्धी प्रयोजन को देखकर दिया जाता है, कुछ दान परभव की बुद्धि से दिया जाता है, और कुछ दान औचित्य का विचार करनेवाले सज्जनों को दिया जाता है । इस प्रकार सत्पुरुषों के धन का व्यय (तीन) प्रकार से हुआ करता है ॥ १५ ॥

जिस प्रकार मनुष्यों की बुद्धि इस लोकसंबन्धी प्रयोजन को सिद्ध करनेवाले धन के विषय में होती है, उस प्रकार जिनकी बुद्धि परलोक के साधने में समर्थ उस धन के विषय में

१३*१) 1 दानम्. 2 हिंसाविरमणं । १४) 1 P अन्नम्, D आहारम्. 2 D क्षीणलोभः । १५) 1 D इ लोकसंबन्धि । १६) 1D परत्र ।

1420) अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम् ।
दानं मनीषिभिः[1] प्रोक्तं शक्तिभक्तिसमाश्रयम् ॥१६*१

1421) अभीतितो[1] ऽनुत्तमरूपवत्त्वमाहारतो भोगविभूतिमत्त्वम् ।
भैषज्यतो रोगनिराकुलत्वं श्रुतादवश्यं श्रुतकेवलित्वम् ॥ १७

1422) सर्वेषामेव दानानां स्वरूपं च फलं तथा ।
प्रभावश्च मया प्रोक्तो व्रतान्निर्दिश्यते पुनः ॥ १८

1423) श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।
यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति[1] ॥१८*१

पुनर्भङ्ग्यन्तरेण[1] तत्र तत्र विज्ञानलक्षणमेवोत्पाद्यते[2]-

1424) आत्मा परोपकरणप्रमुखैर्गुणौघै-
र्यत्पात्रदेयविषयैरधिवासनः स्यात् ।
आस्तिक्यमप्रतिहतं च तदन्ययोगे-
र्दानादिसेवनपरायणमानवस्य ॥ १९

नहीं होती है, उनके भला बहुत प्रकार की धर्मयुक्त क्रियाएँ, धवल कीर्ति और सैकडों अन्य सुंदर कार्य भी कहाँ से हो सकते हैं ? ॥ १६ ॥

वह दान बुद्धिमान् महर्षियों के द्वारा अभय, आहार, औषध और शास्त्र के भेद से चार प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। उसे श्रावकों को अपनी शक्ति और भक्ति के आश्रय से देना चाहिये ॥ १६*१ ॥

अभयदान से अतिशय उत्तम रूप की प्राप्ति है, आहार दान से भोग और धनवैभव प्राप्त होता है, औषधदान से रोग से रहित होने से निराकुलभाव प्राप्त होता है और श्रुतज्ञान से श्रुत के बलिपना अवश्य प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार से मैंने सब ही दानोंके स्वरूप, फल और प्रभाव को कह दिया है। अतिथि संविभागव्रत का निर्देश किया जाता है ॥ १८ ॥

श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान लोभ से रहितता क्षमा और शक्ति ये सात गुण जिस दाता में हैं, उस दाता की प्रशंसा की जाती है ॥१८*१ ॥

पुनः प्रकारान्तर से प्रत्येक गुण में विज्ञान लक्षणही उत्पन्न किया जाता है-

सत्पात्रदान आदि के आराधन में तत्पर रहनेवाले श्रावक का आत्मा पात्र और देय

१६*१) 1 विद्वद्भिः । १७) 1 अभयदानात् । १८*१) 1 D कथयन्ति । १९) 1 भेदान्तरेण. 2 P° उत्पद्यते ।

1425) सद्वेद्यमप्रतिहतं शुभनामगोत्रे[1]
तीर्थप्रवृत्तिचरितोचितधर्म एव ।
स्वर्गापवर्गसुखसिद्धिरपीति बुद्धिः
श्रद्धाभ्यधायि कविकल्पविमुक्तचित्ते ॥ २०

1426) व्याकोशवारिजविकासिविलोचने यत्
पीयूषपानबहुलोद्धुषिताङ्गकं[2] च ।
आराध्यसद्गुणभरग्रहणानतिर्यत्
सा तुष्टिरित्यकथि पुण्यसुतोषपात्रम् ॥ २१

क्वचिद्भक्तिरिति पाठस्तत्रायं श्लोकः –

1427) लीये[1] किमत्र नु[2] पिबामि विलोचनाभ्या-
मुत्तोषये[4] कथमथो शिरसा वहामि ।
आनन्त्यतो गुणगणस्य कथं स्तुवे ऽहं
चित्ते वितृप्तिरिति भक्तिरवादि पूज्ये ॥ २१*१

द्रव्य विषयक जिन परोपकार आदि गुणों के समूहों से सुसंस्कृत होता है उनके अतिरिक्त अन्य गुणों के संबन्ध से उसके निर्बाध आस्तिक्य गुण रहता है ॥ १९ ॥

जिसका अन्तःकरणदुष्ट विकल्पों से रहित हो चुका है उसके तीर्थप्रवृत्ति व चारित्र के योग्य धर्म के होनेपर निर्बाधसातावेदनीय, तथा शुभ नाम व गोत्र कर्मों का बन्ध एवं स्वर्ग व अन्त में मुक्तिसुख को भी प्राप्ति होती है, इस प्रकार की जो दाता की बुद्धि हुआ करती है उसे श्रद्धा गुण कहा गया है ॥ २० ॥

प्रफुल्ल कमल के समान दोनों नेत्र, अमृत पान की अधिकतासे रोमांचयुक्त शरीर तथा आराधन के योग्य समीचीन गुणों के भारसे जो नम्रता–सत्पात्र के लिये आदर सूचक नमस्कार– होती है, यह तुष्टि नामका गुण है । यह गुण पुण्य और सन्तोष का स्थान है ॥२१॥

इस तुष्टि के स्थान में क्वचित् भक्ति पाठ पाया जाता है । वहाँ यह श्लोक है –

क्या मैं इस आराध्य, पवित्र पात्र के विषय में लीन हो जाऊँ अथवा क्या अपनी आँखोंसे इसे पीता रहूँ— देखता ही रहूँ ? मैं इसे किस प्रकार से संतुष्ट करूँ अथवा मैं इसे शिर से धारण करता हूँ । इस आराध्य में अनन्त गुणों का समूह होने से इसकी मैं कैसे स्तुति कर सकता हूँ ? इस तरह पूज्य पात्र के विषय में जो चित्त मे विशेष तृप्ति होती है, उसे भक्ति कहते हैं ॥२१*१॥

---

२०) 1 D सातावेदनी. 2 द्वे । २१) 1 विकसितकमलम्. 2 D रोमाञ्चित । २१*१) 1 किं लीनो भवामि, D लीनो भवामि. 2 पूज्ये. 3 D अहो, अथवा. 4 D तुष्टो भवामि ।

1428) यद्दीयते किमपि कालबलं विविच्य[1]
पात्रस्य च प्रकृतिमप्यवगम्य देशम् ।
रत्नत्रयस्य परिवृद्धिकरं च कल्प्यं
विज्ञानमेतदनुजज्ञु[2]रनिन्द्यबोधाः ॥ २२

1429) यत्केवलीसंस्तवमन्त्रविद्याममत्वबुद्ध्यादिफलानपेक्ष्यम् ।
वितीर्यते[1] शासनवर्धनार्थमलुब्धतां तां परिपूर्णयन्ति[2] ॥ २३

1430) पात्रे क्रोशति शिक्षार्थमज्ञानाद्वापि दुष्टवत् ।
चाटूक्तिगर्भशान्तोक्तिर्या क्षमा सा प्रशस्यते ॥ २४

1431) तूर्यांशो[1] वा षडंशो वा दशांशो वा निजार्थतः ।
दीयते या तु सा शक्तिर्वर्या[2] मध्या[3] कनीयसी[4] ॥ २५

1432) आत्मकष्टे ऽपि यत्तृप्तममृतैरिवमन्यते ।
पात्रोपकारतो दानं दातुः सत्त्वं तदुच्यते ॥ २६

काल के सामर्थ्य, पात्र की प्रकृति तथा देश के जलवायु का विचार कर रत्नत्रय की वृद्धि के करनेवाला जो कुछ योग्य (निर्दोष होने से ग्राह्य) आहार पात्र को दिया जाता है उसे— उस प्रकार के ज्ञान को — निर्दोष ज्ञानवाले (गणधरादि) विज्ञानगुण कहते हैं ॥ २२ ॥

'आप केवली हैं' ऐसी स्तुति, मंत्र, विद्या और धनादिक में ममत्वबुद्धि, इत्यादि फलों को मन में अपेक्षा न कर के केवल जिनशासन बढाने के लिये जो पात्रको दान दिया जाता है उसको अलुब्धता गुण कहते हैं। इसे दाता पूर्ण करते हैं ॥ २३ ॥

पात्र यदि शिक्षा देने के लिये अथवा अज्ञान से कुछ भी कटु शब्द बोलता है किंवा अविवेकी के समान कटु शब्द बोलने लगे तो आनन्द से नम्रतापूर्वक जो शांतियुक्त भाषण किया जाता है इसका नाम क्षमा है। उसकी सब ही प्रशंसा करते हैं ॥ २४ ॥

अपने धन में से — दैनिक आय में से —चतुर्थ, छठे अथवा दसवें भाग का जो सत्पात्र दानादि में सदुपयोग किया जाता है उसका नाम यथाक्रम से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य शक्ति जानना चाहिये ॥ २५ ॥

पात्रदान से स्वयं को कष्ट के होनेपर भी उस से जो पात्र का उपकार होता है उससे दाता अपने को जो अमृत से तृप्त हुए के समान समझता है उसे सत्त्वगुण कहा जाता है ॥२६॥

---

२२) 1 विचार्य. 2 D गणधरदेवाः कथयामासुः, प्रकाशयन्ति स्म । २३) 1 दीयते. 2 दूरीकुर्वन्ति । २५) 1 चतुर्थभागः. 2 उत्तमा. 3 मध्यमा. 4 जघन्या ।

पुनर्भङ्ग्यन्तरेण–

1433) विवर्णकं नो विरसं न विद्धमसात्मकं[1] न प्रसृतं[2] प्रदेयम्[3] ।
गदावहं हर्म्यवतामकल्प्यं स्वयं मुनिभ्यश्च विशेषतस्तत् ॥ २७

1434) उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् ।
न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥ २७*१

1435) ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम्[1] ।
न देयमापणक्रीतं[2] विरुद्धं चायथर्तुकम्[3] ॥ २७*२

1436) दधिसर्पिःपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं[2] मतम् ।
गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥ २७*३

1437) बालग्लानतपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान् ।
मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते[1] स्युस्तपःक्षमाः ॥ २७*४

प्रकारान्तरसे पुनरपि विवेचन किया जाता है –

अतिशय पुराना होने से जिसका वर्ण विकृत हो गया है, रस परिवर्तित हो गया है, जो घुन गया है, असात्मक है – दुःख को उत्पन्न करनेवाला है, प्रसृत (विस्तृत) है, तथा जिसके भक्षण से रोग उत्पन्न होनेवाला है, ऐसा अन्न जब गृहस्थों के लिये योग्य नहीं है तब मुनियों के लिये तो वह सर्वथा ही योग्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २७ ॥

जो अन्न जूठा हो, नीच लोगों के योग्य हो, अन्य के उद्देश से बनाया गया हो, निन्द्य हो, दुष्ट जनों से स्पृष्ट हो, तथा देव यक्षादिके लिये संकल्पित हो, ऐसे अन्न को मुनियों के लिये नहीं देना चाहिये ॥ २७*१ ॥

जो अन्नादि अन्य ग्रामसे लाया गया हो, मंत्र के द्वारा लाया गया हो, भेंट किया गया हो, बाजार से खरीदकर लाया गया हो, प्रकृति के विरुद्ध हो, और ऋतु के प्रतिकूल हो, ऐसे अन्नादि को मुनियों के लिये देना योग्य नहीं है ॥ २७*२ ॥

दही, घी, दूध से बनाया हुआ भक्ष्य पदार्थ पर्युषित – दूसरे दिन में भी प्रायः योग्य-माना गया है । इससे भिन्न जो भक्ष्य पदार्थ गंध, वर्ण और रस से चलित हो गया हो वह सब निंद्य – पात्रदान के लिये अयोग्य – माना गया है ॥२७*३ ॥

जो मुनिजन बाल, रोगी, तपसे कृश, वृद्ध तथा रोग से पीडित हैं, उनकी निरन्तर सेवा – वैयावृत्य – करना चाहिये, जिससे वे तपश्चरणके लिये समर्थ हो सकें ॥ २७*४ ॥

---

२७) 1 परकीयम्. 2 स्तोकम्. 3 PD°प्रमेयम्[3], D न देयं. 4 गृहस्थानाम् । २७*१) 1 योग्यम् । २७*२) 1 वायणी. 2 हट्टादानीतम्. 3 अयोग्यऋतु, D ऋतुयोग्यं अ । २७*३) 1 घृत. 2 सेवनीयम् । २७*४) 1 मुनयः ।

1438) शाठ्यं च गर्वं च जलप्लुतत्वमवज्ञतां वाक्परुषत्वमन्यत् ।
असंयमं वर्जयताद्विशेषाद्भुक्तिक्षणे ऽक्षुण्णतया मुनीनाम् ॥ २८

1439) असंमताभक्तकदर्यमर्त्यकारुण्यदैन्यातिशयान्वितानाम् ।
एषां निवासेषु हि साधुवर्गः परानुकम्पाहितधीर्न भुङ्क्ते ॥ २९

1440) उक्तं च—

नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पनाः ।
किं तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः ॥ २९*१

1441) स्वामिधर्मसमुपासनस्थितौ पुत्रजन्मनि सचेतनो भवन् ।
दैवकार्यवशतो ऽन्यदा सदा संदिशेत्कथमिवापरं जनम् ॥ ३०

1442) आत्मवित्तपरित्यागात्परैर्धर्मविधापने ।
निःसंदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम् ॥ ३०*१

कपट, गर्व, चंचलपना, तिरस्कार, कठोर भाषण, असंयम तथा अन्य अयोग्य प्रवृत्ति, इन सबका सदाही त्याग करना चाहिये । विशेषतया मुनियों के भोजन के समय में तो उनको पूर्णतया श्रावक को छोड देना चाहिये ॥ २८ ॥

दूसरों की दया में दत्तचित्त साधुसमूह असंमत – जातीय बन्धुओं के द्वारा बहिष्कृत- भक्ति से रहित, कृपण मनुष्य, तथा दया व दीनता की अधिकता को प्रकट करनेवाले मनुष्यों के निवासस्थान में भोजन नहीं किया करता है ॥ २९ ॥

कहा भी है –

दयालु पराक्रमी, साधु पूर्वोक्त मनुष्यों के घर पर मन से भी आहार नहीं करते हैं। (आहार ग्रहण करना तो दूर रहा, किन्तु वे उसका विचार भी नहीं करते हैं) । फिर भी उनकी प्रवृत्ति दीनता, दया और संकल्प से रहित होती है ॥ २९*१ ॥

मनुष्य सचेतन – बुद्धिमान् – होकर स्वामिसेवा, धर्माराधना और पुत्रोत्पत्ति में दैव और कार्य की परवशता को छोडकर अन्य समय में सदा इतर मनुष्य को कैसे संदेश दे सकता है ? (अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा नहीं करेगा) (?) ॥ ३० ॥

अपने धन के व्यय से दूसरों से धर्म कराने पर मनुष्य निश्चित ही दूसरों के भोग के लिये उसके फल को प्राप्त करता है ॥ ३०*१ ॥

२८) 1 स्नानम् । २९) 1 D पंचप्रवाणरहित. 2 D कृपणता । २९*१) 1 D °कम्पताः । ३०*१) 1 D °आत्मचित्त ।

1443) औचित्यतः करुणयामलकीर्तितो वा
सर्वत्र वर्षति पयोदवदत्र दाता ।
कैर्नार्थ्यते ऽर्थिनिवहैर्ह्रियते तथाप्य--
मीषां सुदर्शनमुपोन्नमयन्[1] प्रदद्यात् ॥ ३१

1444) यागज्ञनास्तिकजटिक्षणवादिमुख्य–
पाखण्डिनां समयसत्करणैकवासे ।
सद्दर्शनं मलिनतामुपयात्यवश्यं
क्षीरं यथा कटुकतुम्बकभाजनस्थम् ॥ ३२

1445) अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।
युद्धमेव भवेद्गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि[1] ॥ ३२*१

1446) भयलोभोपरोधैस्तु कुलिङ्गिषु निषेवणे ।
अवश्यं दर्शनं म्लायेन्नीचैराचरणे सति ॥ ३२*२

जो दाता उचित समझकर, दया से प्रेरित हो कर अथवा निर्मल कीर्ति की इच्छा से भी यहाँ मेघ के समान सर्वत्र बरसता है – सब ही अर्थीजनों को दान देता है – उससे कौन से अर्थीजनों के समूह प्रार्थना नहीं करते हैं तथा वह किनके द्वारा नहीं हरण किया जाता है ? (अर्थात् सब ही जन याचना करते हुए उसके चित्त को अपनी ओर खींचते हैं) । तो भी उसे उन सबके लिये निर्मल सम्यग्दर्शन को उन्नति के लिये ही देना चाहिये ॥ ३१ ॥

यज्ञ के ज्ञाता नास्तिक – चार्वाक, क्षणवादी बौद्ध साधु – इत्यादि पाखण्डियों के आगम का आदर करना तथा उनके साथ रहने से कडुवी तूमडीके पात्र में रखे हुए दूधके समान सम्यग्दर्शन अवश्य मलिनता को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

जिनका चित्त तत्त्वज्ञानसे शून्य है तथा जो दुराग्रह से -- एकान्त मिथ्यात्वसे – मलिन हो रहे हैं, उनके साथ गोष्ठी – वार्तालाप आदि – करने से परस्पर लाठियों से और बाल पकड कर युद्ध का ही प्रसंग उत्पन्न होता है ॥ ३२*१ ॥

भय, लोभ और लोकाग्रह से कुलिंगियों की – अन्य धर्मके साधुओं की – उपासना करने पर तथा नीच आचरण – व्यवहार – करने पर सम्यग्दर्शन अवश्य ही मलिन होता है ॥ ३२*२ ॥

---

३१) 1 P°पानमयन् D उन्नतिनिमित्ते । ३२*१) 1 केशाकेशि ।

1447) बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु ।
नृषु कुत्सितसेवायां दैन्यमेवातिरिच्यते ॥ ३२*३

1448) तपो ऽनुष्ठानसच्छास्त्रविशेषाध्ययनक्रमात् ।
मानवः संमतं पात्रं समयस्थो ऽप्यनेकधा ॥ ३३

1449) गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः ।
यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥३३*१

1450) ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्राज्ञः कार्यकर्मसु ।
मान्यः समयिभिः[1] सम्यक् परोक्षार्थसमर्थकः[2] ॥ ३३*२

1451) दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे[1] कुतः ।
तदर्थं[2] परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥ ३३*३

जो बुद्धि और पुरुषार्थ से संयुक्त है तथा जिन के दैवाधीन वैभव है ऐसे मनुष्यों के विषय में घृणित सेवा करने पर दीनता ही शेष रहती है या अधिकता को प्राप्त होती है॥३२*३॥

जो मनुष्य तपश्चरण और समीचीन शास्त्रविशेषों के अध्ययन के क्रम से आगम के आश्रित है वह पात्र माना गया है जो अनेक प्रकार का है ॥ ३३ ॥

जो जैन धर्म का धारक है वह चाहे गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, समयानुसार उसके प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टियों को उसकी पूजा करनी चाहिये । ३३*१ ॥

जो ज्योतिःशास्त्र, मंत्रशास्त्र, और निमित्तशास्त्र का ज्ञाता है, करने योग्य कार्यों में अतिशय चतुर है तथा परोक्ष पदार्थों का समर्थक है — उनके विषय में आस्था रखता है — उसका श्रावकों को भली भाँति सन्मान करना चाहिये ॥ ३३*२ ॥

उपर्युक्त ज्योतिषशास्त्र आदिके मर्मज्ञोंका यदि सन्मान नहीं किया जायेगा तो प्रायः उनका अस्तित्व ही असंभव हो जायेगा । और जब उनका अस्तित्व ही न रहेगा तब उनके बिना (जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और प्रतिष्ठा आदि जैसे) शुभकार्य कैसे संपन्न हो सकेंगे ? यदि कदाचित् अन्य मतानुयायी ज्योतिषशास्त्रादि के ज्ञाताओं से उनके संबन्ध में पूछा जाय तो वैसी अवस्था में जैनधर्म की उन्नति कैसे हो सकती है ? (अतएव जैनशासन भक्तों को उनका सन्मान करना ही चाहिये) ॥ ३३*३ ॥

३३*२) 1 श्रावकैः. 2 यैर्जैनदर्शनमाश्रितं ते ज्योतिरिव बोधिः पूज्याः परोक्षार्थदर्शनात् ।
३३*३) 1 ज्योतिःशास्त्रं विना. 2 दीक्षायात्रार्थम् ।

1452) मूलोत्तरगुणैः श्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः ।
साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जनपण्डितैः ॥३३*४

1453) ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरस्सरः ।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥ ३३*५

1454) लोकवित्त्वकवित्वाद्यैर्वादिवाग्मित्वकौशलैः ।
मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥ ३३*६

1455) उक्तं च–
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः ।
विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम् ॥ ३३*७

1456) शिल्पिकारुकवाक्पण्यसंफलीपतितादिषु ।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥ ३३*८

जो गृहस्थ पुण्य के उपार्जन में दक्ष हैं – उसका संचय करना चाहते हैं – उन्हें प्रशंसनीय मूलगुणों और उत्तर गुणों से संपन्न तथा अनशनादि तपों के द्वारा अपनी स्थिति को स्थिर करनेवाले साधु की भलीभाँति पूजा करनी चाहिये ॥ ३३*४ ॥

जो आचार्य ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में दक्ष हो कर चातुर्वर्ण्य संघका – मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका समूह का – अग्रणी होता हुआ संसार समुद्र से पार उतारने के लिये दृढ नौका के समान हैं उसकी देव के समान आराधना करनी चाहिये ॥ ३३*५ ॥

जो सत्पुरुष लोकव्यवहार में निपुण होकर प्रतिभापूर्ण कविता आदि के द्वारा तथा वाद – शास्त्रार्थ – एवं प्रशस्त वक्तृत्व में प्राप्त कुशलता के द्वारा मोक्षमार्ग की प्रभावना में प्रयत्नशील रहते हैं, उनकी विशेष रूप से पूजा करनी चाहिये ॥ ३३*६ ॥

कहा भी है –

भोज्य वस्तु और भोजन की शक्ति, विषयोपभोग की शक्ति और उत्तम स्त्रियाँ तथा ऐश्वर्य व दान देने की शक्ति, यह सब अल्प पुण्यका फल नहीं है। (अर्थात् उपर्युक्त सामर्थ्य और भोज्य आदि की प्राप्ति महातप से ही होती है) ॥३३*७॥

चित्रकारादि कारुकवाक् – सुनार व बढई आदिक, पण्यसंफली – वेश्या और पतित – जातिभ्रष्ट – आदिकों के यहाँ तथा अन्य लिंगियों व लिंग को – साधु के वेष को –

३३*६) 1 पाण्डित्यविशेष. 2 D चतुरता। ३३*८) 1 D लुहारचर्मकारादयो ये तेषां गृहे आहार न योग्य. 2 संफली दुश्चारिणी।

1457) दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वे ऽपि[1] जन्तवः ॥ ३३*९
1458) पुष्पादिरशनादिर्वा न स्वयं धर्म एव हि ।
क्षित्यादिरिव धान्यस्य किंतु भावस्य कारणम् ॥३३*१०
1459) श्रद्धा समुत्कर्षि मनो जनानां यद्यप्रकम्पं सकृदेव जातम् ।
फलं प्रसूते[1] ऽनुपमप्रभावं लोहानि विद्धानि रसेन यद्वत् ॥ ३४
1460) तपोदानार्चनाहीनं मनः सदपि देहिनाम् ।
तत्फलप्राप्तये न स्यात्कुशूल[1]स्थित[2]बीजवत् ॥ ३५
1461) आवेशिक[1]ज्ञातिषु संस्थितेषु दीनानुकम्पेषु यथायथं तु ।
देशोचितं कालबलानुरूपं दद्याच्च किंचित्स्वयमेव बुद्ध्वा ॥ ३६

धारण कर के आजीविका करनेवालों के यहाँ मुनियों को आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ३३*८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन वर्णवाले मनुष्य जिनदीक्षा ग्रहण करने के योग्य हैं। चार वर्ण आहार ग्रहण करने के योग्य हैं। परन्तु आहार देने के योग्य चारों ही वर्णवाले है तथा मन, वचन और शरीर के द्वारा धर्म धारण करने की योग्यता सब ही प्राणी – पशु-पक्षी आदि भी रखते हैं ॥ ३३*९ ॥

जिस प्रकार भूमि आदि स्वयं धान्य नहीं है, किन्तु उसकी कारण है, इसी प्रकार पुष्प आदि-पूजा सामग्री –और भोजन आदि – भक्ष्याभक्ष्य आदि पदार्थ – स्वयं तो धर्म नहीं हैं, किन्तु भाव के – परिणामविशुद्धिस्वरूप धर्म के कारण है ॥ ३३*१० ॥

मनुष्यों का श्रद्धा से उत्कर्ष को प्राप्त हुआ मन यदि एक बार भी निश्चल होता है तो वह असाधारण प्रभाववाले फल को इस प्रकार उत्पन्न करता है जिस प्रकार कि पारद रस से विद्ध हुओ लोहधातुएँ अनुपम प्रभाववाले फल को – सुवर्णरूपता को उत्पन्न करती हैं ॥ ३४॥

जिस प्रकार कुशूल – कुठिया में – रखा हुआ बीज – गेहूँ आदिके कण–फल–प्राप्ति के लिये – नवीन धान्य को उत्पन्न करनेवाले – नहीं होते हैं, किन्तु जब उन्हें योग्य भूमि में बोया जाता है तथा जल से सिंचन आदि किया जाता है तब ही वे उपर्युक्त फल के देने में समर्थ होते हैं, ठीक उसी प्रकारसे तप, दान और पूजा आदि शुभ अनुष्ठान के विचार से रहित प्राणियोंका मन विद्यमान होता हुआ भी उस फलप्राप्ति के लिये – स्वर्ग मोक्षरूप फल के प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होता है ॥ ३५ ॥

आवेशिक–अभ्यागत, सजातीय बन्धुजन, संस्थित–सम्यक् अवस्थित या आश्रित

---

३४) 1 उत्पादयति । ३५) 1 कोष्ठागार. 2 D स्थिति । ३६) 1 संततिरूप ।

1462) काले कलौ संततचञ्चले च चित्ते सदाहारमये च काये ।
चित्रं यदद्यापि जिनेन्द्ररूपधरा नरा दृष्टिपथं प्रयान्ति ॥ ३७

1463) अतो यथा केवलनायकानां लेपादिक्लृप्तं प्रतिबिम्बमर्च्यम् ।
तथैव पूर्वप्रतिबिम्बवाहाः[1] संप्रत्युपार्च्याः[2] यतयः सुधीभिः ॥ ३८

1464) पात्रे दत्तं भवेत्सर्वं पुण्याय गृहमेधिनाम् ।
शुक्तावेव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥३८*१

1465) यत्र रत्नत्रयं नास्ति तदपात्रं प्रकीर्तितम् ।
उप्तं तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥ ३८*२

1466) मिथ्यात्ववासितमनस्सु तथा चरित्रा-
भासप्रचारिषु[1] कुदर्शिनिषु प्रदानम् ।
प्रायो ह्यनर्थजननप्रतिघातहेतु[2]
क्षीरप्रपाणमिव विद्धयनिलाशनेषु[3] ॥ ३९

जन, दीन और दया के पात्र; इन के लिये यथायोग्य देश, काल और शक्ति के अनुसार स्वयं ही जानकर कुछ देना चाहिये ॥३६॥

इस कलिकाल में चित्त के निरन्तर चंचल, तथा शरीर के सदा भोजनाश्रित होने पर भी यही आश्चर्य है कि आज भी जिनरूप के धारक मनुष्य-दिगम्बर साधु-दृष्टिगोचर होते हैं ॥३७॥

इसीलिये जिस प्रकार केवलज्ञानादिक गुणों के स्वामी जिनेश्वरों की पाषाणादि से निर्मित प्रतिमा की पूजा की जाती है उसी प्रकार से पूर्वकाल के मुनियों के प्रतिबिम्ब के धारक पूर्व महर्षियों की प्रतिमारूप से कल्पित-वर्तमान मुनियों की भी विद्वानों को पूजा करनी चाहिये ॥३८॥

पात्र में दिया हुआ आहार-औषधादिक सब गृहस्थों के पुण्य का कारण होता है। सो ठीक भी है, क्यों कि, सीपमें पडा हुआ मेघों का पानी मोती हो जाता है ॥३८*१॥

जिस मनुष्य में रत्नत्रय नहीं है उसे अपात्र कहते हैं । उस में बोया हुआ- दिया गया आहारादिक-क्षारभूमिमें बोये हुए बीज के समान व्यर्थ होता है ॥३८*२॥

जैसे सर्पों को पिलाया गया दूध प्रायः अनर्थ को उत्पन्न करनेवाला और जीवित के नाश का कारण होता है वैसे ही जिनके मन में मिथ्यात्व का वास है तथा जो चारित्राभास-

---

३८) 1 यतिवेषधारकाः. 2 पूज्याः । ३९) 1 D आकृतिरूपं चारित्रं नास्ति. 2 P°प्रतिघातिहेतु- क्षीर. 3 सर्पेषु ।

1467) कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किंचिद्दिशन्नपि ।
दिशेदुद्‌वृतमेवान्नं गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥ ३९*१

1468) ज्ञानं तपोहीनमपि प्रपूज्यं ज्ञानप्रहीनं सुतपो ऽपि पूज्यम् ।
यत्र द्वयं देववदेष पूज्यो द्वयेन हीनो गणपूरणः स्यात् ॥ ४०

1469) अर्हद्रूपे नमो ऽस्तु स्याद्विरत्या[1] विनयक्रिया ।
अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥ ४०*१

1470) अनेकधारम्भविजृम्भितानां वित्तव्ययो हर्म्यवतामगण्यः ।
तद्भुक्तिमात्राहृतये[1] न योग्या विचारणा लिङ्गिषु तीर्थहन्त्री[2] ॥ ४१

1471) दैवायत्तां धनलवभवां प्राप्य भूतिं गृहस्था
वप्तव्यो[1] ऽसौ[2] जिनपसमयाध्यासितपात्रभूमौ[3] ।
साधुः शुद्धव्रतगुणगणः सूत्रमार्गानुसारी
चक्रा लक्षे[4] क्षपितकलिलो लभ्यते वा न वेति ॥ ४२

मिथ्याचारित्र–के प्रचारक है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जनों के लिये दिया गया आहारादि अनर्थ का कारण होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

दयाभाव से अथवा उचित समझकर यदि उन को कुछ(आहारादिक)देता भी है तो शेष रहे आहार को ही देवे । परन्तु अपने घर पर उन्हे भोजन नहीं कराना चाहिये ॥ ३९*१

तप से रहित भी ज्ञान पूज्य है और ज्ञान से रहित उत्तम तप भी पूज्य है । जिसमें उत्तम ज्ञान और तप दोनों हैं वह तो देव के समान पूज्य है । तथा जो ज्ञान और तप दोनों से हीन है वह गणपूरक है (अर्थात् केवल वह संख्या को पूर्ण करनेवाला है) ॥ ४० ॥

जिनलिंग का रूप धारण करनेवाले मुनि के लिये ‘नमो ऽस्तु’ कहना चाहिये । आर्यिका को विनयक्रिया करनी चाहिये अर्थात ‘वन्दे’ ऐसा कहना चाहिये । क्षुल्लक को परस्पर योग्य इच्छाका वचन कहना चाहिये, अर्थात् ‘इच्छामि’ ऐसा कहकर आदर करना चाहिये ॥ ४०*१॥

जिन गृहस्थों के लिये अनेकों आरंभ करने पडते हैं उन के धन का अगण्य – गणनासे रहित–व्यय होता है । इसलिये जिनलिंगधारियों के लिये आहार देने में उस का विचार करना योग्य नहीं है, प्रत्युत वह धर्म का विघातक होता है ॥ ४१ ॥

हे गृहस्थों! तुम्हें सौभाग्यवश लेशमात्र धन से प्रादुर्भूत हुई जो संपत्ति प्राप्त हुई है

४०*१) 1 आर्यायाः । ४१) 1 दानाय. 2 विचारणा त्रिलिङ्गिषु तीर्थहन्त्री भवति । ४२) 1 वपनीया. 2 असौ विभूतिः. 3 पात्रभूमौ. 4 लक्षमध्ये ।

1472) उच्चावचःप्राणिविगुम्फितो[1] ऽयं जिनेश्वराणां समयः सदेति ।
स्तम्भे यथैकत्र[2] निशान्तमेवं[3] नैकत्र तिष्ठेत्पुरुषो ऽभ्युपार्चन्[4] ॥ ४३
1473) नामतः स्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः ।
भवन्ति मुनयः सर्वे दानपूजादिकर्मसु ॥ ४३*१
1474) उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते[1] ।
पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥ ४३*२
1475) अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये ।
यत्संज्ञाकरणं नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥ ४३*३

उसे जिनेन्द्र मत के आश्रित हुए प्राणिरूप भूमि में बोना चाहिये (उन्हें यथायोग्य आहारादि देकर उसका सदुपयोग करना चाहिये)। कारण यह कि पवित्र ज्ञान व गुणसमूह से विभूषित हो कर आगमोक्त मार्ग का अनुसरण करनेवाला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र-स्वरूप मोक्षमार्ग में निरत—साधु लाखों में एक आध ही कोई प्राप्त होता है। तथा पाप-मल को नष्ट करनेवाला साधु तो कदाचित् ही प्राप्त होता है अथवा नहीं भी प्राप्त हो सके ॥ ४२ ॥

यह जिनेश्वरों का धर्म ऊँच और नीच दोनों ही प्रकार के प्राणियों से सदा ग्रथित है। कारण यह कि जिस प्रकार गृह कभी एक खम्भे के ऊपर नहीं रह सकता उसी प्रकार जिन-मत भी कभी एक पुरुष के ऊपर ऊँचमात्र के आश्रित नहीं रह सकता है, (ऐसा समझकर श्रावक को एक ही उत्तम साधु का आदर न कर के सब ही तपस्वियों का आदर करना चाहिये) ॥४३

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों से सब मुनि चार प्रकार के हैं, जो दान—पूजा आदि कार्यों में तत्पर होते हैं ॥ ४३*१ ॥

जिनप्रतिमाओं के समान उपर्युक्त चार प्रकार के मुनियों के विषयमें की गई विधि गृहस्थों के पुण्योपार्जन में उत्तरोत्तर विशेषता को प्राप्त होती है। (अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार के जिनों के विषय में की गई भक्ति उत्तरोत्तर—नामकी अपेक्षा स्थापना और स्थापना की अपेक्षा द्रव्य आदि के क्रम से—अधिकाधिक पुण्यसंचय का कारण होती है उसी प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार के मुनियों के लिये यथायोग्य विधिपूर्वक दिया गया आहारादि भी उत्तरोत्तर गृहस्थों के अधिकाधिक पुण्य-संचय का कारण होता है) ॥ ४३*२ ॥

व्यवहारकार्य को सिद्ध करने के लिये मनुष्य की इच्छा के अनुसार जिन पदार्थों में जो गुण विद्यमान नहीं हैं तदनुरूप भी जो उन का नाम रखा जाता है, उसे नामनिक्षेप जानना चाहिये ॥ ४३*३ ॥

---

४३) 1 उत्तममध्यमजघन्यपात्रविशेषः. 2 एकस्मिन्. 3 गृहम्, D गृहम् अतद्गुणेषु भावेषु. 4 ददत्।
४३*२) 1 पृथक् क्रियते।

1476) साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् ।
सोऽयमित्यवधानेन[1] स्थापना सा निगद्यते ॥ ४३*४

1477) आगामिगुणयोग्यो ऽर्थो[1] द्रव्यं न्यासस्य गोचरः ।
तत्कालपर्ययाक्रान्तं[2] वस्तु भावो ऽभिधीयते ॥ ४३*५

1478) यत्रातिथेयं स्वयमेव साक्षाज्ज्ञानादयो यत्र गुणाः प्रकाशाः ।
पात्राद्यवेक्षापरता च यत्र तत्सात्त्विकं दानमुदाहरन्ति ॥ ४४

1479) निजस्तव-[illegible]लसैरलससादरैः[1] सान्तरं[2]
यशोलवसमाकुलैः कलितलोकसंप्रत्ययम् ।
सगर्वमविभावितातिथिगुणं च यद्दीयते
विहायितमितीरितं[3] मतिमतां मतै राजसम्[4] ॥ ४५

1480) पात्रापात्रविचारणाविरहितं दूरादपास्तादरं[1]
भार्यासूनुनियोगिभिर्विरचितं चित्तादिशुद्धिच्युतम् ।
मात्सर्योपहतं विवेकविकलं यत्किंचनार्हे[2] ऽपि च
एतत्तामसमामनन्ति[3] मुनयो दानं गतप्रार्चनम्[4] ॥ ४६

तदाकार अथवा अनदाकार भी लकडी व पाषाण आदिमें जो 'वह यह है' ऐसा अवधानपूर्वक आरोप किया जाता है उसे स्थापनानिक्षेप कहते हैं ॥ ४३*४ ॥

आगामी गुणोत्पत्ति के योग्य पदार्थ को द्रव्यनिक्षेप का विषय जानना चाहिये । तथा वर्तमानकालीन पर्याय से युक्त वस्तु को भावनिक्षेप समझना चाहिये ॥ ४३*५ ॥

जिस दान में अतिथि का साक्षात् स्वयं आदर किया जाता है, जिस में दाता के आवश्यक श्रद्धा तुष्टि आदि गुण प्रकाशमान होते हैं, तथा जिस में पात्र व देय पदार्थ आदि के विचार की तत्परता के साथ पात्र की मार्गप्रतीक्षा की जाती है, उसे सात्त्विक दान कहते हैं ॥

अपनी स्तुति सुनने के अभिलाषी जो दाता आलस्य के साथ आदरयुक्त होकर कीर्ति की कामना से आतुर होते हुए गर्वपूर्वक अतिथि के लोगों को प्रत्यय उत्पन्न कराने के लिये जो दान देते हैं, उसे विद्वन्मान्य गणधरादि राजस दान कहते हैं ॥ ४५ ॥

पात्र-अपात्र के विचार से रहित, आदर से पूर्णतया निरपेक्ष, मन व वचनादि की विशुद्धि से विहीन, मात्सर्य भावसे सहित और विवेक से विरहित जो कुछ थोडासा दान पत्नी

४३*४) 1 अवधारणात्, D नामात् गुणा भवन्ति । ४३*५) 1 PD °योगार्थो द्रव्यं. 2 PD °पर्यय-क्रान्तं वस्तु, D विद्यमानद्रव्यगुणाः । ४५) 1 निजश्लाघ्यवाञ्छकः. 2 कदाचित् 3 दानम. 4 राजसं दानम् । ४६) 1 आदररहितम्. 2 योग्यपात्रे. 3 कथयन्ति. 4 श्लाघारहितम् ।

1481) उत्तमं सात्त्विकं दानं राजसं मध्यमं मतम् ।
सर्वेषामेव दानानां हीनं तामसमुच्यते ॥ ४७

1482) दत्तं परत्रैव फलत्यवश्यं नैकान्तिकं हन्त वचो यतो ऽमूः ।
गावः प्रयच्छन्ति न किं पयांसि[1] तृणानि तोयान्यपि संप्रभुज्य[2] ॥ ४८

1483) ये भक्तिभारविनताः किल शाकपिण्डं
संकल्पयन्ति समयानुगुणं[1] मुनिभ्यः ।
ते ऽगण्यपुण्यगुणसंततिसंनिवासा–
श्चिन्तामणिर्निगदिताविचला हि भक्तिः ॥ ४९

1484) अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च ।
भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वराः ॥ ४९*१

1485) लौल्यत्यागस्तपोवृद्धिः समभावनिदर्शनम् ।
ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥ ४९*२

व पुत्र आदि के द्वारा पूजा के विना योग्य पात्र के लिये भी दिलाया जाता है उसे मुनिजन तामस दान मानते हैं ॥ ४६ ॥

इन सभी दानों में सात्त्विक दान उत्तम ओर राजस दान मध्यम माना गया है। तामस दानको सर्वत्र हीन ही कहा जाता है ॥ ४७ ॥

दिये हुए दान का फल परलोक में ही प्राप्त होना है, ऐसा जो मानते हैं; खेद है कि उनका वैसा कहना एकान्तरूप से योग्य नहीं है क्योंकि, गायें प्रत्यक्ष में घास ओर पानीका उपभोग कर के क्या दूध नहीं देती हैं ? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गायें इसी भव में दूध रूप फल को देती हैं, उसी प्रकार दान का फल इहलोक में भी मिलता है ॥ ४८ ॥

जो भक्ति के बोझ से अतिशय झुककर– विनम्र हो कर– मुनियों के लिये आगमोक्त विधि के अनुसार शाक के भी आहार को देते हैं वे अपरिमित पवित्र गुणसमूह के निवास-स्थान–उससे संपन्न– होते हैं । सो ठीक भी है, क्यों कि, स्थिर भक्ति चिन्तामणि के समान अभीष्ट की देनेवाली होती है ॥ ४९ ॥

अभिमान की रक्षा व आगम की विनय के लिये भोजनादि कार्यों में मुनियोंने मौन को कहा है– उसका विधान किया है ॥ ४९*१ ॥

मौन से भोजनविषयक लोलुपता के हट जाने से तप की वृद्धि व समता भाव–राग द्वेष के अभाव–का दर्शन होता है । तथा इस समता भाव से प्राणी तीनों लोकों में मन की सिद्धि को प्राप्त होता है – (उस के ऊपर उसका पूर्णरूपसे नियंत्रण हो जाता है) ॥४९*२॥

---

४८) 1 दुग्धानि. 2 भक्षयित्वा । ४९) 1 यथा भवति, D आगमानुसारेण ।

1486) प्रश्रयाधिकतया[1] श्रुतस्य वै श्रेयसां च विभवस्य भाजनम् ।
संभवन्ति मनुजाः प्रसन्नतामेत्यतो भवभवे[2] सरस्वती ॥ ५०

1487) शारीरमानसानां तु सहजव्याधिबाधने ।
साधुः संयमिनां कार्यः प्रतीकारो गृहाश्रितैः ॥ ५०*१

1488) शारीरा ज्वरकुष्ठाद्याः क्रोधाद्या मानसाः स्मृताः ।
आगन्तवो ऽभिघातोत्थाः सहजाः क्षुत्तृषादयः ॥ ५१

1489) मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः ।
असमाधिर्भवेत्तेषां[1] स्वस्य[2] वा धर्मकर्मता ॥ ५१*१

1490) सौमनस्यं[1] सदा कार्यं व्याख्यात्सु च पठत्सु च ।
आवासपुस्तकादीनां सौकर्यादिविधानतः[2] ॥ ५१*२

1491) अङ्गपूर्वगचितप्रकीर्णकं वीतरागमुखपद्मनिर्गतम् ।
नश्यतीह सकलं सुदुर्लभं सन्ति न श्रुतधरा यदर्षयः ॥ ५२

मनुष्य विनय की अधिकतासे निश्चयतः आगमज्ञान, अनेक प्रकार के कल्याण और संपत्ति का भाजन होता है । तथा इस से जन्म जन्मान्तर में उन के ऊपर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥५०॥

मुनियों के देह में शारीरिक, मानसिक आगन्तुक और स्वाभाविक रोग की बाधा के उपस्थित होने पर गृहस्थों को उन के रोगों का भली भाँति प्रतिकार करना चाहिये ॥५०*१॥

उन में ज्वर व कुष्ठ आदिक शारीरिक, क्रोधादिक, मानसिक, शीत व उष्ण वायु के अभिघात से उत्पन्न आगन्तुक तथा भूख व तृषा आदि को साहजिक रोग कहा जाता है ॥५१॥

श्रावकों के द्वारा रोगी मुनियों की उपेक्षा की जाने पर उन के समाधि–ध्यान या तपश्चरण– से च्युत हो जाने की सम्भावना है तथा श्रावक को उन की उपेक्षा करने पर अधर्म कर्मता – धर्म–कर्म से भ्रष्ट होने का प्रसंग आता है ॥ ५१*१ ॥

जो महात्मा श्रुत का व्याख्यान करते हैं अथवा उसे पढते हैं उन के लिये निवास-स्थान और पुस्तकादि उपकरणों की सुलभता को निर्मित कर निरन्तर सौमनस्य – सुन्दर मन (सद्विचार) को प्रगट करना चाहिये ॥ ५१*२ ॥

यदि श्रुत के ज्ञाता महर्षि न होंगे तो वीतराग जिन के मुखरूप कमल से निकला हुआ – उन के द्वारा उपदिष्ट–आचारांगादि द्वादशांगस्वरूप अंगश्रुत, उत्पादपूर्वादि

---

५०) 1 विनय. 2 जन्मनि जन्मनि । ५१*१) 1 मुनीनाम्. 2 उपासकस्य । ५१*२) 1 सुन्दर-मानसत्वम्. 2 सुलभत्वादि ।

1492) तत्प्रश्रयोत्साहनयोग्यदानानन्दप्रमोदादिमहाक्रियाभिः ।
कुर्वन् मुनीनागमविद्धचित्तान् स्वयं नरः स्याच्छ्रुतपारगामी ॥ ५३

1493) श्रुतेन तत्त्वं पुरुषैः प्रबुध्यते श्रुतेन वृद्धिः समयस्य जायते ।
श्रुतप्रभावं यदि वर्णयेज्जिनः श्रुताद्विना सर्वमिदं विनश्यति ॥ ५४

1494) शस्त्राणि यद्वद्दधतो वराकाः क्लेशे हि बाह्ये सुलभा मनुष्याः ।
सुदुर्लभाः सन्ति सुडीरवच्च यथार्थविज्ञानघना जगत्याम् ॥ ५५

1495) सृणिर्विज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः ।
तदुद्धते[3] बहिःक्लेशः क्लेश एव परं भवेत् ॥ ५५*१

1496) बाह्यं तपो ऽप्रार्थितमेति पुंसो ज्ञानं स्वयं भावयतः सदैव ।
क्षेत्रज्ञरत्नाकरसंनिमग्ने बाह्याः क्रियाः सन्तु कुतः समस्ताः ॥ ५६

चौदह पूर्वों स्वरूप रचा गया पूर्वश्रुत और सामायिकादि स्वरूप प्रकीर्णक श्रुत; इस प्रकार अति दुर्लभ समस्त श्रुत ही यहाँ नष्ट हो जावेगा ॥५२॥

जो मनुष्य योग्य विनय, उत्साह, अनुकूल दान, आनन्द और प्रमोदादिरूप उत्तम क्रियाओं के द्वारा मुनियों के मन को आगम में संलग्न करता है वह स्वयं आगम का पारगामी– श्रुतकेवली – हो जाता है ॥५३॥

मनुष्य श्रुतज्ञान से जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जानते हैं, तथा उस श्रुत से जैन धर्म की वृद्धि होती है। यदि उस श्रुत के प्रभाव का कोई वर्णन कर सकता है तो वे जिन– वीतराग सर्वज्ञ देव– ही कर सकते हैं। यदि यह श्रुतज्ञान न होगा, तो उस के विना यह सब ही नष्ट हो जायेगा ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार शस्त्रों को दीन या कायर मनुष्य भी धारण कर के बाहिरी क्लेश को सहते है उसी प्रकार बाहिरी क्लेश के सहनेवाले मनुष्य बहुत-से सुलभ हैं, परंतु जिस प्रकार शस्त्रों को धारण कर के भी सुडीर – निर्भय शूरवीर के – समान बहुत-से सुभट दुर्लभ ही होते हैं उसी प्रकार लोक में ठोस यथार्थ आगमज्ञान से संपन्न मनुष्य दुर्लभ ही होते हैं ॥५५॥

मनरूप हाथी को वश करने के लिये विशिष्ट ज्ञान ही अंकुश के समान है। यदि विज्ञानरूप अंकुश के विना मनरूप हाथी उद्धत – उन्मत्त– रहा तो फिर बाह्य जो उपवास आदि तप का क्लेश है वे केवल क्लेश ही – कोरे कष्ट ही – रहनेवाले हैं ॥ ५५*१॥

जो सदा स्वयं ज्ञान की भावना में निरत रहता है उस के पास बाह्य तप प्रार्थना के

---

५३) 1 विनय। ५५) 1 PD°शास्त्राणि यद्वद्°, D मुनक्लेशेन प्रचुराः. 2 दानशूरवत् । ५५*१) 1 P°सृणिर्विज्ञान, अङ्कुश . 2 वशहेतवे. 3 D तदुद्धते । ५६) 1 Dआत्मना. 2 P आत्मसमुद्र, Dआत्मसमुद्रे निमग्ने मनसि ।

प्रसिद्धं च—

1497) यदज्ञानी क्षपेत्कर्म बह्वीभिर्भवकोटिभिः।
तज्ज्ञानवांस्त्रिभिर्गुप्तः क्षपेदन्तर्मुहूर्ततः॥ ५७

1498) ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्बहिः क्लेष्टुर्व्रते[2] सदा।
ज्ञातुर्ज्ञानलवे ऽप्यस्य[3] न पटुत्वं युगैरपि॥ ५७*१

1499) शब्दानुशासनसमभ्यसनान्न यस्य
नैतिह्यतो[1] ऽपि धिषणा न तथा नयेभ्यः।
संप्राप्य शुद्धिमसमां स परप्रतीतेः
क्लिश्यन् पुमान् भवति नेत्रविहीनतुल्यः॥ ५८

1500) स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च(स्व) समासतः[1]।
प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्यं प्रतिपद्यते॥ ५८*१

बिना आता है। ठीक है–ज्ञान भावना में रत रहनेवाला पुरुष जब आत्मारूपी समुद्र में डूबता है तब समस्त बाह्य क्रियायें अलग कहाँ से रह सकती हैं॥ ५६॥

यह प्रसिद्ध भी है –

अज्ञानी जीव जिस कर्म को अनेक कोटि परिमित भवों में क्षीण करता है उसे ज्ञानी जीव मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से रक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त में ही क्षीण कर देता है॥५७॥

सम्यग्ज्ञान के विना बाह्य में क्लेश को सहनेवाले मनुष्य के व्रत में सम्यग्ज्ञानी तत्काल चतुर हो जाता है। परन्तु वह अज्ञानी मनुष्य सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान के लेश में भी अनेक युगों के बीतने पर भी चतुरता नहीं प्राप्त कर सकता है॥ ५७*१॥

जिसकी बुद्धि न शब्दशास्त्र के अभ्यास से असाधारण शुद्धि को प्राप्त हुई है, न इतिहास के द्वारा–कथाग्रन्थों के आश्रय से – शुद्धि को प्राप्त हुई है; और न नयों से भी उस शुद्धि को प्राप्त हुई है, वह मनुष्य चूंकि केवल दूसरों के ज्ञान के आश्रय से ही बाह्य में क्लेश को सहता है, अतएव उसे नेत्रों से रहित – अन्धे – मनुष्य के समान समझना चाहिये॥५८॥

स्वरूप, रचना, शुद्धि, भूषा और अर्थ ये आगम के प्रत्येक संक्षेप से दो प्रकार के कहे गये हैं॥५८*१॥

---

५७) 1 कर्म। ५७*१) 1 D तदा प्रकटत्वं ज्ञानस्य यदा व्रतमाचरति. 2 क्लेशयुक्त. 3 D बहिः-क्लेष्टुः। ५८) 1 वृत्तैतिह्यं पुरातनी. 2 बुद्धिः। ५८*१) 1 PD°भूषार्थं स्व°।

तत्र स्वरूपं द्विविधम् । अक्षरमनक्षरं च । रचना द्विविधा । गद्यं पद्यं च । शुद्धिर्द्विविधा । प्रमादप्रयोगविरहो ऽर्थव्यञ्जनादिविकलता परिहारश्च । भूषा द्विविधा । वागलंकारो ऽर्थालंकारश्च । ओजःप्रसादमाधुर्यमसृणत्व-समाधिसमतादिगुणानुरूपशब्दरचना वागलंकारः । सभेदवास्तवौपम्या-तिशयश्लेषप्रायो ऽर्थालङ्कारः । अर्थो द्विविधश्चेतनो ऽचेतनश्च ।

1501) उच्चैर्गोत्रं भुवनमहितं प्राश्नुते[1] सुप्रणामात्
भक्तेः कीर्ति मुदितजगतीं संस्तवं संस्तवाच्च ।
दानात्पद्मां स्त्रिभुवनमहोपासनां पर्युपास्ते-
रित्थं रत्नत्रितयकमलाप्राणनाथान् भजन्[4] सन् ॥ ५९

1502) परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥ ५९*१

गद्य– उन में स्वरूप के दो भेद हैं – अक्षर और अनक्षर । रचना के दो भेद हैं – गद्य और पद्य । शुद्धि के दो भेद हैं–प्रमादप्रयोगविरह और अर्थ-व्यंजनादिविकलता – परिहार । भूषा दो प्रकार की है–शब्दालंकार और अर्थालंकार । ओज, प्रसाद माधुर्य, स्निग्धता, समाधि, और समता आदिक गुणों के अनुसरण करनेवाली शब्दरचना को शब्दालंकार और भेदसहित वास्तविकता, उपमा, अतिशय और श्लेष आदिरूप रचना को अर्थालंकार कहते है । अर्थ दो प्रकार का है – चेतन और अचेतन ।

इस प्रकार से जो मुनीश्वर रत्नत्रयरूपी कमला-लक्ष्मी – के प्राणनाथ है उनकी भक्ति करनेवाला श्रावक उन्हें प्रणाम करने से लोकपूजित उच्च गोत्र को, उनकी भक्ति से जगत को आनंदित करनेवाली कीर्ति को उन के गुणों का वर्णन करने से स्वयं स्तुति को, आहारा-दिका दान देने से लक्ष्मी को और उन की उपासना करने से त्रैलोक्य में स्वयं बडी उपासना को प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

अतिथि दान में परदातृव्यपदेश, सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रम और मात्सर्य ये पाँच अतिथिदान के अतिचार हैं ।

१) परदातृव्यपदेश – अन्य दाता ने ये पदार्थ दिये हैं, ऐसा कह कर पात्र को अन्ना-दिक देना । दूसरे के ये पदार्थ हैं ऐसा कहने से ये शुद्ध है वा अशुद्ध हैं; ऐसा संशय

गद्यम्) 1D कोमलत्वम् । ५९) 1 प्राप्नोति. 2 प्राप्नोति . 3 जिनान्. 4 सेवन् [सेवमानः] सन् ।

1503) वैराग्यसंयमतरुं रुरुक्षुधिया[1] हि येन
संगो निरासि[2] दुरितव्यसनैकमित्रम् ।
कृष्यादिकं वितनुकर्म[3]सुतोत्थमित्थ-
मित्यादिकामनुमतिं स[4] कथं ददाति ॥ ६०

1504) ततः[1] कर्तुं कर्म प्रभवतु हतं मा प्रभवतात्
समुद्दिष्टा[2] हन्तानुमतिजनितैः पापनिवहैः ।
प्रवृद्धो ऽसौ सत्यं परिकलितदूरेण विचरन्
मृगो धावन् यद्वन्मृगयुभयतो[3] ऽशक्यकरणे ॥ ६१

1505) .... लोभावनतानुत्साहिनः
प्रवर्तयति मानवाननुमतिप्रदानाद् ध्रुवम् ।
विलोचनविवर्जितानिव हि यष्टिरेनोभरं
समर्जयति नन्दकश्रवणवासिमत्स्यो यथा ॥ ६२

उत्पन्न होनेपर मुनि उन्हें ग्रहण न करेंगे। अतः वे पदार्थ अपने उपयोग में आ जावेंगे, ऐसी तुच्छ बुद्धि दाता के मन में उत्पन्न होती है। इससे यह परदातृव्यपदेश अतिचार होता है। (२) सचित्त निक्षेप–सचित्त पद्मपत्रादिके ऊपर आहारको रखकर देना। (३) सचित्तपिधान– भोज्यपदार्थोंको कमलपत्रादि कों से ढँकना। (४) कालातिक्रम–अकाल में भोजन कराना।(५) मात्सर्य – आहार देते समय आदर नहीं रहना, अथवा अन्य दाताओं के गुणों को सहन न करना ॥ ५९*१ ॥

जिसने वैराग्य और संयमरूप वृक्षपर आरूढ होने की इच्छा से पाप और विपत्ति के अद्वितीय मित्रस्वरूप परिग्रह को दूर कर दिया है वह श्रावक हिंसादिजनक .... (?) खेती आदि आरम्भकार्य के विषय में कैसे अनुमति देगा ? ॥६०॥

इसलिये (श्रावक) पापकर्म के लिये स्वयं प्रवृत्त हो या न हो हिंसक की उद्दिष्ट हिंसा को अनुमति देने से उत्पन्न हुए पापभार से संपन्न होकर पापकर्म से दूर रहकर भी, व्याध के भय से रक्षणरूप अशक्य कार्य करनेवाले भागते हुए मृग के समान, पापी बन जाता है। (तात्पर्य, मृग जैसे भागो या न भागो वह व्याध की शिकार बन जाता है उसी तरह अनुमति-दाता स्वयं पापविरत होकर भी पापी बन जाता है) ॥ ६१ ॥

जैसे लाठी नेत्ररहित अन्धे मनुष्यों को चलाती है वैसे ही अनुमतिदाता जो लोभ के

६०) 1 आरोहणबुद्धया. 2 त्यक्तः. 3 हिंसाकर्म. 4 वैराग्यसंयमयुक्तः । ६१) 1 ततः निन्द्यकर्म कर्तुं प्रभवतु मा प्रभवतु. 2 उपदेशको ऽपि हन्ता भवति. 3 भिल्लभयत आखेटकभयतः, D भिल्ल ।

1506) निन्दन्ति केऽपि च हसन्ति परे[1] द्विषन्ति
विज्ञापयन्त्युपदिशन्ति च नर्मणान्ये ।
षट्कर्मणामनुमतिं प्रददाति[2] पृष्टे
पृष्टः फलं हि लभतेऽत्र परत्र चान्यत् ॥ ६३

1507) नारिप्सते[1] परिजिघृक्षति[2] नैव किंचित्
कायस्थितेरपि कृते नितरामुदास्ते[3] ।
उत्तुङ्गसंयमधराधर[4]संरुरुक्षु[5]-
र्योऽसौ[6] त्यजत्वनुमतिप्रसरं परत्र ॥ ६४

1508) आरम्भं पापतोऽमुञ्चत् तत्रैवानुमतिं ददत् ।
लक्ष्यते सर्पभीत्येव नश्यन् शयुमुखे[1] पतन् ॥ ६५

वश में नहीं है और आरम्भकार्य में उत्साही भी नहीं है ऐसे मनुष्यों को अनुमति देकर आरम्भादिक में निश्चय से प्रवृत्त करता है वह नंदक महामत्स्य के कान में स्थित क्षुद्र मत्स्य के समान पापार्जन करता है ॥ ६२ ॥

कोई निंदा करते हैं, दूसरे कितने ही हसते हैं, कितने ही द्वेष करते हैं, कितने ही प्रार्थना करते हैं, कितने हो हँसी से उपदेश देते हैं तथा पूछे जानेपर कोई हँसी में असिमषि आदि छह कर्मों को अनुमति देता है । इस प्रकारसे पूछा गया वह इस लोक में फल को प्राप्त करता है और परलोक में अन्य फल को प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

जो संयमरूप पर्वत पर चढने का इच्छुक हो कर न इच्छा करता है और न कुछ ग्रहण भी करता है यहाँ तक कि, अपने शरीर को स्थित रखने के लिये जो आहार के ग्रहण में भी अतिशय उदासीन रहता है, उसे अन्य जन के लिये अनुमति देने का त्याग करना चाहिये ॥६४

जो पाप की भीति से स्वयं आरम्भ का त्याग करता है पर उसी के विषय में किसी अन्य के लिये अनुमति देता है वह सर्प के डर से भागकर अजगर के मुँह में पडते हुए मनुष्य के समान दिखता है ॥६५॥

६३) 1 PD°हसन्त्यपरे. 2 PD°प्रददत्त । ६४) 1 न वाञ्छति. 2 गृहीतुमिच्छति. 3 उदासान्तो [सीनो] भवति । 4 D °संयमधराधर°. 5 आरोढुमिच्छुः. 6 उत्तमः श्रावक । ६५) 1 अ [ज] गरमुखे ।

1509) कश्चिच्चेन्न हि शक्नुयादनुमतिं स्थातुं विनापि क्षणं
दत्तामित्थमसौ तदा विरम रे पापाद्रमस्वागमे ।
तृष्णां छिन्द भज क्षमां कुरु दयां मोहं विभिन्दोद्धतं[1]
धर्मे धन्य धृतिं बधान नितरां त्वात्मसौख्ये सदा ॥ ६६

1510) एतां[1] व्रतैरपमलैः परिपाति पूर्वै-
र्वर्यः[2] कथंचिदिमकां[3] सततं व्रतानि ।
मध्यः सदा शबलितं युगलं[4] दधानः
सधाश्रमीति[5] कथितो मुनिभिः कनिष्ठः ॥ ६७

1511) अचिन्तितं नाम परप्रक्लृप्तं[1] पात्राय दत्ते हि परप्रयुक्तः[2] ।
स्वयं च गृह्णाति तथैव यो ऽसौ उद्दिष्टनिर्हारपरः[3] प्रतीतः ॥ ६८

1512) धृतिश्रीर्हृदि विन्यस्ता धाटिताशापिशाचिका ।
उद्दिष्टत्यागिना पुंसा लौल्यव्याघ्रो ऽपि भीषितः[1] ॥ ६९

यदि कोई श्रावक अनुमति के विना क्षणभर भी नहीं रह सकता है तो वह अनुमति दे परन्तु उसे पाप से विरक्त होना चाहिये, आगम में रममाण होना चाहिये, तृष्णा को नष्ट करना चाहिये, क्षमा का आराधन करना चाहिये, प्राणियों पर दया करना चाहिये और उद्धत मोह को नष्ट करना चाहिये तथा धर्म में सन्तोष धारण करते हुए आत्मसुखमें सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये ॥ ६६ ॥

जो पूर्वोक्त निर्दोष व्रतों के साथ इस प्रतिमा को धारण करता है वह उत्कृष्ट, जो व्रतों को सदा निर्मल पालता हुआ इस प्रतिमा का कभी निर्मलतया और कभी अनिर्मलतया पालन करता है वह मध्यम तथा जो पूर्वव्रत और इस प्रतिमा को शबलतया– सदोष रूप से – पालन करता है वह जघन्य श्रावक अनुमतिविरत मुनियों के द्वारा कहा गया है ॥ ६७ ॥

जो श्रावक पात्रविशेष के उद्देश से रहित दूसरे के लिये बनाये गये आहार को उनकी प्रेरणा पाकर पात्र के लिये देता है और स्वयं भी उसी प्रकार से ग्रहण करता है वह- उद्दिष्ट आहार का त्यागी प्रसिद्ध है ॥ ६८ ॥

उद्दिष्टत्यागी श्रावक सन्तोषरूप लक्ष्मी को अपने हृदय में स्थापित करता है, आशा-रूप पिशाची को दूर भगाता है और लोलुपतारूप व्याघ्रको भयभीत भी कर देता है – उसे नष्ट कर देता है ॥ ६९ ॥

---

६६) 1 P °विभिन्धुद्धतम् । ६७) 1 प्रतिमाम्. 2 उत्तमः श्रावकः. 3 D प्रतिमां समलां कथंचित् व्रतानि निर्मलानि· 4 दर्शनं व्रतानि च. 5 गृही । ६८) 1 D परकृतम्, P प्रक्लृप्तं कृतम्. 2 D एकादशप्रतिमाधारी श्रावकः श्रावकगृहात् आनीतं महात्मानं ददाति. P परेषां प्रयुक्तः. 3 अभाव । ६९) 1 D भयभीतः कृतः ।

1513) प्रायो निमज्जति जनो गुरुगृद्धिसिद्धउद्दिष्टभोजनमभीप्सुरपीन्द्रियाणाम्
चेतोयुजां[1] प्रसरतां तनुते ऽनिवार्यमारम्भमुख्यकलिलानि पुनश्चिनोति ॥
1514) अप्रासितो ऽपि ननु बन्धमुपैति जीव उद्दिष्टभोजनपरः प्रसृताभिलाषः ।
वारिप्रवेशमिव [1] [illegible] दुरन्तं रत्युत्सवं[2] तु सहवासि[3] [illegible]श्नुत[4] न ॥ ७१
1515) परमसमतामातन्वानो मतामतवस्तुषु[1]
प्र[illegible]तकरणग्रामोद्दामप्रवृत्तिरनाकुलः ।
विदधदशनं त्यक्तोद्देशं वपुःस्थितिमात्रकं
व्रजति समयाभ्यासासक्तो गृही यतिदेश्यताम् ॥ ७२
1516) अवति[1] यो व्रतसंकलितामिमां[2] भवति स प्रवरो[3] विशदव्रतः ।
पुनरिमां[4] च कदाचन मध्यमः शबलधीरु[5]भयत्र कनिष्ठकः ॥ ७३
इति धर्मरत्नाकरे उद्दिष्टान्तप्रतिमाप्रपञ्चनो[1] ऽष्टादशो ऽवसरः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य भारी लोलुपता के वश तैयार किये गये उद्दिष्ट आहार की अभिलाषा करता है वह प्रायः डूबता है–पतित होता है या संसार समुद्र में गोता खाता है। मन से सम्बंध रखनेवाली इन्द्रियों के संचार को – उनकी विषयोन्मुखता को विस्तृत करता है, तथा अनिवार्य आरम्भ आदि पापों को संचित करता है ॥७०॥

जिस प्रकार वन का हाथी कामवासना को पूर्ण करने की इच्छा के वश होकर गड्ढे में प्रविष्ट होता हुवा वहां दुःसह दुख को सहता है, पर हथिनी के साथ संभोग के आनन्द को नहीं प्राप्त कर पाता है। उसी प्रकार उद्दिष्ट भोजन में आसक्त हुआ श्रावक अपनी अभिलाषा को विस्तृत करता हुआ इच्छानुसार उद्दिष्ट भोजन को न पाकर भी कर्मबन्धन को प्राप्त होता है। (तज्जन्य दुःख को सहता ही है) ॥७१॥

जो अपने उद्देश से निर्मित भोजन को छोडकर शरीर को स्थिर रखने के लिये अनुद्दिष्ट आहार को ग्रहण करता है वह उत्कृष्ट समता भाव को विस्तृत करता हुआ इष्ट–अनिष्ट वस्तुओं में चूंकि इन्द्रिय-समूह की उच्छृंखल प्रवृत्ति को रोक देता है, इसलिये निराकुल भाव को प्राप्त होता है। तथा इसी कारण से वह गृहस्थ आगम के अभ्यास में आसक्त हो कर मुनि जैसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥७२॥

जो पूर्व सर्व व्रतों के साथ इस प्रतिमा का निर्मलतापूर्वक पालन करता है वह निर्मल व्रत का धारक उत्कृष्ट श्रावक होता है। जिसके पूर्वव्रत निर्मल हैं तथा इस प्रतिमा को भी कदाचन धारण करता है वह मध्यम उद्दिष्टत्यागी श्रावक कहा जाता है। तथा जो पूर्वव्रत और इस प्रतिमा को सदोष रूप में धारण करता है वह इस प्रतिमा का धारक जघन्य श्रावक होता है ॥७३॥

इस प्रकार धर्मरत्नाकरमें उद्दिष्टान्त प्रतिमाओं का विस्तार कहनेवाला अठारहवां अवसर समाप्त हुवा ॥ १८ ॥

---

७०) 1 चित्तयुक्तानाम्. 2 D निरन्तरम्। ७१) 1 गर्ता. 2 कामक्रीडाम्. 3 हस्तिन्या. 4 न लभते। ७२) 1 PD इष्टानिष्ट। ७३) 1 रक्षति. 2 प्रतिमाम्. 3 धुर्यः. 4 प्रतिमाम्. 5 समल मिश्रित वा। ७४) 1 विस्तारकः।

[१९. एकोनविंशो ऽवसरः]

[सल्लेखनावर्णनम्]

1517) इत्थं व्रतेषु प्रतिमाभिराभिः संपूर्णतामण्डनमुद्वहत्सु ।
कालालिनायुर्मकरन्दपानं बुद्ध्वा विधत्तामनुरूपमस्यं ॥ १

1518) तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥ १*१

1519) व्रजद्बलं भुक्तिमपास्यमानं गलत्प्रतीकारमहर्निशं च ।
यथा वपुर्भक्षयते ऽत्र कालश्चारित्रमप्येतदहो जिघत्सुः ॥ २

अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत स्वरूप पूर्वोक्त व्रत इन ग्यारह प्रतिमाओं के साथ सम्पूर्णतारूप अलंकार को धारण करते हैं। अर्थात् उन व्रतों की परिपूर्णता इन प्रतिमाओं के द्वारा होती है। यमरूप भ्रमर को आयुरूप मकरन्द (पराग) का पान करते हुए देखकर-आयु की विनश्वरता को जानकर-श्रावक को प्रतिमा के अनुरूप कार्य करना चाहिये, अर्थात् आयुष्य की समाप्ति के समय सल्लेखना को धारण करना चाहिये ॥ १ ॥

जैसे वृक्ष का पका हुआ पत्ता स्वयमेव गिर जाता है अथवा तेल से रहित दीपक स्वयमेव बुझ जाता है वैसे ही आयु को स्वयं विनाश के सन्मुख देखकर योग्य श्रावक अन्तिम विधि अर्थात् सल्लेखना को पूर्ण करता है ॥ १*१ ॥

घातक यमराज यहाँ जिस प्रकार दिनरात निरन्तर- बल से विहीन हो कर भोजन का परित्याग करनेवाले व रोग की प्रतिकार शक्ति से रहित हुए ऐसे शरीर को अपना ग्रास बनाता है उसी प्रकार से वह इस चारित्रको भी अपना ग्रास बनाता है, यह खेद की बात है। (अभिप्राय यह है कि मृत्यु के निकट होने पर शरीर और संयम दोनों ही नष्ट होते हैं, अतः इस के लिये पूर्व से ही सावधान रहना चाहिये) ॥ २ ॥

---

१) 1 भ्रमरेण. 2 आयुर्मकरन्दस्य । १*१) 1 फल [पूर्ण] । २) 1 P°काले चरित्र°. 2 भक्षितुमिच्छुः, D प्रसनशील: धर्म: ।

1520) त्यागोऽङ्गयष्टेर्गहनं न गन्त्र्याश्चारित्रमेतद्गहनं गरीयः[1] ।
न नश्वरं स्थास्नु[2] न भेद्यभेदि तया[3] समं नेयमहो[4] कथं स्यात् ॥ ३

1521) अथाभिनीय स्मृतिमन्तराले तद्बालपाण्डित्यपारुरुक्षुः ।
आराधनोक्तक्रमवर्तनेन यथायथं संस्मरन् चार्हे[1] ॥ ४

1522) लिङ्गे[1] सशिक्षाविनये[2] समाधौ[3] कश्चिद्विहारे[4] परिणामयुक्ते ।
संगोज्झिते[5] चारुगुणश्रयण्यां[6] संभावनायाम[7]शुभोज्झनेन ॥ ५

1523) सल्लेखनायामपि[1] च क्षमायां विमार्गणायामपि सुस्थिते च ।
निरूपणे चाप्युपसर्पणेन प्रश्ने स्वयोग्ये परिपृच्छनायाम्[2] ॥ ६

गमनशील – नश्वर – शरीररूप लकडी को छोडना कठिन नहीं है; किन्तु इस महान् चारित्र का त्याग कठिन है । (उसका छोडना अतिशय कष्टदायक है) । जिस प्रकार वह शरीर नश्वर है उस प्रकार चारित्र नश्वर नहीं है किन्तु वह स्थायी है, तथा जिस प्रकार शरीर भेदा जानेवाला है उस प्रकार चारित्र भेदा जानेवाला नहीं है, किन्तु वह भेदनस्वभाव से रहित है । अतएव शरीर से सर्वथा भिन्न स्वभाववाले चारित्र को उस शरीर के साथ कैसे ले जाया जा सकता है ? (अर्थात् नश्वर शरीर के साथ कल्याणकारक चारित्र को छोडना योग्य नहीं है) ॥ ३ ॥

ऐसा बीच के काल में (अर्थात् सल्लेखना धारण करने के पूर्व), स्मरण कर के बाल पण्डित मरण पर आरूढ होने की इच्छा करनेवाला आराधक श्रावक को आराधना ग्रन्थमें कहे हुए क्रम के अनुसार चलकर यथायोग्य अर्ह, लिंग शिक्षासहित विनय, समाधि (परिणाम), विहार, संगोज्झित, सुन्दर गुणश्रयणी, सम्भावना, अशुभोज्झन, सल्लेखना, क्षमा, विमार्गणा, सुस्थित, निरूपण, अपने योग्य प्रश्न परिपृच्छा, एक ग्रह, आलोचन, दोष – जात – गुण-प्रदर्शन, आलय, संस्तर, निर्यापकादान, भुजिप्रकाश, हानि, निवृत्ति, क्षमण, अनुशिष्टि, श्री-सारणा, कवच, साम्य, ध्यान और लेश्याभिनय; इनमें भली-भाँति परिणत होकर परलोक गमन के लिये शरीर के परित्याग में उत्तम अर्थ को – अभीष्ट को सिद्ध करनेवाले अनुष्ठान को करना चाहिये । (प्रकृत में उपर्युक्त अर्ह व लिंग आदि का अभिप्राय इस प्रकार जानना चाहिये)

३) 1 गमनशीलाया. 2 स्थिरतरम्. 3 अङ्गयष्ट्या. 4 प्रापणीयं चरित्रं कथं स्यात् । ४) 1 D सवि-चारभक्तप्रत्याख्यानस्य योग्ये । ५) 1 D चिह्नकरणे. 2 D शिक्षाशब्देन तस्याध्ययनम् उच्यते. 3 D योगे समाधि. 4 D अनियतक्षेत्रावासे. 5 D गृहीतोपधेः त्यागे. 6 D सोपाने इति यावत्. 7 D भावनाभ्यासस्क-प्रवृत्तौ । ६) 1 D कषायाणां सम्यक्तनूकरणे. 2 PD °पृच्छयां वा ।

1524) एकग्रहालोचनदोषजातगुणप्रदर्शालयसंस्तरेषु ।
निर्यापकादानभुक्तिप्रकाशे हानौ निवृत्तौ क्षमणानुशिष्टौ ॥७

1525) श्रीसारणायां कवचे च साम्ये ध्याने च लेश्याभिनये फले[1] च ।
आराधकः प्रेत्यगमप्रतीकत्यागे च कुर्वीत तदोत्तमार्थम् ॥ ८ । कुलकम् ।

1526) इतीत्थमेतत्समयं प्रतीत्य रत्नत्रयं न्यूनं[1]मशेषमेव ।
मुक्तिश्रियं ये परिकामयन्ति ते हर्म्यभाजो[2] ऽपि हि पालयन्तु ॥९

अर्ह– सविचार भक्त प्रत्याख्यान के योग्य होना । लिंग – केशलोच के साथ पिच्छी, कमंडलु और नग्नता को धारण करना । शिक्षा–श्रुताध्ययन करना, विनय – आचार्यादिकों की मर्यादा पालना, ज्ञानादि भावना की जो व्यवस्था है वह ज्ञानादि विनय है, अथवा ज्ञानादि के लिये आचार्यादि की उपासना करना । समाधि–ध्यान अथवा शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना । परिणाम – अपने कार्यों का आलोचन करना । विहार–अनियत विहार अनियत क्षेत्र में निवास करना । संगोज्झन – परिग्रहों का त्याग करना । गुणश्रयणी – उत्तम परिणामों को धारण करना । संभावना – अशुभ परिणामों का त्याग करना । सल्लेखना – शरीर और कषायों को समीचीनतया कम करते जाना । क्षमा– गण से क्षमा माँगना । विमार्गणा – अपने को रत्नत्रय की शुद्धि और समाधिमरण प्राप्त करने के लिये समर्थ सूरि को ढूंढना । सुस्थित–आचार्य – जो कि परोपकार करने में और अपने ज्ञानाचाराधि कार्यों में निर्दोषता से स्थिर रहते है । निरूपण–आराधना की निर्विघ्न सिद्धि होने के लिये देश राज्यादि के कल्याण का विचार करना । उपसर्पण – आचार्य को आत्मसमर्पण करना । प्रश्न– यह आराधना को चाहनेवाला यति वा श्रावक आया है इस के ऊपर हम अनुग्रह करें वा न करें, ऐसा संघ से पूछना । प्रतिपृच्छना – एक ग्रह – संघको पुनः पूछकर उस की अनुमति से एक क्षपणक का स्वीकार करना । आलोचन –गुरु के पास अपने दोषों का उल्लेख करना । दोषजातगुणप्रदर्शन– आलोचना न करने से दोष और उस के करने से गुणप्राप्ति होती है, ऐसा कथन करना । आलय–वसति, जहां सल्लेखना धारण की जाती है ऐसा स्थान । संस्तर– भूमि, तृण व फलक आदिकी शय्या । निर्यापकादान – आराधक को समाधि - सल्लेखना में सहायक वैयावृत्त्य करनेवाला परिचारक समूह । भुजिप्रकाश– आहार प्रगट करना–आराधक को आहार दिखाना । हानि – क्रम से आहार का त्याग करना । निवृत्ति – तीन प्रकार के आहार का त्याग करना । क्षमण – दूसरे के अपराधों की क्षमा करना ।

---

८) 1 P फुले । ९) 1 स्तोकम्. 2 गृहस्थाः ।

1527) काले क्वचित्परिणतेरपि बोधिलाभं
बद्धोद्यमेन सततं परिलभ्य दैवात् ।
आलम्ब्य संयमिजनस्य पदं दुरापं
संनीयतां सपदि तत्परिपूर्णभावम् ॥ १०

1528) विशेषोपक्रमो ऽदर्शि बालपण्डितमृत्य्वोः ।
सामान्योपक्रमश्चैष तत्सिद्धयै संप्रदर्श्यते ॥११

1529) अपकृतिरिव या सविधे जनिताखिलकायकम्पनातङ्का ।
यमदूतीव जरा यदि समागता जीवितेषु कस्तर्षः ॥ ११*१

1530) कर्णान्तकेशपाशग्रहणविधिबोधितो ऽपि यदि जराया ।
स्वस्य हितैषी न भवति तत्किं मृत्युर्न संहर्ता ॥ ११*२

अनुशिष्टि—निर्यापकाचार्य से आराधक के लिये उपदेश । सारणा — दुःखपीडित होने से मोहित हुए आराधक को मोह से छुडाना । कवच–धर्मादि के उपदेश से दुःखनिवारण करना। साम्य–जीवित मरण आदिकों में रागद्वेष नहीं रखना । ध्यान — एकाग्र – चिन्ता – निरोध। लेश्याभिनय–कषायों से परिणत मन, वचन व शरीर की प्रवृत्ति । फल – आराधना से साध्य– रत्नत्रय – को अन्ततक निभाना ॥ ४–८ ॥

इस प्रकार से जो गृहस्थ भी मुक्तिलक्ष्मी की इच्छा करते हैं उन्हें इस आगमपर श्रद्धा रखकर हीन रत्नत्रय को पूर्णतया पालन करना चाहिये ॥९॥

किसी काल में–योग्य अवसर प्राप्त होनेपर – निरन्तर प्रयत्न करने से भाग्यवश बोधिलाभ को—रत्नत्रय को – पाकर संयमीजन के दुर्लभ पद का—मुनिधर्मका—आश्रय लेते हुए शीघ्र ही उस की पूर्णता को प्राप्त कराना चाहिये ॥१०॥

उपर्युक्त क्रम से मैंने बाल व पंडित के मरण में विशेषता दिखला दी है। अब उसकी सिद्धि के लिये यह सामान्य उपक्रम दिखलाया जाता है ॥ ११ ॥

यमराज की दूती के समान जो जरा – वृद्धावस्था–अपकार के समान पास में स्थित हो कर प्रशस्त शरीर को कम्पित करती हुई रोग को उत्पन्न करनेवाली है वह आकर यदि प्राप्त हो गई तो फिर जीवित रहने में कौन-सी तृष्णा है? (अर्थात् वैसी अवस्था में जब वह अनिवार्य स्वरूप से नष्ट ही होनेवाला है तब उसकी स्थिरता की अभिलाषा से विषयोन्मुख होना योग्य नहीं है ॥११*१॥

उक्त जरा के द्वारा कानों के समीप में आकर केशपाश के ग्रहण की विधि से— कानों के पास के बालों के श्वेत कर देनेरूप क्रिया से — प्रबोधित किया जाने पर भी यदि

१०) 1 शीघ्रम् । ११) 1 उद्यमः । ११*१) 1 अनुपकारम्. 2 समीपस्था. 3 तृषा, D का तृष्णा ।

1531) उपवासादिभिरङ्गं कषायदोषेषु बोधिभावनया ।
तत्सल्लेखनकर्मा [स्वं]पायाद्यत्नवनेवम्[1] ॥ ११*३

1532) इयमेकैव[1] समर्था धर्मस्वं[2] मे मया समानेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥ ११*४

1533) मरणान्ते ऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतो ऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥ ११*५

1534) मरणे ऽवश्यंभाविनि कपायसेनातनूकरणसारे ।
रागादिमन्तरेण[1] म्रियमाणस्य नात्मघातो ऽस्ति ॥ ११*६

मनुष्य अपने हित की अभिलाषा नहीं करता है तो फिर मृत्यु हरण करनेवाली क्यों न होगी? (वह जीवित को निश्चित ही नष्ट कर देनेवाली है) ॥ ११*२ ॥

सल्लेखना क्रिया में उद्युक्त श्रावक को उपवासादि के द्वारा शरीर को कृश करना चाहिये तथा कषायजनित दोषों के होनेपर रत्नत्रयस्वरूप बोधि की भावना के साथ प्रयत्नशील होकर उनसे आत्मा का संरक्षण करना चाहिये ॥ ११*३ ॥

केवल यह एक सल्लेखना ही मेरे धर्मरूप धन को मेरे साथ ले जाने के लिये समर्थ है, ऐसा समझकर श्रावक को इस उत्कृष्ट सल्लेखना का सदैव भक्ति से चिन्तन करना चाहिये ॥ ११*४ ॥

मैं मरण के समय विधिपूर्वक सल्लेखना को अवश्य करूँगा, ऐसी भावना से परिणत हो कर श्रावक को भविष्य में संपन्न होनेवाले भी इस शील का – सल्लेखना का–पालन करना चाहिये । अर्थात् उस की भावना मन में सतत होनी चाहिये ॥ ११*५ ॥

मरण तो अवश्य होनेवाला ही है, फिर उसमें कषायों की सेना को कृश करना ही श्रेष्ठ है; इस विचार से जो उस सल्लेखना में प्रवृत्त हो कर रागादि के विना मरण के सन्मुख हो रहा है उस के लिये आत्मघात का दोष संभव नहीं है ॥ ११*६ ॥

११*३) 1 उपवासादिभिरङ्गम् अत्यर्थं शोषयेत्, D अतिशयेन रक्षेत् । ११*४) 1 इलेखना [सल्लेखना]. 2 PD°धर्मत्वम् । ११*६) 1 D°मन्तरेण च म्रिय° ।

1535) यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमके[2] विषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति[3] प्राणांस्तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥ ११*७

1536) नीयन्ते ऽत्र[1] कषाया हिंसाया हेतवो[2] यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥ ११*८

1537) यमनियमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चनादिविधिदानम् ।
सर्वमिदं विफलं स्यादवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥ ११*९

1538) द्वादशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत् ।
किं तस्य शस्त्रविधिना यथा तथान्ते यतेः पुरा विरतम् ॥ ११*१०

जो मनुष्य कषायोंसे संतप्त होकर श्वास को रोधने, पानी में डूबने, अग्नि में पडने, विष भक्षण करने अथवा छुरी आदि शस्त्र से अपने प्राणों को नष्ट करता है, उस के आत्मघात का दोष होता है ॥ ११*७ ॥

इस सल्लेखना में हिंसा की कारणभूत कषायों को चूंकि कम किया जाता है, इसीलिये इस सल्लेखना को अहिंसा की प्रसिद्धि के लिये कहते हैं। (उसका भी विधान आचार्यों द्वारा अहिंसा की सिद्धि के लिये ही किया गया है) ॥ ११*८ ॥

यदि मरण के समय में मन मलिन होता है– कषायाविष्ट होता है– तो फिर यम (आजन्म व्रतपालन), नियम (कुछ कालतक व्रतपालन), स्वाध्याय, सब अनुष्ठान, तपश्चरण देवपूजा आदिकी विधि और दान यह सब अनुष्ठान व्यर्थ होनेवाला है ॥११*९॥

जिस राजाने बारह वर्ष तक शस्त्रों का अभ्यास किया हैं वह यदि रण में मोहयुक्त —प्रमादी—होता है, तो जिस प्रकार उसकी शस्त्रविधि का– शास्त्राभ्यास का–कुछ उपयोग नहीं है । उसी प्रकार मरणसमय में सल्लेखना से रहित मुनि के पूर्वपरिपालित व्रत का भी कुछ उपयोग नहीं है – वह निरर्थक ही होता है ॥ ११*१०॥

११*७) 1 उच्छ्वासं निरुध्य. 2 अग्निः. 3 विनाशयति । ११*८) 1 सल्लेखनाकाले. 2 विनाशहेतु ।

1539) स्नेहं विहाय बन्धुषु मोहं विभवेषु कलुषतामहिते ।
गणिनि[1] च निवेद्य[2] निखिलं दुरीहितं[3] तदनु भजतु विधिमन्त्यं ॥११*११

1540) अशनं क्रमेण हेयं स्निग्धं[1] पानं ततः खरं[2] चैव ।
तदनु च सर्वनिवृत्तिं कुर्याद् गुरुपञ्चकस्मृतौ निरतः ॥११*१२

1541) कदलीघातवदायुः कृतिनां सकृदेव विरतिमुपयाति ।
तत्र पुनर्नैव विधिर्यद्दैवे क्रमविधिर्नास्ति ॥ ११*१३

1542) जिने वसति चेतसि त्रिभुवनैकचिन्तामणौ
कृते ऽनशनसद्विधौ सकलसंगसंन्यसतः ।
दुरीहितनिराकृतौ भवतु यत्र तत्रापि मे ।
मृतिः समयसंगतेति ननु तीर्थमाचक्ष्यते ॥ १२

(आत्महितैषी भव्य जीव को) बन्धुजनों के विषय में स्नेह को धनसंपत्ति आदि के विषय में मोह को और शत्रु के विषय में कालुष्य (वैरभाव) को छोडकर अपने द्वारा जो कुछ भी दुष्प्रवृत्ति– प्रतिकूल आचरण– हुओ है उस सब के विषय में आचार्य से निवेदन करते हुए अन्तिम विधि का– सल्लेखना का– आराधन करना चाहिये ॥ ११*११ ॥

सल्लेखना विधि में प्रथमतः भात व रोटी आदि अन्न को, तत्पश्चात् क्रम से स्निग्धपान, दूध आदि चिक्कण पेय वस्तुओं को और फिर खरपान – छाछ व उष्णजल आदि को छोडकर अन्तमें पंचपरमेष्ठी के स्मरण में तत्पर हो कर सभी कुछ छोड देना चाहिये ॥ ११*१२ ॥

जब पुण्यशाली मनुष्योंकी आयु केले के स्तंभ के विनाश के – समान एक ही बार– शीघ्र हो–नाश को प्राप्त होती है, तब यह विधि – पूर्वोक्त क्रमविधि–सम्भव नहीं है, क्यों कि, दैव की प्रतिकूलता होने पर विधि की सम्भावना नहीं रहती है । (अभिप्राय यह है कि यदि अकस्मात् अकालमरण का अवसर प्राप्त होता है तो उस समय क्रमशः अन्नादि के त्याग की विधि को न अपनाकर एक साथ सबका ही त्याग कर देना चाहिये) ॥ ११*१३ ॥

तीनों लोकों में अद्वितीय चिन्तामणि के समान इच्छित फल को देनेवाले जिनेश्वर जब मेरे हृदय में वास कर रहे हैं, संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर के जब मैंने आहार के त्याग की समीचीन विधि को स्वीकार कर लिया, तथा सर्व पापों का जब मैं निराकरण भी कर चुका हूँ तब मेरा मरण जहां कहीं भी हो, तो भी वह चूंकि समयसंगत–शास्त्रसंमत– है । इसीलिये ऐसी मृत्यु को तीर्थ कहा जाता है ॥ १२ ॥

११*११) 1 PD आचार्ये. 2 D कथयित्वा. 3 दुष्टचिन्तनम् . ११*१२) 1 दुग्धादिकम्. 2 जलं ।

1543) तदुक्तम्–

अथाल्पमणुतो नास्ति नास्त्याकाशाद्यथा महत् ।
तथा मृत्यूपकारेषु नानशनात्परं तपः ॥ १२*१

1544) सूरौ प्रवचनकुशले साधुजने कायकर्मणि प्रवणे ।
चित्ते च समाधिरते किमिहासाध्यं समस्तीति ॥ १२*२

1545) तदुक्तम्—

ज्ञानं यत्र[1] पुरस्सरं सहचरी लज्जा तपः संबलं
चारित्रं शिबिका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।
पन्थाश्च प्रगुणः शमाम्बुबहलश्छाया दयाभावना
यानं[2] तन्मुनि[3]मापये[4]दभिमतं स्थानं विना विप्लवैः[5] ॥१२*३

कहा भी है –

जिस प्रकार अणु से कोई अल्प और आकाश से कोई महान् वस्तु नहीं है, उसी प्रकार मृत्यु के उपकारों में अनशन से कोई बडा तप नहीं है ॥ १२*१॥

आगम में निपुण आचार्य के समीप रहने पर शरीर की क्रियामें दक्ष साधु जन के सावधान होनेपर तथा मन के समाधि में लीन हो जानेपर, भला यहाँ असाध्य–जिस की सिद्धि न हो सकती हो–क्या है ? (अर्थात् वैसी अवस्था में सभी प्रकार का अभीष्ट सिद्ध होता है) ॥१२*२॥

कहा भी है–

जिस समाधिमरण के मार्ग में ज्ञान आगे का मार्ग दिखानेवाला है, साथमें लज्जा आगमोक्त विधि से भ्रष्ट होने का खेद– मर्यादारूपी मेरी सहचरी – मित्र –के समान सदा समीप में रहनेवाली है, तपरूपी पाथेय–नाश्ता–मेरे साथ है, चारित्ररूपी शिबिका– पालकी वाहन है, स्वर्ग पडाव–बीच में ठहरने के स्थान–हैं, सत्य, क्षमा आदिक गुण मेरा संरक्षण करनेवाले (सिपाही) है, मार्ग–समाधिमरण का मार्ग अथवा मोक्षमार्ग–अतिशय सीधा और कषायोपशमरूप प्रचुर पानी से संयुक्त है तथा दया भावनारूपी छाया भी विपुल है, वह मार्ग मुनि को इच्छित स्थान में–मुक्तिस्थान में–विना किसी प्रकार के उपद्रव के पहुँचा देता है ॥ १२*३ ॥

१२*३) 1 याने. 2 गमनम्. 3 कर्तृ. 4 प्रापयेत्. 5 उपद्रवैः ।

1546) आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता
क्लेशस्तच्च रणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनःसाधनं
सम्यक्चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः[1] ॥ १२*४

1547) जीवितमरणाशंसा सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधिः ।
एते सनिदानाः स्युः सल्लेखनहानये पञ्च ॥ १२*५

1548) आराधनायामप्युक्तं बालपाण्डित्यम्—
अच्छिन्नजीविताशायां सहसा मरणेऽपि वा ।
अमुक्तो जातिभिर्वान्त्यात्तदुक्तं बालपण्डितः ॥ १२*६

जिस समाधि में त्रैलोक्य के गुरु जिनेन्द्र देव आराधन के योग्य हैं, साधुजनों को अभीष्ट वृत्ति—सदाचरण—है, कष्ट यदि कुछ है तो वह जिन भगवान् के चरणों का स्मरण है जो—वस्तुतः कष्ट नहीं है, हानि यदि कुछ होनेवाली है तो वह कर्मों के अतिशय क्षयरूप है — जो अभीष्ट ही है, सिद्ध करने योग्य मुक्ति का सुख है, काल भी उसमें कितना अधिक लगनेवाला है — कुछ थोडासा ही लगनेवाला है, तथा उसका साधन—उसे सिद्ध करनेवाला—मन है; इस प्रकार हे विद्वज्जनो! थोडा विचार तो करो कि उस समाधि में विषम - कठिन — क्या है ? अर्थात् ऐसी समाधि के धारण करने में कठिन कुछ भी नहीं है — सभी सामग्री सुलभ है ॥ १२*४ ॥

जिविताशंसा, मरणाशंसा, सुहृदनुराग, सुखानुबंध विधि और निदान ये पांच अतिचार सल्लेखना की हानि के लिये कारण हैं। जीविताशंसा - जीनेकी इच्छा रखना। मरणाशंसा — मरण की इच्छा करना । सुहृदनुराग — अपने पूर्व मित्रों का मन में स्मरण करना। सुखानुबंधविधि—नानाप्रकार के प्रीतियुक्त सुखों का जो अनुभव किया गया है उनका बार बार स्मरण करना । निदान—मनमें भावी भोगों की इच्छा रखना ॥१२*५॥

आराधना में भी बालपांडित्य कहा गया है ।

अकस्मात् मरन आने पर जीविताशा नष्ट नहीं होती है और उस समय आत्मा जाति — जन्मरूपी वायुसमूह से अमुक्त होता है (?) अर्थात् उस को पुनर्जन्म ग्रहण करने पडते हैं, उसे बालपंडित कहते हैं ॥ १२*६ ॥

१२*४) 1 D णो बुधाः ।

1549) आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।
समाधिभावेन कृतान्त्यकार्यः कृती जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥ १३

1550) परीषहजयस्तुल्यो ऽनुप्रेक्षा उभयत्र च ।
संभावयन्तु सुधियो वक्ष्यमाणा यथायथम् ॥ १४

1551) प्रास्वाहारपरस्य कालसमयाद्यावश्य[illegible]ण्यायिनो[1]
लाभालाभसतुच्छलाभजा[illegible]त तङ्कस्य सद्ध्यानिनः ।
प्रायः स्वान्यकृतावमोदरनिराहारा[2]भ्युदीर्णक्षुधः[3]
क्षुद्[illegible]यस्तदीयविहति[4]मोत्सन्न[5]चिन्ता यतेः ॥ १५

1552) स्नानादीन् त्यजतो विरुद्धविषमाहारोष्मपित्तज्वरो-
दन्यां कायहृषीकमाथनिपुणां प्रत्यप्रतीकारिणः ।
आवासानियतस्य पक्षिण इवोदन्या[1]समर्चिःशिखां
शान्तिं प्रापयतः समाधिसलिलैः ख्यातं तृषामर्षणम्[2] ॥ १६

जो पुण्यशाली पुरुष समाधिमरण की इच्छा से अपने आप को विधिपूर्वक आचार्य के लिये समर्पित कर के इस प्रकार से रत्नत्रय की आराधना करता हुआ समाधिस्वरूप से अन्तिम कार्य को – सल्लेखना विधि को – पूरा करता है, वह लोकमान्य पद का स्वामी होता है ॥१३॥

मुनि की सल्लेखना हो अथवा गृहस्थ की सल्लेखना हो। दोनों में परीषहजय और अनुप्रेक्षा समान हैं। इसलिये जैसा आगे स्वरूप कहा जायेगा, तदनुसार विद्वज्जनों को उनका आदर करना चाहिये ॥ १४ ॥

जो साधु प्रासुक आहार के ग्रहण में तत्पर हो कर काल–समयादि आवश्यकों में सन्तुष्ट रहता है, जिसे भोजन के लाभ, अलाभ अथवा अतिशय तुच्छ लाभ से रोग उत्पन्न हो गया है, फिर भी जो समीचीन ध्यान में लीन हो रहा है, तथा जिसे प्रायः स्वयं गृहीत अवमौदर्य या अनशनसे अथवा अन्यकृत अवमौदर्य या अनशन से – दाता के द्वारा अल्पमात्रामें आहार के देने से अथवा अन्तरायादि हो जानेपर सर्वथा आहार के न मिलनेसे – भूख को पीडा उदित हुई है, वह उक्त भूख की वेदना के विनाश की चिन्ता से रहित साधु क्षुधापरीषह पर विजय प्राप्त करता हैं– उसे शांतिपूर्वक सहता है ॥ १५ ॥

जिसने स्नानादि का त्याग किया है ऐसे मुनि को प्रकृतिविरुद्ध और विषम आहार मिलने से उष्णता के साथ पित्तज्वर उत्पन्न हो कर प्यास लगती है, जो शरीर और इन्द्रियों को

१५) 1 तत्परस्य. 2 उत्पन्न. 3 यतेः. 4 पीडा. 5 निराकृता । १६) 1 तृषा. 2 सहनम् ।

1553) मार्गानोकहमूलपर्वतभुवोऽसंवृतकायस्य[1] वा–
ऽऽस्थानस्य[2] निवा[3]सवस्तुनिकरे[4] पूर्वानुभूतस्मृतिम्[5] ।
कुर्वाणस्य न वाञ्छतो न निखिलं तत्रापकारावहं
ख्यातः शीतपराजयः स्थितवतः स्वध्यानगर्भालये ॥ १७

1554) दवानलकणाकुले वहति मारुते ऽकातर[1]–
स्थिते[2]र्मरुवनान्तरे सुखमतीतमध्यायतः ।
खरांशुकरतापतः[3] स्फुटिततप्तदेहस्य च
निदाघसहनं मतं प्रशमवारिधौ मज्जतः ॥ १८

1555) मक्षिकामशकदंशपुत्तिका[1]कीटमत्कुणपिपीलिकादिभिः ।
तोदने[2] स्थिरतनोरनावृतेस्तत्परीषहजयो दयावतः ॥ १९

पीडित करती है। फिर भी जो उस का प्रतिकार नहीं करता है तथा जिस का पक्षी के समान कोई नियत स्थान नहीं है, वह प्यास रूप अग्नि की ज्वाला को ध्यानरूप जल से शान्त करता है, उस का तृषापरीषहजय प्रसिद्ध है – वह उस तृषापरीषह को सहता है ॥ १६ ॥

जो मार्ग में वृक्ष के मूल में या पर्वत के भूभाग में वस्त्रादि के आवरण से रहित– नग्न – शरीर के साथ अवस्थित है, जो निवास से संबद्ध वस्तुओं के समूह के विषय में न पूर्व अनुभूत सुख का अनुभव करता है, और न इस विषय में उपकारक समस्त वस्तुओं में – रुई के या ऊनी वस्त्रादिकों में – किसीकी भी इच्छा करता है, इस प्रकार जो आत्मध्यानरूप गर्भा-लय में – गृह के भीतरी भाग में – स्थित हो रहा है ऐसे साधु के शीतबाधा का पराजय प्रसिद्ध है – ऐसा शरीर से भी निरपेक्ष साधु प्रसन्नतापूर्वक शीतपरीषह को सहता है ॥ १७ ॥

जो जितेन्द्रिय साधु वनाग्नि के कणों से– स्फुलिंगों से – व्याप्त वायु (लू) के चलने पर भी पूर्वानुभूत सुख का स्मरण न करता हुआ मरुभूमि – रेतीली पृथिवी – पर अथवा वन के मध्यभाग में दृढतापूर्वक अवस्थित रहता है; तथा जिस का संतप्त शरीर सूर्य के भया-नक ताप से फूट रहा है; ऐसे उत्कृष्ट शांति के समुद्र में मग्न हुए साधु के उष्ण परीषहका सहन करना माना गया है ॥ १८ ॥

जिसका शरीर वस्त्रादि के आवरण से रहित होने से मक्खी, डांस, मच्छर, पुत्तिका (पिस्सू?) कीट, खटमल और चींटी आदि प्राणियों के द्वारा काटे जाने पर भी जो अपने आसन से नहीं विचलित होता है। ऐसा दयालु मुनि दंश मशक परीषह का विजेता होता है ॥ १९ ॥

---

१७) 1 निरावरणकायस्य. 2 स्थितस्य. 3 P°निवासवस्तु° 4 PD समूहे. 5 P°नुभूते स्मृतिम् । १८) 1 यतेः. 2 सूर्यकिरण. 3 P°तापितस्फुटित° । १९) 1 चर्मयूका. 2 पीडने ।

1556) विडम्बनमिवात्मनः सकलकामिनीचेष्टितं
विभावयत[1] उज्ज्वलं दधत एव तुर्यव्रतम् ।
मनो विजयसूचकं परमसंयमालम्बनः
अनन्यसम[2]मङ्गिनो भवति नग्नतामर्षणम्[3] ॥ २०

1557) आतोद्यवाद्यरहितेषु[1] गुहादिकेषु[2]
वासेषु वा[3]ध्ययनयोगसमाहितस्य ।
दृष्टश्रुतानुभवमन्मथकारिरम्ये-
ष्वर्थेष्वचिन्तनपरस्य जयो रतेः स्यात् ॥ २१

1558) सरसवचनभङ्गा लोलनेत्रान्तपाता
कुचभरावनताङ्गीर्मोहयन्तीर्जगन्ति ।
स्मितमधुरमुखाब्जाः पश्यतो वाणिनीस्ता
रहसि[1] भवति रामाबाधमर्षस्थितस्य[2] ॥ २२

जो समस्त स्त्रियों की चेष्टा को–कामोत्पादक प्रवृत्ति को–अपनी विडम्बना के समान समझता हुआ निर्मल चतुर्थव्रत को–अखण्डित ब्रह्मचर्य को–धारण करता है तथा जिसका असाधारण मन उत्कृष्ट संयम का आलम्बन लेता हुआ विजय का सूचक है ऐसा प्राणी नग्नतापरीषह को सहता है ॥ २० ॥

जो मुनि आतोद्य वाद्योंसे – नत, आनद्ध, शुषिर व घन इन चार प्रकार के बाजों से– रहित गुंफा आदि निर्जन स्थानों में स्थित रहकर स्वाध्याय व ध्यान में सावधान रहता हुआ दृष्ट, श्रुत एवं अनुभव में आये हुए कामोद्दीपक रमणीय पदार्थों के विषय में विचार नहीं करता है वह रतिपरीषह का विजयी होता है ॥ २१ ॥

जो अनेक प्रकार से सरस - मधुर–भाषण करती हुई चंचल नेत्रों से कटाक्षपात करनेवाली हैं, जिनका शरीर स्तनों के भारसे झुक रहा है, जो जगत् को–विश्व के प्राणियों को– अपने सौन्दर्य से मोहित करती हैं, तथा जिन का मुखकमल मन्द हास्य से मनोहर है; ऐसी नर्तकी स्त्रियों को एकान्त में देखता हुआ भी जो साधु उन को बाधा को स्थिरतापूर्वक सहता है वह स्त्री परीषहका विजेता होता है ॥ २२ ॥

---

२०) 1 कामिनीचेष्टितउदासीनस्य यतेः. 2 नान्यसमम्. 3 नग्नतासहनम् । २१) 1 गीतनृत्यवादित्ररहितेषु. 2 P°गुहादिशून्य°. 3 P°वाध्ययन । २२) 1 एकान्ते. 2 P°स्थिरस्य ।

1559) लब्ध्वानुज्ञां विदितसमयो यो गुरूणां गुरूणां
देशं कालं विजितकरणो याति योग्यं विभाव्य।
पद्भ्यां[1] नन्तुं[2] जिनपतिवरानप्रतीकारचेष्ट[3]–
श्चर्याबाधासहनमुदितं तस्य नैःसंग्यभाजः[4] ॥ २३

1560) श्मशाने ऽरण्ये वा विहितवसतेरासनशतैः[1]
पिशाचव्यालादिध्वनिकलकलैरप्यचलतः[2]।
गतक्षोभं व्याधाद्युपजनितदुःखं च सहतो
निषद्याबाधाया विजय उदितो दान्तमनसः[3] ॥ २४

1561) ध्यानाध्ववाह[1]सतताध्ययनोपवासै–
र्मौहूर्तिकीं श्रमवशेन गतस्य[2] निद्राम्।
भूमौ विकीर्णशत[3]कण्टकशर्करायां
शय्यापरीषहजयः स्थितविग्रहस्य ॥ २५

जो ज्ञानादि गुणों में महानता को प्राप्त हैं ऐसे आचार्यों की अनुमति प्राप्त कर के स्वमत-परमत का ज्ञाता जो जितेन्द्रिय मुनिराज योग्य देशकाल का विचार कर जिनेश्वरों की वन्दना करने के लिये पावों से जाता है उस समय कण्टकादिकी बाधा के होने पर भी जो उसका प्रतीकार नहीं करता है ऐसे निर्ग्रन्थ–निःस्पृह–साधु को चर्यापरीषह का विजेता निर्दिष्ट किया गया है ॥ २३ ॥

जो सैंकडों आसनों के साथ – गोदोहन व वीरासन आदि विविध प्रकार के आसनों को स्वीकार कर – श्मशान में या गहन वन में स्थित हो कर पिशाच आदि व्यन्तर देवों और व्याल – सर्प या हाथी– आदि पशुओं के भयानक शब्दों व कलकल ध्वनि को सुनता हुआ भी गृहीत आसन से विचलित नहीं होता है तथा क्षोभ से रहित हो कर भीलों आदि के आश्रय से उत्पन्न दुःख को सहता है, ऐसे मनस्वी साधु के निषद्यापरीषह का जय कहा गया है ॥ २४॥

जो साधु आत्मध्यान, मार्गगमन, अध्ययन और उपवासों से थककर सैंकडो तीक्ष्ण काँटे और कंकडों से व्याप्त पृथिवी के ऊपर मुहूर्तपर्यन्त निद्रा को प्राप्त होता है ऐसे निश्चल शरीरवाले मुनि के शय्यापरीषह का जय कहा गया है ॥२५॥

२३) 1 चरणाभ्यां द्वाभ्याम्. 2 P°गन्तुम्. 3 गाढो अश्वादिरहितः. 4 निःसंगस्य। २४) 1 कृत-स्थानस्य. 2 मुनेः. 3 निर्जितचित्तस्य। २५) 1 मार्गे चलनात्. 2 प्राप्तस्य. 3 P°शित, तीक्ष्ण।

1562) निन्दावज्ञापरुषवचनासह्यनिर्भर्त्सनादि-
वाक्यं कोपज्वलनपवनं हेतुजातं विनापि।
श्रुत्वा शक्तावपि न तनुते तेषु कालुष्यलेशं
यः ख्यातो ऽसौ प्रशमरसिकः क्रोधबाधासहिष्णुः॥ २६

1563) एतैर्न काचन कृतापकृतिर्ममैव
कर्मेदमित्थमिति भावयतो ऽबले[2] ऽपि।
हेतुर्विनापि घनलोष्टकशादिघाते
ख्यातः सुखासुखसमस्य वधावमर्शः॥ २७

1564) आहारभेषजनिवेशनिमित्तमङ्ग-
संज्ञातिदीनवचनास्यविवर्णताभिः।
ग्लानो ऽतिदुश्चरतपोभिरयाचमानो
याच्ञापरीषहजयी विजिताक्षवृत्तिः[2]॥ २८

जो मुनि बिना किसी कारण के ही निन्दा, तिरस्कार व कठोर भाषण और असह्य झिडकने आदिरूप वाक्य को, जो कि कोपरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये वायु का काम करता है, सुनकर भी तथा प्रतिकार करनेरूप सामर्थ्य के होनेपर भी उन के ऊपर लेश मात्र भी कलुषता – क्रोधादिरूप मलिनता – को नहीं धारण करता है, ऐसा प्रशम गुण का रसिक मुनि क्रोधबाधा को सहनेवाला कहा गया है॥ २६॥

कारण के बिना भी घन पत्थर अथवा चाबुक आदि से ताडन करनेपर भी सुख-दुःख में समता भाव को प्राप्त साधु 'इन के द्वारा मेरा कुछ भी अपकार नहीं किया गया है यह तो मेरे प्रबल कर्मका प्रभाव है ऐसा चिन्तन करता है वह वधपरीषहका सहनेवाला कहा गया है॥ २७॥

जो अतिशय कठिन तपश्चरणों से रुग्ण होता हुआ भी आहार, औषध या वसतिका के लिये शरीर से संकेत, अतिशय दीनवचन एवं मुख की विवर्णता – कान्तिहीनता – आदि कारणों से याचना नहीं करता है वह इन्द्रियवृत्ति को जीतनेवाला मुनि याचनापरीषहविजयी होता है॥२८॥

---

२७) 1 विरूद्धता. 2 असमर्थे जनेऽपि। २८) 1 मुख. 2 इन्द्रियप्रसरः।

1565) विद्युत्पातं गृहपतिगृहं क्रामतो[1] लाभतो मे
ऽलाभः श्लाघ्यं तप इति मुदा[2] मन्यमानस्य साधोः ।
दातुर्दानं प्रति समतया पश्यतो भक्त्यभक्ती[3]
संक्लेशाद्यास्खलितमनसो ऽलाभबाधाजयो ऽस्ति ॥ २९

1566) सर्वव्याध्यशुचिप्रकारभवनं[1] रम्यं च धर्मस्थिते-
[2]र्धर्मर्द्धौ निरतस्य रोगनिवहैस्तर्क्यं[3] वपुः क्रामति[4] ।
दिव्यर्द्धिप्रभवा[5]चिचिकित्सनबले त्वस्तप्रतीकारिणः[6]
केषां चित्तचमत्कृतिं न कुरुते व्याधिप्रबाधाजयः ॥ ३०

1567) चर्यानिषद्याशयनक्रियास्वसंक्लेशिनः प्राणिकृपापरस्य ।
बाधे वितृण्या[1]शितशर्कराद्यैस्तृणादिपीडाविजयः प्रशस्यः ॥ ३१

जो साधु बिजली के गिरने के समान शीघ्रता से गृहस्वामी के घर के भीतर प्रविष्ट होकर 'मेरे लिये आहार के लाभ की अपेक्षा उसका न मिलना ही प्रशंसनीय तप है' इस प्रकार मानता हुआ दाता की दान के प्रति भक्ति अथवा अभक्ति को हर्षपूर्वक समता भाव से देखता है तथा जिसका मन संक्लेशादि के वश हो कर मार्ग से स्खलित नहीं होता है, वह अलाभपरीषह की बाधा का जीतनेवाला होता है ॥ २९ ॥

यह शरीर सब प्रकार के रोगों और अपवित्रता का घर है, वह यदि रमणीय है तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मका आधार होने से है । जो मुनि धर्मरूप धनसम्पत्ति में आसक्त है उसका शरीर रोगों के समूह से घिरकर चल देता है- नष्ट हो जाता है । दिव्य ऋद्धि के प्रभाव से उस के चिकित्सा का-रोग समूह के प्रतिकार का-सामर्थ्य होनेपर भी जो उसका कुछ भी प्रतीकार नहीं करता है, उस साधु का रोग की प्रबल बाधा को जीतना किनके चित्त में आश्चर्य को नहीं उत्पन्न करता है ? अर्थात् उसका यह रोगपरीषह का जीतना सब के लिये आश्चर्यजनक होता है ॥३०॥

जो चलना, बैठना और सोना इन क्रियाओं में संक्लेश को न प्राप्त हो कर प्राणि-रक्षा में तत्पर रहता है, ऐसा मुनि विशिष्ट घाससमूह (कोस आदि) और तीक्ष्ण बालुका आदिकों की पीडा के होने पर उसे सहता है अतएव उस का वह तृणस्पर्शपरीषहविजय प्रशंसनीय है ॥ ३१ ॥

२९) 1 उल्लङ्घयतः भ्रमतः वा. 2 हर्षेण. 3 द्वे । ३०) 1 वपुः. 2 धर्मऋद्धौ विषये. 3 प्रार्थ्यमानम्. 4 याति. 5 दिव्यऋद्धि, 6 मुनेः । ३१) 1 ....दितृणसमूह ।

1568) यः स्वेदाक्तावयवखचितै रेणुपुञ्जैः सजल्लो
ग्रीष्मे कच्छुप्रभृतिभिरुपारूढकण्डूव्यथोऽपि।
आप्कायस्याविवधिपुरसून्[2] प्राणिनः स्नाति नैत-
द्यावज्जीवं स मलविजयी निर्मलो भावशौचात्[3] ॥ ३२

1569) श्लाघ्याः सर्वविदीव[1] भक्तिरसिका मूर्खेऽपि मिथ्यादृशः
पूजां कोऽपि करोति नोग्रतपसो विज्ञाततत्त्वस्य मे ।
भक्ताः सन्ति तपस्विनः सुरवराः सत्या न हीयं[2] श्रुतिः
स्यात्सत्कारपुरस्क्रियार्तिसहनं मन्येऽस्ति नैवं यदि[3] ॥ ३३

1570) अहं विद्वानाद्यः कविरहमहं न्यायनिपुणो
मयाधीताः सर्वे स्वपरसमया वादिविसरः।
जितो राज्ञामग्रे पशुवदपरः पण्डितजनः
किमाभातीत्येवं मदमभजतो धीमदजयः ॥ ३४

जो साधु ग्रीष्मकाल में पसीनेसे परिपूर्ण अवयवों में व्याप्त हुए धूलिपुंजसे मलयुक्त होता हुआ कच्छु (खुजली) आदि चर्मरोगों से पीडित रहता है तो भी जलकायिक जीवों के संरक्षण की इच्छा से आजन्म स्नान नहीं करता है, वह परिणामों की निर्मलता से भावशौच को धारण करनेवाला निर्मलमुनि मलपरीषहपर विजय प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

भक्ति में आनन्द माननेवाले मिथ्यादृष्टि जन मूर्ख के विषय में भी सर्वज्ञ के समान प्रशंसनीय भक्ति किया करते हैं। परन्तु घोर तपश्चरण में तत्पर और तत्त्व का ज्ञाता होने पर भी मेरी कोई भी भक्ति नहीं करता है। 'उत्तम देव तपस्वी के भक्त हुआ करते हैं, यह लोकोक्ति सत्य नहीं है' इस प्रकार का विचार यदि मुनि के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत नहीं होता है तो वह सत्कार पुरस्कार की पीडा को सहता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ३३ ॥

मैं विद्वान् हूँ, मैं आद्य कवि हूँ, न्याय में निपुण हूँ, मैंने अपने तथा परमत के ग्रन्थ पढ डाले हैं, राजाओं के आगे सर्व वादिसमूह को जीता है, पशु के समान अज्ञानी इतर पंडित जन मेरे आगे क्या शोभा पा सकते हैं; इस प्रकार के अभिमान को जो मन में नहीं उत्पन्न होने देता है, वह प्रज्ञापरीषह को जीतता है ॥ ३४ ॥

---

३२) 1 अवद्याभिलाषुकः. 2 प्राणान्. 3 भावस्नानात् । ३३) 1 सर्वज्ञे. 2 हि स्फुटमृह यं श्रुतिः. 3 न एवं पूर्वोक्तं यदि ।

1571) तिरस्कारं मूर्खः पशुरसि शठेत्यादि सहत-
स्तपो घोरं सारं विदधत इदं नातिशयितम्।
ममोत्पन्नं ज्ञानं मतिमिति मुनिर्यो न कुरुते
समाख्यातः शान्तः स इह खलु बोधार्तिविजयी ॥ ३५

1572) सिद्धान्तार्णवपारगस्य तपसां वासस्य संवेगिनो
भक्तस्यादिजिनेश्वरादिषु न मे ऽजायन्त[1] चेन्निर्णयाः[2]।
प्रव्रज्येयमनर्थिका व्रतमिदं क्लेशावहं केवलम्
एवं भावयते न यो विजयते दृष्टेः[3] स बाधां मुनिः ॥३६

1573) अन्तर्ध्यानं यदि विपहते सर्वदेशव्रताढ्यः
सर्वानेतान् जनितभुवनक्षोभवृत्तानिवारीन्[1]।
पुष्टिं तन्वन्नतिशयवतीं संवरे निर्जरायां
सत्यंकारं[2] वितरतितरां[3] मुक्तिकान्तोपयामे[4] ॥ ३७

जो मुनि 'अरे दुष्ट ! तू मूर्ख व पशु जैसा है' इत्यादि दुर्वचनों को सहन करता है तथा 'भयानक व श्रेष्ठ तपश्चरण को करते हुए भी मुझे जो यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह अतिशय को नहीं प्राप्त हो रहा है' इस प्रकार की बुद्धि को--विचार को--कभी मन में नहीं उदित होने देता है वह ज्ञान की पीडाका--अज्ञानपरीषह का जीतनेवाला कहा गया है ॥ ३५ ॥

जो मुनि 'मैं सिद्धान्तरूप समुद्र का पारगामी, तपश्चरणों का घर, संसार से भयभीत और आदि जिनेश्वरादिकों का भक्त हूँ; तो भी चूँकि मुझे निर्णय – ज्ञानातिशय या ऋद्धि आदि – उत्पन्न नहीं हो रही है, इसलिये यह दीक्षाग्रहण व्यर्थ है, तथा यह व्रत केवल दुःख – दायक है' ऐसा मन में कभी विचार नहीं करता है वह दर्शन की बाधा को--अदर्शन परीषह को जीतता है ॥ ३६ ॥

सर्व व्रती--महाव्रती मुनि--और देशव्रतसहित श्रावक यदि अपने अन्तरात्मा के ध्यान में लीन होकर जगत् को क्षुब्ध करनेवाले शत्रुओं के समान इन परीषहों को सहन करते हैं तो वे संवर और निर्जरा के विषय में अतिशययुक्त पुष्टि को उत्पन्न करते हैं (अर्थात् वे कर्मों के विपुल संवर और निर्जरा को करते हैं) तथा मुक्तिरूप स्त्री के साथ विवाह करने के कार्य में अधिक सत्यंकार (बयाना) देते हैं ॥ ३७॥

३६) 1 यदि नोत्पन्नाः. 2 निश्चयाः. 3 दर्शनस्य। ३७) 1 P°क्षोभवृत्तीनिवा°. 2 साई. 3 ददाति. 4 मुक्तिकान्तापरिणयने।

1574) तारुण्यं तरुणीकटाक्षचटुलं कल्लोललोलं वपु-
र्लक्ष्मीः कुञ्जरकर्णतालतरला भोगास्तडिद्भङ्गुराः ।
उद्वेल्लद्विषवल्लरीरससमाः[1] संगाः कुरङ्गीदृशां[2]
वातव्याकुलितप्रदीपचपलज्वालोपमं जीवितम् ॥ ३८

1575) क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः
परिवृतमतः खेनाधस्तात्खलासुरनारकान् ।
उपरि दिविजान्मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरथ नृणां त्राता नैको ह्यलङ्घ्यतमो ऽन्तकः ॥ ३८*१

1576) उद्वेल्लत्परिवर्तनद्रुमघने प्राणप्रकारालिनो[1]
नैकट्यं कुलयोनिकोटिकुसुमैः कर्मानिलान्दोलिताः ।
अश्रान्तं विषयासवैकरसिकाः[2] संसारचक्रे चिरात्
भ्राम्यन्तीति कृती विभाव्य रमतां तद्दोषदूरे[3] पदे ॥ ३९

तारुण्य युवती स्त्रियों के कटाक्षों के समान चंचल है, शरीर तरंगों के समान अस्थिर है, लक्ष्मी ताडपत्र के समान (बडे) हाथी के कानों के समान चंचल है, भोग बिजली के समान नाशवान हैं, परिग्रह हरिणी के समान नेत्रोंवाली स्त्रियों के सहवास ऊपर चढी हुई विषवल्ली के रससमान है तथा प्राणियों का जीवित वायु से व्याकुल किये गये दीपक की चंचल ज्वाला के समान है ॥ ३८ ॥

यह लोक असंख्यात द्वीप-समुद्रों से तथा बाहर घनवात, अम्बुवात और तनुवात इन तीन वायुओं से वेष्टित है। ब्रह्मदेवरूप मंत्री ने इसमें नीचे - अधोलोक में - दुष्ट असुरों और नारकियों को, ऊपर-स्वर्ग में - देवों को और मध्य में मनुष्यों को किया है । इस प्रकार मनुष्यों के संरक्षण की पूरी व्यवस्था करके भी न तो वह ब्रह्मदेव ही उन की रक्षा कर सका और न मनुष्यों का स्वामी - चक्रवर्ती आदि - भी रक्षा कर सका । ठीक है - यम अतिशय अलंघनीय है ॥ ३८*१ ॥

फैलते हुए परिवर्तनरूप वृक्षों से सघन ऐसे संसाररूप गहन वन के भीतर प्राणभेदरूप भ्रमरकुल और योनिरूप करोडों फूलों के साथ निकटता को प्राप्त होकर कर्मरूप वायु से कम्पित होते हुए निरन्तर विषयभोगरूप मद्य के असाधारण रसिक होते हैं व इसीलिये वहाँ चिरकाल तक भ्रमण करते हैं, ऐसा जानकर बुद्धिमान् मनुष्य को उन दोषों के दूरवर्ती पद में —मोक्ष में रमण करना चाहिये ॥ ३९ ॥

३८) 1 P°वल्लरीभरसमाः. 2 हरिणाक्षीस्त्रीसंगाः । ३९) 1 भ्रमराः. 2 मद्य. 3 संसारदोषदूरे पदे मोक्षे ।

1577) तापत्रयीं[1] घनघनामहमन्वभूवमेको यथा परवशः प्रहतप्रकाशः ।
रत्नत्रयीं यदि तथात्ममयीमधीयां[2]देकत्वभा- नपरः स तदावसेयः ॥ ४०

1578) यद्यद्भिन्नं किमपि किमपि द्रव्यजातिक्रियाद्यं
भावाभावप्रभवमहिमा द्योतते तत्तदन्यत् ।
इत्थं तावद्विगलितमहामोहमन्यत्वमेतु[1]
यावच्छुद्धः स्वयम[2]नघतां[3] याति वाचामगम्याम् ॥ ४१

1579) वर्णोत्पत्तिप्रकाराः सुनिपुणधिषणैर्वर्णिता ये हि काये
तिष्ठन्त्येते विचार्या विमलपरिमलोद्गारिणश्चन्द्रमुख्याः[1] ।
ये ते लोकप्रसिद्धास्त[2]दुपकरणतां ये त एवाशुचित्वं
यान्ति त्यक्तस्वभावास्तदशुचिमतां लब्धवर्णा[3] विदन्तु ॥ ४२

जिस प्रकार मैं ने अकेले ही परवश–कर्म के वशीभूत – होकर विवेकरूप प्रकाश से रहित होते हुए अतिशय दृढ तापत्रयी का – सन्तापजनक जन्म, जरा व मरण अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन का–अनुभव किया है उसी प्रकार यदि आत्मा के स्वभावभूत रत्नत्रयीका – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन का – अभ्यास किया होता तो उसी मुझ को निश्चित ही एकत्वभावना में तत्पर माना जाना चाहिये था॥४०॥

जो कुछ भी द्रव्य, जाति और क्रिया आदिक पदार्थ हैं व भाव और अभावके माहात्म्य से प्रकाशमान हो रहे हैं वे सब मुझ से अन्य हैं, इस प्रकारके विचार से महामोह अपनी आत्मामें से निकल जाता है और आत्मा उन पुद्गलादि पदार्थों से भिन्नपनेको प्राप्त होता है। तदनंतर आत्मा शुद्ध होता हुआ वचन के अगोचर ऐसे कर्ममल से रहित आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

अतिशय निपुण बुद्धि के धारक ऋषियों के द्वारा जो वर्ण–कांति–की उत्पत्ति के प्रकार निर्दिष्ट किये गये है वे विचारणीय हैं । जो वे निर्मल सुगंध के फैलानेवाले कपूर आदि लोकप्रसिद्ध पदार्थ हैं वे उस शरीरको उपकरणता को प्राप्त होकर अपने स्वभाव को छोडते हुए अपवित्रता को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार विद्वान् पुरुषों को अपवित्र शरीरादिकों की अपवित्रता को जानना चाहिये ॥ ४२ ॥

---

४०) 1 जन्मजरामरणमयीं मनोवाक्कायमयीं वा, D जन्मजरामृत्युरूपाम्. 2 अभ्यसेत् । ४१) 1 आगच्छतु. 2 आत्मानम्.. 3 निष्कर्मताम् । ४२) 1 कर्पूरप्रभृतयः. 2 कायस्य.. 3 मुनयः ।

1580) मिथ्याबोधप्रसृतकरणग्रामकोपाद्यधार्य-
योगोल्लासी व्यसनजलधौ प्रापको ऽमुत्र चात्र ।
यत्संभारादुपरि[1] वपुषो मज्जति प्राणिपोतः
क्ष्माभृन्नद्या[2] रय इव विदामास्रवो[3] ऽवाद्यनिन्द्यैः ॥ ४३

1581) गुप्त्याद्यैः[1] किल संवरस्तुतिमलं चक्रुर्[2]जटाला मनाक्[3]
आत्मन्यात्मलयं यतायत इमे[4] मज्जन्ति सिन्धौ यथा।
तद्यत्किं च जगत्त्रयी स्तुतिमुखा नो माति चात्मन्यपि
तामेकामिति संवृतिं शशिकलाकल्पां[5] श्रयन्तु श्रियै ॥ ४४

1582) आहारपङ्क्तिरिव कालभवी[1] समग्र-
जीवेषु यास्ति परिकर्मसखी[2] सदा सा ।
अन्तर्मुखस्य निजबोधितपो ऽग्निरोचि-
र्जाज्वल्यमानवपुषो ऽकथि निर्जरैका[3] ॥ ४५

मिथ्याज्ञान, अपने अपने विषयों के अभिमुख दौडनेवाली इन्द्रियों का समूह क्रोधादि कषाय और आत्मा को ऊपर न उठानेवाले अशुभ योग इन कारणों से शोभनेवाला यह आत्मा इस लोक में व परलोक में आपत्तिरूप समुद्र में प्रवेश करता है। शरीर –आत्मा– के ऊपर इन मिथ्याज्ञानादिकों का भार होने से यह प्राणीरूपी नौका डूब जाती है। वह आस्रव पर्वतपर से बहनेवाली नदी के वेग के समान है, ऐसा इसका स्वरूप प्रशंसनीय ज्ञानियों ने कहा है ॥ ४३ ॥

गुप्ति व समिति आदिकों से निश्चयतः संवर होता है – नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता है ऐसी स्तुति जटाधारी साधुओं ने की है। वे साधु अपनी आत्मा में आत्मलय को प्राप्त हो कर मानो समुद्र में डूब जाते हैं। और अधिक क्या कहें, स्तुतिरूप मुख धारण करनेवाले ये तीन लोक भी इस आत्मा में नहीं माते हैं। विद्वान् लोग मोक्षलक्ष्मी के लिये उसी एक संवर का, जो कि चन्द्रकला के समान है, आश्रय करें ॥ ४४ ॥

जो कर्मनिर्जरा आहारपंक्ति – भुक्त भोजन – के समान समय पर होनेवाली है वह परिचर्या करनेवाली सखी के समान सब जीवों में निरन्तर रहती है। किन्तु एक – अविपाक– निर्जरा उस अन्तर्मुख साधु के कही गई है जिसका कि शरीर अपनी बोधि (रत्नत्रय) और तपरूप अग्नि की ज्वाला से जल रहा है ॥ ४५ ॥

४३) 1 यस्यास्रवस्य. 2 पर्वतनद्या वेग इव. 3 ज्ञानिनाम्। ४४) 1 गुप्त्याद्यैः. 2 कृतवन्तः. 3 विविधाम्. 4 यतयः. 5 तुल्याम्। ४५) 1 सविपाकनिर्जरा. 2 सा निर्जरा कर्मोत्पादका कालभवी. 3 अविपाका।

1583) आद्यन्तान्तप्रसरगहनं विश्वमेतत्समन्तात्
सर्वैः क्षुण्णं सुनिपुणमिवाज्ञानजालाचितैस्तु।
स्पृष्टाः कामं वयमपि तथा लोकलालाभिरेत-
द्रूपं बुद्ध्वा स्वसमयपरा धाम निष्कर्म यान्तु॥ ४६

1584) एकद्वित्रिचतुर्षु पञ्चकरणप्राप्तिर्भृशं[1] दुर्लभा
रूपायुःकुलजातिदेशनमुखस्तत्त्वावबोधस्ततः।
भावानां चलनाच्च कापथ[2]सरित्पातश्च धीदौस्थ्यतो
बोधेर्दुर्लभतामवेक्ष्य निपुणैस्तत्रेति[3] यत्यं[4] सदा॥ ४७

1585) अर्हद्भिर्दशधा प्रबुद्धजनतासिद्धयै स्वरूपस्थिति-
र्धर्मो येन हि देशकालनियताकारावरुद्धो ऽकथि।
विज्ञानां[1] हि विदे[2] यदाप्तिविकला कान्याप्नुवन्तीह नो
दुःखानीति विबुध्य धीरधिषणास्तस्मिन्[3] यतन्तां श्रिये॥ ४८

यह जगत् चारों तरफ से आदि, अंत और मध्य के प्रसार से गहन है। सर्व जीवों ने इसे अच्छी तरह से व्याप्त किया। अज्ञानजाल से सर्वतः आवृत हुए जीवों ने इस के सर्व प्रदेश व्याप्त किये हैं। हम भी लोकरूप लालाओं से अतिशय पूर्ण स्पृष्ट हुए हैं (?) ऐसा जानकर अपनी आत्मा में तत्पर होते हुए कर्मरहित स्थान – मुक्ति – को प्राप्त होवो॥ ४६॥

एक, दो, तीन और चार इन्द्रिय जीवों में से निकलकर पाँच इन्द्रियों की प्राप्ति अतिशय दुर्लभ है। यदि पाँचों इन्द्रियों की प्राप्ति हो भी गई तो रूप, आयुष्य, योग्य कुल, जाति और गुरूपदेश आदि के साथ आत्मस्वरूप का बोध होना अतिशय कठिन है। तत्पश्चात् परिणामों के स्थिर न रहने से तथा बुद्धि की दुःस्थिति से कुमार्गरूप नदी में पतन भी हो सकता है। इस प्रकार रत्नत्रय की दुर्लभता को देखकर निपुण मनुष्यों को उसकी प्राप्ति के लिये सदा प्रयत्न करना चाहिये॥ ४७॥

आत्मस्वरूप में अवस्थित होने का नाम धर्म है। अरहंत भगवान ने प्रबुद्ध जनसमूह के लिये उसे उत्तम क्षमादि के भेद से दस प्रकार का कहा है। विशिष्ट ज्ञानियों के परिज्ञान के लिये वह देश, काल, नियतकाल और आकार से अवरुद्ध कहा गया है। उस धर्म की प्राप्ति से रहित प्राणी यहाँ कौन-से दुःखों को नहीं प्राप्त होते हैं? (अर्थात् वे सभी प्रकार के दुःखों को प्राप्त होते हैं। यह जानकर धीरबुद्धि मनुष्यों को लक्ष्मी के लिये – मुक्ति वैभव की प्राप्ति के लिये – उस धर्म के विषय में प्रयत्न करना चाहिये॥ ४८॥

---

४७) 1 अतिशयेन. 2 मिथ्यामार्ग. 3 बोधे. 4 यत्नः करणीयः। ४८) 1 D ज्ञानिनाम्. 2 ज्ञानाय. 3 धर्मे।

1586) आज्ञापायविपाकसंस्थितिसमाविद्धं हि धर्म्यं[1] दधद्[2]
ध्यानं प्राप्य परीषहानिव रिपून् सर्वोपसर्गैः समम् ।
इत्थं यः परलोकसाधनकृते कुर्यात्प्रयाणं कृती
तस्यैकस्य जिगीषतो[3] ऽस्तु किमित्रासाध्यं त्रिलोक्यामपि ॥ ४९

1587) सर्वानर्थप्रशमनविधिः सर्वधर्मप्रधारा
सर्वान् कामान्[1] वितरितुम्[2] अरं[3] सर्वगा कामधेनुः ।
साक्षान्मोक्षं किमथ बहुना सा चतुर्वर्गसारा
भक्त्याराध्या जयमुनिनुता प्रान्त्यसल्लेखनैषा ॥ ५०

॥ इति धर्मरत्नाकरे सल्लेखनावर्णनो नाम एकोनविंशतितमो ऽवसरः ॥ १९ ॥

जो पुण्यशाली पुरुष आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार भेदों से समाविद्ध–वेधे गये--धर्म्य ध्यान को धारण करता हुआ उपसर्गों के साथ शत्रुओं के समान परीषहों को प्राप्त कर के उनपर विजय प्राप्त करता है व इस प्रकारसे परलोक की सिद्धि के लिये प्रस्थान करता है – सल्लेखनापूर्वक मरण को प्राप्त होता है उस अद्वितीय विजिगीषु – विजयाभिलाषी योद्धा – के लिये तीनों लोकों में असाध्य क्या हो सकता है ? कुछ भी नहीं – वह सभी प्रकार की सिद्धि को प्राप्त करता है

तात्पर्य – धर्मध्यान के चार भेद हैं । उनका विवरण--

१) आज्ञाविचय–उपदेशक के अभाव, बुद्धि की मन्दता, पदार्थों की सूक्ष्मता तथा हेतु व दृष्टान्त के न मिलने से सर्वज्ञप्रणीत आगम को प्रमाण समझ कर 'वस्तुस्वरूप ऐसाही है, जिनेश्वर अन्यथावादी नहीं हैं' ऐसा मानकर गहन पदार्थों के ऊपर श्रद्धान करना ।

२) अपायविचय – मिथ्यादर्शन – ज्ञान और चारित्र से ये प्राणी कैसे दूर होंगे, ऐसा बार बार विचार करना ।

३) विपाकविचय – ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप कारणों से प्राप्त होनेवाले फलानुभवन का बारबार विचार करना ।

४) संस्थानविचय–लोक का आकार और उस के स्वभाव का बार बार विचार करना । इन चार ध्यानों में स्थिर रहकर सल्लेखना का धारक परीषह और उपसर्गों को जीतता है । तब उसे परलोक में स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है ॥४९॥

जयसेन मुनि के द्वारा स्तुत–जिसकी स्तुति की गई है–तथा भक्ति से आराधन के योग्य यह अन्तिम सल्लेखना संपूर्ण अनर्थों को शान्त करनेवाली, सर्व क्षमादिक धर्मों की उत्कृष्ट धारा, संपूर्ण इष्ट पदार्थों के देने में अतिशय समर्थ होती हुई सर्वत्र जानेवाली कामधेनु है । अधिक क्या कहें? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों में सारभूत वह साक्षात् मोक्ष को देनेवाली है ॥५०॥

इस प्रकार श्रीधर्मरत्नाकर में सल्लेखना वर्णन करनेवाला यह
उन्नीसवाँ अवसर समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

---

४९) 1 ध्यानम्. 2 धारयन्. 3 जेतुमिच्छोः । ५०) 1 अभिलाषान्. 2 दातुम्. 3 समर्था सल्लेखना ।

[२०. विंशतितमोऽवसरः]

[उक्तानुक्तशेषविशेषसूचकः]

1588) उक्तानुक्तप्रकाराणां सूचको ऽवसरो ऽन्तिमः ।
ग्रन्थार्थस्मृतिमायान्ति बाला अपि विबुध्य यम् ॥ १

1589) अंगप्रविष्टं गदितं श्रुतं हि प्रकीर्णवाक्यार्थपरोदितं त्वन्यत् ।
अनुक्तसूक्तामृतसारबिन्दुस्वादप्रवीणैर्मुनिभिः प्रकीर्णम्[1] ॥ २

1590) अदुर्जनत्वं विनयो विवेकः परीक्षणं तत्त्वविनिश्चयश्च ।
एते गुणाः पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मवान्[1] धर्मकथापरः स्यात् ॥२*१

1591) असूयकत्वं[1] शठताविचारो दुराग्रहः सूक्तिविमानना[2] च ।
पुंसाममी पञ्च भवन्ति दोषास्तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय ॥ २*२

यह अन्तिम (वीसवाँ) अवसर उक्त और अनुक्त विषयों का सूचक है । इस अवसर को जानकर बालक भी ग्रन्थ और अर्थ का स्मरण कर सकते हैं ॥१॥

जिस का उल्लेख पूर्व में नहीं किया गया है तथा जो पूर्व में भली भाँति कहा जा चुका है ऐसे श्रुतरूप श्रेष्ठ अमृत के बिन्दुओं के स्वाद में निपुणता को प्राप्त हुए मुनियोंने एक श्रुत को अंगप्रविष्ट और इधर-उधर फैले हुए वाक्यार्थ के कथन को अन्य प्रकीर्णक श्रुत कहा है ॥ २ ॥

जिस के अदुर्जनपना–सज्जनता–विनय, विवेक, कार्याकार्यविचार और वस्तुस्वरूप का निश्चय ये पाँच गुण होते हैं वह आत्मवान् – आत्मस्वरूप जाननेवाला पुरुष – धर्मकथा के कहने और सुनने के योग्य होता है ॥ २*१ ॥

असूयकता–दूसरे की उन्नति को नहीं सह सकना, शठता–कपटीपना, अविचार, दुराग्रह और सुन्दर वचनों की अवहेलना करना; ये पाँच दोष पुरुषों के तत्त्वज्ञान में बाधक हैं ॥२*२॥

२) सर्गः । २*१) 1 P° तस्यात्मवान् । २*२) 1 असहनशीलत्वम्, ईर्षत्वं वा. 2 अवगणना

1592) पुंसो यथा संशयिताशयस्य वृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ।
धर्मस्वरूपे ऽपि तथाविधस्य कीदृक्कथं क्वास्तु कदा प्रवृत्तिः ॥ ३

1593) येभ्यः समुद्भवति ये परिवर्धयन्ति
ये पान्ति[1] क्षीणमपि धर्ममथा[?]रन्ति ।
तेषां विमानन[2]मवेत्य[3] कुतो ऽपि मोदी
यो धर्महा[4] स हि न तै रहितो ऽस्ति धर्मः ॥ ४

1594) तथा च-
यो मदात्समयस्थाना[1]मवह्लादेन मोदते ।
स नूनं धर्महा[2] यस्मान्न धर्मो धार्मि[?]र्विना ॥ ४*१

1595) देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ४*२

बातों में जिस का अभिप्राय व्यवहारकार्य के विषय में संशययुक्त होता है उसकी कोई भी प्रवृत्ति सफल नहीं होती है । इसी प्रकार जो धर्म के स्वरू[?] में भी संशययुक्त होता हैं उसकी प्रवृत्ति किस प्रकार, कैसे, कहां और कब होती है? ॥ ३ ॥

जिन पुरुषों से धर्म की उत्पत्ति होती है, जो उसे वृद्धिगत करते हैं, जो उसका संरक्षण करते हैं तथा जो नष्ट होते हुए उस धर्म का पुनरुद्धार करते हैं ऐसे धार्मिक जनों के कहीं से भी होनेवाले अपमान को सुनकर जो मन में आनंदित होता है वह धर्म का घातक है । क्योंकि धार्मिक पुरुषों के विना धर्म नहीं रह सकता है ॥ ४ ॥

और भी वैसा-

जो गर्व से धर्मनिष्ठ लोगों के अपमान से आनंदित होता है वह मानव धर्मघातक है, क्योंकि धार्मिक पुरुषों के विना धर्म नहीं रहता है ॥ ४*१ ॥

देवसेवा–जिनपूजा, गुरुपास्ति–गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम – प्राणियों का पालन और इन्द्रियों का स्वाधीन रखना तप और दान; ये गृहस्थों के प्रतिदिन करने योग्य छह कार्य हैं ॥ ४*२ ॥

४) 1 रक्षन्ति. 2 अपमानम्. 3 ज्ञात्वा. 4 धर्मविघातक. । ४*१) 1 श्रावकाणाम्. 2 धर्मविनाशकः ।

1596) अस्यायमर्थः –

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः ।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥ ४*३

1597) आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् ।
तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥ ४*४

1598) शुचिर्विनयसंपन्नस्तनुचापलवर्जितः ।
अष्टदोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥ ४*५

1599) अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु ।
अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥ ४*६

1600) गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः ।
प्रथमः सो ऽनुयोगः स्यात् पुराणचरितादिकः ॥ ४*७

इसका यह अर्थ है –

स्नपन – जलादिक से अभिषेक, पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और श्रुतस्तव–श्रुतज्ञान की स्तुति इस प्रकार सत्पुरुषों ने गृहस्थों के देवसेवा – पूजाविधि–में छह कर्म कहे हैं ॥ ४*३ ॥

आचार्यकी सेवा, उनके ऊपर श्रद्धा, शास्त्रार्थ का विवेचन, शास्त्र में अथवा आचार्य के द्वारा निर्दिष्ट क्रियाओंका अनुष्ठान – आचरण करना, यह कल्याण की प्राप्ति करानेवाला गुणसमुदाय है ॥ ४*४ ॥

(शिष्य को) स्नानादि से पवित्र, विनय से परिपूर्ण, शरीर की चंचलता से रहित और (ग्रन्थ की अपूर्णता, अर्थ की अपूर्णता, उभय ग्रन्थ व अर्थ की अपूर्णता, योग्य काल का अविचार, विनय का अभाव, उपधान का अभाव, बहुमान का अभाव और निन्हव (पुरुषा. ३६) इन) आठ दोषों से हीन हो कर गुरु के समीपमें अध्ययन करना चाहिये ॥ ४*५ ॥

चार अनुयोग, चोदह गुणस्थान, चोदह मार्गणास्थान और आठ कर्म; इन का आश्रय लेकर अध्यात्मविद्या का पढना, इसे स्वाध्याय कहते हैं ॥ ४*६ ॥

धर्म में बुद्धि रखनेवाला–धर्मात्मा–गृहस्थ जिस अनुयोग के आश्रय से अपने सिद्धान्त-को भली भाँति जान सकता है वह पुराण और चरित आदिस्वरूप प्रथमानुयोग है ॥४*७॥

४*४) 1 तेषामाचार्याणाम् । ४*५) 1 PD तन्व चापल° ।

1601) अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गति[illegible]चारणम् ।
शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥ ४*८

1602) ममेदं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः ।
इत्थमात्मा चरित्रार्थे ऽनुयोगश्चरणाभिधः ॥ ४*९

1603) जीवाजीवपरि[illegible]ानं धर्माधर्मावबोधनम् ।
बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥ ४*१०

1604) जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानगो[1] विधिः ।
चतुर्दशविधो बोध्यः स[2] प्रत्येकं यथागमम् ॥ ४*११

1605) अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतम् ।
तच्च[1] म[illegible]विरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥ ४*१२

जिस शास्त्र में अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक के आश्रयसे चारों गतियोंका विचार किया जाता है। उसे चरणानुयोग कहते हैं। इस में चार गतियों के विषय में प्रश्नोत्तरपूर्वक परीक्षण – विचार–किया जाना है ॥ ४*८ ॥

मेरा यह अनुष्ठान है – मुझे इसका पालन करना चाहिये, तथा यह उस के संरक्षण का उपाय है; इस प्रकार चारित्र को विषय करनेवाला जो अनुयोग है उसका नाम चरणानुयोग है ॥ ४*९ ॥

जीव और अजीव के परिज्ञान के साथ जो धर्म और अधर्म का विवेक तथा बन्ध और मोक्ष का अवबोध होता है; यह द्रव्यानुयोग का फल है। (अभिप्राय यह है कि जिसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, और बन्ध-मोक्षादि की प्ररूपणा की जाती है उसे द्रव्यानुयोग जानना चाहिये) ॥ ४*१० ॥

जीवस्थान – जीव समास, गुणस्थान और मार्गणास्थान इनका अनुसरण करनेवाला जो विधान है वह प्रत्येक चौदह प्रकारका है – इन में प्रत्येक के चौदह चौदह भेद समझना चाहिये। उन सब का परिज्ञान आगम के आश्रय से प्राप्त होता है ॥ ४*११ ॥

अपनी शक्ति को न छिपाते हुए जो कायक्लेश किया जाता है उसे तप कहते है। वह जब रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग के अथवा आगमोक्त विधि के अविरुद्ध किया जाता है तब वह लाभप्रद – हितकारक – होता है, ऐसा जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है ॥ ४*१२ ॥

४*११) 1 गतः. 2 द्रव्यानुयोगः । ४*१२) 1 तपः ।

1606) अथवा –

अन्तर्बहिर्मलोद्रेकादात्मनः शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥ ४*१३

1607) व्रतानां धारणं दण्डत्यागः[1] समितिपालनम् ।
कषायनिग्रहो ऽक्षाणां जयः संयम इष्यते ॥ ५

1608) अस्य व्याख्या–

सर्वथातिचारविवर्जनेन गृहीतपूर्वप्रतिपालनं यत् ।
मनोविशुद्ध्या क्रियते महद्भिस्तद्धारणं वाञ्छितसिद्धिहेतुः ॥ ६

1609) दुश्चिन्तनं न क्वचिदेव कुर्यात्पापाभिलाषं च सुदुष्टचेष्टाम् ।
मनोवचःकायसमाश्रयं तद्व्रती स्वकीयव्रतपोषणार्थम् ॥ ७

1610) यत्प्राणिरक्षणपरत्वमथात्मवत्स्या-
द्या च प्रयत्नपरता गमनादिके च[1] ।
या लोकशुद्धिसहचारितया प्रवृत्ति-
स्तद्व्याकृतं[2] समितिपालनमप्रमत्तैः ॥ ८

जिस शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया के द्वारा आत्मा की अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही प्रकार के मल की वृद्धि से शुद्धि होती है उसे तपोधन – तपरूप धन के धारक महर्षि जन – तप कहते हैं ॥ ४*१३ ॥

अहिंसादिक पाँच व्रतों का धारण करना, मन, वचन और शरीरको अशुभ प्रवृत्ति को छोडना, पाँच समितियोंका पालन करना, कषायों का निग्रह करना और इन्द्रियों को जीतना; इसे संयम माना जाता है ॥ ५ ॥

इस की व्याख्या–पूर्व में ग्रहण किये गये व्रतों का जो उन के सर्वथा नाश अथवा अतिचारों से रहित पालन किया जाता है तथा महापुरुष मन की निर्मलतापूर्वक जो उन को धारण करते हैं, वह इच्छित सिद्धि का कारण होता है ॥ ६ ॥

व्रती श्रावक मन में किसी के भी विषय में दुष्ट विचार नहीं करता है । वह पाप की अभिलाषा व दुष्ट चेष्टा को भी नहीं करता है । इस प्रकार वह अपने व्रत को पुष्ट करने के लिये मन, वचन और काय के आश्रित दुष्ट व्यवहार को नहीं करता है ॥ ७ ॥

अन्य प्राणियों को अपने ही समान समझकर जो उन के संरक्षण में तत्परता रखी

---

५) 1 अशुभमनादि, D अतीचारत्यागः । ६) 1 D °व्रतपालनं । ८) 1 P °गमनादिषु इव, D गमनादिकेषु. 2 कथितम् ।

कषन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसंपादनेनात्मानमिति कषायाः क्रोधादयः। अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनः[1] कषायाः[2] कालुष्यकारिणस्तथा निर्मलस्यात्मनो मालिन्य.तुत्वात् कषाया[3] इव कषायाः। तत्र स्वपरवधाभ्यामात्मेतरयोरपायोपायानुष्ठानमशुभपरि[4]णामजनको वा अनुष्ठानप्रबन्धः क्रोधः। विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्य जाज्यातिक्रमहेतुरहंकारः। युक्तिदर्शने ऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः। मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिवेशमयी माया। चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य[5] मोहान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धयाशयो वा म ानसंतापः क्षोभो वा लोभः॥

जाती है, गमनादिक कार्यों में जो प्रयत्नपरता — प्राणिरक्षण का प्रयत्न — रहती है, तथा लोक शुद्धि की सहकारिता—विशुद्ध लोकव्यवहार — के अनुसार जो आचरण किया जाता है, इसे प्रमादरहित मुनिजनों ने समिति का पालन कहा है॥ ८॥

जो नरकादि के दुख को प्राप्त करा कर आत्मा को 'कषन्ति' अर्थात् संतप्त करते हैं वे कषाय हैं। जो क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार हैं। अथवा जिस प्रकार कषाय—वटवृक्ष का दूध — किसी निर्मल वस्तु को मलिन किया करता है उसी प्रकार उक्त कषाय के ही समान निर्मल आत्मा की मलिनता के कारण होने से क्रोधादिकों को भी कषाय कहा जाता है। अपने और पर के वधद्वारा अपने और दूसरे का अपाय और उपाय करना (?) इसे क्रोध कहते हैं। अथवा अशुभ परिणामों को उत्पन्न करनेवाला जो अनुष्ठान प्रबन्ध-परम्परा—है उस को क्रोध कहते हैं। जो विद्या गायनादि में कुशलता, विज्ञान—जीवादिक तत्त्वोंका ज्ञान और ऐश्वर्य आदि के द्वारा जो पूज्य पुरुषों को पूजा के उल्लंघन का कारण होता है, वह अहंकार है। अथवा युक्ति को देखते हुए भी जिस के कारण दुराग्रह को नहीं छोडा जाता है उसे मान कहते हैं। मन, वचन और शरीर की क्रियाओं को अयथार्थता—विपरीतता — के कारण जो दूसरे को फँसाने के अभिप्राय से प्रवृति की जाती है और जिस में अपनी ख्याति, पूजा और लाभादि का अभिनिवेश — अभिप्राय — रहता है ऐसी समस्त प्रवृत्ति को माया कहते हैं। चेतन—दास-दासी व पशु आदिक तथा अचेतन — रत्न, घर व वस्त्रादिक — पदार्थों में मोह के वश जो 'यह मेरा है' ऐसा मन का अभिप्राय होता है उन चेतनाचेतन पदार्थोंकी वृद्धि की जो चाहना होती है, अतिशय असंतोष जो बना रहना है तथा इच्छानुसार उनकी प्राप्ति व वृद्धि के न होनेपर जो क्षोभ होता है, इसका नाम लोभ है।

गमम्) 1 वस्त्रस्य. 2 ... . प्रभृति कषायाः. 3 हरडादयः. 4 P°मात्मेतरयोरसुरपरिणाम°. 5 P चित्तस्य।

1611) सम्यक्त्वं घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः ।
अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रत[1]विघातिनः[2] ॥ ८*१

1612) प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः[1] संयमस्य विनाशकाः ।
चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः क्षतिम्[2] ॥ ८*२

1613) दृषद्भूमिरजोवारिराजिभिः[1] क्रोधतः समात् ।
श्वभ्र[2]तिर्यङ्नृदेवेषु जायते नियतं पुमान् ॥ ९

1614) शिलास्तम्भास्थिसार्द्रधावेत्रवृत्तिर्द्वितीयकः[1] ।
अधःपशुनरस्वर्गगतिसंगातकारणम् ॥ ९*१

1615) वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रैश्चामरैः[1] समाः ।
माया तथैव जायेत चतुर्गतिसमृद्धये ॥ ९*२

1616) क्रिमि[1]नीली[2]वपुर्लेप[3]हरिद्रारागसंनिभः ।
लोभः कस्य न जायेत तद्वत्संसारकारणम् ॥ ९*३

जो अनन्तानुबन्धी कषाय हैं वे सम्यक्त्व का घात करते हैं, अप्रत्याख्यान रूप कषाय देशव्रतका घात करते हैं, प्रत्याख्यान स्वभाववाले कषाय संयम – महाव्रत – के नाशक हैं, तथा संज्वलन कषाय यथाख्यात चरित्र के विषय में हानि को उत्पन्न करते हैं – उसे उत्पन्न नहीं होने देते हैं ॥ ८*१–२ ॥

पाषाण, पृथिवी, धूलि और पानी की रेखा के समान क्रोधसे प्राणी क्रमशः नरक तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंमें उत्पन्न होता है, यह निश्चित है ॥ ९ ॥

पाषाण का स्तम्भ, हड्डी, गीली लकडी और बेत इनके समान जो उत्तरोत्तर कठोरतासे हीन होती हुई द्वितीय कषाय – मान कषाय–है, वे क्रम से नरकगति, पशुगति, मनुष्यगति और देवगति को कारण होती है ॥ ९*१ ॥

बाँस की जड, बकरी के सींग, गोमूत्र और चामर इन के समान जो माया कषाय है वह क्रम से नरकादि रूप चारों गतियोंकी समृद्धि का कारण है ॥ ९*२ ॥

लाख का रंग, नीली का रंग, शरीर का मल और हलदी का रंग इन के समान जो लोभ है वह उक्त क्रोधादि के समान किस के लिये संसार का कारण नहीं होता ? अर्थात् वह भी क्रम से नरकादि का कारण होता है ॥ ९*३ ॥

८*१) 1 PD°त्याख्यानानुरूपाः स्वदेशव्रत°. 2 व्रतघातिनः । ८*2) 1 भवेयुः. 2 विनाशम् । ९) 1 P°वारिराजीभिः, पाषाणरेखाभूमिरेखाधूलिरेखाजलरेखासदृशाः. 2 नरकतिर्यक्मनुष्यदेवगतिषु गमनम् । ९*१) 1 मानकषायः । ९*२) 1 PD° गोमूत्र्या चामरैः । ९*३) 1 PD° कृमि. 2 नीलवडो. 3 शरीरलेप ।

1617) भेषजं विविधमाचरन्नथापथ्यसेवनपरो ऽस्ति रोगितः ।
ध्यानसंयमशमश्रुतादिभी[1] रिक्त एव हि तथैव कोपतः ॥ १०
1618) मानदावदहनावलीज्वलन्नृद्रुमेषु मदवातवर्तिषु ।
दुःखघर्महरणक्षमा कथं रोहतीह हितपल्लवावली ॥ ११
1619) मायानिशा निवसते कणशो[1] ऽपि याव–
त्स्मारविन्दसरसीषु विकासलक्ष्मीम् ।
तावत्कथं किल दधातु मनो ऽरविन्द–
षण्डो विकल्पमृगलाञ्छन[2]पादजुष्ट[3]: ॥ १२
1620) लोभकीलपरिचिह्नितं मनःकूपकं परिहरन्ति दूरतः ।
अन्त्यजातिसरसीमिव द्रुतं हारिता[1] गुणगणप्रवासिनः ॥ १३
1621) यो[1] ऽत्यन्तोत्थितधूलिसंचय इव व्यावृत्तिकृच्चक्षुषां
बाह्यान्तर्गतवस्तुषु प्रतिपदं सर्वोज्ज्वलैः सर्वतः ।
सत्संगैश्च शमाम्बुवृष्टिभिरपि स्वाध्याययोगैरपि
तं क्रोधादिगणं ततः शमयतं[2] च्छान्ताश्रयामृद्धये ॥१४

जिस प्रकार रोगी मनुष्य अनेक प्रकार की औषधिका सेवन करता हुआ भी यदि अपथ्य–अहितकर भोजनादि – का सेवन करता है तो वह उस रोग से मुक्त नहीं होता है,उसी प्रकार मनुष्य ध्यान, संयम, शम और श्रुत आदि का आराधन करता हुआ भी यदि वह क्रोध को प्राप्त होता है तो वह उक्त ध्यानादि से रहित ही होता है। (क्रोध के होनेपर उस के वे सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं) ॥ १० ॥

अभिमानरूप वायु के वशवर्ती मनुष्योंरूप वृक्षों के मध्य में यदि मानरूप वनाग्नि की ज्वाला जलती है तो उन के ऊपर दुखरूप आतप को दूर करनेवाली हितरूप कोमल पत्तों की पंक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? ॥ ११ ॥

जब तक आत्मारूप कमलों के सरोवर में थोडीसी भी मायाव्यवहाररूप रात्रि निवास करती है तब तक विकल्पों रूप चंद्रकिरणों से सेवित मनरूप कमलों का समूह कैसे विकास की शोभा को धारण कर सकता है ? ॥ १२ ॥

गुणसमूहरूप पथिक थक कर के लोभरूपी खील से चिन्हित मनरूप कुएं को चाण्डाल के तालाब के समान दूर से शीघ्र ही छोड देते हैं। (अभिप्राय यह है कि लोभ के कारण मनुष्य के सब उत्तम गुण नष्ट हो जाते हैं) ॥ १३ ॥

जिस प्रकार अतिशय ऊँची उठी हुई धूलि का समूह बाह्य और अन्तरंग वस्तुओं के

१०) 1 PD° संयमश्रमश्रुता° । १२) 1 स्तोकापि. 2 चन्द्र:. 3 स्पर्शितः । १३) 1 गुणाः पथिकाश्च । १४) 1 क्रोधादिगणः. 2 शमयतु ।

1622) आपाते मधुरा विरामविरसास्तृष्णाभिवृद्धिप्रदा
दुष्प्राप्या व्यसनार्णवाश्च विषया ये प्राप्यपारा[1] अपि ।
ते जन्मापि विवृद्धिमन्तमथवा तद्ग्राहकाणि[2] त्वरं[3]
ज्ञात्वा खान्यपि[4] चात्मवानहरहस्तेभ्यो निवृत्तिं क्रियात् ॥ १५

1623) स्वरसेन[1] निरुध्यन्ते यं दृष्ट्वेन्द्रियवृत्तयः ।
अनायासेन मरुतां तं यात शरणं जनाः[2] ॥ १६

1624) इन्द्रियासंयमत्यागो हृषीकविजयोऽथवा ।
दानं तु गदितं पूर्वं सभेदं सफलं मया ॥ १७

1625) अष्टौ स्पर्शा रसाः पञ्च गन्धौ द्वौ वर्णपञ्चकम् ।
षड्जादयः स्वराः सप्त दुर्मनोक्षेष्वसंयमाः ॥ १८

1626) वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् ।
नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥ १८*१

विषय में पद पद पर आंखों को व्यावृत्त करता है — उन के देखने में बाधा डालता है — उसी प्रकार जो क्रोधादिका समूह बाह्याभ्यन्तरंग पदार्थों के जानने में प्रतिबन्ध करता है उस क्रोधादि कषायों के समूह को शान्ति लक्ष्मी की वृद्धि के लिये सर्वतः सर्व परिग्रहों के त्याग, सज्जनों की संगति शमरूप जल की वृष्टि और स्वाध्याय के योग से शान्त करना चाहिये ॥ १४ ॥

जो इन्द्रियविषय प्रारम्भ में — उपभोग के समय — मधुर प्रतीत होते हुए भी अन्त में नीरस शुष्क (कष्टप्रद) — सिद्ध होते हैं तृष्णा को वृद्धिगत करते हैं, कठिनतासे प्राप्त किये जाते हैं, तथा दुख के समुद्र होने पर भी जिनका पार प्राप्त किया जा सकता है; वे संसार के बढानेवाले हैं तथा उन के ग्राहक इन्द्रिया हैं, यह जानकर शीघ्र ही मनस्व प्राणी को उन विषयों की ओर से निरन्तर इन्द्रियों को निवृत्त–पराङ्मुख–करना चाहिये ॥१५॥

जिसको देखकर इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वरस से — विषयों की ओर से— अनायास ही रुक जाती है, मनुष्यों को उस देवों के देव की शरण में जाना चाहिये ॥ १६ ॥

मैं इन्द्रियविषयक असंयम के त्याग अथवा इन्द्रियविजय तथा भेद और फल से सहित दान का भी वर्णन पूर्व में कर चुका हूँ ॥ १७ ॥

आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गंध, पाँच वर्ण और षड्जादिक सात स्वर; दुष्ट मन और इन्द्रियविषयक असंयम हैं ॥ १८ ॥

---

१५) 1 पारंगता. 2 विषयाणाम्. 3 अत्यर्थम्. 4 इन्द्रियाणि । १६) 1 स्वकीयात्मरतेन. 2 D भो जनाः ।

तत्र स्वरूपोपलब्ध्या निवृत्तविषयतृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमानागमानुभूतपदार्थविषया संप्रमोषस्वभावा स्मृतिस्तत्त्वचिन्तनम् । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधानानि नियमाः । अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा[1] यमाः ।

1627) मूलव्रतानि वहता सहतत्त्वरुच्या
तेभ्यो ऽप्यणुव्रतगणाभरणं विशुद्ध्यै ।
सामायिकं तदनुवर्ग (पर्व) गतोपवासान्
दानामलान् हरितभक्षणवर्जनं च ॥ १९

1628) अह्नि[1] व्यवायाखिलमैथुनोज्झनारम्भसंगत्यजने स्वयोग्ये ।
विवर्जनं चानुमतिप्रदाने उद्दिष्टपिण्डत्यजनं क्रमेण ॥ २०

1629) पूर्वं पूर्वं व्रतमचलत्वं प्रापयन्तो ऽन्यमग्र्य-
मारोहन्तो दृगवगमनाचारभाजः समस्ताः ।
अप्यन्योन्यं तरतम[1]युजः संयतासंयताख्याः
संपद्यन्ते समयनिपुणा एकमेकादशैते ॥ २१

व्रती श्रावक को निरन्तर वैराग्य भावना के साथ तत्त्व का विचार करते हुए यम और नियम के विषय में प्रयत्न करना चाहिये ॥ १८*१ ॥

वैराग्य – उन में आत्मस्वरूप की प्राप्ति से जिस की विषयतृष्णा विलीन हो चुकी है ऐसे सत्पुरुष का जो मनोवशीकार – मनका स्वाधीन करना – है, इस का नाम वैराग्य है । तत्त्वचिन्तन – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के विषयभूत पदार्थों को विषय करनेवाली जो यथार्थ स्मृति है उस का नाम तत्त्वचिन्तन है । नियम व यम – बाह्य व अभ्यन्तर शौच, तप स्वाध्याय और ध्यान; इन को नियम तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; इन को यम जानना चाहिये ।

तत्त्वरुचि – तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूल गुणों को धारण करना (१ दर्शन प्रतिमा) उन के पश्चात् अणुव्रत समूह–पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत; इन बारह व्रतों का धारण करना (२ व्रत प्रतिमा), पश्चात् विशुद्धि के लिये सामायिकका अनुष्ठान (३ सामायिक प्रतिमा), तत्पश्चात् चारों पर्वोंमें दान से निर्मल उपवास का ग्रहण (४ प्रोषध प्रतिमा), हरित (सचित्त) भक्षण का त्याग (५ सचित्त त्याग प्रतिमा), दिन में मैथुन का परित्याग (६ दिवा मैथुन त्याग) सब प्रकार के मैथुन का त्याग (७ ब्रह्मचर्य),

---

१८*१ गद्य) 1 P°ब्रह्मापरिग्रहा° । २०) 1 दिन । २१) 1 तारतम्ययुक्ताः ।

1630) अत्र[1] सन्ति गृहिणः षडादिमा ब्रह्मचर्यविमलाः परे त्रयः ।
कथ्यते ऽन्त्ययुगलं तु भिक्षुकं सर्वतो यतिरतः परो भवेत् ॥ २२

1631) भिक्षा चतुर्विधा[1] ज्ञेया यतिद्वय[2]समाश्रया ।
उद्दिष्टादिविनिर्मुक्ता विशुद्धा भ्रामरी तथा ॥२३

1632) देवपूजामनिर्माय[1] मुनीननुपचर्य[2] च ।
यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः ॥ २३*१

आरम्भ का त्याग (८ आरम्भत्याग) परिग्रह का परित्याग (९ परिग्रहत्याग), अपने योग्य — गृहस्थाश्रम सम्बन्धी — कार्य के विषय में अनुमति देने का त्याग(१० अनुमतित्याग) और उद्दिष्ट — अपने निमित्त से बनाये गये भोजन का त्याग (११ उद्दिष्टत्याग); इस प्रकार पूर्व पूर्व व्रत का स्थिरतापूर्वक पालन कर के आगे आगे के व्रतपर — प्रतिमा के ऊपर — आरूढ होते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधन करनेवाले समस्त गृहस्थ यद्यपि परस्पर में तरतम भाव को—हीनाधिकता को — प्राप्त होते हैं,फिर भी वे सब ही नाम से संयतासंयत — पंचम गुणस्थानवर्ती — कहे जाते हैं । ये समय — आगम अथवा धर्म — में निपुण होते हुए एक एक उपर्युक्त ग्यारह स्थानों को प्राप्त करते हैं ॥ १९–२१ ॥

उक्त ग्यारह प्रतिमाओं में प्रथम दर्शन प्रतिमा से ले कर छठी प्रतिमा तक के धारक श्रावक गृहस्थ कहे जाते हैं । सातवीं आठवीं और नौवीं प्रतिमा के धारक श्रावक ब्रह्मचर्य से निर्मल — ब्रह्मचारी — तथा अन्तिम युगल — दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक— भिक्षुक कहे जाते है। इससे ग्यारहवीं प्रतिमा से आगे सब यति — पाँच महाव्रतों के धारक साधु होते हैं ॥ २२ ॥

यतिद्वय — देशयति (श्रावक) और सर्वयति (मुनि) — के आश्रित भिक्षा चार प्रकार की जानना चाहिये । तथा उद्दिष्ट आदि दोषों से रहित और मन, वचन व काय से शुद्ध भिक्षा भ्रामरी कही जाती है। (अभिप्राय यह है कि जैसे भ्रमर पुष्पों को पीडित न कर के उन के रस को ग्रहण कर लेता है वैसे ही दाता से गृहस्थों को पीडा न पहुँचा कर जो आहार प्राप्त किया जाता है उसे भ्रामरी भिक्षा समझना चाहिये ॥ २३ ॥

जो श्रावक गृहस्थ हो कर जिनदेवकी पूजा और मुनियों की भक्ति — आहारादिके द्वारा उनकी सेवा न करके भोजन करता है वह केवल अन्धकार का भोजन करता है, अर्थात् ऐसा अज्ञानी गृहस्थ केवल पाप को ही संचित करता है ॥२३*१॥

---

२२) 1 एकादशसु मध्ये । २३) 1 अशनादि. 2 देशसर्वतः । २३*१) 1 अकृत्वा. 2 द्वारापेक्षणरहितः ।

1633) प्रातर्विधिर्जिनप[illegible]म्बुजसेवनेन[1]
मध्याह्नसंनिधिरयं मुनिमाननेन ।
सायंतनो[2] ऽपि समयो गृहिणः प्रयातु
तत्कालयोग्यनियमार्हदनुस्मृतेन ॥ २३*२

1634) मार्गाख्यकल्पविट[illegible]स्य तथा फलानि
गृह्णातु यद्वदिह वन्ध्यमनोरथो न ।
अर्थी जनो भवति यद्वदसौ न भूयः
सर्वः प्ररोहति[1] भवो[2] ऽपि परैः किमुक्तैः[3] ॥ २४

1635) रत्नत्रयं भावयतामितीत्थमपूर्णमप्यस्ति ततो[1] न बन्धः ।
यो ऽसौ विपक्षप्रकृतो[2] नियोगान्मोक्षाभ्युपायो न हि बन्धहेतुः ॥ २५

1636) अंशेन[1] केनास्त्यमलावबोधस्तेनांशकेनास्ति तु बन्धनं न ।
अंशेन[2] केनापि चयेन रागः संपद्यते तेन तु बन्धनं स्यात् ॥ २६

1637) योगेन बन्धौ प्रकृतिप्रदेशौ कषायतः स्थित्यनुभागसंज्ञौ ।
रत्नत्रये नैव कषायरूपं न योगरूपं विमृशन्तु[1] सन्तः ॥ २७

गृहस्थ का प्रातःकाल जिनचरणकमल की पूजा में, मध्यान्हकालकी समीपता मुनियों का आहारादि के द्वारा आदर करने में तथा संध्याकाल का समय उस काल के योग्य नियम और अर्हत् प्रभु के स्मरणपूर्वक व्यतीत होना चाहिये ॥ २३*२ ॥

हे भव्य! बहुत कहने से क्या लाभ? तू मार्ग—मोक्षमार्ग—नामक कल्पवृक्ष के फलों को इस प्रकार से ग्रहण कर कि जिससे यहाँ अर्थी — मोक्षाभिलाषी व याचक—जन विफल मनोरथ न हों तथा जिस प्रकार से यह सब संसार भी फिर से अंकुरित न हो सके ॥ २४ ॥

इस प्रकार से जो अपूर्ण रत्नत्रय का भी आराधन करते हैं उन के उससे कर्मबन्ध नहीं होता है । उस के जो बन्ध होता है वह रत्नत्रय के विपक्ष राग द्वेषादि से ही होता है । जो नियम से मोक्षका ही कारण होता है वह बन्ध का कारण नहीं होता है ॥ २५॥

जितने कुछ अंश में निर्मल सम्यग्ज्ञान है उतने अंश से कर्मबन्ध नही होता है । तथा जितने अंश से रागभाव होता है उतने अंश से बन्ध अवश्य होता है ॥२६॥

योग से प्रकृतिबन्ध [और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध] होता है । परन्तु रत्नत्रय के होनेपर न कषाय का रूप रहता है और न योग का रूप रहता है, ऐसा सत्पुरुषों को विचार करना चाहिये ॥२७॥

२३*२) 1 P°पूजनेन. 2 संध्यासमयः । २४) 1 न भूयो भ्रमति. 2 संसारः. 3 D°किमुक्तैः । २५) 1 रत्नत्रयात्. 2 रत्नत्रयविलक्षणप्रारब्धः । २६) 1 रत्नत्रयादि केनचिदंशेन. 2 योगकषायरूपेण । २७) 1 विचारयन्तु ।

1638) सुदर्शनं स्वात्मविनिश्चयो यो विज्ञानमप्यात्मविशुद्धबोधः।
चारित्रमप्यात्मनि या स्थितिः स्यादेभ्यस्तत स्यात्कुत एव बन्धः ॥ २८

1639) सम्यक्त्वचारित्रगुणेन बन्धस्तीर्थेश्वराहारककर्मणोर्यः।
आदेशि जैने समये स चापि न दोषकृन्न्यायपथाश्रितानाम् ॥ २९

1640) सम्यक्त्वचारित्रयुगे[1] सुतीर्थे[2] तीर्थेश्वराहारककर्मणोस्ते।
योगाः कषाया ननु बन्धकाः स्युरस्मिन्नुदासीनतमं सदा तत् ॥ ३०

1641) यद्येवमत्र निगदन्ति कथं नु सिध्येत्
देवासुरादिसुरकर्म समूहबन्धः।
ख्याति गतः समयरत्ननिधिश्रितानां
रत्नत्रयानुपममण्डयतामृषीणाम् ॥ ३१

1642) रत्नत्रयं निर्वृतिकारणं स्यान्नैवापरस्येति विनिश्चयो मे।
पुण्यास्रवो[1] यस्तु स चापराधः शुभोपयोगस्य समुल्बणस्य ॥ ३२

आत्मस्वरूप का निश्चय होना यह सम्यग्दर्शन है। आत्मा का जो निर्मल ज्ञान होता है इसे सम्यग्ज्ञान और उस आत्मा में जो अवस्थान प्राप्त होता है इसे चारित्र कहा जाता है। इसी कारण इन तीनों से कर्मबन्ध कैसे हो सकता है ? वह असंभव है ॥२८॥

जैन आगम में सम्यक्त्व और चारित्र गुण से जो तीर्थकर और आहारक कर्मों का बन्ध कहा गया है वह भी न्यायमार्ग के आश्रित हुए सत्पुरुषों के लिये दोषकारक नहीं है। इस का कारण यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र ये दोनों उत्तम तीर्थ है। उन के होनेपर निश्चय से वे योग और कषाय उक्त तीर्थकर और आहारक कर्मों के बन्धक होते हैं, सम्यक्त्व व चारित्र तो उन के बन्धमें निरन्तर अतिशय उदासीन रहते हैं ॥ २९–३०॥

शंका–सम्यक्त्व और चारित्र उक्त दोनों कर्मों के बन्ध में उदासीन हैं,यदि ऐसा कहा जाता है तो उस अवस्था में आगमरूप रत्न-निधि के आश्रित और अनुपम रत्नत्रय से मण्डित ऋषियों के जो देव–असुरादिरूप देवकर्मों का–देवगति के योग्य देवायु आदि शुभ प्रवृत्तियों का–बन्ध प्रसिद्ध है वह कैसे सिद्ध हो सकेगा?

उत्तर–रत्नत्रय तो मुक्ति का ही कारण है, अन्य – कर्मबन्ध आदि – का वह कारण नहीं है, ऐसा मेरा निश्चय है। उन के जो पुण्यप्रकृतियों का आस्रव होता है, उसे स्पष्टतया शुभ उपयोग का अपराध समझना चाहिये ॥ ३१–३२ ॥

३०) 1 ह्रे. 2 आवमादितीर्थे। ३२) 1 P °पुण्यास्रयो।

1643) एकत्र पुंसि समवायव[illegible]द्विरुद्ध-
संसाध्ययोरपि तयोर्व्यवहार एषः ।
अन्यादृशो ऽपि जगति प्रथितो बभूव
सर्पिर्यथा दहति लोहितमं[illegible]कं वा ॥ ३३

1644) सम्यक्त्वावि[illegible]नचा[illegible]त्रमेव विमुक्तिमार्गो निरपायं एषः ।
मुख्योपचारप्रविभक्तदेहः[1] परं पदं प्रापयते पुमांसम् ॥ ३४

1645) सर्वम्लानिविदूरगो गगनवत्स[illegible]र्थसिद्धीश्वरः[1]
सर्वोपद्रववर्जिते परपदे सर्वातिचा[illegible]तिगः[2] ।
सर्वाश्चर्यनिधिश्च सर्वविषयज्ञानप्रभावः पुमान्
सर्वैरप्युपमापद[illegible]कलितो प्राप्तः सदा नन्दतात् ॥ ३५

1646) सप्ततिसह[illegible]युक्तैरेकादशलक्षकैः किल पदानाम् ।
श्रावकधर्मो जगदे[1] यस्तं[2] निगदामि कथमहं त्वपदः ॥ ३६

जिस प्रकार घी में अग्निका समवाय होने सें लोक में 'घी जलाता है' ऐसा व्यवहार होता है, पर वास्तव में दाह का कारण वह घी नहीं है, किन्तु उस में समवेत अग्नि है; तथा वस्त्र में लाल रंग का समवाय होने से 'वस्त्र लाल है' ऐसा लोकव्यवहार होता है—पर वस्तुतः वस्त्र लाल नहीं है। ठीक इसी प्रकार एक आत्मा में परस्पर विरुद्ध कारण से सिद्ध होनेवाले उन दोनों का समवाय होने से लोक में 'रत्नत्रय देवायु आदि पुण्यप्रकृतियों का बन्धक है' यह विलक्षण व्यवहार प्रसिद्ध है ॥३३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र यही निर्बाध मुक्ति का मार्ग है। उक्त रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग का शरीर मुख्य और गौण इन दो भेदों में विभक्त है। वह आत्मा को उत्तम स्थान को – मुक्तिपद को – प्राप्त करा देता है (अर्थात् उस दो प्रकार के रत्नत्रय की आराधना सें ही जीव मुक्त होता है) ॥३४॥

जीव जब सब अतिचारों से मुक्त होकर समस्त उपद्रवों से रहित उत्तम पद में – [illegible] में – अवस्थित होता है तब वह वहाँ आकाश के समान सब प्रकार की मलिनता से दूर रहकर समस्त अर्थसिद्धियों का स्वामी, सब आश्चर्यों का – अतिशयों का – स्थान अनन्त पदार्थों के जाननेमें समर्थ और सब उपमास्थानों से रहित होता हुआ सदा आनन्दित रहता है ॥३५॥

जो श्रावक धर्म उपासकाध्ययन अंग में ग्यारह लाख सत्तर हजार (११,७०,०००) पदों के द्वारा कहा गया है उसे मैं पदपरिज्ञान से रहित हो कर कैसे कह सकता हूँ ? ॥३६॥

३४) 1 D प्रविभक्तपरः। ३५) 1 D आत्मा. 2 D रहितः। ३६) 1 कथितः. 2 यः धर्मः तं धर्मम्।

1647) सद्गन्धाय समुल्लसन्तु सुधियामा ॒.ादनायोच्छ्वसन्
तत्सूत्राणि वचांसि भूवचसुधामामेषु पुष्पाणि यः (?) ।
इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि
भूतोद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः ॥ ३७

1648) विद्वांसस्त्वर्थचयैर्निधिवन्निचिताभिरं तस्तन्मे ।
वर्णप वाक्यरचनास्थाना.न. [illegible] त्प्रसीदन्तु ॥ ३८

1649) चेद्धर्मरत्नाकर इत्यभिख्या सत्यान्वयास्य प्रतिभाति विज्ञाः ।
अंशेन केनापि तदाद्रियध्वमालोकमात्रेण परैः किमुक्तैः ॥ ३९

1650) वस्तुस्थितिं गिरि[1] बिभर्ति[2] हि को ऽपि तत्त्वं
विस्फा. यत्यपि गिरा[3] बहिरेव कश्चित् ।
यो ऽन्तःस्थितं श्रममवैति विचारचञ्चु[4]–
भारावतारनि ृणः स तयोर्विवन्द्यः ॥ ४० ॥

यह कृति मैं ने माला के समान रची है । इस में जो सूत्र अथवा वचन लिखे हैं वे इस भूतल के पुष्पों के समान हैं । यह माला विद्वानों को उत्तम गंध के लिये और हर्ष के लिये है । इस में मेरे और अन्य आचार्यों के वचनपुष्प हैं । इसलिये इस माला की विचित्र रचना हुई है । इस में अच्छे गुण हैं ? ॥ ३७ ॥

जैसे निधि (भण्डार) अर्थसंचयों से – धन समूहों से – पूर्ण होती है वैसे ही मेरी यह कृति (प्रस्तुत ग्रन्थ) अर्थसंचयों से – उत्तम अभिप्रायों से – सर्वतः परिपूर्ण है । उसमें यथा-स्थान वर्ण, पद और वाक्यों की रचना को स्थान दिया गया है । इसीलिये उसे देखकर विद्वान् जन प्रसन्नता का अनुभव करें ॥ ३८ ॥

हे विद्वज्जनो! यदि आप को इस ग्रन्थ का 'धर्मरत्नाकर' यह नाम सत्य से अन्वित प्रतीत होता है तो अधिक कहने से क्या ? इसके किसी प्रकरण को देखकर इसका आदर करें ॥ ३९ ॥

कोई ग्रन्थकार वस्तु की जो स्थिति – स्वरूप – है उसे अपनी वाणी में धारण करता है – उसका उतने मात्र में ही अपनी वाणी द्वारा चित्रण करता है । दूसरा कोई ग्रन्थकार वस्तु-स्वरूप को अपनी वाणी के द्वारा बाह्य में ही अधिक विस्तृत करता है । जो विचारदक्ष मनुष्य भार के उतारने में निपुण होकर उन दोनों कृतियों में ग्रन्थकार के अभ्यन्तर स्थित – मनोगत –परिश्रम को जानता है वह विशेषरूप से वन्दनीय है ॥ ४० ॥

३८) 1 पण्डिताः. 2 P°वनस्थानर° । ४०) 1 वाण्या विषये. 2 धारयति. 3 वाचा वाण्या. 4 चतुरः. 5 D° विवन्द्य ।

1651) तदुक्तम्-
लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं निराकृष्यते[1]
निर्मातु[2] प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव[3] यो वा बहिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतमां तं[4] पुन-
र्योविज्ञातपरिश्रमो ऽयमनयोर्भारावतारक्षमः॥ ४०*१

1652) धर्मो धर्मरताश्च धर्ममहिमप्राप्तप्रभावा जना
धर्माङ्गानि च धर्मपालनपरा धर्मार्थिनो वा भुवि।
धर्मस्फारणनैपुणा अपि तरां धर्मार्थसंजीविनो
भूत्वानुग्रहजातहर्षपुलका नन्दन्तु कालत्रये॥ ४१

1653) यस्या नैवोपमानं किमपि हि सकलोद्द्योतकेषु प्रतर्क्य-
मन्येनैकेन नित्यं श्लथयति सकलं वस्तुतत्त्वं विवक्ष्यम्।
अन्येनान्तेन नीतिं जिनपतिमहितां संविकर्षत्यजस्रं
गोपीमन्थानवद्या जगति विजयतां सा सखी मुक्तिलक्ष्म्याः॥ ४२

॥ इति श्री-सूरि-श्री-जयसेनविरचिते धर्मरत्नाकरनामशास्त्रे
उक्तानुक्तशेषविशेषसूचको विंशतितमो ऽवसरः॥ २०॥

सो ही कहा है -

वस्तु में जो सूक्ष्म और सुन्दर स्वरूप छिपा है उसे जो कवि पूर्णरूप से खींच लेता है - प्रगट करता है - तथा जो उस वस्तु के स्वरूप को बाहरसे ही अपने वचनद्वारा मनोहर बनाने में समर्थ होता है, उन दोनों ही श्रेष्ठ कवियों को मैं वन्दन करता हूँ। साथ ही जो उक्त दोनों कवियों के परिश्रम को जानता हुआ उन के भार के उतारने में समर्थ होता है उसकी मैं अतिशय वन्दना करता हूँ॥ ४० * १॥

धर्म, धर्म में अनुराग करने वाले, धर्म के माहात्म्य से प्राप्त प्रभाव से संपन्न जन, धर्म के अंगभूत, धर्म के पालन में तत्पर रहनेवाले, धर्म धारणा करने की इच्छा रखनेवाले, जगत् में धर्म के फैलाने में चतुर और धर्मार्थ को जीवित करने वाले सज्जन धर्म के अनुग्रह से उत्पन्न हुए हर्ष से रोमाञ्चित होते हुए समृद्ध होवें॥ ४१॥

जिस प्रकार ग्वालिन रस्सी के एक छोर से मथानी को शिथिल करती है और दूसरे छोर से उसे खींचती है उसी प्रकार जिनेन्द्र देव से प्रतिष्ठित - उनके द्वारा निर्दिष्ट - जो अनेकान्तमय नीति सदा विवक्षा के विषयभूत समस्त वस्तुतत्त्व को एक धर्म से शिथिल करती है अविवक्षित किसी धर्म की अपेक्षा उसे गौण करती है - एवं दूसरे विवक्षित धर्म की अपेक्षा प्रधान करती है तथा जिस के लिये लोक में समस्त सादृश्य के द्योतक पदार्थों में कोई भी उपमान नहीं सोचा जा सकता है; ऐसी वह मुक्तिलक्ष्मी की सखीस्वरूप असाधारण व निर्दोष जैनी नीति जयवंत हो॥ ४२॥

इस प्रकार सूरि श्री जयसेन विरचित धर्मरत्नाकर नामक शास्त्र में कहे हुए और न कहे हुए विशेषों का सूचक यह वीसवाँ अवसर समाप्त हुआ॥ २०॥

४०*१) 1 निश्चयेन गृह्यते. 2 प्रमाणीकर्तुं. 3 तत्त्वम्.4 तं तृतीयम्. 5 तयोः पूर्वोक्तयोः भारो......
४१) 1 PD° भुवा। ४२) 1PD° अन्येनैकेन. 2 P° इति धर्मरत्नाकरे उक्ता°।

[ग्रन्थकारप्रशस्तिः]

1654) श्रीवर्धमाननाथस्य मेदार्यो दशमो ऽजनि ।
गणभृद् दशधा धर्मो यो मूर्तो वा व्यवस्थितः ॥ १

1655) मेदार्येण महर्षिभिर्विहरता तेपे तपो दुश्चरं
श्रीखंडिल्लकपत्तनान्तिकरणा --र्द्धिप्रभावात्तदा ।
शाठ्येना--पतत्त्वता (?) सुरतरुप्रख्यं जनानां श्रिये
तेनागीयत झाडबागड इति त्वेको हि संघो ऽनघः ॥ २

1656) धर्मज्योत्स्नां विकिरति सदा यत्र लक्ष्मीनिवासाः
प्रापुश्चित्तं सकलकुमुदा यत्युपेता विकासम् ।
श्रीमान् सोऽभून्मुनिजननुतो धर्मसेनो गणीन्दु-
स्तस्मिन् रत्नत्रितयसदना--तयोगीन्द्रवंशे ॥ ३

1657) भञ्जन् वादीन्द्रमानं पुरि पुरि नितरां प्राप्नुवन्नुद्यमानं
तन्वन् शास्त्रार्थदानं रुचिरुचिरुचिरं सर्वथा निर्निदानम् ।
विद्यादर्शोपमानं दिशि दिशि विकिरन् स्वं यशो यो ऽसमानं
तेभ्यः श्रीशान्तिषेणः समजनि सुगुरुः पापधूलीसमीरः ॥ ४

(कवि प्रशस्ति)

श्री वर्धमाननाथ के मेदार्य नाम के दसवें गणधर हुए जो मानो दश प्रकार के मूर्त धर्म के समान व्यवस्थित थे ॥ १ ॥

उन्होंने अनेक महर्षियों के साथ विहार करते हुए श्रीखंडिल्ल नगर के पास --- ऋद्धि के प्रभाव से दुश्चर तप किया । उन्होंने लोगों की लक्ष्मी को कल्पवृक्ष के समान करते हुए एक निर्दोष संघ 'झाड बागड' (लाड बागड) नाम से कहा ॥ २ ॥

रत्नत्रय के गृहस्वरूप उस योगीन्द्र वंश में - झाडबागड नामक मुनिसंघ में - मुनि. जनों से स्तुत व श्री से सम्पन्न धर्मसेन नाम के वे आचार्य रूप चन्द्र हुए । जहां लक्ष्मी के निवास स्थान होते हुए कुमुद के समान मोक्षलक्ष्मी के निवासस्थान मुनि धर्मरूप चाँदनी के फैलने पर चित्त के विकास को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

उनके पश्चात् जो नगर नगर में विहार करके बडे बडे वादियों के अभिमान को अतिशय नष्ट किया करते थे । उदय को प्राप्त होते थे, विना किसी कारण के-निःस्वार्थ- रुचि की रुचि से मनोहर शास्त्र और अर्थ के दान को सब प्रकार से विस्तृत करते थे, विद्यादर्श के समान अपने असाधारण यश को दिङ्मण्डल में फैलाते थे; ऐसे पापरूप धूलि को उडाने के लिये वायु के समान श्री शान्तिषेण नाम के उत्तम गुरु हुए ॥ ४ ॥

1658) यत्रास्पदं विदधती प ·मागमश्री-
रात्मन्यमन्यत सतीत्वमिदं तु चित्रम् ।
वृद्धा च संततमनेकजनोपभोग्या
श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत् स तस्मात् ॥ ५

1659) उत्प·····ं पदं च य··सामन्यो ·विस्तेजसा-
मादिः सद्वचसां विधिः सुतरसामासीन्निधिः श्रेयसाम् ।
आवासो गुणिनां पिता च शमिनां माता च ·····ं
न ज्ञातः कलिना जगत्सु बलिना श्रीभावसेनस्ततः ॥ ६

1660) ततो जातः शिष्यः सकलजनतानन्दजननः
प्रसिद्धः साधूनां जगति जयसेनाख्य इह सः ।
इदं चक्रे शास्त्रं जिनसमयसारार्थनिचितं
हितार्थं जन्तूनां स्वमतिविभवाद् गर्वविकलः ॥ ७

1661) यावद् द्योतयतः सुधाकररवी विश्वं निजांशूत्करै-
र्यावल्लोकमिमं बिभर्ति धरणी यावच्च मेरुः स्थिरः ।
रत्नांशुच्छुरितोत्तरङ्गपयसो या ·त्पय।राश्य-
स्तावच्छास्त्रमिदं महर्षिनिवहैस्तत् पठ्यमानं श्रिये ॥ ८

। इति धर्मरत्नाकरं समाप्तम् ।

उनके पश्चात् श्री गोपसेन नाम के वे गुरु आविर्भूत हुए जिन के विषय में स्थान को धारण करने वाली परमागम की लक्ष्मी – विभूति – वृद्धा (बुढ्ढी) होकर भी निरन्तर अनेक जनों के उपभोग की विषय बनती हुई भी अपने को सती मानती थी, यह आश्चर्य की बात है॥५॥

गोपसेनाचार्य के अनन्तर उनके शिष्य स्वरूप भावसेन हुए। ये तपों की उत्पत्ति के कारण कीर्ति के निवासस्थान, तेजों के विषय में दूसरे सूर्य के समान, उत्तम वचनों के आदि – मुख्य कारण, सुतरसों (?) के विधि, कल्याणों के निधि, गुणियों के निवासस्थान, शमीजनों के पिता तथा धर्मात्मा जनों की माता जैसे थे। लोक में उन्हें बलवान्–कलि ने नहीं जाना था॥६॥

भावसेन के पश्चात् यहाँ उनके शिष्यरूप में समस्त जनसमूह को आनन्द देनेवाले व साधुओं के लोक में प्रसिद्ध वे जयसेन नाम के गुरु हुए जिन्होंने प्राणियों के हित के लिये अपने बुद्धिवैभव के अनुसार अभिमान से रहित होते हुए जिनमत के सारभूत अर्थों से व्याप्त इस शास्त्र को रचा है ॥ ७ ॥

जब तक चन्द्र और सूर्य अपनी किरणों के समूहों से इस विश्व को प्रकाशित करते हैं, जब तक पृथ्वी इस लोक को धारण करती है, जब तक मेरुपर्वत हैं और रत्नों की किरणों से ऊपर उठ कर तरंगों को फेंकनेवाले जल से परिपूर्ण समुद्र जब तक विद्यमान है, तब तक लक्ष्मी के लिये महर्षियों के द्वारा पढा जानेवाला यह शास्त्र पृथ्वीपर स्थिर रहे ॥ ८॥

इस प्रकार सूरि श्री जयसेनविरचित धर्मरत्नाकर नामक शास्त्र सम्पूर्ण हुआ ॥

१. श्लोकानुक्रमः।

[संक्षिप्तनामस्पष्टीकरणम् – अन. धर्मा. – अनगारधर्मामृत; आत्मा. – आत्मानुशासन; आरा.–आराधना; गो. क. – गोम्मटसार कर्मकाण्ड; पं. तं. – पञ्चतन्त्र; पं. सं. – पञ्चसंग्रह; पु. सि. – पुरुषार्थसिद्ध्युपाय; य. उ. – यशस्तिलक उत्तरार्ध; श्राव. – श्रावकाचार; सम्मई. – सम्मइसुत्त; हितो. – हितोपदेश.]

The verses which have blank brackets against them are probably उक्तं च; but so far their source is not traced.

२. वृत्तसूची

1029, 1034 1044, 1046, 1047, 1051, 1052, 1059, 1060, 1061, 1062, 1065, 1066, 1068, 1069, 1071, 1072, 1093, 1094, 1095 1096, 1097, 1099, 1113, 1120. 1124, 1125, 1126, 1127, 1135, 1143, 1144, 1151, 1157, 1160, 1161, 1169, 1170, 1171, 1172, 1175, 1177, 1178, 1179, 1181, 1182, 1183, 1184, 1185, 1186, 1187, 1188 1189, 1190, 1191, 1192, 1193, 1194, 1195, 1196, 1197, 1198. 1199, 1200, 1204, 1205, 1206, 1207, 1208, 1209, 1210, 1211, 1212, 1213, 1214. 1215, 1216, 1217, 1219, 1220, 1221, 1222, 1224, 1225, 1226, 1227, 1228, 1229, 1230, 1244, 1246, 1250, 1254, 1265, 1267, 1283, 1290, 1297, 1298, 1308, 1310, 1312,, 1313, 1314, 1321, 1322, 1323, 1325, 1326, 1327, 1331, 1332, 1345, 1351, 1353, 1354, 1356, 1362, 1381, 1403, 1404, 1406, 1407, 1408, 1409, 1410, 1423, 1425, 1433, 1434, 1435, 1437, 1438, 1439, 1440, 1443, 1445, 1448, 1449, 1450, 1451, 1452, 1453, 1454, 1455, 1456, 1457, 1458, 1459, 1460, 1461, 1463, 1467, 1468, 1470, 1472, 1476, 1477, 1478, 1479, 1480. 1484 1487, 1488, 1490, 1491, 1492, 1493, 1498, 1500, 1501, 1503, 1511, 1515, 1531, 1546, 1551, 1553, 1591, 1597, 1598, 1599, 1600, 1601, 1602, 1603, 1604, 1605, 1606, 1607, 1608, 1609 1610, 1614, 1615, 1616, 1618, 1619 1626. 1627, 1628, 1629, 1634, 1635,

आर्या– (मात्रा–१२–१८; १२–१५)

9, 71, 74, 76, 87, 100, 162, 179, 180, 184, 190, 191, 326, 327, 381, 382, 383, 385, 386, 422, 423, 424, 433, 434, 439, 450, 453, 454, 468, 471, 490, 507, 508. 509, 510, 511, 512, 513, 514, 516, 517, 522, (?) 523, 524, 525, 526, 527, 528, 529, (?) 531, 532, 536, 537, 541, 542, 549, 550, 551, 553, 554, 555, 556, 558, 559, 560, 586, 589. 591, 592, 595, 601, 607, 653, 654, 660 663, 671, 690, 691, 694, 695, 717, 718, 719, 723, 727, 734, 740, 744, 752, 757, 774, 795, 798, 813, 823, 831, 833, 858, 860, 866, 867, 879, 880, 881, 886, 905, 906, 925, 929, 934, 936, 939, 942, 943, 944, 946, 947, 948, 949, 952, 953, 956. 957, 958, 960, 961, 997, 1001, 1002, 1005, 1006, 1007, 1008, 1009, 1010, 1012, 1016, 1022 1031, 1032, 1038, 1039, 1041, 1042, 1043, 1048, 1053, 1054, 1067, 1074, 1075, 1076, 1077, 1078, 1079, 1080, 1082, 1083, 1084, 1085, 1086, 1087, 1088, 1089, 1090, 1091, 1092, 1101, 1104, 1108, 1114, 1115, 1116, 1117, 1118, 1119, 1123, 1130, 1131, 1132, 1136, 1138, 1139, 1141, 1149, 1152, 1154, 1155, 1163, 1223, 1245,

1268, 1270, 1274, 1275, 1277, 1278, 1280, 1284, 1289, 1299, 1300, 1303, 1304, 1305, 1306, 1307, 1311, 1342, 1343, 1344, 1346, 1347, 1348, 1349, 1350, 1417, 1418, 1419, 1421, 1505, 1521, 1533, 1534, 1535, 1537, 1538, 1539, 1540, 1544, 1547, 1550, 1651.

इन्द्रवज्रा–(त, त, ज, ग, ग)

4, 137, 160, 203, 221, 238, 263, 272, 277, 281, 282, 283, ?84, 299, 314, 315, 316, 321, 322, 323, 324, 328, 329, 330, 338, 355, 389, 552, 569, 580, 761, 794, 1105, 1122, 1218, 1248, 1256, 1262, 1272, 1317, 1464, 1481, 1499, 1520, 1525, 1528, 1595,, 1639, 1643, 1652,

इन्द्रवंशा – (त, त, ज, र)

107, 130, 259.

उपजाति – (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा)

13, 26, 33, 43, 194, 257, 288, 293, 297, 309, 311, 325, 435, 538, 572, 576, 596, 633, 642, 713, 714, 785, 846 847, 848, 849, 850, 851, 852, 853, 854, 855, 892, 894, 895, 921, 922, 986, 989, 992, 993, 995, 1000, 1004, 1015, 1024, 1028, 1037, 1107, 1137, 1158, 1164, 1167, 1201, 1202, 1203, 1231, 1232, 1233, 1237, 1238, 1239, 1240, 1241, 1242, 1243, 1251, 1255, 1257, 1258, 1259, 1260, 1261, 1263, 1264, 1271, 1281, 1282, 1315, 1320, 1329, 1336, 1358, 1360, 1361, 1365, 1367, 1372, 1373, 1382, 1390, 1392, 1396, 1401, 1402, 1416, 1420, 1421, 1424, 1432, 1441, 1442, 1462, 1465, 1466, 1471, 1473, 1475, 1485, 1495, 1497, 1514, 1523, 1524, 1526, 1527, 1529, 1552, 1570, 1592, 1593, 1594, 1611, 1612, 1631, 1638, 1640, 1641, 1642, 1645, 1647.

उपेन्द्रवज्रा – (ज, त, ज, ग, ग)

3, 10, 49, 53,, 128, 129, 146, 583, 824, 837, 845, 864, 1045, 1057, 1121, 1146, 1173, 1234, 1235, 1236, 1273, 1339, 1391, 1436, 1522.

कुसुमितलतावेल्लिता–(म, त, न, य, य, य)

278.

गीतिः– (१२–१८; १२–१८ मात्रा)

432, 515, 887, 926, 928, 930, 931, 933, 935, 937, 938, 940, 941, 945, 950, 954, 955, 959, 1011, 1033, 1040, 1103, 1110, 1276, 1279, 1292, 1302, 1341, 1379, 1415, 1532, 1536, 1541, 1542, 1543, 1649.

द्रुतविलम्बित(न, भ, भ, र)

209, 227, 228, 256, 521, 763, 1288. 1324, 1519.

पृथ्वी–(ज, स, ज, स, य, ल, ग)

175, 264, 268, 285, 438, 684, 1111, 1386, 1482, 1508, 1545, 1557, 1559.

प्रमाणिका-(ज, र, ल, ग)

274, 889.

भुजङ्गप्रयात –(य, य, य, य)

1174.

मन्दाक्रान्ता – (म, भ, न, त, त, ग, ग)

39, 51, 57, 78, 82, 85, 147, 153, 280, 286, 289, 298, 308, 320, 390, 420, 436, 568, 626, 680, 722, 868, 996, 1030, 1063, 1142, 1253, 1294, 1334, 1368, 1383, 1385, 1389, 1474, 1504, 1562, 1565, 15 68, 1571, 1576, 1581, 1583, 1586, 1590, 1632,

मालिनी – (न, न, म, य, य)

68, 127, 254, 262, 269, 440, 441, 573, 664, 708, 884, 981, 1150, 1247, 1249, 15 61.

रथोद्धता–(र, न, र, ल, ग)

37, 79, 470, 474, 546, 547, 565, 566, 577, 646, 678, 679, 681, 682, 692, 693, 696, 697, 755, 758, 809, 815, 819, 829, 830, 840, 843, 869, 882, 888, 897, 902, 966, 967, 968, 973, 984, 988, 998, 1049, 1050, 1058, 1070, 1128, 1133, 1162, 1168, 1180, 1301, 1328, 1330, 1355, 1376, 1411, 1444, 1489, 1494, 1558, 1620, 1621, 1623, 1633.

रुचिरा – (ज, भ, स, ज, ग)

103, 1295,

वसन्ततिलका–(त, भ, ज, ज, ग, ग)

1, 2, 5, 6, 24, 25, 27, 31, 35, 46, 47, 54, 55, 63, 73, 86, 99, 101, 117, 122, 123, 124, 133, 154, 157, 159, 161, 167, 172, 176, 178, 182, 186, 187, 188, 212, 215, 217, 219, 220. 222, 245, 261, 287, 294, 345, 346, 347, 348, 349, 350, 354, 364, 399, 425, 426, 428, 443, 444, 472, 487, 492, 539, 557, 561, 575, 578, 584, 588, 590,, 593, 594, 597, 603, 606, 621, 623, 637, 640, 641, 643, 645, 657, 667, 673, 674, 675, 699, 702, 705, 709, 710, 766, 771, 803, 827, 859, 907, 969, 974, 983, 1017, 1055, 1081, 1129, 1147, 1148, 1153, 1156, 1159, 1165, 1269, 1285, 1286, 1319, 1333, 1340, 1352, 1357, 1359, 1363, 1364, 1366, 1369, 1374, 1384, 1397, 1399, 1400, 1405, 1422, 1427, 1428, 1429, 1430, 1431, 1446, 1447, 1469, 1486, 1502, 1506, 1509, 1510, 1513, 1516, 1517, 1530, 1560, 1564, 1566,1567, 1580, 1585, 1596, 1613, 1622, 1630, 1636, 1637, 1644, 1646, 1653.

वंशस्थविल– (ज, त, ज, र)

40, 67, 75, 105, 235, 236. 456, 570, 571, 605, 658, 665, 666, 668, 836, 972, 1056, 1291, 1296, 1309, 1395, 1496,

विद्युन्माला – (म, म, ग, ग)

210

वैश्वदेवी – (म, म, य, य)

253, 397, 398,

शार्दूलविक्रीडित – (म,स, ज,स, त, त, ग)

7, 8, 11, 14, 15, 17, 18, 23, 28, 29, 32, 38, 41, 48, 50, 52, 56, 62, 66, 83, 90, 91, 95, 108, 110, 112, 115, 119, 120, 125, 126, 144, 149, 152, 156, 158, 163, 166, 173, 181, 185, 189,

241, 244, 247, 248, 249, 250, 251, 255, 258, 270, 292, 334, 337, 342, 356, 358, 360, 394, 401, 405, 419, 465, 466 469, 473, 488, 519, 520, 530, 533, 540, 548, 562, 563, 564, 568, 579, 604, 620, 638, 639, 647, 655, 659, 676, 686, 689, 711, 747, 756, 760, 792, 793, 796, 801, 802, 804, 810, 812, 821, 832, 835, 865, 877, 923, 1021, 1036, 1064, 1073, 1098, 1100, 1102, 1106, 1109, 1145, 1166, 1252, 1266, 1293, 1316, 1335, 1338, 1370, 1371, 1375, 1380, 1388, 1393, 1394, 1398, 1483, 1512, 1548, 1549, 1554, 1555, 1556, 1569, 1572, 1575, 1577, 1579, 1584, 1587, 1588, 1589, 1624, 1625, 1648, 1650, 1654, 1655.

शालिनी – (म, त, त, ग, ग)

45, 65, 80, 92, 196, 273, 331, 332, 333, 351, 352, 357, 361, 362, 411, 412, 421, 429, 598, 672, 857, 863, 1026, 1337.

शिखरिणी– (य, म, न, स, भ, ल, ग)

70, 72, 97, 141, 164 174, 267, 300, 396, 518, 822, 980, 1035, 1287, 1318, 1378, 1387, 1507, 1563, 1573, 1574,

स्रग्धरा – (म, र, भ, न, य, य, य,)

19, 21, 22, 30, 34, 84, 109, 114, 169, 211, 224, 225, 246, 266, 442, 712, 775, 1582, 1656.

स्रग्विणी– (र, र, र, र)

807.

स्वागता – (र, न, भ, ग, ग)

60, 93, 104, 226, 543, 669, 670, 856, 999, 1023, 1176.

हरिणी – (न, स, म, र, स, ल, ग)

12, 69, 77, 252, 271, 279, 457, 707, 741, 1112, 1377, 1518, 1578.

३. वि ाषनामसूची

४. पारिभाषिक शब्द-सूची

५. व्याख्यायुक्तनामसूची

समाप्तिरगमत्

६. शुद्धिपत्रम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४	३	जे	ये
६	१०	गति	र्गति
३०	११	दना	दीना
३२	४	सर्जितं	स्फूर्जितम्
३७	१०	हिंसालफ	हिंसाफल
७४	११	पनद्वास्थिकवं	पनद्वास्थिकं
७९	३	निरुद्यधो	निरुद्यमो
८४	३	मात्मंरयो	मात्मंभरयो
८६	९	मादशेदं	मादृशेदं
११२	१	दक्वृत्यं	दकृत्यं
१३१	५	मप्येकवं	मप्येकं
१४५	२	स्यादङ्कवं	स्यादङ्कं
१५१	८	नास्तिक्वैश्च	नास्तिकैश्च
१७१	४	ह्वासं	श्वासं
१७५	७	बघ	बध
१८३	११	पावदिका	पादादिका
२०८	२	ञ्चधम्	ञ्चधम्
२०९	४	भव	भवं
२११	१०	आदृतिव्याबृ	आदृतिर्व्याबृ
२३५	९	अष्टसूल	अष्टमूल
२३६	३	सम्क्त्वमयो	सम्यक्त्वमयो
२३७	५	धर्मंसहिंसा	धर्ममहिंसा
२४०	५	कृच्छ्रेण	कृच्छ्रेण
२५६	१०	सामान्ये न	सामान्येन
२६९	६	सुतेन	सुतेव
२९८	४	रसैकपत्रीं	रसैकपात्रीं
३२०	८	मवलम्ब्य-	मवलम्ब्यम्

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३२७	३	°स्यार्थं	°स्यार्थ
३३१	१०	बिधिं	बिधि
३५०	५	दोषेपुभि	दोषेष्वभि
३५३	८	शुद्धि	शुद्धि
३५४	९	स-चित्तादि	-सचित्तादि
३६१	६	शासनवर्धना	शासनवर्धना
३६१	११	°रिवमन्यते	°रिव मन्यते
३८५	२	बलवनेवम्	बलवानेवम्
४१५	८	सुरकर्म समूह	सुरकर्मसमूह
४२८	१६	चिन्तामणिप्रभृत: श्लोक क्रमाङ्क ५	

श्री. स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी द्वारा संस्थापित जैन संस्कृति संरक्षक संघ

(जीवराज जैन ग्रंथमाला) फलटण गल्ली, सोलापूर २.

(हिन्दी विभाग) कीमत रुपये

१	तिलोयपण्णत्ति भाग १ (अप्राप्य)	१६
२	पाण्डवपुराण (अप्राप्य)	१२
३	प्राकृतशब्दानुशासन	१०
४	सिद्धांतसारसंग्रह (द्वि. संस्करण)	१२
५	जम्बूदीवपण्णत्तिसंग्रह	१६
६	कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह	६
७	भट्टारकसंप्रदाय	८
८	पंचविंशति	१०
९	आत्मानुशासन (द्वि. संस्करण)	७
१०	गणितसारसंग्रह	१२
११	लोकविभाग	१०
१२	पुण्यास्रवकथाकोष	१०
१३	विश्वतत्त्वप्रकाश	१२
१४	तीर्थवंदनसंग्रह	५
१५	प्रमाप्रमेय	५
१६	पार्श्वाभ्युदय	१०
१७	चंद्रप्रभचरितम्	१६
१८	धवल-षट्खण्डागम भाग १	१६

(English Publications)

1	Yaśastilaka and Indian Culture	16
	(Cloth Binding)	25
2	Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs	16
3	Jainism in Rajasthan	11
4	Ethical doctrins in Jainism	12
5	Jain View of Life	6

(कन्नड विभाग)

१	रत्नकरण्डश्रावकाचार	१५
२	जैनधर्म	५
३	भारतीयसंस्कृतिगे जैनधर्मद कोडुगे	१२

(मराठी विभाग)

१	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	१२
२	महामानव सुदर्शन	१-२५
३	भ. कुन्दकुन्दांचे रत्नत्रय	१-५०
४	आर्यादर्शभक्ति	१
५	नित्यनैमित्तिक जैनाचार	१-५०
६	जीवन्धर	१-७५
७	पांडवकथा	२
८	अंतिम उपदेश	०-४०
९	रत्नाची पारख	०-६०
१०	सम्यक्त्वकौमुदी कथा	१-७५
११	भ. नेमिनाथ चरित्र	१
१२	भ. ऋषभदेव	१-२५
१३	जसोधर राम	४
१४	जिनसागराची समग्र कविता	४

१५ जीवन्धर पुराण	२
१६ धर्मामृत	३
१७ परमहंस कथा	२
१८ चक्रवर्ती सुभौम	१–२५
१९ जैनधर्म	५
२० श्रेणिक चरित्र	४
२१ भ. पार्श्वनाथ व भ. महावीर	१
२२ पवनपुत्र हनुमान	१
२३ श्रीयशोधर चरित्र	१–२५
२४ कुमार प्रीतिंकर	०–७५
२५ भारतीय जैन सम्राट	०–७५
२६ तत्त्वार्थसूत्र	३
२७ भारतीय संस्कृ. [illegible] देणगी	१५
२८ स्वयंभू स्तोत्र	२–५०
२९ सती चेलना	२
३० पराक्रमी वरांग	१–२५
३१ सद्बोध दृष्टांत भाग १	१–२५
३२ प्राचीन कथा	१–५०
३३ प्रद्युम्न चरित्र	६
३४ इष्टोपदेश	२
३५ सद्बोध दृष्टांत भाग २	२
३६ अनन्तव्रतपूजा	०–७५
३७ दशलक्षणधर्म	२–५०
३८ श्रेयोमार्ग	६
३९ समाधिशतक	३
४० षोडश कारण भावना	२–५०

आगामी प्रकाशन— ज्ञानार्णव, धवल षट्खंडागम भाग २, धर्मपरीक्षा, रइधू ग्रन्थावली, सम्मइजिण चरिउ, शीघ्र प्रकाशित हो रहे हैं।
धवल शास्त्राकार भाग ८ से १२ प्राप्य — रु. १२। धवल ग्रन्थाकार भाग १० से १६ प्राप्य रु. १२

नवीन ग्रंथ प्रकाशन

२३ वर्धमान चरित्र	रु. १५–००
२४ धर्मरत्नाकर	रु. २०–००

श्री जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापूर

प्रकाशित-ग्रंथ

(हिन्दी विभाग)

संपादक-डॉ. ए. एन्. उपाध्ये

-स्व. डॉ. हीरालाल जैन

१ **तिलोयपण्णत्ती भाग १** – (Chapters १ से ४) यतिवृषभाचार्य कृत—जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रंथ-हिन्दी अनुवादक–पं. बालचंद्रशास्त्री–संपादक डॉ. आ. ने. उपाध्ये, स्व. डॉ. हीरालाल जैन. क्राऊन १/८, पृष्ठ संख्या ६ + ३८ + ५३२. प्रथम संस्करण इ. सन १९४३. मूल्य १२ रु. द्वितीय संस्करण इ. सन. १९५६ मूल्य रु. १६.

तिलोयपण्णत्ती भाग २ – (Chapters ५ से ९) उत्तरार्ध विस्तृत इंग्लिश तथा हिन्दी प्रस्तावना-सहित–गाथा सूची तथा अनेक तालिकाओं सहित. (तालिकाओ में उल्लिखित ग्रंथ-भौगोलिक संज्ञाएं, विशेषनाम, पारिभाषिक शब्द, शलाकापुरुष सूची, देव तथा स्वर्ग सूची, वीस प्ररूपणा आदि)
क्राऊन १/८, पृष्ठ ६ + १४ + १०८ + (५३३ से १०३२) प्रथम संस्करण १९५१
मूल्य रु. १६.

२ **यशस्तिलक ॲण्ड इंडियन कल्चर** – (Yashastilak & Indian Culture) आचार्य सोमदेव कृत (१० वी शताब्दि का प्राचीन) संस्कृत ग्रंथ का इंग्लिश अनुवाद तथा भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन. इंग्रजी अनुवादक प्रो. कृष्णकान्त हन्दिकी. क्राऊन साइज १/८, पृष्ठ ८ + ५४०. प्रथम संस्करण इ. सन. १९४९. मूल्य रु. १६.

३ **पाण्डवपुराण** – भट्टारक शुभचंद्र विरचित. संस्कृत पांडव कथाग्रंथ. हिंदी अनुवादक पं. जिनदासशास्त्री फडकुले– क्राऊन साइज १/८, पृष्ठ ४ + ४० + ८ + ५२० प्रथम संस्करण १९५४. मूल्य रु. १२.

४ **प्राकृत शब्दानुशासन** – त्रिविक्रम विरचित प्राकृत व्याकरण टीका सहित. संपादक परशुराम लक्ष्मण वैद्य. डेमी साइज १/८, पृष्ठ ४४ + ४७८, प्रथम संस्करण इ. सन. १९५७. मूल्य रु. १०.

५ **प्राकृत शब्दानुशासन** (हिन्दी अनुवाद) प्रा. केशव वामन आपटे. डेमी १/८, पृष्ठ ३४० प्रथम संस्करण इ. सन. १९७४. मूल्य रु. १२.

६ **सिद्धान्तसार संग्रह** – नरेंद्रसेन आचार्य कृत प्राचीन (१२ वी शताब्दि) संस्कृत ग्रंथ. जीव अजीवादि सप्ततत्त्व वर्णन. हिन्दी अनुवादक. श्री पं. जिनदास शास्त्री फडकुले. क्राऊन साइज १/८, पृष्ठ ३००. प्रथम संस्करण इ. सन. १९५७. मूल्य रु. १०.
द्वितीय संस्करण १९७२. मूल्य रु. १२.

७ Jainism in south India & some Jain Epigraphs. लेखक – डॉ. पी. बी. देसाई. आन्ध्र कर्णाटक, और तामिलनाड में जैन धर्म के कार्य का विशद वर्णन. हैद्राबाद राज्य के कन्नड शिलालेखों का अंग्रेजी तथा हिन्दी में संपादन–विविध सूचियों से और चित्रों से सहित. साइज क्राऊन १/८, पृष्ठ १६ + ४५६ प्रथम संस्करण इ. स. १९५७.
मूल्य रु. १६.

८ जंबूदीवपण्णत्ती संग्रह – आचार्य पद्मनंदीकृत जैन भूगोल विषय. प्राचीन प्राकृत ग्रंथ (दसवी शताब्दि). हिन्दी अनुवादक पं. बालचंद्र शास्त्री. तिलोय पण्णत्ती गणित. विस्तृत हिन्दी निबंध. ले. प्रो. लक्ष्मीचंद्र जैन. क्राऊन १/८, पृ. ५०० प्रथम संस्करण इ. सन १९५७. मूल्य रु. १६.

९ भट्टारक संप्रदाय – संपादक डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर. सेनगण–बलात्कारगण–काष्ठासंघ भट्टारकों का प्राचीन इतिहास. साहित्यिक शिलालेख सहित. साइज डेमी १/८, पृष्ठ १४ + २९ + ३२६. प्रथम संस्करण इ. सन १९५८. मूल्य रु. ८.

१० कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह– संपादक- पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्री. आचार्य कुंदकुंद के समग्र ग्रंथों का विषयानुसार वर्गीकरण–अध्ययन–समयसार ग्रंथ का संपूर्ण अनुवाद–विस्तृत प्रस्तावना – साइज डेमी १/८, पृष्ठ. १० + १०६ + १० + २ + ८ प्रथम संस्करण इ. सन १९६० मूल्य रु. ६.

११ पद्मनंदी पंचविंशति– पद्मनंदी आचार्यकृत संस्कृत २४ और प्राकृत २ प्रकरणों का संग्रह. (बारहवी शताब्दि) टीकाकार -- (अज्ञात) – हिंदी अनुवादक—पं. बालचंद्र शास्त्री. विस्तृत प्रस्तावना (अंग्रेजी तथा हिंदी) क्राउन साइज १/८, पृष्ठ ८ + ६४ + २८४ प्रथम संस्करण इ. सन १९६२ मूल्य रु. १०.

१२ आत्मानुशासन आचार्य गुणभद्रकृत प्राचीन संस्कृत ग्रंथ (९ वी शताब्दि) आध्यात्मिक उपदेशपर सुभाषित–संस्कृत टीकाकार–आचार्य प्रभाचंद्र. हिंदी अनुवादक पं. बालचंद्र शास्त्री. विस्तृत प्रस्तावना (हिंदी और अंग्रेजी). साइज डेमी १/८, पृष्ठ ८ + ११२ + २६०. प्रथम संस्करण इ. सन १९६१. मूल्य रु. ५–०० द्वितीय संस्करण १९७३ मूल्य रु. ७.

१३ गणितसारसंग्रह – महावीराचार्यकृत. प्राचीन संस्कृत ग्रंथ. (९ वी शताब्दि) भारतीय गणित शास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान हिंदी अनुवाद – विस्तृत प्रस्तावना – सूची और तालिकाओं सहित. संपादक प्रो. लक्ष्मीचंद्र जैन. क्राउन साइज १/८, पृष्ठ १६ + ३४ + २८२ + ८६. प्रथम संस्करण इ. सन १९६३. मूल्य रु. १२.

१४ लोकविभाग– सर्वनन्दी आचार्यकृत जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रंथ (शक सं. ३२२) का सिंहसूरिकृत संस्कृत रूपांतर- हिंदी अनुवाद–प्रस्तावना–संपादक पं. बालचंद्रशास्त्री. क्राउन साइज १/८ पृष्ठ ८ + ५२ + २५६. प्रथम संस्करण इ. सन १९६२ मूल्य रु. १०.

१५ पुण्यास्रव कथाकोष– श्रीरामचंद्र कृत संस्कृत कथाग्रंथ. हिंदी अनुवाद– पं. बालचंद्र शास्त्री. क्राउन १/८, पृष्ठ. ४८ + ३६८ इ. सन १९६४ मूल्य रु. १०.

१६ Jainism in Rajasthan, लेखक प्रो. कैलाशचंद्र जैन, अजमेर. राजस्थान का प्राचीन जैन इतिहास. साहित्यिक शिलालेख. क्राउन १/८, पृष्ठ ८ + २८४. प्रथम संस्करण इ. सन १९६३. मूल्य रु. ११.

१७ विश्वतत्त्वप्रकाश – आचार्य भावसेन कृत प्राचीन संस्कृत ग्रंथ (१३ वी शताब्दि)–विभिन्न दार्शनिकों का जैन दार्शनिक दृष्टि से परीक्षण. हिंदी सारांश अनुवाद. प्रस्तावना (जैन तार्किक साहित्य शीर्षक विस्तृत निबंध) सहित. संपादक डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर. साइज डेमी १/८, पृष्ठ. १६ + ११२ + ३९२. प्रथम संस्करण १९६४. मूल्य रु. १२.

१८ **तीर्थवन्दनसंग्रह**—जैन तीर्थक्षेत्रों के विषय में ४० दिगंबर जैन लेखकों की कृतियों का संकलन. संपादक डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर. डेमी १/८, पृष्ठ २००. प्रथम संस्करण इ. सन १९६५. मूल्य रु. ५.

१९ **प्रमाप्रमेय**— श्री. भावसेन कृत संस्कृत न्यायग्रंथ. हिंदी अनुवाद. डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर डेमी १/८, पृष्ठ. ६ + ४ + १५८ इ. सन १९६६. मूल्य रु. ५.

२० Ethical Doctrines in Jainism— मुनिधर्म, श्रावकधर्म, आचार नियम—लेखक डॉ. के. सी. सोगानी. क्राउन १/८ पृष्ठ. ५ + १६ + ३०२ इ. सन १९६७. मूल्य रु. १२.

२१ Jain View of Life— जैन फिलॉसफी, आत्मासंबंधी— कर्मसिद्धान्त. लेखक— डॉ. टी. जी. [illegible]. डेमी १/८, पृष्ठ १२ + २००. प्रथम संस्करण १९६९. मूल्य रु. ६.

२२ **चंद्रप्रभचरितम्**— श्रीवीरनन्दी कृत. संस्कृत टीका — विद्वान् मानव वल्लभ— मुनिचंद्रकृत. पंजिका — गुणनंदीकृत— संपादक— पं. अमृतलालशास्त्री वाराणसी—क्राउन १/८, पृष्ठ ४१ + ५५६. प्रथम संस्करण सन १९७१. मूल्य रु. १६.

२३ **धवला षट्खंडागम**— सत्प्ररूपणा पुस्तक १ — आचार्य पुष्पदंत— भूतबलीकृत सूत्र— प्राकृत— संस्कृत टीका— वीरसेनाचार्यकृत
श्रीमंत सेठ सितापराय लक्ष्मीचंद्र जैन साहित्योद्धार ग्रंथमाला अन्तर्गत— संपादक. स्व. डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये M. A: Ph. D. प्रो. ऑफ जैनालॉजी, म्हैसूर— हिंदी अनुवादक—पं. फूलचंद्र शास्त्री तथा पं. हीरालाल शास्त्री. प्रथम संस्करण का संशोधित संस्करण. प्रकाशक जैन संकृति संरक्षक संघ— इ. स. १९७३, श्री. वीर निर्वाण संवत २४९९. पृष्ठ १२ + २० + ८ + ४ + ८४४ + १२ + २५ मूल्य रु. १६.

२४ **वर्धमानचरित्र**— असग कविकृत संस्कृत प्राचीन ग्रंथ का हिंदी अनुवाद— प्रस्तावनासहित हिन्दी अनुवादक डॉ. पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य— श्री. महावीर २५०० वे निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में प्रकाशित— क्राऊन १/८, पृष्ठ १२ + ४० + ३२०. प्रथम संस्करण. इ. स. १९७४. वीरनिर्वाण संवत २५०० मूल्य रु. १५.

२५ **धर्मरत्नाकर**— जयसेनाचार्यकृत. संस्कृत तत्त्व सिद्धान्त—विस्तृत विवेचन. हिंदी अनुवाद पं. जिनदासशास्त्री फडकुले. क्राऊन साईज १/८, प्रथम संस्करण १९७४ वीरनिर्वाण संवत २५००. पृष्ठ ५४ + ४२० + ३९ + ५. मूल्य रु. २०.

२६ **रइधू ग्रंथावली**— (पासणाहचरिउ, सुकोसल चरिउ, धण्णकुमार चरिउ) रइधू कवि कृत प्राचीन प्राकृत अपभ्रंश ग्रंथ। हिंदी अनुवाद— प्रस्तावना— डॉ. राजाराम जैन— क्राऊन १/८, पृष्ठ १०० + ४०८, प्रथम संस्करण, सन १९७४, वीरनिर्वाण संवत २५००. मूल्य रु. १६

आगामी प्रकाशन— ज्ञानार्णव, [illegible], सुभाषित रत्न संदोह, श्रावकाचार संग्रह, सम्मइ जिणचरिउ, [illegible] आदि ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित हो रहे हैं।

अन्यत्र प्रकाशित ग्रंथ भी मिलते हैं—

पार्श्वाभ्युदय— आचार्य जिनसेन कृत संस्कृत प्राचीन ग्रंथ— संस्कृत टीका तथा इंग्लिश अनुवाद— संपादक— प्रा. मोतीचंद गौतमचंद कोठारी (फलटण). क्राऊन १/१६, पृष्ठसंख्या— ११५ + ७१२. प्रथम संस्करण—१९६५. मूल्य रु. १०.

धवलाषट्खंडागम— (शास्त्राकार) भाग— ८ से १२. प्रत्येक भाग की कीमत मूल्य रु. १२.
" (पुस्तकाकार) भाग १० से १६ प्रत्येक भाग की कीमत मूल्य रु. १२.